अवन्ती क्षेत्र और सिंहस्थ महापर्व

प्रधान सम्पादक
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

प्रस्तुत कृति की रचना का सात्त्विक संकल्प अनन्तश्री विभूषित जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री रामनरेशाचार्य के संरक्षकत्व में उन्हीं की सत्प्रेरणा और आशीर्वचन से लिया गया और मूर्धन्य विशेषज्ञों के सहयोग से उसे मूर्त रूप मिला है। प्रस्तुत कृति की आरम्भिक औपचारिकता के रूप में आराध्य और आराधक का प्रभामण्डल तथा समर्पण भावना मुखर है। एक प्रकार से यह गुरु गम्भीर कार्य का मंगलाचरण है।

प्रस्तुति कृति उज्जयिनी और अवन्ती क्षेत्र के सांस्कृतिक, धार्मिक, पुरातात्त्विक, दार्शनिक, साहित्यिक तथा कलात्मक वैभव का सम्यक परिचय कराने के लिए तैयार कराई गई है। साथ ही इस बात का ध्यान रखा गया है कि सिंहस्थ के परिप्रेक्ष्य में अपेक्षित विभिन्न साम्प्रदायिक परम्पराओं, अखाड़ों, उनके आवास स्थानों, स्नान के विभिन्न प्रकार के आयोजनों का भी परिचय कराया जाय।

अवन्ती क्षेत्र
और
सिंहस्थ महापर्व

अवन्ती क्षेत्र और सिंहस्थ महापर्व

प्रधान सम्पादक

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

सम्पादक

डॉ. श्यामसुन्दर निगम   डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित
डॉ. शिव चौरसिया   डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

☐
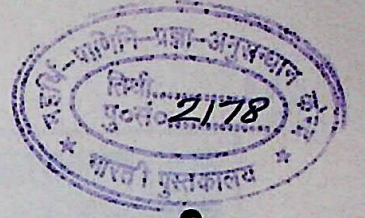
प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. श्रीमती शोभा पन्नालाल

अवन्ती क्षेत्र और सिंहस्थ महापर्व

प्रधान सम्पादक
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

सम्पादक
डॉ. श्यामसुन्दर निगम, डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित
डॉ. शिव चौरसिया, डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. श्रीमती शोभा पन्नालाल

सहयोग
डॉ. विनय दुबे, डॉ. हरिमोहन बुधौलिया

रूपांकन
अक्षय आमेरिया

चित्रांकन
अक्षय आमेरिया, डॉ. आर. सी. भावसार, राजवी जयपालसिंह राठौड़, हृषीकेश शर्मा
प्रमोद गणपत्ये, डॉ. विष्णु भटनागर, डॉ. आलोक भावसार, बाबूलाल जैन, अभिषेक तोमर

फोटोग्राफ
शकील गुट्टी, योगेश पोरवाल, लगन शर्मा,
जनसम्पर्क विभाग, कालिदास अकादेमी, उज्जैन

प्रकाशन सहयोग
डॉ. सत्यनारायण सोनी

संस्करण 2004

मूल्य : साधारण संस्करण - रु. 350/-
पुस्तकालय संस्करण - रु. 700/-

प्रकाशक
क्लैसिकी शोध-संस्थान
2, स्टेट बैंक कॉलोनी, देवास रोड, उज्जैन-456010
दूरभाष : (0734) 2510772

वितरक
उमेश गुप्ता
गुप्ता साहित्य भण्डार
मालीपुरा, उज्जैन (म. प्र.), दूरभाष : (0734) 2553107

मुद्रक
आकृति आफसेट्स
नई पेठ, उज्जैन (म. प्र.), दूरभाष : (0734) 2561720

Avanti Kshetra Aur Simhastha Mahaparva (Essay collection) Chief editor : Dr. Rammurti Tripathi

॥ कालचक्र-प्रवर्तको महाकालः प्रतापनः ॥
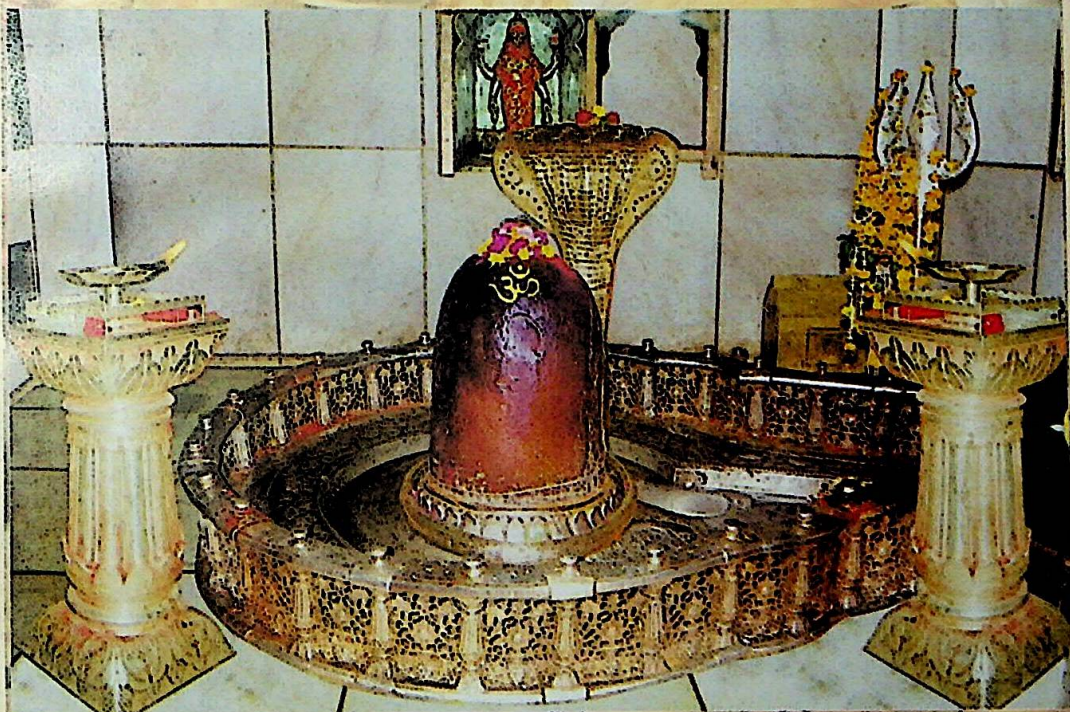
समर्पण

ज्योतिर्लिंग श्री महाकालेश्वर के श्री चरणों में अर्पित है,
यह सारस्वत पुष्प

जयतु भगवान् श्री महाकालनामा

स्रष्टारोऽपि प्रजानां प्रबल-भव-भयाद् यं नमस्यन्ति देवा
यो ह्यव्यक्ते प्रविष्टः प्रविहितमनसां ध्यानयुक्तात्मनाञ्च।
बिभ्राणः सोमलेखामहिवलययुतं व्यक्तलिङ्गं कपालं
लोकानामादिदेवः स जयतु भगवान् श्री महाकालनामा।।

-स्कन्दपुराण

क्रीडाकुण्डलितोरगेश्वरतनूकारादिरूढाम्बरा-
नुस्वारं कलयन्नकाररुचिराकारः कृपार्द्रः प्रभुः।
विष्णोर्विश्वतनोरवन्तिनगरी-हृत्पुण्डरीके वस-
न्नोङ्काराक्षरमूर्तिरस्यतु सदा कालोऽन्तकालोऽसताम्।।

महाकाल-अभिलेख

अप्यन्यस्मिञ्जलधर! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्।।

-कालिदास

मम मतिरतिविरमति चन्द्रभाले महाकाले। (ध्रुवम्)
लीलालोलव्यालमाले! जटाजूटजहाले
केलीविदलितदुःखजाले निखिलसुरावलिभूपाले
गरलनिगलनकण्ठेकाले धत्तूरारुणदृग्जाले।।

-श्रीकृष्ण भट्ट

शालिस्थानेऽखिलदिनगणं रात्रिवृन्दं समस्तं
मुद्गस्थाने सुरभिधृतमिवानन्तसाध्ये विधाय।
एकं कृत्वा कवलितवतः कालबाधा न शम्भो-
रानन्दात्मा त्रिजगति महाकालदेवश्चकास्ति।।

-काशीनाथ शास्त्री

श्री महाकालेश्वर मंदिर

श्री महाकालेश्वर की चल प्रतिमा (मुखौटा)

श्रीश्रीजगद्गुरु शङ्कराचार्यमठ पूर्वाम्नायगोवर्द्धनपीठम्, पुरी, उड़ीसा-752001
श्रीमज्जगदगुरु-शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित निश्चलानन्दसरस्वतीजी महाराज

दिनांङ्क : 23-3-04

श्री हरिः
श्री गणेशायनमः

शुभ सन्देश

कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत परिच्छेदविनिर्मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति दिव्य काल, देश और वस्तु के माध्यम से ही सम्भव है। अभिव्यञ्जक संस्थान को उपाधि कहने की प्रथा दार्शनिक जगत् में प्रसिद्ध है। नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् के माध्यम से सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की अभिव्यक्ति अनुभवसिद्ध है। किसी भी वस्तु के अस्तित्व, भान और उसकी प्रियता सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति सिद्ध करने में समर्थ है। दिव्यकाल, दिव्यदेश और दिव्यवस्तु को मोक्षप्रद माना गया है। इसी सन्दर्भ में सप्त पुरियों का वर्णन पुराणों में आता है। पुरुषोत्तम क्षेत्र पुरी के योग से आठ पुरियों की सिद्धि होती है। यह आधिदैविक रहस्य आध्यात्मिक क्षेत्र में भी चरितार्थ होता है। वेदान्त शास्त्र में पुर्यष्टक का वर्णन प्राप्त है। कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक, अन्तःकरणपञ्चक, तन्मात्रपञ्चक और अविद्या, काम तथा कर्म, जिन्हें पुर्यष्टक कहा गया है, सूक्ष्म और कारण शरीर के योग से पुर्यष्टक की सिद्धि होती है। नवद्वार से युक्त स्थूल शरीर भी पुरी मान्य है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, कर्म और काम का समवेत स्वरूप सूक्ष्म शरीर है। अविद्यात्मक कारण शरीर है। स्थूल शरीर के द्वारा सूक्ष्म शरीर की तथा सूक्ष्म शरीर के द्वारा कारण शरीर की अभिव्यक्ति मान्य है। कारण शरीर के द्वारा जीव की तथा जीव के द्वारा शिवस्वरूप परमात्मा की अभिव्यक्ति मान्य है। अभिव्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति अभिव्यञ्जक के अधीन होती है तथा अभिव्यञ्जक के तारतम्य से अभिव्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति में तारतम्य होता है। इसी अभिप्राय से अङ्गन्यास, करन्यास, भूशुद्धि, भूतशुद्धि और यमादि अष्टाङ्गयोग की उपयोगिता चरितार्थ है। आधिदैविक जगत् में अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका, द्वारका और पुरुषोत्तम क्षेत्र पुरी को अष्ट पुरी कहा जाता है।

अष्टपुरियों में अवन्तिका का महत्वपूर्ण स्थान है। श्री महाकालेश्वर और शिप्रा तथा सिद्धवट आदि के योग से इस पुरी को मोक्षधाम माना गया है। शिप्रा सर्वत्र महिमान्वित है, परन्तु उज्जयिनी के सम्पर्क से उसका अनुपम माहात्म्य स्फुट अभिव्यक्त होता है। उज्जयिनी में भी श्री रामघाट के योग से तथा महाकुम्भ के मुहूर्त के योग से उसकी असीम महिमा अभिव्यक्त होती है।

दार्शनिक धरातल पर सभी देश, काल और वस्तु सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्म से अधिष्ठित मान्य हैं। अतएव प्रत्येक देश, प्रत्येक काल और प्रत्येक वस्तु को परमात्मा का अभिव्यञ्जक माना गया है, परन्तु देशविशेष, कालविशेष और वस्तुविशेष के योग से परमात्मा की द्रुत और स्फुट अभिव्यक्ति अनुभवसिद्ध है। आवश्यकता इस बात की है कि कर्म-भूमि, भोग-भूमि और अवतार-भूमि इस भारत को तारक सामग्रियों से भूषित रहने दिया जाए। तारक सामग्रियों से भूषित भारत को प्रमाद के वशीभूत होकर मारक न सिद्ध किया जाए। धाम की दिव्यता निरावरण रीति से अभिव्यक्त होती रहे, इसके लिए सतत सावधान रहने की आवश्यकता है। शिक्षा, रक्षा, संस्कृति और सेवा के केन्द्र ये भगवद् धाम शास्त्रसम्मत माहात्म्य के अभिव्यञ्जक बने रहें, ऐसी भावना है। 'अवन्ती क्षेत्र और सिंहस्थ महापर्व' ग्रन्थ के लिए यह हमारा शुभ सन्देश है।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री निश्चलानन्द सरस्वती
पूर्वाम्नायगोवर्द्धनपीठाधीश्वर

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य जगद्गुरु शङ्कराचार्यपरम्परागतं
श्रीकामकोटिपीठ महासंस्थानम्, काञ्चीपुरम्-631502

दिनांङ्क : 15-3-04

आशीर्वचन

सप्तपुरियों में अन्यतमतया परिगणित अवन्तीपुरी ही उज्जैन इति ख्यात है। यह एक शक्तिपीठ भी है। कविकुलतिलक श्री कालिदास के अपने मेघ संदेश में सुचारु रूप से वर्णित भी है।

क्लैसिकी शोध संस्थान द्वारा इस प्रसिद्ध क्षेत्र से 'अवन्ती क्षेत्र और सिंहस्थ महापर्व' नामक ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है, जिसमें पण्डित प्रकाण्डों के विविध कोणों के विचार पूर्ण रूप से विकसित होंगे। इस विषय को समझते-समझते हम सब अतीव संतुष्ट होते हैं।

प्रभु श्री महाकालेश्वर की असीम कृपा से इस उत्तम प्रयत्न की परिपूर्ण सफलता की मैं कामना करता हूँ। आशीर्वाद।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती
काञ्चीकामकोटि पीठाधीश्वर

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री रामनरेशाचार्य

श्रीमठ, पंचगंगा घाट,
वाराणसी (उ.प्र.)

मंगलाशंसन

मुझे यह जानकर परम प्रसन्नता हुई है कि 'क्लैसिकी शोध संस्थान, उज्जैन' द्वारा सिंहस्थ 2004 के पावन पर्व पर एक ज्ञानवर्धक और गम्भीर शोधपरक ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। इस पुस्तक से हमारी प्रत्याशा और बढ़ जाती है कि इसके सत्तासादन में उज्जयिनी के परिगणनीय सारस्वत मनीषियों का गहरा योगदान है। ग्रंथ में न केवल अवन्ती नगरी अपितु समग्र जनपद के विभिन्न पक्षों की सारगर्भ प्रस्तुतियाँ हुई हैं। निश्चय ही इस सत्प्रयास से अवन्ती क्षेत्र और सिंहस्थ से जुड़ी जनता, प्रशासन और साधुसंत सभी लाभान्वित होंगे।

यह पर्व विशेषकर साधुसंतों का पर्व है–जनता तो उनकी अनुगामिनी है ही। 'यद्यदाचरतिश्रेष्ठः लोकस्तदनुवर्तते' कहा ही गया है। ऐसे मांगलिक अवसर पर ऐसे सारस्वत सत्प्रयासों से श्रद्धालुओं का ज्ञान भण्डार समृद्ध होता है और ज्ञान समृद्धि के साथ क्रिया से जुड़ना सर्वदा हितकर और उपादेय होता है। यह सिंहस्थ मध्य प्रदेश के एक संत मुख्यमंत्री की देखरेख में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता की बात है।

मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ आप के साथ हैं और मैं चाहता हूँ कि आप अपनी इस सारस्वत यात्रा में वाञ्छित गंतव्य तक पहुँचे।

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य श्री रामनरेशाचार्य

उमा भारती
मुख्यमंत्री

मध्यप्रदेश शासन
भोपाल-462004

27 फरवरी 2004

शुभाशंसा

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि क्लैसिकी शोध-संस्थान द्वारा सिंहस्थ 2004 पर केन्द्रित वैदुष्य निर्भर ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है।

पौराणिक नगरी उज्जयिनी में आयोजित हो रहे सिंहस्थ स्नान पर्व की विशेषता और महत्त्व को आधुनिक समाज में पुनः स्थापित करने का कार्य प्रशंसनीय है। आम लोगों को सिंहस्थ के धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। ऐसे ज्ञान के विस्तार के लिए निरन्तर प्रयासों की आवश्यकता है।

आशा है कि इस प्रकाशन से जो बहुमूल्य जानकारी लोगों को मिलेगी, उससे वे सिंहस्थ के दौरान आध्यात्मिक ऊर्जा को अनुभव कर पायेंगे।

हार्दिक शुभकामनाएँ।

(उमा भारती)
मुख्यमंत्री

पातनिकी

> स्रष्टारोऽपि प्रजानां प्रबलभवभयाद्यं नमस्यन्ति देवाः,
> यश्चित्ते सम्प्रविष्टोऽप्यवहितमनसां ध्यानयुक्तात्मनाञ्च।
> लोकानामादिदेवः स जयतु भगवान् श्रीमहाकालनामा,
> बिभ्राणः सोमलेखामहिवलययुतं व्यक्तलिङ्गं कपालम् ॥

द्वादश ज्योतिर्लिंगों में अन्यतम महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग जिस अत्यन्त पवित्र तीर्थ में विराजमान रहे हैं-वही महाकाल वन है। इसका फैलाव चार कोस का था। यहाँ सारे पातक क्षीण हो जाते हैं, इसीलिए इसे क्षेत्र कहा जाता है। मातृ स्थान होने से इसे पीठ भी कहा जाता है। यहाँ जिनकी मृत्यु होती है, उनका पुनर्जन्म नहीं होता- इसीलिए इसे ऊसर कहा जाता है। यह महाकालेश्वर का गुह्य, प्रिय एवं नित्य क्षेत्र है, इसीलिए यह सभी को बहुत प्रिय है। भगवान् महाकाल के इस अतिशय प्रिय क्षेत्र को श्मशान और विमुक्ति क्षेत्र भी कहा जाता है।

उज्जयिनी इसी महाकाल से अधिष्ठित सप्तपुरियों में अन्यतम पुरी है। यों तो काशी इन पुरियों में सबसे पवित्र मानी गई है- पर स्कन्दपुराण के अनुसार उससे भी दश गुण पुण्यदा अवन्तिका है। यह वह भूमि है जहाँ षोडश-कल लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने काश्य महर्षि सान्दीपनि से शिक्षा प्राप्त की। इसकी अनेक अन्वर्थ संज्ञाएँ हैं, जिनमें दो बहुत प्रचलित हैं- एक तो स्वयं उज्जयिनी और दूसरी अवन्तिका। पौराणिक मतानुसार त्रिपुरासुर को मारने के लिए देवताओं के साथ शिवजी ने महाकाल वन में रक्तदन्तिका चण्डिका की आराधना करके महापाशुपत अस्त्र प्राप्त किया और उससे त्रिपुरासुर का वध किया। प्रबल शत्रु को उज्जित किया इसी कारण इस पुरी का नाम उज्जयिनी पड़ा। यह पवित्र नगरी देवता, तीर्थ, ओषधि, बीज एवं प्राणियों का अवन अर्थात् रक्षण करने के ही कारण अवन्ती कही गई।

'उज्जयिन्यां महाकालः' - उज्जयिनी में ही ज्योतिर्लिंग के रूप में महाकाल प्रतिष्ठित हैं।

> आकाशे तारकं लिङ्गं पाताले हाटकेश्वरम्।
> मृत्युलोके महाकालं लिङ्गरूपं नमोस्तु ते।।

स्कन्दपुराण के ही अनुसार उज्जैन के उत्तर में मकोड़िया आम एवं खिलचीपुर क्षेत्र ब्रह्मा का, गढ़कालिका, अंकपात आदि क्षेत्र विष्णु का एवं महाकाल वन शिव का क्षेत्र था। इस पुरी की प्रसिद्धि प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है।

इस मन्दिर पर बुतशिकस्तों की कुदृष्टि महमूद गजनवी के समय से ही पड़नी आरम्भ हो गई थी। नरवर्मा (1078-79 ई.) ने इसका पुनरुद्धार किया था और 'महाकाल प्रशस्ति' की रचना कर शिलालेख उत्कीर्ण भी करवाया था। महाकाल परिसर में आज भी वह शिलांकित अंश विद्यमान है। तदनन्तर दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश (1234-38 ई.) ने भी इसे क्षतिग्रस्त किया। फारसी के

इतिहासकारों ने तो कुछ और भी लिखा है। फिर परमार राजा जयतुंग देव (1236-55 ई.) ने पुनर्निर्माण कराया। वर्तमान मन्दिर का जीर्णोद्धार मुगल धर्मान्ध शहंशाह द्वारा पुनर्ध्वंस के बाद राणोजी सिन्धिया की महारानी के मुनीम रामचन्द्र बाबा शेणवी ने 18वीं शती के चौथे दशक में करवाया था। स्वातंत्र्योत्तर बिरला ने महाकाल मन्दिर के दक्षिण में सभा-मण्डप, निर्गम-द्वार तथा प्रवेश द्वार का निर्माण करवाया। सम्प्रति, निर्गम-द्वार का और भी चौड़ीकरण अब हुआ है। इसकी व्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रशासन ने ले रखा है। उसकी सहायता के लिए एक विद्वत् परिषद् भी गठित की गई है। इस प्रक्रिया में सम्भागायुक्तों का भी योगदान स्मरणीय है।

महाकालाधिष्ठित उज्जयिनी में यद्यपि शताब्दियों से जनता कुम्भ-सिंहस्थ पर स्नानार्थ आती रही है-तथापि इसे व्यवस्थित रूप सिन्धिया नरेश राणाजी शिन्दे (1732 ए. डी.) की आज्ञा से उनके दीवान रामचन्द्र बाबा ने दिया। तभी से प्रति बारहवें वर्ष यह सांस्कृतिक तथा धार्मिक मेला शासकीय प्रबन्धों के साथ यहाँ होने लगा। इसके महत्त्व के विषय में लिखा है-

सहस्रं कार्त्तिके स्नानं माघे स्नानं शतानि च।
वैशाखे नर्मदाकोटिः कुम्भस्नानेन तत्फलम्।।
अश्वमेघ सहस्राणि वाजपेयशतानि च।
लक्षं प्रदक्षिणा भूम्याः कुम्भस्नानेन तत्फलम्।।

एक बार देवता और दानवों ने रत्नों की प्राप्ति के लिए समुद्र का मन्थन किया था। सुमेरु पर्वत की मथनी और शेषनाग की रज्जु बनाई गई थी। समुद्र से चौदह रत्न निकले थे। उनमें अमृत से भरा कुम्भ भी निकला था। अमृत के लिए देव-दानवों में छीना-झपटी भी हुई थी। कुम्भ सूर्य से चन्द्र और चन्द्र से बृहस्पति आदि ग्रहों के हाथों में जाता रहा। अन्ततः इन्द्र का पुत्र जयन्त उसे देवलोक ले गया। भाग-दौड़ में कुछ बूँदें नासिक, उज्जैन, हरिद्वार और प्रयाग में गिरीं। इस प्रकार कुम्भ को रखने वाले ग्रहों की गति-विशेष पर उक्त चार स्थानों पर कुम्भ मनाया जाता है। उज्जैन में प्रति बारह वर्षों में एक बार कुम्भ या सिंहस्थ महापर्व मनाया जाता है-उज्जैन के लिए निम्नलिखित योग कहा गया है-

मेषराशि गते सूर्ये, सिंहराश्यां बृहस्पतौ
अवन्तिकायां भवेत् कुम्भः, सदा मुक्तिप्रदायकः।।

उज्जैन के कुम्भ पर्व में दस योग मुख्य हैं- (1) वैशाख मास (2) शुक्ल पक्ष (3) पूर्णिमा (4) मेष राशि पर सूर्य का होना (5) सिंह राशि पर बृहस्पति का होना (6) चन्द्र का तुला राशि पर होना (7) स्वाति नक्षत्र का होना (8) व्यतिपात योग (9) सोमवार तथा (10) उज्जयिनी नगरी। इनमें से कुछ योग प्रति बारह वर्ष में ही होते हैं।

सिंहस्थ पर्व पर उज्जैन नगर में अनेक योगी, सन्त, साधु तथा अपार जनता, दसनामी अखाड़े, आचार्यगण स्नानार्थ आते हैं। इनकी व्यवस्था का दायित्व प्रशासन पर होता है-तदर्थ अनेक स्थानीय और केन्द्रीय समितियाँ गठित होती हैं। इनके पड़ाव के स्थान निर्धारित हैं तथा शिप्रा-स्नानार्थ जुलूस में निकलने का क्रम भी निर्धारित है। सन्त मण्डलियाँ एकत्र होकर समाज में हो रहे विकास और परिवर्तन का विश्लेषण करती हैं और जीवन-मूल्यों के लिए मार्गदर्शन करती हैं।

कुंभ पर्व की परम्परा, अखाड़ों तथा साम्प्रदायिक साधु-सन्तों का विवरण मूल ग्रन्थ में दिया गया है- अतः कतिपय अवशिष्ट बिन्दुओं को ही केन्द्र में रखकर यहाँ कुछ बातें कहनी हैं। उज्जैन में स्नान हेतु जब संन्यासियों के अखाड़े आते हैं-तब नीलगंगा परिसर में ठहरते हैं और वहाँ से अपनी सुविधा के अनुसार शाही लवाजमे के साथ उज्जैन के प्रमुख मार्गों से होते हुए शिप्रा-तट और शिप्रा-पार अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर ठहरते हैं। इससे पूर्व अखाड़ों के निर्धारित स्थानों पर 52 हाथ के स्तम्भ पर एक ध्वजा लगाई जाती है और उसे खड़ा कर वहीं स्थापित किया जाता है। यह सिंहस्थ स्नान की कालावधि तक रहता है। इसे धर्मध्वजा कहा जाता है। सिंहस्थ-स्नान के पश्चात् इस धर्म-ध्वजा के नीचे हवन होता है। उसी दिन कढ़ी-खिचड़ी बनती है और ध्वजा का विसर्जन हो

जाता है। इस ध्वजा के चढ़ने-उतरने के मध्य ही सिंहस्थ होता है। इस ध्वज के नीचे चण्डी-पाठ भी होता है।

कुछ दशकों पहले तक सातों अखाड़े एकसाथ स्नान करते थे, परन्तु अब जगह की संकीर्णता होने के कारण पहले जूना आवाहन और अग्नि अखाड़े स्नान के लिए उतरते हैं और एक साथ उतरते हैं। इनके बाद निरंजनी एवं अन्य अखाड़े और इनके बाद महानिर्वाणी तथा अटल अखाड़ा स्नान करता है। इस प्रकार क्रमशः विभिन्न अखाड़ों का स्नान सम्पन्न होता है।*

उज्जैन में सभी अखाड़ों के स्थान निर्धारित हैं। सिंहस्थ में शिप्रा के पश्चिमी तट से लेकर मुल्लापुरा के निकट रेल्वे-फाटक तक इनके आवास का विस्तार है। पश्चिमी तट के सिंहस्थ द्वार से चलने पर सर्वप्रथम श्रीपंच अग्नि अखाड़ा, आवाहन अखाड़ा, जूना (भैरव) अखाड़ा-ये सभी दत्त अखाड़ा क्षेत्र में ही ठहरते हैं। आगे चलने पर बड़नगर मार्ग पर (पुराने नाके पर) स्थित शंकराचार्य चौक के पास अटल अखाड़ा, रामबाग के सामने महानिर्वाणी अखाड़ा, हनुमान बाग के पूर्व आनन्द अखाड़ा, तपोनिधि अखाड़ा, निरंजनी अखाड़ा आदि सातों अखाड़े उपस्थित होते हैं। इन अखाड़ों में साधुओं का एक पीठाधीश्वर, एक मण्डलेश्वर और फिर महामण्डलेश्वर होते हैं। पीठाधीश्वर नए साधुओं को दीक्षित करते हैं। दीक्षा का कर्मकाण्ड बड़ा और जटिल है। इन अखाड़ों का प्रमुख देवता शाही होता है-इनकी एक सेना होती है। इनका ध्वज ही शाही या देवता है। इसकी पूजा-अर्चा अखाड़ों के साधुगण करते हैं। आगे-आगे ध्वज चलता है और उसके पीछे महामण्डलेश्वर आदि चलते हैं। पुरोहित शिप्रा के तट पर उस ध्वजा की पूजा करते हैं- स्नान कराते हैं। इन शाहियों के स्नान के बाद ही समस्त साधु स्नान करते हैं। समस्त नागा साधुओं का स्नान शिप्रा नदी पर स्थित दत्त अखाड़े के घाट पर होता है। इसे 'हरिहर घाट' के नाम से जाना जाता है। दत्त अखाड़े की छत पर दो भगवा निशान लगाए जाते हैं- उसी के नीचे सभी स्नान करते हैं।

इन अखाड़ों के अतिरिक्त उदासीन सम्प्रदाय के दो अखाड़े, जो शिप्रा के पूर्वी भाग में ठहरते हैं, वे शिप्रा के किनारे शिविर के समीप ही स्नान करते हैं। निर्मल अखाड़े के साधु, जो बड़नगर मार्ग पर ठहरते हैं, वे भी नदी के पश्चिम से पूर्व में आकर शिप्रा के किनारे स्नान करते हैं।

वैष्णव सम्प्रदाय के तीन अखाड़े -दिगम्बर, निर्मोही एवं निर्वाणी अंकपात पर ठहरते हैं और रामघाट पर आकर स्नान करते हैं।

जहाँ तक प्रस्तुत कृति का सम्बन्ध है, वह भूतपूर्व अतिरिक्त पुलिस डायरेक्टर जनरल (नॉरकोटिक्स) डॉ. पन्नालाल के सात्विक संकल्प का संमूर्तन है। उन्हीं की प्रेरणा से 'क्लैसिकी शोध संस्थान' की भी स्थापना हुई है, जिसकी अध्यक्षता का दायित्व मुझ पर है। इस संस्था की ओर से अनेक मध्यकालीन महनीय कृतियों का प्रकाशन हुआ है। प्रस्तुत प्रयास भी इसी संस्था की ओर से किया जा रहा है।

---

* आद्य शंकराचार्य ने धर्म (वैदिक) की रक्षा के लिए चार पीठ स्थापित किए थे-शृंगेरी, द्वारका, गोवर्धन तथा जोशीमठ। इनके अन्तर्गत दशनामी संन्यासियों की व्यवस्था की गई है। शृंगेरी के अन्तर्गत (1) पुरी (2) भारती एवं (3) सरस्वती होते हैं। ये मठ दक्षिण में है। दूसरा मठ उत्तर में जोशीमठ है। इसके अन्तर्गत (4) गिरि (5) पर्वत और (6) सागर आते हैं। पश्चिम में द्वारका मठ है। इसके अन्तर्गत (7) वन और (8) अरण्य का समावेश है। गोवर्धन मठ पूर्व में है। इसके अन्तर्गत (9) तीर्थ तथा (10) आश्रम हैं। इन मठों के संन्यासी दण्ड-धारी होते हैं। इन्हें दण्डी संन्यासी कहा जाता है। अवैदिक सम्प्रदायों द्वारा विरोध होने पर विकृतियों की शान्ति के लिए इन संन्यासियों के पुनः दो भाग किए गए-एक संन्यासी वे, जो शास्त्र द्वारा धर्म-प्रचार करते थे या करते हैं और दूसरे वे, जो शस्त्र द्वारा इस लक्ष्य की पूर्ति करने लगे। ये ही नागा संन्यासी कहलाते हैं। ये वस्त्रधारी और निर्वस्त्र दो प्रकार के हैं। नागा संन्यासियों का दल भी छह भागों में विभाजित है-जूना, निरंजनी, निर्वाणी, आवाहन, अटल और आनन्द। ये शिखासूत्र रहित होते हैं। जो शिखासूत्रधारी होते हैं, उनका अखाड़ा है-अग्नि। उज्जैन में इन सबका स्थान निर्धारित है।

प्रस्तुत कृति प्रारम्भिक पुण्य स्मरण और वक्तव्य के अनन्तर चार खण्डों में विभाजित है-

(क) अवन्ती : इतिहास, पुरातत्त्व एवं पर्यटन (ख) अवन्ती : धर्म, दर्शन एवं संस्कृति (ग) अवन्ती क्षेत्र का साहित्यिक अवदान तथा (घ) अवन्ती क्षेत्र का कलात्मक अवदान एवं सिंहस्थ महापर्व।

प्रस्तुत कृति में अवन्ती क्षेत्र या उज्जयिनी सम्भाग के सर्वविध सांस्कृतिक, धार्मिक, सारस्वत तथा प्रशासनिक वैभव को दृष्टिगत कर लेखों की समिधा एकत्र की गई है-फलतः सात्विक ज्योति दीप्त हो उठी है।

उक्त खण्डों में से प्रथम के प्रभारी सम्पादक डॉ. श्यामसुन्दर निगम हैं, जो उज्जयिनीस्थ 'श्री कावेरी शोध संस्थान' के निदेशक और प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के प्रखर मनीषी हैं। साथ ही वे सिंहस्थ पर्व की समितियों के सक्रिय सदस्य भी रहे हैं। 'धर्म, दर्शन एवं संस्कृति' खण्ड के सम्पादन का प्रभार प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्तर्मुख साधक डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित के सबल कंधों पर डाला गया है, जिसे उन्होंने बड़ी रुचि और निष्ठा के साथ सम्पन्न किया है। तृतीय खण्ड के सम्पादन का भार मालवी लोक-साहित्य के विशेषज्ञ और शिष्ट साहित्य के आराधक डॉ. शिव चौरसिया को दिया गया है। उनकी निजी सूझबूझ, मेहनत और लगन की ही यह स्वस्थ परिणति है। चतुर्थ खण्ड हिन्दी साहित्य के उदीयमान शोधी और मेधावी डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा की सम्पादन कला की वासन्तिक परिणति है। ग्रंथ का सुरुचिपूर्ण रूपांकन युवा चित्रकार श्री अक्षय आमेरिया ने किया है।

एतदर्थ आयोजित बैठकों की व्यवस्था का कुशल निर्वहण 'क्लैसिकी शोध संस्थान' के निष्ठावान् और कर्त्तव्यपरायण सचिव डॉ. सत्यनारायण सोनी ने किया। उनका परिश्रम और निष्ठा साधुवाद योग्य है। समिति की बैठकों को यदा-कदा अपनी उपस्थिति से हिन्दी अध्ययनशाला के अध्यक्ष डॉ. हरिमोहन बुधौलिया एवं संस्थान के उपाध्यक्ष डॉ. विनय दुबे ने समृद्ध बनाया।

जहाँ तक इसका आर्थिक पक्ष है-सहयोगदाताओं की सांस्कृतिक निष्ठा और सद्भावना-निर्भर उदारता ने इस दिशा में आने वाली कठिनाइयों और बाधाओं को निःशेष कर दिया। सबकुछ विद्यमान हो, पर सुबुद्ध 'योजक' न हो तो नियोजितों की ऊर्ध्वगामी सात्विक सम्भावनाएँ अचरितार्थ ही रह जाती हैं। इस दिशा का कुशल निर्वाह प्रबन्ध सम्पादिका डॉ. श्रीमती शोभा पन्नालाल ने किया।

यह सारस्वत यज्ञ कभी भी सम्पन्न न होता, यदि सरस्वती के उपासक लेखकों -जिनके यशस्वी नाम लेखों के साथ जुड़े हैं- का योगदान प्राप्त न हुआ होता। प्रातिस्विक रूप से उनका उल्लेख न कर समष्टिशः उन्हें हार्दिक साधुवाद प्रधान सम्पादक के नाते देना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

इस कृति के प्रकाशन का दायित्व नगर के यशस्वी प्रकाशक श्री उमेश गुप्ता ने सँभाला। इस पुनीत दायित्व को सम्भालकर उन्होंने अपने क्षेत्र में एक अव्यावसायिक सात्विक रूप को प्रतिष्ठापित किया है। तदर्थ उन्हें भी धन्यवाद। इसके साथ ही आकृति ऑफसेट्स के श्री विजय शाह सहित अन्य सभी सहयोगकर्त्ताओं के प्रति आभार।

हम भारतीयों का विश्वास है कि केवल पौरुष ही किसी सात्विक संकल्प के सम्मूर्तन में पर्याप्त नहीं होता-तदर्थ नित्यावतार श्री सद्गुरु आचार्यों की कृपा और अनुग्रह भी अनिवार्यतः अपेक्षित होता है। यह पावन पर्व प्रमुख रूप से साधु-सन्तों का है। उनका आशीर्वचन ही हमारी इस सारस्वत यात्रा का पाथेय है। जय महाकाल।

2, स्टेट बैंक कॉलोनी
देवास रोड, उज्जैन (म. प्र.)
महाशिवरात्रि, वि.सं. 2060

- डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
प्रधान सम्पादक

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड □ अवन्ती : धर्म, दर्शन एवं संस्कृति

तृतीय खण्ड □ अवन्ती क्षेत्र का साहित्यिक अवदान

चतुर्थ खण्ड □ अवन्ती क्षेत्र का कलात्मक अवदान एवं सिंहस्थ महापर्व

(क) अवन्ती क्षेत्र का कलात्मक अवदान

उज्जयिनी में वैष्णव धाराएँ

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

भारतवर्ष में चार वैष्णव-सम्प्रदाय प्रतिष्ठित है। चारों ही एक प्रकार से पाञ्चरात्र सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। इन चारों सम्प्रदायों के मूल प्रवर्तक भगवान् विष्णु हैं-इसीलिए ये सभी वैष्णव सम्प्रदाय कहे जाते हैं। यद्यपि ये सभी वैष्णव सम्प्रदाय कहे जाते हैं तथापि तत् तत् सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक कोई न कोई विष्णुभक्त ही रहे-उनके द्वारा प्रवर्तित होने के कारण वे तत् तत् नाम से प्रख्यात हुए। विष्णु भक्त 'श्री' या महालक्ष्मी द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय श्री सम्प्रदाय, विष्णुभक्त रुद्र द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय रुद्र सम्प्रदाय, विष्णुभक्त ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित ब्रह्म सम्प्रदाय तथा विष्णु भक्त चतुःसन (सनक, सनन्दन, सनत् कुमार और सनातन) अथवा परम-हंसों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय हंस सम्प्रदाय के नाम से प्रथित हुआ। ज्ञानमार्गी भाष्यकार आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के ये सभी विपक्षी आचार्य हैं। ये लोग 'भक्ति' को अंगी अथवा पञ्चम पुरुषार्थ मानते हैं। परम्परा में इन चार वैष्णव सम्प्रदायों के साथ दो सम्प्रदाय और जुड़े हैं-महाप्रभु चैतन्यदेव का गौड़ीय सम्प्रदाय और श्रीमद् रामानन्दाचार्य प्रतिष्ठापित रामानन्द सम्प्रदाय। जिस प्रकार किसी-किसी के मत में गौड़ीय सम्प्रदाय की गणना माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानी जाती है, उसी प्रकार श्रीमद् रामानन्दाचार्य प्रतिष्ठापित श्री रामानन्द सम्प्रदाय को भी श्रीमद् रामानुजाचार्य प्रवर्तित रामानुज सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता रहा है। पर सम्प्रति ये दोनों सम्प्रदाय अपनी-अपनी दार्शनिक प्रणाली और उपासना प्रणाली तथा आदर्शों में भी बहुत अंशों में स्पष्ट भेद रखते लक्षित होते हैं। आज इन दोनों का प्रस्थान भेद स्पष्ट रूप से मान्य और प्रतिष्ठित है। प्रस्तुत निबंध में इनके भेदक बिंदुओं पर पर्याप्त चर्चा होगी।

भक्ति मार्ग में शक्ति को स्वीकार करना आवश्यक है। शक्ति के विशुद्ध तथा निर्मल स्वरूप का स्वीकार न करने से ईश्वर, जीव और जगत् तथा उनका परस्पर सम्बन्ध सभी अज्ञानकल्पित होने से हेय हो जायँगे, फलतः भक्ति, करुणा तथा कर्म आदि का स्रोत सूख जाता है। शैव, वैष्णव तथा शाक्त आगमों में जो अद्वैतवाद है, वह भक्ति साधना तथा रस साधना का विरोधी नहीं है। वास्तव में शक्ति ग्रहण मूलक है। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय का अद्वैतवाद शक्ति तथा शक्तिमान् का समन्वयमूलक है। दोनों में समवाय अथवा अविनाभाव सम्बन्ध मानकर प्राचीन वैष्णव आचार्यों ने शक्ति की निष्क्रिय अथवा अव्यक्त अवस्था में भी सत्ता मानी है। सम्प्रति ऐतिहासिक अनुक्रम से संक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है।

1. श्री सम्प्रदाय (रामानुजमत-विशिष्टाद्वैत) :

इस सम्प्रदाय में चित्, अचित् और ईश्वर-ये ही मूल तत्त्व है। इनमें ईश्वर विशेष्य या अंगी हैं-वही सबका धारक और नियामक है। वह चित् और अचित् से विशिष्ट है। सृष्टिकाल में चित् और अचित् स्थूल रहते हैं और प्रलयावस्था में सूक्ष्म। तत्त्वतः दोनों (स्थूल एवं सूक्ष्म) का अद्वैत है। इसीलिए दार्शनिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय को विशिष्टाद्वैती कहा जाता है। चित् तत्त्व आत्मा है। यह ज्ञानात्मक और ज्ञानाश्रय है। वह स्वयम् अणु है पर उसका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है। क्रिया तथा भोग

ज्ञान के ही प्रकार भेद हैं। जीव का कर्त्तव्य ईश्वराधीन है। जीव की आदि स्वातन्त्र्य शक्ति ईश्वर प्रदत्त है, अतएव उसकी स्वाधीनता भी ईश्वर प्रदत्त है। इसीलिए भगवद्दास्य या कैंकर्य ही जीव के लिए यथार्थ स्वातन्त्र्य अथवा परम पुरुषार्थ है। इनकी मुक्ति का स्वरूप लक्षण इसी से स्पष्ट होता है। यह आत्मा तीन प्रकार का माना जाता है-बद्ध, मुक्त तथा नित्य, ये सभी अनन्त हैं। अचित् प्रकृति है। इसी के संसर्गवश आत्मा में अविद्या, कर्म, वासना तथा रुचि उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध की निवृत्ति से अविद्या आदि की भी निवृत्ति हो जाती है। ईश्वर तत्त्व ही मूल तत्त्व है-चित् और अचित् इसी के आश्रित हैं। वे इसकी देह हैं। लक्ष्मी, भू तथा लीला उनकी शक्तियाँ हैं। उनका स्वरूप पंचविध है-पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार।

इस सम्प्रदाय में उपासना का नामान्तर निदिध्यासन है। इसी को ज्ञान और भक्ति भी कहते हैं। भक्ति भी ज्ञान विशेष ही है। तैलधारवत् अविच्छिन्न स्मृतिधारा ही ध्यान या ध्रुवा स्मृति है-जो मुक्ति का साक्षात् साधन है। भावना के प्रकर्ष से स्मृति ही दर्शन रूप में परिणत होकर अपरोक्षत्व लाभ करती है। उपासना जब भक्ति का रूप धारण कर लेती है तब परमात्मा प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नता से ही बन्धन कटता है। बन्धन निवृत्ति का यही उपाय है। उपासक को चाहिए कि वह वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान करे और अपने को भगवदनुगृहीत समझकर भक्तियोग का अभ्यास करें। इस प्रसंग में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का ही उल्लेख मिलता है। इनमें भक्ति ही उपाय है। ज्ञान तथा कर्म यानी ज्ञानपूर्वक कर्म का अनुष्ठान चित्तशुद्धि का द्वार मात्र है। भक्तियोग के अभ्यस्त होने पर पराभक्ति का उदय होता है। यह पराभक्ति ज्ञान की परिपक्व अवस्था है। पराभक्ति के बाद पर ज्ञान अथवा साक्षात्कार का उदय होता है। ब्रह्म साक्षात्कार के बाद इस पराशक्ति से ही परमभक्ति का आविर्भाव होता है। यही परमभक्ति भगवत् प्राप्ति है। रामानुजाचार्य का यही क्रम है। इनकी दास्यभाव मूलक भक्ति भी नित्य है। मोक्ष और कुछ नहीं, भक्ति की ही अवाधित स्वाभाविक स्फूर्त्ति है। दास्य भाव की यह सेवा द्विविध है-कैंकर्य और रूपसेवा। इनके महाप्रयाण का एक विशिष्ट क्रम है।

यह मत अति प्राचीन है। पराशर, व्यासदेव, बोधायन, टङ्क, दमिड़, पराङ्कुश, नाथमुनि तथा यामनुाचार्य ने एक लम्बी परम्परा में इसको विकसित किया है। रामानुजाचार्य इसके प्रतिष्ठाता मात्र है न कि आदि प्रवर्तक। प्राचीन काल में वारह भक्तिसिद्ध महापुरुष प्रादुर्भूत हुए-जिन्हें 'आलवार' कहा जाता है। इन आलवारों के अलावा जिन्होंने वैष्णव धर्म का प्रचार किया-वे 'आचार्य' नाम से प्रख्यात हुए। इन आचार्यों में नाथमुनि सर्वप्रथम गणनीय हैं। विशिष्टाद्वैत प्रणाली का सूत्रपात इन्हीं से माना जा सकता है। इनके पौत्र थे-यामुनाचार्य। इन्हीं के बाद रामानुजाचार्य (1017-1137 ई.) का क्रम है। दक्षिण देश में श्री वैष्णव सम्प्रदाय में उपासना भेद से दो भेद हो गए टेङ्गलई (दक्षिणपथ) तथा वड़गलई। पहली में कृपा अथवा प्रपत्ति का प्राधान्य अधिक है। वड़गलइयों में कृपा प्राप्ति में कर्मादि की सापेक्षता है। बड्गलई मानते हैं कि प्रपत्ति भगवत्प्राप्ति का एक उपाय है-टेङ्गलई कहते हैं कि यही एक मात्र उपाय है। शक्ति के विषय में भी मतभेद है। वड़गलई मानते हैं कि नारायण की तरह उनके समान श्री की भी मोक्ष प्रदान में शक्ति है पर टेङ्गलई यह नहीं मानते।

उज्जयिनी में इस सम्प्रदाय का पीठ है। संभवतः यहाँ इस सम्प्रदाय के श्री तोताद्रिस्वामी उज्जैन आए थे और अपने सम्प्रदाय का प्रचार किया था। यहाँ रामानुजकोट है-प्राचीन और अर्वाचीन उभयविध। कुछ लोग मानते हैं कि प्राचीन रामानुज कोट की मूर्ति को ही नवीन रामानुज कोट में स्थापित किया गया है। इस वर्तमान रामानुज कोट का विस्तृत वर्णन 'वैदिक मनोहर' नामक पत्रिका में प्रकाशित है। वर्तमान रामानुजकोट का विशाल भवन रामघाट पर स्थित है। इसके निर्माता स्वामी गरुड़ध्वजाचार्यजी हैं-इन्होंने इसका एक ट्रस्ट भी स्थापित किया है। इनके बाद स्वामी भगवताचार्य इस पीठ के अधीश्वर बने-जो वृंदावन निवासी थे। सम्प्रति श्री स्वामी रंगनाथाचार्य जी पीठ पर आसीन हैं। उनकी देखरेख में यहाँ सबकुछ चलता है।

2. रामानन्द सम्प्रदाय

सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥

प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय का एक प्रवर्तक और दूसरा प्रचारक आचार्य होता है। प्रवर्तक आचार्य दिव्य सत्ता ही होती है और प्रचारक मानव रूप में अवतरित। श्री रामानुजाचार्य वैष्णवी भक्ति के तथा श्री रामानन्दाचार्य रामभक्ति के प्रचारक आचार्य माने जाते हैं। यह सवाल स्वाभाविक है कि जब पहले रामभक्तिपरक सम्प्रदाय नहीं था तो एकाएक आ कहाँ से गया? इस प्रश्न पर चिन्तकों में दो दल हैं-एक दल मानता है कि तीर्थाटन से वापस आने पर खान-पान के नियम में व्यतिक्रम के बिंदु पर मतभेद हुआ-फलतः अपने गुरुवर्य राघवानन्द के निर्देश पर इन्होंने नया सम्प्रदाय चलाया। दूसरा मत मानता है कि दाक्षिणात्य रामावत सम्प्रदाय के वैरागी राघवानन्द ने उत्तर भारत में आकर श्री रामानन्द को अपना शिष्य बना लिया। इस प्रकार श्री रामानन्द को रामभक्ति अपने गुरु श्री राघवानन्द से और दर्शन उत्तर भारत के रामानुज सम्प्रदाय से मिला। ये लोग वाल्मीकि रामायण और अध्यात्मरामायण-दोनों को अपना साम्प्रदायिक ग्रंथ मानते हैं। इन लोगों का यह भी विश्वास है कि आदि में केवल एक श्री सम्प्रदाय ही था-बाद में उसकी दो शाखाएँ हो गईं-और यह उपासना भेद के कारण हुआ। इस शाखा के प्रमुख आचार्य बोधायन थे। सम्प्रति यही दूसरा पक्ष इस समय सर्वत्र मान्य है। वैसे आचार्यों में इस पर विवाद होता रहा है। श्री रामानुज और श्री रामानन्द के सम्प्रदायों में अन्तर इस प्रकार है-

	रामानन्द सम्प्रदाय	रामानुज सम्प्रदाय
प्रवर्तक	(1) श्री अर्थात् श्री सीता	(1) श्री अर्थात् लक्ष्मी
परात्पर ब्रह्म	(2) आराध्य राम	(2) आराध्य विष्णु-नारायण
मंत्र	(3) रां रामाय नमः	(3) ओं नारायणाय नमः
	(4) हनुमानजी पूज्य देव हैं	(4) उपेक्षित है वे -इत्यादि

विभिन्न मतमतान्तरों के बावजूद सम्प्रदाय में मान्यता यही है कि उनकी जन्मतिथि सं. 1356 की माघ कृष्ण सप्तमी है। 'अगस्त्य संहिता' के अनुसार इनका जन्म प्रयाग में हुआ था। उनका सम्प्रदाय केन्द्र काशी का पंच गंगाघाट है। अगस्त्य संहिता के ही अनुसार इनके पिता पुण्य सदन और माता सुशीला देवी थीं-वे जाति से कान्यकुब्ज थे। सम्प्रति, पंचगंगास्थित श्री मठ के पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्री रामनरेशाचार्यजी हैं। उन्होंने मठ का कायाकल्प कर दिया है।

इस रामावत सम्प्रदाय में श्री राम के पाँच रूप-पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार-माने गये हैं। इन पाँचों रूपों में श्री राम का सीताजी से कभी वियोग नहीं होता। श्री सीताजी के द्वारा ही श्री राम की प्राप्ति होती है। ये ही पुरुषकारभूता भी हैं और उपाय भी। आगे चलकर इस धारा में रसिक साधना का भी समावेश हुआ और तब श्री सीता की महत्ता और बढ़ गई। जीव शेष है और श्री राम शेषी। इनके मत से जीव बद्धावस्था में बुमुक्षु और मुमुक्षु-द्विविध है। मुमुक्षु भी द्विविध हैं-दृप्त तथा आर्त। पुरुषकार के भी दो रूप हैं-आचार्य कृपामात्र प्रयत्न तथा महापुरुष सेवातिरेकज प्रयत्न। मुक्तजीव भी द्विविध हैं-कादाचित्क और नित्य। नित्य भी परिजन और परिच्छद तथा कादाचित्क भागवत और केवल द्विविध माने जाते हैं।

भगवान् के अनुग्रह से कर्मबन्धनों से मुक्त होकर साकेत लोक की प्राप्ति तथा सायुज्य लाभ ही इनके यहाँ चरम प्राप्य है। साधन रूप में भक्ति का विधान है। भक्ति के साथ प्रपत्ति भी है। एतदर्थ आवश्यक है-मुद्रांकण, ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण, नामकरण, मंत्रजाप, तुलसी की कण्ठी। श्री गुरु शिष्य को परीक्षित कर तप्तचक्रादि से उसकी भुजाओं को अंकित करता है। यह सब भक्ति की भूमिका है। परमात्मा के प्रति अनन्य राग ही भक्ति है। फलतः विवेक तथा यमोदि अष्टक भी सहकारी हैं। भक्ति के दो रूप हैं-गौणी और परा। गौणी के भी दो भेद वैधी और रागानुगा। गौणी साधन है और परासाध्य। प्रपत्ति तथा न्यास-ये दो भक्ति के प्रमुख अंग है। इनके अतिरिक्त पूजा सिद्धान्त तथा कर्मकाण्ड का भी विशद विवरण है। वैसे 'आनन्दभाष्य' में कर्मकाण्ड को इतना महत्त्व नहीं दिया गया है।

उज्जयिनी में इस सम्प्रदाय के कुछ अखाड़े अंकपात में हैं। इस सम्प्रदाय की रसिक धारा के एक संत कृपानिवास हो गए हैं। यहाँ गोलामंडी, उज्जैन में 'कृपानिवास जी का मन्दिर' स्थित है-जहाँ इस धारा के आचार्य महंतों की शृंखला अब भी बरकरार है। इसी धारा से संबद्ध अंकपात मार्ग पर 'रामप्रसाद जी का संस्थान' है।

3. निम्बार्कमत :

श्री निम्बार्काचार्य भेदाभेदवादी थे और मानते थे कि जीव और ब्रह्म में भेदाभेद जीव की चाहे वृद्ध दशा हो या मुक्त-दोनों अवस्थाओं में होता है। निम्बार्क नारद के और नारद हंसरूपी भगवान् के शिष्य तथा अनुचर हैं। स्वयम् निम्बार्क भगवान् के सुदर्शन-चक्र के अवतार माने जाते हैं। वे जयन्ती देवी के गर्भ से उत्पन्न अरुणमुनि के औरस पुत्र थे। इस सम्प्रदाय का प्रामाणिक और मूल ग्रंथ निम्बार्क विरचित 'वेदान्त पारिजात सौरभ' है। निम्बार्क की 'दशश्लोकी' में ज्ञेय पंचविध पदार्थों का निरूपण है। 'सविशेष निर्विशेष श्री कृष्णस्तवराज' भी इन्हीं का विरचित ग्रंथ है। इसमें कुल 25 श्लोक हैं।

निम्बार्क के अनुसार, चित्, अचित् और ब्रह्म भेद से तीन प्रकार के तत्त्व हैं। चित् जीव है जो ज्ञानात्मा और ज्ञानाश्रय है-अुणरूप है-अहं प्रतीति का विषय और कर्त्तव्य सम्पन्न है। यह प्रति शरीर भिन्न है और बन्धन तथा मुक्ति की योग्यता से सम्पन्न है। भगवान् पुरुषोत्तम जीवमात्र की अन्तरात्मा है। जीव नित्य, बद्ध और मुक्त त्रिविध है। अनादि कर्मरूप अविद्या ही प्रकृति से संसर्ग जनित बन्धन का कारण है। सद्गुरु-उपदिष्ट-मार्ग के अनुसरण से भगवान् की अहेतुक कृपा होती है-जिसके प्रभाव से मुक्ति मिलती है। यह मुक्ति भगवद्भावापत्ति रूप तो कही ही जाती है-स्वरूप प्राप्ति स्वरूप भी मानी जाती है। तभी जीव अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

अचित् तत्त्व त्रिविध है-प्राकृत, अप्राकृत और काल। त्रिगुणाश्रयभूत द्रव्य प्राकृत है। यह कारण रूप से नित्य और कार्यरूप से अनित्य है। अचित् तत्त्व का अप्राकृत अंश विशुद्ध सत्त्व है। काल नित्य और विभु है।

ब्रह्म चित्-अचित् से विलक्षण है और चित्-अचित् ब्रह्मस्वरूप हैं। चित् ब्रह्म से भिन्न होकर भी ब्रह्मांश के कारण अभिन्न है। इस प्रकार यहाँ विभाग सहिष्णु अविभाग भी वर्तमान है। इस सम्प्रदाय का उज्जैन में एक मन्दिर है, जिसे 'आदिनारायण मन्दिर' कहा जाता है।

4. ब्रह्मसम्प्रदाय (माध्वमत, द्वैतवादी)

जिस प्रकार आचार्य शंकर ने द्वैतभाव को मायाकृत मानकर सब जगह से हटाया है, उसी प्रकार श्री मध्वाचार्य ने भी स्व प्रचारित द्वैत सिद्धान्त को सब प्रकार की अद्वैतगन्ध से मुक्त करने का प्रयास किया है। सन् 1199 ई. में मध्यगेह नामक ब्राह्मण से वेदवती अथवा वेदविद्या नामक जननी के गर्भ से दक्षिण कन्नड़-देश स्थित उडिपी जिले के विल्वग्राम में इनका जन्म हुआ था। प्रसिद्धि है कि ये वायु के अवतार थे और अनेक ग्रंथों की रचना की थी। अणुभाष्य तो है ही।

श्री मध्वाचार्य कट्टर द्वैतवादी थे। उनके मत में भेद स्वाभाविक और नित्य है। यह भेद पाँच प्रकार का है-ईश्वर का जड़ और जीव से भेद, जीव का जड़ पदार्थ और पारस्परिक भेद तथा एक जड़ पदार्थ अन्य जड़ पदार्थ से भेद। कहा गया है-'तत्त्वनिर्णय' में

जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथ श्चैव, जड जीव भिदा तथा।
मिथ श्च जड़ भेदोऽयं प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्यो त्वनादिश्च सादि श्चेन्नाशमाप्नुयात्।।

जब तक यह तत्त्विक भेद उदित नहीं होता, तब तक मुक्ति की आशा नहीं। बन्धन अभेद ज्ञान से ही हुआ है।

माध्वमत में पदार्थ दस हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, निशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। द्रव्य भी बीस प्रकार हैं, इसी प्रकार औरों के भी भेद-प्रभेद हैं।

इस मत में परमेश्वर के अनुग्रह से भगवद्दर्शन होता है। तदनन्तर उनकी अनन्त कल्याणगुणावली का ज्ञान होता है-फलतः अखण्ड प्रेम प्रवाह पैदा होता है। यही परम भक्ति है। इसका फल परमात्मा का परमानुग्रह है। इससे जीव संसार से छुटकारा पा जाता है। यह मुक्ति चार प्रकार की है-कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादि मार्ग तथा भोग। भोग चतुर्विध है-सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य।

इस सम्प्रदाय का एक मन्दिर उज्जयिनी में 'कुंजविहारी' नाम से जाना जाता है

5. रुद्र सम्प्रदाय (वल्लभ मत-शुद्धाद्वैत) :

इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्त्तक थे श्री विष्णु स्वामी, परन्तु प्रचारक रहे श्री वल्लभाचार्य। आचार्य वल्लभ लक्ष्मण भट्ट नामक कृष्ण यजुर्वेदीय तैलङ्ग ब्राह्मण के पुत्र थे। उनकी माता का नाम था एलमागार। काशी की तीर्थयात्रा के दौरान उनका जन्म हुआ था। इनका आविर्भावकाल 1478 ई. है। कहा जाता है कि गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ नामक गोपालकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए थे और कहा था कि वे वहाँ मन्दिर निर्माण करें और पुष्टिमार्ग का प्रचार करें।

'शुद्धाद्वैत' इनका दार्शनिक सिद्धान्त है। शुद्धाद्वैत में कर्मधारय और षष्ठी तत्पुरुष-दोनों समास है। पहली के अनुसार इनका ब्रह्म शंकर की तरह माया-शबल अर्थात् अशुद्ध नहीं, 'शुद्ध है। दूसरी के अनुसार कारणावस्थ सूक्ष्म तथा कार्यावस्थ स्थूल दोनों का अद्वैत है। इस मत में ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट और विरुद्ध धर्माश्रय है। यह आधिदैविक परब्रह्म, आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म तथा आधिभौतिक = जगत्-त्रिविध है। अक्षरब्रह्म क्षर पुरुष (प्रकृति) से श्रेष्ठ है, परन्तु पर ब्रह्म या पुरुषोत्तम उससे भी श्रेष्ठ है। अक्षर ब्रह्म में आनन्दांश का किञ्चित् तिरोधान होता है, अतः वह गणितानन्द है। अनुरूप जीव में आनन्दांश का समग्रतः तिरोधान है और जगत् में आनन्दांश और चिदंश-दोनों का तिरोधान है। तत्त्वतः हैं सब ब्रह्म ही। सर्व-भवन-सामर्थ्यरूपा माया इसकी शक्ति है। जगत् सत्य है-पर अहन्ता-ममता रूप संसार अनित्य है।

भगवान् की जब रमणेच्छा होती है तब वे उक्त रूपों को तिरोहित कर जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। यह शुद्ध, मुक्त और संसारी त्रिविध है। अविद्या के संबंध से पूर्व जीव 'शुद्ध' और संबद्ध होने पर 'संसारी' कहलाता है। संसारी भी दैव और आसुर द्विविध है। दैव जीव भी मर्यादामार्गी और पुष्टिमार्गी द्विविध हैं। मुक्तों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। नैसर्गिक अनुग्रह लाभ करने पर जीव में तिरोहित आनन्द व्यक्त हो जाता है तब वह स्वयम् सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है।

यहाँ जगत् का आविर्भाव-तिरोभाव होता है, उत्पाद-विनाश नहीं। इस के विषय में यहाँ 'अविकृत परिणामवाद' चलता है। इनके यहाँ अविद्या पञ्चपर्वा है-स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास और अन्तःकरणाध्यास।

भगवत्प्राप्ति का सुगम उपाय भक्ति है। भगवान् के स्वरूपानुसार मार्ग भी त्रिविध हैं। आधिभौतिक कर्म मार्ग है, आध्यात्मिक ज्ञानमार्ग है और आधिदैविक भक्ति मार्ग है। इनका भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग है। यह चतुर्विध है-प्रवाह, मर्यादा, पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। पहली तीन यत्न सापेक्ष हैं और अंतिम केवल अनुग्रह सापेक्ष। आचार्य द्वारा ब्रह्मसम्बन्ध होने पर पुष्टि पुष्टि से भगवद्भक्ति का उपयोगी ज्ञान सम्पन्न होता है। शुद्ध पुष्टि से ही नित्य लीला में अन्तः प्रवेश संभव है।

उज्जैन में गोमती कुंड पर आचार्य की एक बैठक है। अब यह स्थान दर्शनीय बना दिया गया है। आचार्य संभवतः 1546 संवत् में यहाँ आए थे और एक बैठक भी ली थी। प्रसिद्धि है कि उनके पौत्र गोकुलनाथजी भी यहाँ आए थे, जिनकी चरणपादुका आज भी छोटे सराफा में स्थित

मदन-मोहन हवेली में है। आचार्य के सेवक पद्मारावल के पुत्र थे कृष्ण भट्ट। ये यात्री वैष्णवों के प्रति बड़े सहृदय थे। यहाँ पुष्टिमार्गी चाचा हितहरिवंश भी आए थे। संप्रति उज्जैन में पुष्टि मार्ग के पाँच मन्दिर प्रतिष्ठित हैं- (1) मदन मोहन का मन्दिर-यह हवेली छोटे सराफे में मिर्जावाड़ी के मार्ग में है। (2) श्रीनाथ जी का मन्दिर-यह हवेली ढाबारोड़ पर स्थित है। इस मन्दिर के निर्माता माधव मुरार थे। (3) तीसरा श्री पुरुषोत्तम मन्दिर और (4) चौथा मन्दिर सिंहपुरी में है। (5) पाँचवाँ प्रतिष्ठित स्थान तो गोमती कुंड पर है ही।

6. चैतन्यमत या गौडीय मत :

श्री चैतन्यदेव (ई. 1485 से 1533 ई.) वल्लभाचार्य के समसामयिक थे। इन्होंने नवद्वीप में जन्मग्रहण किया था। इनके दो शिष्य थे-श्री रूपगोस्वामी तथा श्री सनातन गोस्वामी। इन लोगों ने ही प्रामाणिक ग्रंथ का निर्माण कर चैतन्यमत की स्थापना की थी। सनातन के छोटे भाई वल्लभ के पुत्र श्री जीव गोस्वामी का नाम उल्लेख्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो इसे माध्वमत से जोड़ा जाता है, परन्तु इनकी दार्शनिक दृष्टि द्वैतवाद से सर्वथा भिन्न है। ये लोग 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' के उपस्थापक और प्रचारक हैं।

इनका ब्रह्म भी आचार्य शंकर की तरह सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद रहित है। यह सच्चिदानन्द है। अचिन्त्याकार तथा अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं, तथापि तीन शक्तियाँ प्रमुख हैं-स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति और माया शक्ति। स्वरूप शक्ति ही चित् शक्ति या अंतरंगा शक्ति है। वह एकात्मिका होने पर भी त्रिविध रूपों में अभिव्यक्त होती है-संधिनी, संवित् और ह्लादिनी। पहली से सत्तासादन, दूसरी से ज्ञानदान और तीसरी से वे आनन्दित होते हैं। इनके अतिरिक्त तटस्था यानी जीव शक्ति, बहिरंगा माया शक्ति और अंतरंगा ह्लादिनी है। श्रीमद्भागवत के अनुसार वे ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् की सक्रम व्याख्या करते हैं। जगत् सत्य है-कारण यह उनकी बहिरंगा शक्ति का विकास है। अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान् के साथ न तो यह प्रपंच एकान्ततः भिन्न प्रतीत होता है और न ही अभिन्न। इसीलिए इनका पक्ष 'अचिन्त्यभेदाभेद' के नाम से प्रसिद्ध है।

जहाँ तक साधन पक्ष का संबंध है-भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। कर्म का उपयोग चित्तशुद्धि में है-तभी चित्त ज्ञान और भक्ति में उपयोगी हो पाता है। यहाँ ज्ञान भी द्विविध है-केवल ज्ञान तथा विज्ञान। त्वम् पदार्थ के ज्ञान से कैवल्यज्ञान और विज्ञान या भक्ति के द्वारा भक्त न केवल भगवत्प्रसाद प्राप्त करता है अपितु भगवद्वशीकार भी कर लेता है। संवित् तथा ह्लादिनी का सम्मिश्रण भक्ति का सार है। पंचम पुरुषार्थ स्वरूपा भक्ति ह्लादिनी की ही वृत्ति है। भगवान् के दो रूप हैं-ऐश्वर्य और माधुर्य। ऐश्वर्य ज्ञान से वह स्वकीय भाव भूल जाता है, परन्तु माधुर्य-जो नरलीला में प्रकट होता है-में वह शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य को नहीं खो पाता। भक्ति भी द्विविध है-वैधीभक्ति और रुचिभक्ति। दूसरी पहली से श्रेयस्कर है। इसमें भक्त भगवान् को प्रियतम रूप में ग्रहण करता है तथा अलौकिक आनन्द का अनुभव करता हुआ भगवद्धाम को प्राप्त करता है। ब्रजगोपिकाओं में यही भक्ति व्यक्त हुई है। यह प्रतीति ह्लादिनी शक्ति ही है। यह उपाय नहीं, उपेय है।

❑

प्रणति-निवेदन

हमारी संस्कृति में धर्माचार्यों को नित्यावतार माना जाता है और माना जाता है कि भक्तों पर कृपालु होने के कारण लोक मंगल के निमित्त परासत्ता मानवाकार में प्रकृतिस्थ होते हुए भी अपनी योगमाया से संभूत या प्रकट होती रहती है। यह सत्य सार्वभौम है। भारतीय और सभी आध्यात्मिक संस्कृतियों में इसके अकाट्य प्रमाण मिलते हैं। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में तो प्रसिद्ध ही है- 'रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले' अर्थात् स्वयं राम ही लोकमंगल सम्पादन के निमित्त भूतल पर अवतरित हुए थे।

सभी संस्कृतियाँ भी इस सत्य का समर्थन करती हैं। सूफियों की मान्यता है कि मंसूर हल्लाज रूहानी चढ़ाई की तीन मंजिलें मानते हैं- परासत्तातक, परासत्ता में और फिर परासत्ता से। परासत्ता से एक रस होने के बाद लोकमंगल के निष्पादनार्थ भूतल पर वही उतरता है। प्रसिद्धि है-

मौला आदमी बन आया

आदमी का उद्धार 'पूर्णमानव' (इन्सानुलकामिल) ही कर सकंता है।

ईसाई भी मानते हैं- "Word came on earth, took flesh and moved among men" वे Word को God ही मानते हैं। वे कहते हैं- "In the begining there was the word, and the word was with the God and the God was the word" (New Testament) इस प्रकार इस सार्वभौम सत्य की प्रतिष्ठा में कोई संदेह नहीं रह जाता कि परासत्ता ही नित्य अवतार आचार्य के रूप में लोकमंगल के निमित्त पृथ्वी पर निरन्तर विद्यमान रहती है।

अन्यत्र भी कहा गया है-

गुणातीतोऽक्षरं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
नरो जानन्निदं तत्त्वं मुच्यते भवबन्धनात्।

वह परासत्ता गुणातीत, अविनश्वर, ऐश्वर्य सम्पन्न तथा पुरुषोत्तम है। इस तत्त्व को जानता हुआ मनुष्य भव बन्धन से मुक्त हो जाता है। पर प्रश्न यह है कि यह जाना कैसे जाय? श्रीमद्भगवद्गीता इसका समाधान करती हुई कहती है-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि उसे जानो, पर जानने के लिए तत्त्वदर्शी नित्यत्वतार श्री सद्गुरु के पास जाओ। वहाँ निश्छल और निर्व्याज होकर सर्वात्मना निरहङ्कृत एवं समर्पणभाव से जाकर प्रणिपात करो। इतने से कुछ होता है तो ठीक, अन्यथा अपनी जिज्ञासा अथवा परिप्रश्न उनके समक्ष रखो और उपदेश ग्रहण करो। निर्दिष्ट पद्धति पर चित्त को दृढ़ता के साथ लगाने के लिए मनन करो, पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक सोचते रहो और अंततः निर्वातनिष्कम्प दीपशिखा की तरह अटूट वृत्ति से उससे

जुड़े रहो–यह प्रक्रिया परमसत्ता के साक्षात्कार तक साधक को ले जायेगी। यदि साधक में यह क्षमता न हो तो एकमात्र मार्ग सेवा या भक्ति का है। गोस्वामी जी ने कहा है–

भगति करत विनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अविद्या नासा।

सेवाधर्म बड़ा कठिन है। उन्होंने ही कहा है–

सेवा धरम कठिन जग जाना
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।।

आगम–निगम और पुराण में प्रसिद्ध है कि सेवाधर्म बड़ा कठिन है। अन्यत्र भी कहा गया है–

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

और तो और, योगियों के लिए भी परम गहन और अगम्य हो जाता है। पर परासत्ता के ज्ञान के लिए इससे सहज और सुकर दूसरा रास्ता भी नहीं है।

इस प्रकार आत्मदर्शन जिसकी कृपा से संभव है–वह यही नित्यावतार श्री सद्गुरु आचार्य हैं। उसकी कृपा से सब कुछ सम्भव है। अनादि उज्जयिनी का गहरा सम्बन्ध समुद्र मंथन के आख्यान से है, जो कुंभ महापर्व का कारण बना। उज्जयिनी में आयोजित सनातन संस्कृति के महापर्व कुंभ (सिंहस्थ) में सम्मिलित होने वाले धर्माचार्यों को प्रणति निवेदनपूर्वक अपनी लेखनी को विराम प्रदान करता हूँ।

26 जनवरी 2004
203, रानी बाग,
खंडवा रोड़, इन्दौर (म. प्र.)

–डॉ. पन्नालाल
आई.पी.एस.
भूतपूर्व अतिरिक्त पुलिस महानिदेशक (नारकोटिक्स)

कुंभ उद्भव/अभिषेक तोमर

उज्जयिनी के ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर

डॉ. श्रीमती शोभा पन्नालाल

महाकवि कालिदास, जिन्हें आचार्य अभिनवगुप्त 'भगवदनुग्रह पवित्रितवाक्' कहते हैं–आन्तरिक एवं बाह्य साक्ष्य पर शैव ही ठहरते हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ न केवल शिवपरक स्तुतियाँ हैं– वरन् ग्रंथों के अन्तर्गत भी उनकी स्तुतियाँ और समर्पण–निर्भर श्लोक राशि विद्यमान है। डॉ. शशिभूषण दासगुप्ता का मत है कि रहस्योपासना की आगमिक धारा प्रागैतिहासिक काल से निरन्तर प्रवाहमान होती रही हैं। आचार प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों में से जो भी उससे जुड़ा उससे न केवल प्रभावित हुआ अपितु उसकी बहुत सारी मान्यताएँ एवं साधनाएँ भी आत्मसात् कर लीं। उज्जयिनी से भीतर से जुड़े महाकवि कालिदास में भी यह धारा संक्रान्त प्रतीत होती है। 'विक्रमोर्वशीयम्' उनका प्रख्यात नाटक है। उसका मंगल श्लोक है–

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी,
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते,
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभः निःश्रेयसायास्तु यः।

अर्थात् वेदान्ती लोग जिन्हें ऐसा अकेला पुरुष बताते हैं जो पृथ्वी और आकाश में रमा हुआ होने पर भी सबसे अलग बना रहता है, जिनका ईश्वर नाम ऐसा सटीक और सच्चा है कि और किसी को भी इस नाम से नहीं पुकारा जा सकता। मोक्ष पाने की इच्छा करने वाले लोग जिन्हें प्राणायाम साधकर अपने हृदय के भीतर खोजते हैं, वे सच्ची भक्ति से मिलने वाले शिव जी आप सब लोगों का कल्याण करे। यह नमस्कारात्मक मंगलाचरण है। इसमें ध्यान देने के योग्य प्रयोग है– 'यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषय' – ईश्वर संज्ञा का प्रयोग अनेक ब्राह्मण परम्परा के आस्तिक दर्शनों में भी मिलता है, पर उन सभी दर्शनों में ईश्वर सृष्टि निर्माण में अपने से भिन्न सामग्री की अपेक्षा रखता है–फलतः वह स्वयं में अपनी अनश्वरता ही व्यक्त करता है–यह तो केवल कश्मीरी शैवागम का अद्वयवादी दर्शन ही है जहाँ सृष्टि में ईश्वर स्वयं पर्याप्त है। अपने कर्त्तव्य में वह अन्य सापेक्ष नहीं है। यही तो सच्चा ऐश्वर्य है–वह जिसमें विद्यमान हो–वही 'ईश्वर' है, अन्यत्र कहा गया है–

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगचचित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने।

वह नटराज शिव सृष्टि निर्माण में, जगत चित्र निर्माण में, न तो अलग से उपादान सामग्री की अपेक्षा रखता है और न ही फलक का। ऐसे स्वतंत्र अन्य निरपेक्ष शिव को प्रणाम है। इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि उज्जयिनी से जुड़े कालिदास के आराध्य 'ईश्वर' आगम सम्मत ही ईश्वर हैं। सिंहस्थ के इस अवसर पर उनका विनय–निर्भर स्मरण हम सबके लिए कल्याणकारी है।

❑
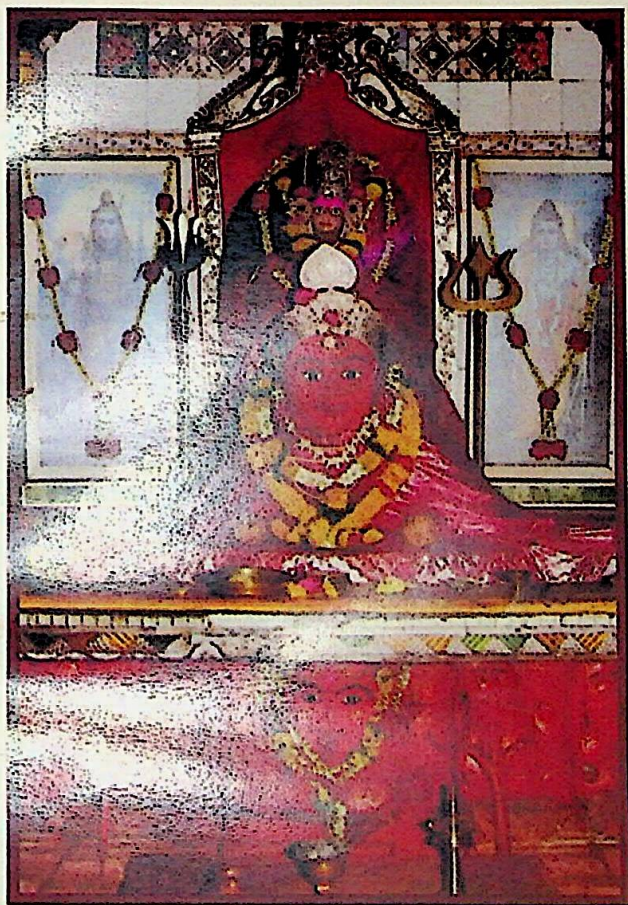
हरसिद्धि, उज्जैन
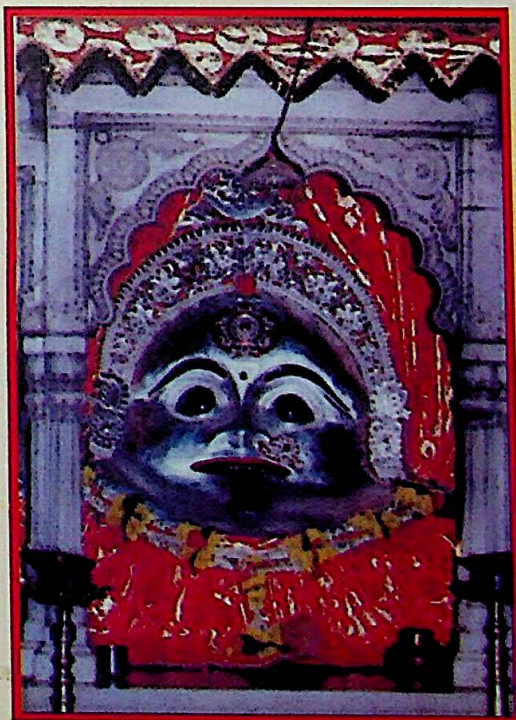
गढ़कालिका, उज्जैन
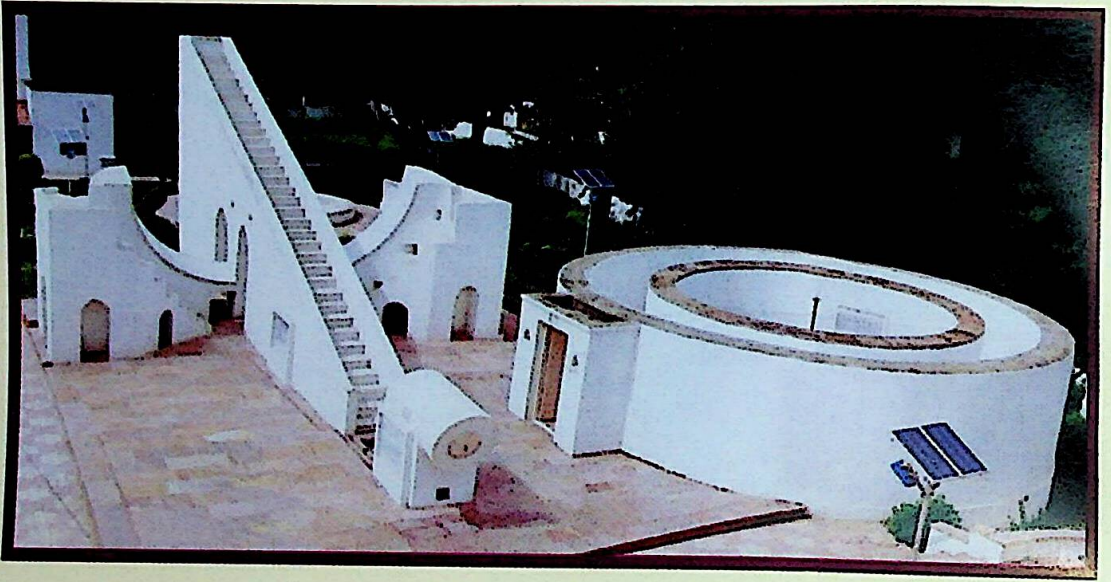
वेधशाला (जन्तर–मन्तर), 17वीं–18वीं शती, उज्जैन
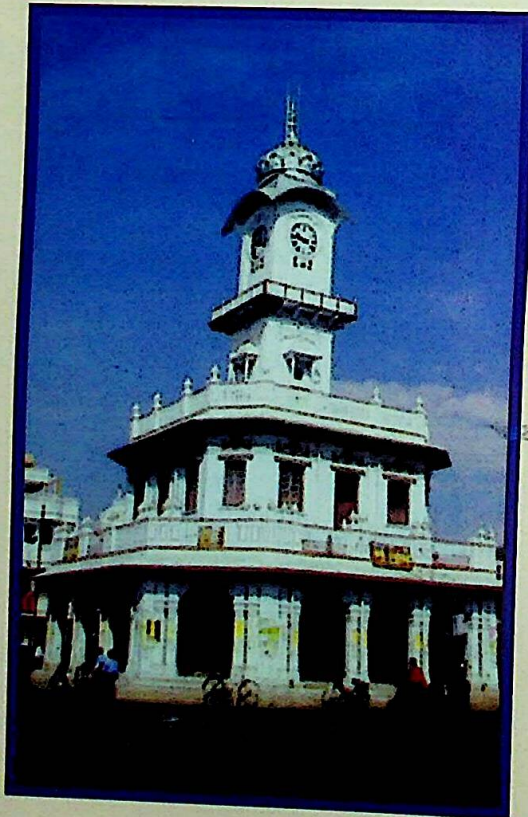
घण्टाघर, उज्जैन
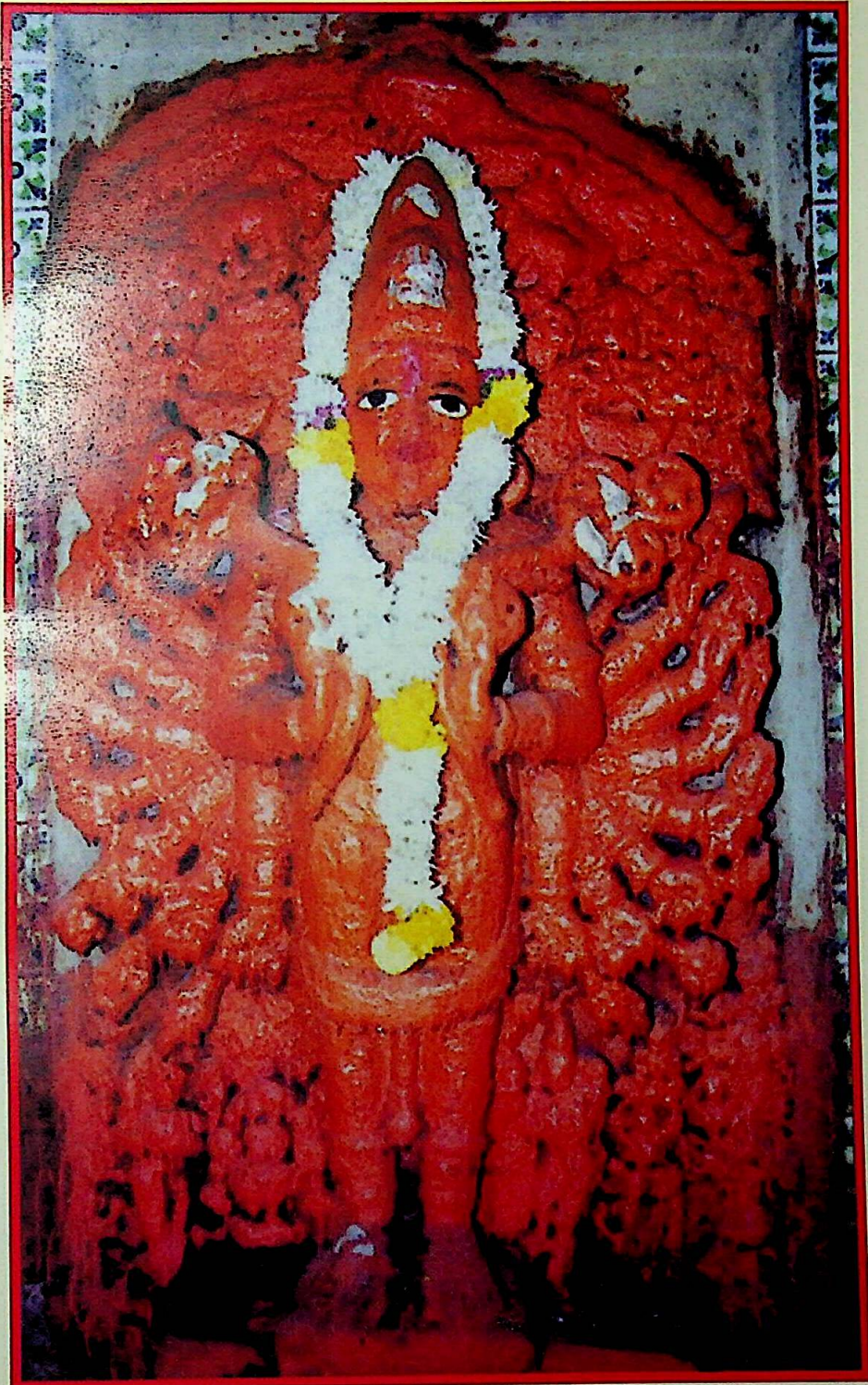
कर्णावती माता, करेड़ी (शाजापुर)
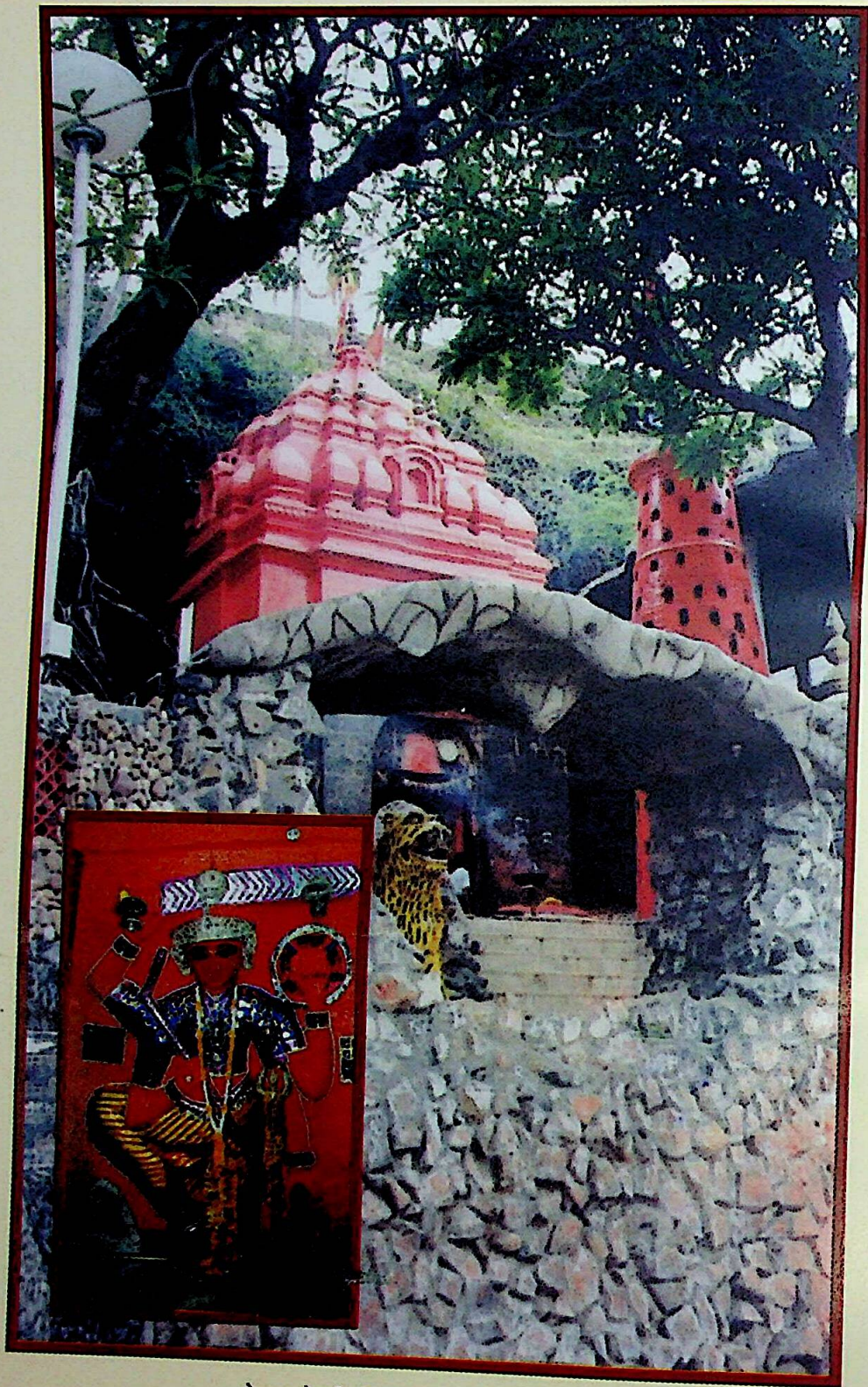
देवास टेकरी स्थित चामुण्डा माता मन्दिर

उमा–महेश्वर (हिंगलाजगढ़)
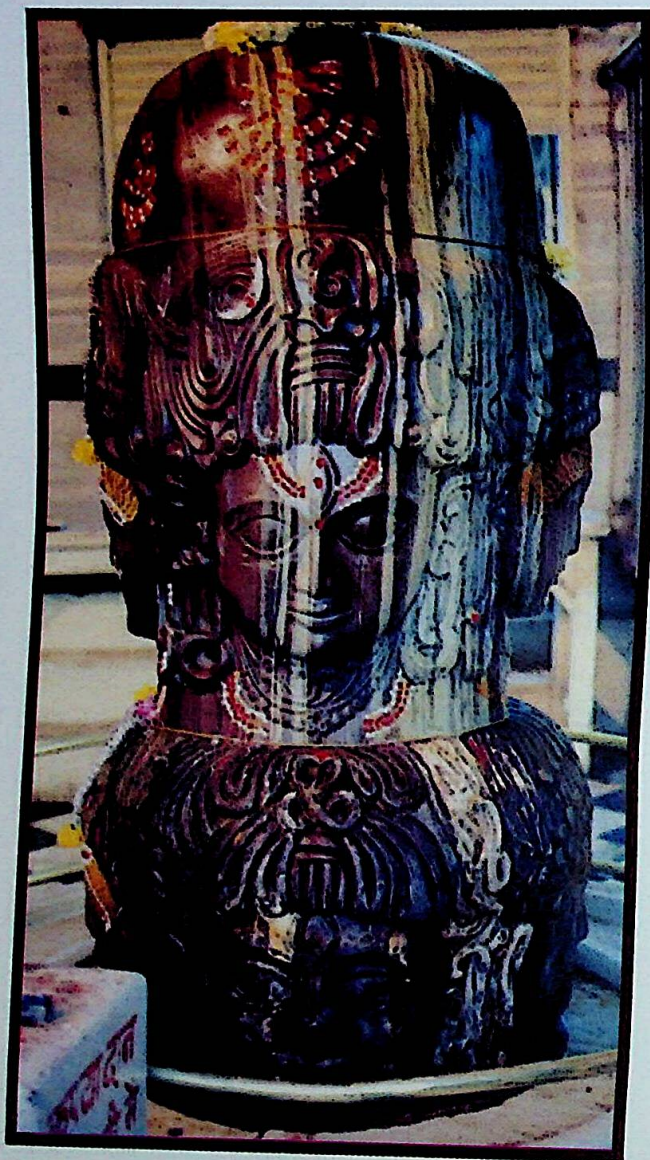
पशुपतिनाथ
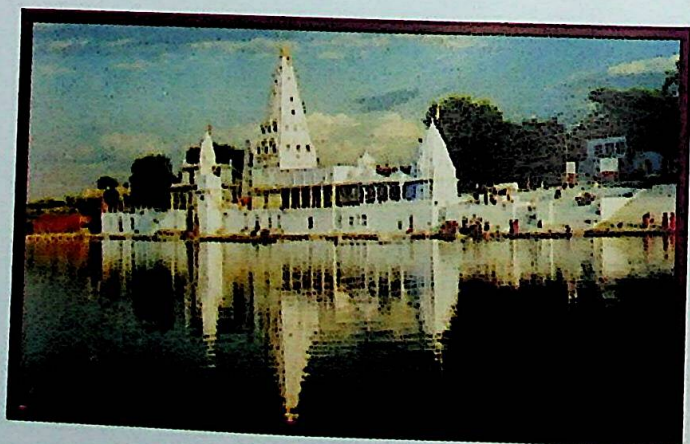
पशुपतिनाथ मन्दिर, मन्दसौर

बिलपाँक (रतलाम) स्थित विरूपाक्ष महादेव मन्दिर

सैलाना (रतलाम) स्थित केदारेश्वर मन्दिर एवं जल प्रपात
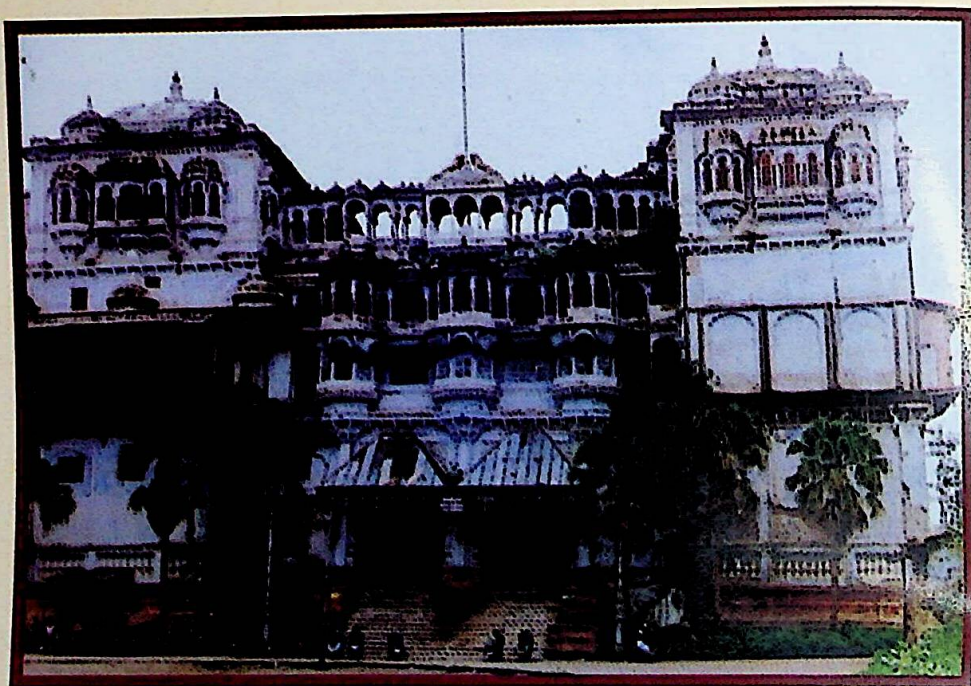
रणजीत विलास महल, रतलाम
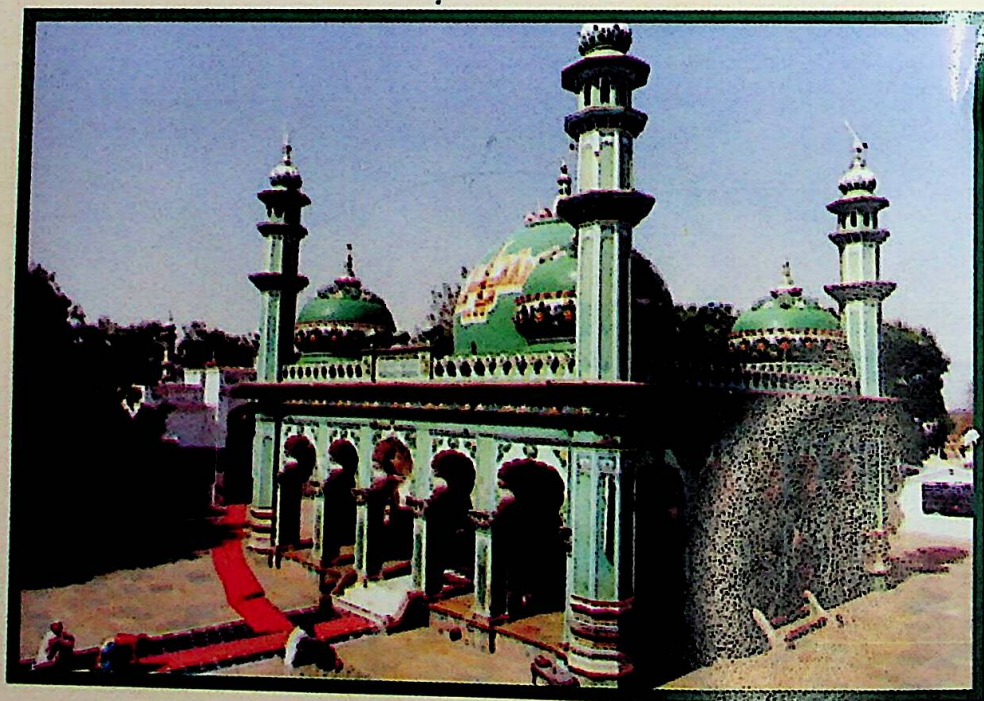
हुसैन टेकरी, जावरा (रतलाम)

प्रथम खण्ड

अवन्ती : इतिहास, पुरातत्त्व एवं पर्यटन

सम्पादक
डॉ. श्यामसुन्दर निगम

अवन्ती क्षेत्र का ऐतिहासिक भूगोल

डॉ. श्यामसुन्दर निगम

आज मध्यप्रदेश का जो उज्जैन संभाग है, उसे ही अवन्ती क्षेत्र कहना उचित होगा। इस संभाग में शाजापुर, देवास, उज्जैन, रतलाम, मन्दसौर एव नीमच जिले हैं, वे न्यूनाधिक रूप में इस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह क्षेत्र मालवा के मूल पठार पर अवस्थित है और उससे नातिभिन्न है। इस कारण मालवा के पठार का भौगोलिक परिप्रेक्ष्य संक्षेप में देख लेना उत्तम होगा।

आज जो क्षेत्र मालवा कहलाता है, यह प्राचीन काल में अवन्ती क्षेत्र के नाम से पुकारा जाता रहा है। इस जनपद की स्थापना का श्रेय यदुवंश की हैहय वंश की शाखा को जाता है। भारत युद्ध के काफी शताब्दियों पूर्व अवन्ती जनपद हैहयों की राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। हैहयों का एक उल्लेखनीय शासक माहिष्मन्त ने माहिष्मती को इस जनपद की राजधानी के रूप में विकसित किया।* काफी लम्बे समय तक अवन्ती जनपद की राजधानी माहिष्मती रही। इसके उपरान्त जब भार्गवों ने हैहय राज्य का उन्मूलन किया तो हैहयों की विभिन्न शाखाओं को माहिष्मती छोड़ना पड़ा।[1] उनकी एक शाखा ने मध्य मालवा में उस नगर का निर्माण किया जिसे आज उज्जैन कहा जाता है, ऐसा पुराणों में विवरण आया है।[2] धीरे-धीरे उज्जैन का महत्त्व बढ़ता चला गया। इस तरह उज्जैन अवन्ती जनपद की राजधानी के रूप में सामने आया। भारत युद्ध के समय उज्जैन अवन्ती जनपद का एक मुख्यालय था।[3] आदिपुराण नामक जैन ग्रंथ के अनुसार आदिनाथ ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये बावन जनपदों में अवन्ती भी एक था।[4] बौद्ध ग्रंथ आगुंत्तर-निकाय ने ईसा की छठी शताब्दी पूर्व में उत्तर भारत में जो सोलह जनपद बताये थे, उसमें अवन्ती का बड़ा महत्त्व था।[5] इस जनपद का राजनैतिक दबदबा सम्पूर्ण भारत पर था। पाणिनि की अष्टाध्यायी[6] में भी इसका उल्लेख आया है। बौद्ध ग्रंथ दीघ निकाय भी इसकी चर्चा करता है।[7] ईसा की कुछ शताब्दियों पहले इस जनपद में कुछ विशिष्ट अंचल विकसित हुए। इस जनपद का उत्तरी भाग 'अवन्ती' तथा दक्षिणी भाग

---

* माहिष्मती की पहिचान के बारे में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहे हैं, जो तीन स्थान इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये हैं, वे हैं- महेश्वर, मान्धाता तथा मण्डला। अभी हाल ही में महेश्वर से जो पुरातत्त्वीय प्रमाण प्राप्त हुए हैं, उनसे अब यह तथ्य अन्तिम रूप से प्रकट हो गया है कि महेश्वर वह स्थान है जहाँ कभी प्राचीन काल में माहिष्मती नगर था।

1. दीक्षित स. का. : उज्जयिनी : इतिहास व पुरातत्त्व, पृष्ठ 26-27
2. पार्जिटर : डायनेस्टीज ऑफ कलि एज, पृ. 27
3. जैन के. सी. : मालवा थ्रू द एजेस पृ. 94
4. बलभद्र जैन : भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ (मध्यप्रदेश), पृ. 17
5. 1.213; 4. 252, 256, 260
6. 4. 1. 165
7. दीघनिकाय, 2. 236

'अनूप' कहलाने लगा।[8] यह अनूप जनपद आजकल निमाड़ कहलाता है। इसी प्रकार पश्चिमी और मध्य मालवा का क्षेत्र अवन्ती के नाम से पुकारा जाता था, किन्तु पूर्वी मालवा का विदिशा क्षेत्र 'आकर'* नाम से प्रसिद्ध हुआ।[9] कालिदास के विवरण के अनुसार यह क्षेत्र दशार्ण भी कहलाया।[10] ई. सन् पाँचवीं शताब्दी में प्रथम बार अवन्ती जनपद का नाम मालवा जनपद के रूप में सामने आया जबकि वाकाटक नरेश पृथ्वीसेन ने अपने ताम्रपत्र में इस क्षेत्र को मालव नाम से सम्बोधित किया।[11]

इतिहास में मालव नाम नया नहीं है। पुराणों, महाभारत, यूनानी लेखकों के विवरण, पाणिनि की अष्टाध्यायी आदि में मालव का उल्लेख है। यह उल्लेख एक जाति विशेष के रूप में था, जो उस समय पंजाब में निवास करती थी और जिसका अपना गणतंत्र था।[12] सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप मालव गणतंत्र को राजस्थान की ओर खिसक जाना पड़ा। मध्य राजस्थान में उनियारा, नगरी आदि स्थानों पर मालव गणराज्य के प्रभूत मात्रा में सिक्के तथा कुछ अभिलेख मिले हैं। सिक्कों पर मालव-गण की जय अंकित की गई है।[13] कालान्तर में मालव-गण कई शाखाओं में विभक्त हो अपना मूल गणराज्यीय स्वरूप खो बैठा। बहुत संभव है कि पश्चिमी मालवा के औलिकर मालवों की एक शाखा रहे हों। इसका कारण यह है कि अपने अभिलेख में औलिकरों ने मालव संवत् का ही प्रयोग किया है।[14] धीरे-धीरे मालवा के नाम से ही अवन्ती जनपद जाना जाने लगा। ऐसा परिवर्तन एकदम नहीं हुआ, क्योंकि मालवा शब्द के साथ-साथ इस क्षेत्र का नाम अवन्ती भी शताब्दियों तक चलता रहा है।[15]

हर्षोपरान्त भारत में इस क्षेत्र को निर्णायक रूप से मालव संज्ञा मिल गई, यद्यपि अनेक जैन ग्रंथों में काफी लम्बे समय तक इसे अवन्ती कहा गया है।[16] एक और नाम जो इससे सम्बन्धित किया गया, वह था[17] महामालव, किन्तु यह नामकरण सफल नहीं हो पाया और आज यह क्षेत्र मालव नाम से ही अभिहित है।

मालवा की भौगोलिक पृष्ठभूमि- स्थिति एवं विस्तारः

यह प्रदेश विन्ध्य पर्वत श्रेणी के उत्तरी अंचल में फैला हुआ एक विस्तृत पठार है, जो सम्पूर्ण मध्य भारत क्षेत्र में एक उभरे हुए भूखण्ड के रूप में अपनी भौगोलिक सीमाएँ स्वतः निर्धारित करता हुआ सा होता है। इसे मालवा का पठार भी कहते हैं, जिसकी समुद्र से ऊँचाई लगभग 450 मीटर है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि विन्ध्याचल का यह उन्नत पहाड़ी प्रदेश मालवा की प्राकृतिक सीमाओं में आबद्ध है। फिर भी इसकी सीमाओं के सम्बन्ध में यत्र-तत्र बहुत अलग-अलग उल्लेख हुआ है। कतिपय विद्वानों ने इसकी सीमाओं के निर्धारण में सम्पूर्ण भौगोलिक इकाई को स्वीकारा, तो अन्य कुछ विद्वान् इसके सांस्कृतिक स्वरूप के अन्तर्गत मालवी बोली के क्षेत्र के

---

8. श्रीराम गोयल : प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ. 334

* 'आकर' की पहचान विषयक प्रश्न भी विवादास्पद है। आकर का अर्थ होता है खान। इस आधार पर अधिकांश विद्वानों ने विदिशा क्षेत्र आकर माना किन्तु अनन्त वामन वाकणकर का मानना है कि आज मालवा में आगर नाम का स्थान है, वह ही प्राचीन समय का आकर है।

9. उक्त
10. पूर्वमेघ,
11. ए. ई. व. पृ. 83
12. दासगुप्ता कल्याणकुमार : दी मालवाज, पृ. 19
13. एलन जे : ए केटलाग ऑफ दी इण्डियन साईन्स इन दी ब्रिटिश म्यूजियम, पृ. 57
14. ए. एस. आल्तेकर : दी राईडल ऑफ दी विक्रम एरा (विक्रम व्हाल्यूम, पृ. 4-5)
15. के. सी. जैन, पूर्वोक्त, पृ. 10-11
16. अगरचन्द नाहटा : मालवा के श्वेताम्बर जैन भाषा-कवि (मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. 268)
17. जान मार्शल : मान्यूमेण्ट्स ऑफ साँची, पृ. 294-95

विस्तार अथवा प्रशासनिक व्यवस्था आदि को महत्त्व प्रदान करते हैं।[18] यह निर्विवाद सत्य है कि मालवा के पठार का कुछ भाग राजस्थान के दक्षिण एवं पूर्वी भाग में भी विस्तृत पाया जाता है।

मालवा का भौगोलिक दृष्टि से विस्तार 74° -24' से 78°-25' पूर्व देशान्तर एवं 23°-30' से 24°-30' उत्तरी अक्षांश के मध्य है। मोटे रूप में विचार किया जाय तो दक्षिणी सीमा लगभग 22° उत्तरी अक्षांश तक विस्तृत है।[19] यदि हम इस क्षेत्र के अन्तर्गत सागर, दमोह का पठारी क्षेत्र एवं निमाड़ के मैदानों को भी सम्मिलित कर लें, तो इसका विस्तार और भी अधिक हो जाता है।[20]

प्रसिद्ध इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा है- "मध्यभारत की एजेंसीज के सम्पूर्ण भू-भाग के साथ ही मालवा का क्षेत्र-विस्तार दक्षिण में नर्मदा नदी, उत्तर में चम्बल नदी, पश्चिम में गुजरात एवं पूर्व में बुन्देलखण्ड तक है।[21] इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिया में मालवा की जो सीमा-रेखा प्रस्तुत की गई है, वह विन्सेंट स्मिथ द्वारा निर्देशित उक्त सीमा-रेखा से ज्यादा व्यापक है। इसी में चम्बल और विन्ध्य पर्वत श्रेणियों के मध्य स्थित भू-भाग के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण तक फैली नर्मदा उपत्यका का भी समावेश कर लिया गया है। इस तरह यहाँ मालवा की भौगोलिक सीमाएँ नर्मदा नदी को लाँघकर उसे दक्षिण में बसे निमाड़ तक पहुँचा देती है।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि मालवा के नाम से लोकप्रिय रूप में नर्मदा, बेतवा और चम्बल नदियों द्वारा घिरा हुआ पठारी भू-भाग जाना जाता है,[22] किन्तु ऐतिहासिक क्रम में मालवा का सांस्कृतिक विस्तार इससे भी आगे रहा है। निमाड़ क्षेत्र नर्मदा के दक्षिण में होने पर भी मालवा का ही एक अंचल माना गया है। इसी प्रकार चम्बल के उस पार उत्तर-पश्चिम दिशा में स्थित राजस्थान का झालावाड़ क्षेत्र तथा मध्यप्रदेश का उत्तर-पश्चिमी सीमान्त निश्चित रूप से मालवा का अभिन्न अंग माना जाता रहा है। परमार काल में झालावाड़ जिले में स्थित झालरा-पाटन नामक नगर मालवा का एक अभिन्न भाग तथा परमारों का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं प्रशासकीय केन्द्र रहा था। गुप्त काल में दशपुर के औलिकरों के आधीन गंगधार नामक स्थान मालवा अंचल का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था।[23] आज यद्यपि गंगधार एवं झालरा-पाटन प्रशासकीय दृष्टि से राजस्थान में स्थित हैं, किन्तु यह निर्विवाद है कि सांस्कृतिक एवं भाषाई दृष्टि से ये आज भी मालव अंचल के ही क्षेत्र हैं।

इसी प्रकार चंदेरी को लें। यद्यपि चंदेरी बुन्देलखण्ड में स्थित है, किन्तु ब्रिटिश काल में काफी समय तक यह मालवा एजेंसी का मुख्यालय रहा। पूर्व की ओर भी काफी बड़ी दूरी तक मालवा का सांस्कृतिक विस्तार माना जाता रहा। यही कारण है कि महाकौशल के बैतूल जिले में स्थित सिवनी नामक नगर को 'सिवनी-मालवा' की संज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार मालव अंचल का समय-समय पर सांस्कृतिक विस्तार एवं आकुंचन होता रहा, किन्तु भारत के हृदय-स्थल में स्थित वह अंचल आज दृढ़तापूर्वक मालवा कहलाने के गौरव का पात्र है, जो सतपुड़ा से उत्तर में स्थित होकर विन्ध्य और अरावली पर्वत-श्रेणियों को समेटे हुए हैं तथा जिसकी शस्य-श्यामला माटी नर्मदा, चम्बल, पार्वती, बेतवा, नेवज, बड़ी कालीसिंध, छोटी कालीसिंध, शिप्रा, गंभीर, चामला, शिवना, रेलम आदि सरिताओं द्वारा सिंचित है। इस क्षेत्र को अनेक सांस्कृतिक उपांचलों में विभाजित किया जाता रहा है। ऐसे अंचल हैं-उमठवाड़, सोंधवाड़, सतमेला, रजवाड़ी,

---

18. चिन्तामणि उपाध्याय : मालवी लोकगीत-एक विवेचनात्मक अध्ययन, पृ. 32
19. आर. एल. सिंह (सम्पा.) : इण्डिया, ए रीजनल जोग्रेफी पृ. 565
20. उक्त
21. विन्सेट स्मिथ-आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 265
22. इस सम्बन्ध में एक अनुश्रुति को उद्धृत करना आवश्यक है-
    इत चम्बल उत बेतवा, मालव सीम सुजान।
    दक्षिण दिशि है नर्मदा, यह पूरी पहिचान।।
23. कार्पस इंस्क्रीप्शनम् इंडिकेरम्, भाग 3, पृ. 74

काँठल आदि।[24] पर्वत-श्रेणियों पर जो अनेक शैलाश्रय, सघन वनराशि के मध्य विद्यमान रहे हैं, वहाँ मालवा के आदिम कबीले पनपे और अपने सौन्दर्य-बोध को भीमबेठका, आवरा, सीताखर्डी, चतुर्भुजनाला, चिब्बड़नाला आदि स्थानों के शैलचित्रों द्वारा अभिव्यक्त कर गये। यह सिलसिला सभ्यता के चरमोत्कर्ष के समय भी जारी रहा जबकि चित्रकला में अभिजात्य, धार्मिक एवं शास्त्रीय रूप धारण किया। बाघ की गुफाओं से निकलकर यह महलों और भवनों की भित्तियों पर आ टिकी।

अवन्ती क्षेत्र का मुख्य पर्वत विन्ध्याचल भारत के सात कुल पर्वतों में एक माना गया है-

महेन्द्र मलय सह्य शुक्तिमान ऋक्ष पर्वत।
विन्ध्याश्च पारियात्रश्च सप्तैता कुलपर्वत।।

इसी प्रकार भारत की प्रमुख पवित्र सरिताओं में अवन्ती क्षेत्र की तीन नदियाँ परिगणित हुई हैं-

गंगा सिंधु सरस्वती च यमुना गोदावरी नर्मदा
कावेरी सरयू महेन्द्रतनया चर्मण्वती वेदिका
शिप्रा वेत्रवती महासुरनदी ख्याता च या गंडकी
पुण्या पुण्यजलै समुद्र सहिता कुर्वन्ति नो मंगलम्।।

महाकवि कालिदास ने भी अवन्ती क्षेत्र में प्रवहमान निर्विघ्ना, शिप्रा, गंधवती, गंभीर, चर्मण्वती आदि का मनोहारी वर्णन करते हुए उनके मानवीकरण का मोहक प्रयास किया है। पारा (पार्वती), सिंध (बड़ी कालिसिंध), गर्गरा (छोटी कालिसिंध), शिवना आदि का उल्लेख अवन्ती क्षेत्र के अभिलेख करते हैं। यही स्थिति वनों की भी रही। स्कन्दपुराण में जिस महाकाल वन का उल्लेख है, वह अत्यन्त प्राचीन एवं पवित्र माना गया था। उज्जयिनी के सप्तसागर की पावनता धार्मिक क्षेत्र में निर्णायक मानी गयी। अवन्ती क्षेत्र एक परिवार की भाँति ही रहा। विभिन्न नद-नाले, वन, उपवन, पर्वत-तड़ाग उसके सदस्य वैसे ही रहे जैसे उज्जयिनी भारत राष्ट्र का मणिपुर स्थल रहा-

आज्ञा चक्र स्मृता काशी या बाला श्रुतिमूर्धनि।
स्वाधिष्ठानं स्मृता कांची मणिपूरमवन्तिका।।

इस कारण स्थान-स्थान पर अनेक तीर्थ विकसित हुए। उज्जैन तो अनेक तीर्थों का नगर है ही। उसके अतिरिक्त अवन्ती क्षेत्र में शंखोद्धार, दशपुर, सुखानन्द, ताखाजी, केदारेश्वर, अनादि कल्पेश्वर, करमदी आदि स्थानों पर तीर्थ-स्थल रहे हैं।

अवन्ती क्षेत्र की ऐसी ही महिमा काव्य-ग्रंथों, नाटकों, धर्म ग्रंथों, पौराणिक साहित्य, जैन व बौद्ध साहित्य आदि में आई है। इन ग्रंथों में इस क्षेत्र के विभिन्न ग्रामों और नगरों का रोचक उल्लेख भी आया है। इनकी बसाहट का ऐतिहासिक उल्लेख समीचीन होगा।

पौराणिक उल्लेखों के अनुसार जैसे ही माहिष्मती से हैहयों का पतन हुआ, वैसे ही उज्जैन इस क्षेत्र का एक प्रमुख राजनीतिक केन्द्र बन गया। भारत युद्ध के समय उज्जैन में दो राजा विंद एवं अनुविंद एक साथ शासन कर रहे थे। अनेक विद्वानों का मत है कि पुराणों एवं महाकाव्यों में वर्णित अनेक स्थल आजकल ताम्राश्मीय पुराटीलों के रूप में अपने अस्तित्व का स्मरण करा रहे हैं। पूर्वी अवन्ती क्षेत्र में ऐसे पुरा-स्थल कायथा, नागदा, रुनीजा, दंगवाड़ा, महिद्पुर, मन्दसौर, आवरा, मनोटी आदि हैं। इन स्थलों पर ई. पू. 2000 से 1000 ई. पू. तक जो विभिन्न जन निवास करते थे, उनके द्वारा निर्मित कायथा पात्र, काले व लाल मृद्भाण्ड, लाल पर काले चित्रित पात्र (मालवा पात्र) आदि उत्खनन के द्वारा कालक्रमानुसार प्राप्त होते हैं। कुछ स्थानों पर बस्तियों एवं तत्कालीन निवेशों के प्रमाण भी उपलब्ध हुए हैं।

ई. पू. छठी सदी में मालवा में लौह युग के आगमन के साथ ही द्वितीय नगरीकरण का युग प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप अवन्ती क्षेत्र में उज्जैन भारत के एक सुविशाल नगर के रूप में उभर

24. यू. एन. डे : मिडिवल मालवा, पृ. 2

आया। गुप्त औलिकर काल में लगते-लगते उज्जैन के अतिरिक्त अवन्ती क्षेत्र में दशपुर (मन्दसौर), नागदा, देवास प्रमुख नगर बनें। दशपुर औलिकर राजवंश की राजधानी एवं एक श्रेष्ठ प्राच्य नगर था।

राजपूत काल में मालवा में अनेक लघु नगर एवं कस्बे एकाधिक कारणों से विकसित हुए। इनमें मोड़ी, संधारा, बदनावर (प्राचीन वर्धमानपुर) झार्डा, गंधावल, सुन्दरसी आदि प्रमुख व्यापार-केन्द्र थे जबकि उच्चानगढ़ (गढ़ खंखई), रिंगनोद आदि राजनीतिक एवं सैनिक महत्त्व के स्थान थे। परमारों के राज्य एवं संरक्षण में जिन बस्तियों ने अवन्ती क्षेत्र में प्रामुख्य प्राप्त किया, उनमें नेमावर, जामनेर, करेड़ी, रुनीजा, कुकड़ेश्वर, कँवला, केथूली, गोंदलमऊ, इन्द्रगढ़ आदि हैं।

मध्य काल में मुस्लिम एवं मुगल आक्रमणों के परिणामस्वरूप इनमें से अधिकांश बस्तियाँ अतीत का विषय हो गईं, फिर भी उज्जैन एवं मन्दसौर का धार्मिक एवं प्रशासकीय महत्त्व बना रहा। इस काल में राजकीय एवं सैनिक कारणों से रतलाम, सीतामऊ, रामपुरा, नीमच, राजगढ़, ब्यावरा, पचोर, शाजापुर, सारंगपुर, शुजालपुर, खिलचीपुर, नरसिंहगढ़ आदि बस्तियाँ महत्त्वपूर्ण हो गईं। मराठा काल में अवन्ती परिक्षेत्र में पनपने वाली प्रमुख बस्तियों में महिदपुर, तराना, जीरापुर, माचलपुर, आगर, मल्हारगढ़, नारायणगढ़, मनासा, सैलाना, सोयत, सुसनेर, नलखेड़ा, पिपलोन, बड़नगर, खाचरोद आदि रहीं, जिन्होंने आज एक लघु नगर का रूप धारण कर लिया है। औद्योगिक कारणों से विकसित आधुनिक बस्तियों में बिरलाग्राम, रतलाम, देवास, मक्सी, जावद आदि का नाम उल्लेख योग्य है। ❑
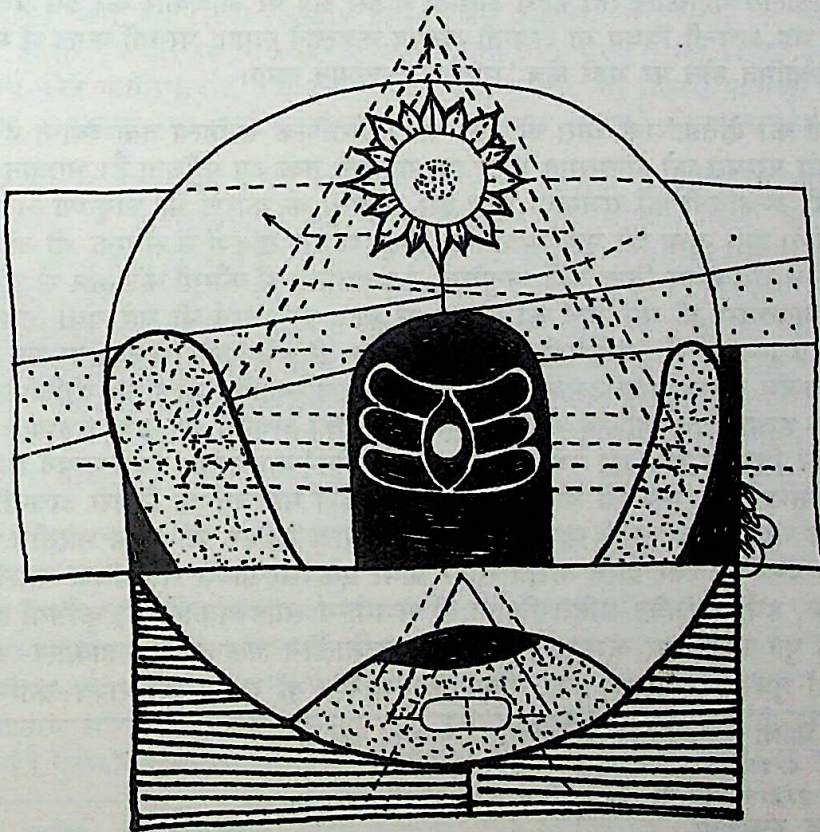
अवन्ती क्षेत्र का इतिहास

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

अतीत का समग्र विश्लेषण इतिहास है। प्रत्येक क्षेत्र का अपना इतिहास होता है। मध्यप्रदेश की मनहर मालव-मेदिनी भी अपनी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं से पर्याप्त समृद्ध है। कभी पूरा देश वनों या अरण्यों में विभाजित था। नैमिषारण्य, दण्डकवन, वृन्दावन, मधुवन, महाकाल वन, वनसह्वय आदि कितने ही वनों का उल्लेख उनकी भीषण रमणीयता सहित पुरातन व पौराणिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। आरण्यक साहित्य, अरण्यकाण्ड, वनपर्व आदि उन अरण्यों तथा अरण्य संस्कृतियों को रेखांकित करते हैं। विन्ध्य के उत्तरी पठार पर जो महाकाल वन था, उसके ही आदिदेवता ज्योतिर्लिंग महाकाल रहे। हैहय अवन्ती ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर इस प्रदेश को अपना नाम दिया और यह अवन्ती विषय या अवन्ती जनपद कहलाने लगा।[1] परवर्ती काल में मालवगण की यहाँ प्रभुसत्ता स्थापित होने पर यही क्षेत्र 'मालव' कहलाने लगा।

प्राचीन देशों की ऐतिहासिक धारा के उत्स प्रायः पौराणिक साहित्य तक व्याप्त हैं। मालवा का इतिहास भी हैहय परम्परा को आत्मसात् करते हुए यदुकुल तक आ पहुँचता है। भगवान् श्रीकृष्ण की बुआ राजाधिदेवी उज्जयिनी की राजमाता थी।[2] इस सम्बन्ध के कारण भी श्रीकृष्ण अवन्ती में शिक्षा के लिए आए होंगे। इसी बुआ की पुत्री मित्रबिन्दा श्रीकृष्ण की रानियों में से एक थी और इस विवाह से अप्रसन्न यहाँ के राजकुमार विन्द तथा अनुविन्द ने महाभारत में कौरवों की ओर से युद्ध किया था, जिसके हाथी अश्वत्थामा के मारे जाने की घोषणा से भ्रान्त द्रोणाचार्य भी मारे गये। अपनी दिग्विजय यात्रा में बाद में प्रद्युम्न ने भी उज्जयिनी के इस राजकुल से स्नेह और मान पाया था। कालान्तर में इस क्षेत्र पर तालजंघ वेताल तथा उसके वंशजों का वर्चस्व स्थापित हो गया। वीतिहोत्र राजवंश के अन्तिम राजा की हत्या करके पुणिक ने अपने पुत्र प्रद्योत को अवन्ती का राजा बनाया।[3] प्रद्योत क्रोधी होने से चण्ड और विशाल सेना का स्वामी होने से 'महासेन' कहलाया। इसने अपने राज्य की सीमा और शक्ति में पर्याप्त वृद्धि कर ली थी। बुद्धकालीन षोडश महाजनपदों में इस अवन्ती का वर्चस्व उल्लेखनीय माना गया। इसकी पुत्री वासवदत्ता तथा वत्सराज उदयन की कथा भारतीय पुरातन काल और साहित्य को प्रभावित और प्रेरित करती रही- प्रायः एक सहस्राब्दी से अधिक काल तक। भास, कालिदास, शूद्रक, हर्ष, पतंजलि सहित कितने ही गणमान्य साहित्यकारों की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। इस प्रद्योत के पुत्र राजकुमार कुमारसेन की हत्या तत्कालीन तालजंघ ने महाकाल-उत्सव में कर दी थी। अन्य दो पुत्र थे- पालक और गोपालक। पालक के समय की राज्य-क्रान्ति की चर्चा

1. हरिहरनिवास द्विवेदी - मध्यभारत का इतिहास, भाग-1, पृष्ठ 110.
2. विष्णु पुराण, 4/14.
3. मत्स्य पुराण, 272/1 और स. का. दीक्षित - उज्जयिनी, पृष्ठ 30-34.
4. हर्षचरित, षष्ठ उच्छ्वास।
   महाकालमहे.............वेतालस्तालजंघो जघान जघन्यजं प्रद्योतस्य पौणकिं कुमारं कुमारसेनम्। - पृष्ठ 51.

'मृच्छकटिक' में की गई है। प्रद्योत वंश ने 138 वर्षों तक राज्य किया। इस समय 1 x ¾ मील लम्बी-चौड़ी उज्जयिनी के बाहर 80 फीट चौड़ी और 20 फीट गहरी परिखा थी तथा प्राकार और शिप्रा के तटबन्ध को तले में मिट्टी भरकर मजबूत बनाया गया था। प्राकार नींव में 200 फीट और ऊपर 40 फीट चौड़ा रहा।

महावंश के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय बिन्दुसार अवन्ती का स्थानीय शासक था और बिन्दुसार के समय अशोक। इसका विदिशा की श्रेष्ठि-पुत्री असंगमित्रा से विवाह हुआ था, जिनकी सन्तानें थीं- संघमित्रा और महेन्द्र। इन्होंने बौद्ध धर्म का लंका में पहली बार प्रचार किया। इसी वैश्य रानी ने उज्जैन में जो स्तूप बनवाया था, उसका अवशेष अब 'वैश्या टेकरी' कहलाता है जिसका उत्खनन भी करवाया जा चुका है। मालवा में शुंगकालीन अनेक अवशेष प्राप्त होते हैं। उनमें साँची के कलात्मक स्तूप, विदिशा का हेलियोदोर का स्तम्भ, उज्जैन के पिंगलेश्वर में चतुर्मुखी शिव-प्रतिमा आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इस काल में ग्रीक यवनों के आक्रमण भी हुए थे, जिन्हें शुंगों ने विफल कर उन्हें जीत लिया था। तभी गर्दभिल्ल, गन्धर्वसेन अथवा महेन्द्रादित्य की लोकप्रिय कथाओं, कालक द्वारा आमंत्रित शकों के आक्रमण और उन्हें पराजित कर विक्रमसंवत् प्रवर्तन की कथाओं, विक्रम के शौर्य, न्याय व दान की कथाओं से सारा वातावरण अनुगूँजित होने लगता है और उन कथाओं से पूरा साहित्यजगत् सुवासित हो उठा। ईस्वी पूर्व 57 में प्रवर्तित यह कृत या मालव संवत् परवर्ती काल में विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध होकर आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है। विक्रमादित्य का एक लेख अंवलेश्वर से प्राप्त हुआ जो प्रकाशित है। इस राजा के आश्रित कालिदास आदि नवरत्नों की चर्चा भी होती रहती है। इस समय दशपुर क्षेत्र के राजा पोण वंश के थे।

आन्ध्र के सातवाहनों ने मालवा पर अधिकार कर लिया। राजा हाल और बृहत्कथाकार गुणाढ्य की जोड़ी इसी समय हुई। गौतमीपुत्र सातकर्णि उन शासकों में प्रमुख रहा। इन्हें पराजित कर मालवा पर शकों ने अधिकार कर लिया जिन्होंने प्रायः प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध से चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ तक शासन किया। इस राजवंश में परमविजेता और संस्कृत का पोषक रुद्रदामा भी हुआ जिसका राज्य-क्षेत्र काठियावाड़ तक व्याप्त था। पूर्वी मालवा पर तीसरी शताब्दी में आभीर राजा ईश्वरदत्त का भी शासन था। 'धूर्तविटसंवाद भाण' सम्भवतः इसकी ही रचना हो।[5]

गुप्तों के केन्द्रीय शासन के समय दशपुर सहित उत्तरी मालवा पर औलिकर शासकों का वर्चस्व था। इस राजवंश के प्रकाशधर्मा ने हूण राजा तोरमाण को पराजित किया था। प्रकाशधर्मा के उत्तराधिकारी यशोधर्मा ने गुप्तों को भी अस्थिर कर देने वाले हूणराज मिहिरकुल को पराजित किया था। औलिकरों के शिलालेख मन्दसौर से बिहारकोटरा तक के क्षेत्र में प्राप्त होते हैं। इस अवधि में उज्जैन के राजकुमार उपशून्य के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो बौद्ध भिक्षु बनकर चीन चला गया था। इसी समय मालवा से परमार्थ आदि अन्य भी कई विद्वान् चीन गए जिन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद भी किए। प्रायः इसी कालावधि में बाघ सहित निमाड़ या दक्षिण मालवा पर सुबन्धु आदि बल्ख नृपों का शासन था। ये राजा परम दानप्रिय थे। इनके तीस से अधिक ताम्रपत्रों का समूह प्राप्त हुआ है।[6] इन राजाओं का इस क्षेत्र पर प्रायः 296 से 417 ई. तक शासन रहा।

जिस समय उत्तर भारत पर हर्षवर्द्धन का राज्य था, प्रायः उसी अवधि में मालवा पर हर्षविक्रमादित्य का शासन रहा। 638 ई. या 3740 कलि संवत् में उसके धर्माध्यक्ष हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण की श्रुत्यर्थविवृति लिखी थी। इसी हर्ष ने नाट्यवार्तिक रचा था। असम्भव नहीं, यदि रत्नावली, प्रियदर्शिका आदि नाटिकाएँ भी इसी नाट्यविद् ने रची हों। इत्सिंग द्वारा स्मृत भर्तृहरि सम्भवतः इसका ही भाई हो। सुबन्धु ने विक्रमादित्य की मृत्यु की सूचना अपनी वासवदत्ता पुस्तक में दी है। मालव संवत् का विक्रम संवत् नाम इस विक्रमादित्य के बाद से ही मिलता है। इसी मालवराज को पुलकेशी ने पराजित किया था 634 ई. से पूर्व। और असम्भव नहीं, यदि 641 में

---

5. दीक्षित, पूर्वोक्त, पृष्ठ 130-131.
6. डॉ. जे. एन. दुबे और डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित - भारतीय अभिलेख, पृष्ठ 38 से 59.

समागत ह्वेनसांग के समय भी उज्जैन का यही राजा रहा हो।[7] यह विद्वानों का आश्रयदाता भी था। इसी समय एक और अनंगहर्ष उर्फ मायुराज या मात्रराज कलचुरि का महेश्वर में शासन था। यह नरेन्द्रवर्द्धन का पुत्र था। उसका 'तापसवत्सराज' नाटक प्रसिद्ध है।

राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग ने उज्जैन में हिरण्यगर्भ यज्ञ करके महादान दिया था। मालवराज ने राष्ट्रकूटों पर भी आक्रमण किया था। जिनसेन ने बदनावर और दोस्तटिका या दोत्रिया में जब 783 ई. में 'हरिवंश-पुराण' की रचना की थी तब अवन्ती क्षेत्र पर नन्नप व उसके उत्तराधिकारियों का राज्य था। राष्ट्रकूटों के अधीनस्थ परमार नृपों ने गुजरात के खेड़ा में अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए मालवा में प्रवेश कर लिया। सीयक द्वितीय के समय तक मालवा पर परमार राष्ट्रकूटों के प्रतिनिधि थे। परन्तु मुंज ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट को 972 ई. में जीतकर स्वयं को मालवा में स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इसने उत्तरी मालवा के हूणों को भी पराजित किया था। सीयक और सिन्धुराज ने भी इन्हें पराजित किया था। मुंज स्वयं कवि तथा साहित्यकारों का प्रेरक था। सिन्धुराज का चरित नवसाहसांकचरित काव्य में पद्मगुप्त ने प्रस्तुत किया। इस नव विक्रम का यह कवि शैली से तत्कालीन कालिदास ही था, जिसकी राजा भोज से निकटता की प्रस्तुति 'भोजप्रबन्ध' में हुई है। भोज स्वयं विविध विषयक ग्रन्थों का रचयिता, विद्वानों का आश्रयदाता तथा विजेता था। इसने महाकाल सहित कई मन्दिर, महल, शारदासद्म बनवाए। भोजपुर झील बनवाई और जिसके समय की वाग्देवी प्रतिमा लन्दन के संग्रहालय में प्रदर्शित है। राजा भोज अपनी राजधानी उज्जैन से धार ले गया।

इस परमार वंश में विद्वत्परम्परा सदियों से बनी रही। नरवर्मा की महाकाल प्रशस्ति उदात्त है, तो अर्जुनवर्मा रचित 'अमरुशतक' की टीका लोकप्रिय है। उदयादित्य के शासनकाल में द्रोणवंश के विज्जसिंह ने लक्ष्मदेव के साथ खुरासानी शहजादे महमूद पर विजय प्राप्त की थी। इस द्रोणवंश ने उत्तरी मालवा से डूँगरपुर तक शासन किया था। परमार जगद्देव की अपनी वीरता की धाक गुजरात और विदर्भ तक व्याप्त थी। इन्हीं दिनों निमाड़ पर भी बल्लाल का वर्चस्व रहा जिसकी निर्मितियाँ निमाड़ तक ऊन में देखी जा सकती हैं। गुजरात के जयसिंह सिद्धराज ने 1136 ई. के लगभग यशोवर्मा को पराजित कर अवन्तीनाथ की उपाधि धारण की थी। उसने उज्जैन के पुस्तकालय में राजा भोज के रचे विविध विषयक ग्रन्थ देखे थे। इसी समय गुजरात पाटन के वणिकों का उज्जैन में पटनी बाजार सक्रिय हुआ। इस राजा का बनवाया मनोहर और भव्य शिव मन्दिर रतलाम के निकट बिलपाँक में प्रशस्ति सहित आज भी देखा जा सकता है।

1234-35 ई. में देवपालदेव के शासनकाल में इल्तुतमिश के आक्रमण से महाकाल का मन्दिर क्षतिग्रस्त हुआ था जो शीघ्र ही सुधार लिया गया। इस विजय के निशान के रूप में वह विक्रमादित्य की प्रतिमा को दिल्ली ले गया। तेरहवीं सदी के अन्त में हम्मीर ने शिप्रा-स्नान कर महाकाल की अर्चना की। तेरहवीं सदी के अन्त में द्वितीय अर्जुनवर्मा का मंत्री कोका या गोगा शक्तिशाली हो गया। सम्भवतः उसके ही नाम से उज्जैन के मध्य गोगाशाह की टेकरी है। इसने खिलजी का सामना किया था। उसने गोगा को पराजित कर कत्लेआम कर दिया। तब 1398 ई. तक दिल्ली सल्तनत के अधीन मालवा रहा। तैमूर के आक्रमण की अस्थिरता में मालवा का राज्यपाल दिलावर खाँ गौरी स्वतन्त्र हो गया। इसने राजधानी धार बनाई। इसने दिल्ली से भागे महमूद तुगलक को शाही मेहमान बनाया। इस समय उसी निमित्त धार का किला बनवाया गया। इस समय सात वर्ष का भीषण अकाल पड़ा। इसी अवधि में दिलावर ने उज्जैन के रुद्रसागर के पूर्वी तट पर आमखास महल बनवाया था जिसके कुछ अवशेष वर्तमान के महाराजवाड़ा क्षेत्र में देखे जा सकते हैं। इसका पुत्र हुशंगशाह राजधानी धार से माण्डव ले गया। इसने होशंगाबाद बसाया और भोज निर्मित भोजपुर की विशाल झील को तोड़कर खाली करवा दिया। भोपाल ताल उससे सटा हुआ रहा। 1437 में महमूदखाँ के साथ खिलजी वंश का शासन आरम्भ हुआ। उसने शिप्रा के एक द्वीप पर कालियादेह नामक महल बनवाया। कहते हैं यह स्थान पौराणिक सूर्य का कालप्रियदेव नामक देव-स्थान था, वही कालियादेह हो गया। 1531 ई.

7. डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित - उज्जयिनी और महाकाल, पृष्ठ 54.
8. राजपुरोहित - द्रोणवंश के अभिलेख, शोध साधना, 1982, पृष्ठ 16-23.

में मल्लूखाँ ने अधिकार कर लिया जो हुमायूँ से हारा और शेरशाह से डरकर गुजरात भाग गया। तब दिल्ली के अधीन शुजाअत खाँ शासक रहा जिसके नाम पर शुजालपुर बसा। इसका लड़का मलिक वजिद बाज बहादुर के नाम से स्वतन्त्र शासक बन गया। रूपमती के प्रेमी और संगीतज्ञ के रूप में उसने ख्याति अर्जित की थी। इनके महल माण्डव में आज भी हैं। 1561 में अकबर ने इसे हराकर मालवा पर अधिकार कर लिया तथा उज्जैन प्रधान कार्यालय बनकर रह गया। इस वर्ष की वर्षा अकबर ने उज्जैन में बिताई। उसने विशाल प्राकार बनवाया जिसके 12 दरवाजों में से कुछ अब भी देखे जा सकते हैं। 'आइन-ए-अकबरी' ने मालवा तथा उज्जैन के पर्यावरण, जल-सम्पदा, व्यवसाय, कृषि, मौसम, उपज की प्रशंसा करते हुए सफेद व रंगीन कपड़े बनने का संकेत किया है। 'तुजुके-जहाँगीरी' में भी उज्जैन व मालवा का पर्याप्त विवरण मिलता है। जहाँगीर कालियादेह महल से नाव द्वारा स्वामी जदरूप से मिलने जाया करता था जो संकरी गुफा में तपस्या करता था। अकबर व जहाँगीर के शिलालेख भी प्राप्त होते हैं- कालियादेह व अन्यत्र भी। सर टॉमस रो ने लिखा है कि जहाँगीर ने उज्जैन की सड़कों पर 3,500 रुपये लुटाए।

15 अप्रैल, 1658 के दिन उज्जैन से 14 मील दक्षिण में धरमत या धर्माट के युद्ध में औरंगजेब और मुराद के विरुद्ध दाराशिकोह की शाही सेना की ओर से निर्णायक लड़ते हुए जोधपुर का साहित्यकार राजा जसवन्तसिंह पराजित हुआ और रतलाम राज्य का संस्थापक रतनसिंह राठौड़ मारा गया। इसी फतह के कारण फतेहाबाद कहलाया और इसी फतह के कारण औरंगजेब बादशाह बना। ऐसी सनद भी बताई जाती है, जिसमें औरंगजेब के शासनकाल में महाकाल मन्दिर के नन्दादीप के लिए चार सेर घी प्रतिदिन शासन की ओर से दिया जाता था।

अठारहवीं सदी के आरम्भ से ही नर्मदा पार कर मराठों ने आक्रमण आरम्भ कर दिए। मालवा के नायब सूबेदार ने उनसे लोहा लिया पर मराठों का वर्चस्व बढ़ता चला गया। इसी सूबेदारी के समय जयपुर के राजा जयसिंह ने अपने ज्योतिर्विज्ञान प्रेम को उज्जैन के जयसिंहपुरा में वेधशाला बनवाकर प्रकट किया। इसने ऐसी 4 वेधशालाएँ अन्यत्र भी बनवाईं। 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मालवा पर वैध शासन मुगलों का था परन्तु मराठों का वर्चस्व भी पर्याप्त बढ़ जाने से यहाँ की जनता दोहरे शासन के दबाव में थी। जयसिंह ने उज्जैन में जयसिंहपुरा बसाया और वहाँ अपना महल बनवाकर यज्ञ भी करवाया था।

पुरा भूप उज्जैनि में, कियो सवाई नाम।
सिप्रा के निकटै जहाँ, महल बने अभिराम॥

अन्ततः 1752 की संधि के साथ मालवा स्थायी रूप से मराठों के अधिकार में आ गया और लगभग दो सदियों तक निश्चिन्त हो उन्होंने शासन किया। मालवा के पेशवा ने 35 प्रतिशत अपने पास रखकर राणोजी शिन्दे, मल्हारराव होलकर तथा धार-देवास के पँवारों को 21.75 प्रतिशत के हिसाब से बराबर-बराबर बाँट दिया।

राणोजी ने रामचन्द्र बाबा सुखटनकर या शेणवी को अपने राज्य का दीवान बनाया, जिसने महाकाल सहित कई मन्दिर बनवाए, रामघाट बनवाया और 1732 ई. से द्वादशवर्षीय विशाल सिंहस्थ मेले की शासकीय व्यवस्था आरम्भ की। 1807 तक उज्जैन राजधानी रही फिर ग्वालियर हो गई। इसी प्रकार होलकरों में सर्वप्रसिद्ध अहिल्याबाई का धर्मानुसार शासन था। इस रानी ने अपनी राजधानी महेश्वर को मन्दिरों और घाटों से खचित कर दिया तथा पूरे देश के महत्त्वपूर्ण मन्दिरों का पुनर्निर्माण करवाया।

मालवा के स्वातंत्र्य संग्राम में अमझेरा के राजा बख्तावरसिंह को 1857 ई. में इन्दौर में फाँसी दी गई। झाबुआ जिले के भाबरा के चन्द्रशेखर आजाद का स्वतन्त्रता के लिए बलिदान सर्वज्ञात है। बाद में शुजालपुर के प्रसिद्ध हिन्दी कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में ख्यात रहे। स्वतंत्रता के पूर्व एवं पश्चात् के पुनर्जागरण में पं. सूर्यनारायण व्यास सहित कितने ही महानुभावों का दाय मालवा के प्रति रहा। प्रायः सौ वर्षों के अंग्रेजी साम्राज्य के अधीनस्थ रहा मालवा अंग्रेजियत के प्रति आकर्षित होकर भी दिल से अभी भी नितान्त मालवी है।

मालवा का इतिहास देशी-विदेशी कई विभूतियों से समृद्ध हुआ है। चीनी, अफगानी, ग्रीक, यूरोपीय के साथ ही संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, फारसी आदि विभिन्न भाषाओं में सुरक्षित विपुल साहित्य और सन्दर्भों से मालवा का इतिहास परिपुष्ट होता है। साहित्य, शिलालेख, मुद्रा, सिक्के, पुरातत्त्व, स्थापत्य, मूर्तियाँ, चित्र सभी तो मालवा की महत्ता के गवाह हैं। मालवा भारत का हृदय है। समन्वित संस्कृति का यह केन्द्र है। इसकी महत्ता को जानने के लिए यदि यहाँ के कुछ ऐतिहासिक नामों को हटाकर तो देखें। प्रद्योत, वत्सराज, उदयन, अशोक का आरम्भिक जीवन, शुंग, अग्निमित्र, विक्रमादित्य, रुद्रदामा, प्रकाशधर्मा, यशोधर्मा, मुंज, भोज, बाज बहादुर के बिना भारतीय इतिहास भी अपूर्ण रह जाता है।

❑
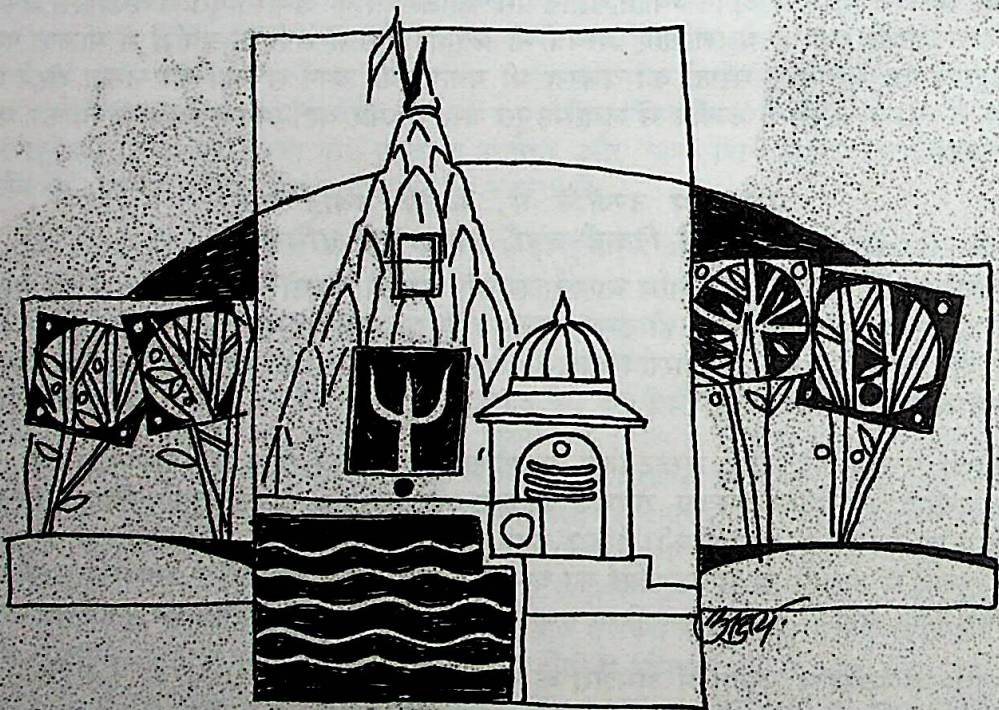
अवन्ती परिक्षेत्र का पुरातत्त्व - दो पहलू

डॉ. श्यामसुन्दर निगम

(1) अवन्ती परिक्षेत्र के उत्खनन-स्थल और उनका महत्त्व

प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का विकास क्रम या तो प्राचीन ग्रंथों के अनुशीलन या पुरातत्त्वीय साक्ष्यों के विश्लेषण से जाना जा सकता है। पुरातत्त्वीय साधनों के अंतर्गत प्राचीन स्मारकों, सिक्कों, अभिलेखों, चित्रों, मूर्तियों, मृण्पात्रों आदि का अध्ययन एवं विवेचन आता है, किन्तु इन दिनों इस सबसे अधिक महत्त्व उत्खनन को प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि मानव सभ्यता के अतीत के विकास-क्रम को उद्घाटित करने की दिशा में पुरातत्त्वीय स्थलों की खुदाई करने की इस विधा ने एक परिपक्व एवं प्रामाणिक स्वरूप ग्रहण कर लिया है। साथ ही उत्खनन की इस वैज्ञानिक प्रक्रिया ने प्राचीन विश्व के अनेक विलुप्त स्थलों को अनावृत्त कर जनमानस को चमत्कृत किया है। मिस्र, इजराइल, सीरिया, ईराक, रोम, यूनान आदि देशों में उत्खनन द्वारा आश्चर्यजनक रूप से ऐसी सभ्यताएँ प्रकाश में आई हैं जिनका ज्ञान अन्यथा संभव नहीं था। भारतीय उपमहाद्वीप में भी सिन्धु घाटी व निकटवर्ती क्षेत्रों में उत्खनन द्वारा प्राक्-हड़प्पा और हड़प्पा संस्कृतियाँ सामने आईं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पाषाण युगों को बिदा देकर मानव सभ्यता का परिचायक जो ताम्राश्म काल आविर्भूत हुआ, उसका ज्ञान भी उत्खनन ने ही हमें दिया। यह सब पुराविदों की कुदालियों, ब्रशों एवं चाकुओं के करतबों का ही परिणाम था। मालवा का यह शस्य-श्यामल अंचल भी इसका अपवाद नहीं रहा। डॉ. डी. आर. भाण्डारकर, अलेक्जेण्डर कनिंघम, सर जॉन मार्शल, करन्दीकर, लेले, एस. डी. सांकलिया, आर. डी. बैनर्जी, मोरेश्वर गर्दे, ल्युअर्ड, हरिहर त्रिवेदी, वि. श्री. वाकणकर जैसे श्रेष्ठ पुराविदों द्वारा किये गये व्यापक एवं विस्तृत उत्खननों के परिणामस्वरूप मालवा क्षेत्र की प्राचीन सभ्यता बहुत कुछ प्रकाश में आ गयी है। पुराविदों की यह सूची अन्तिम नहीं है। इसी प्रकार अनेक संस्थाओं का भी इस कार्य में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहयोग रहा है। पुरातत्त्व विभाग के अतिरिक्त विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, डेकन कॉलेज, पूना, सागर विश्वविद्यालय, बड़ौदा विश्वविद्यालय के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अभी तक मालवा और उसके अत्यन्त निकटवर्ती क्षेत्रों के जिन स्थलों पर उत्खनन हो चुका है, उनके नाम इस प्रकार हैं-

मन्दसौर जिले में मन्दसौर, मोड़ी, इन्द्रगढ़, आवरा, मनोटी व पसेवा,
उज्जैन जिले में उज्जैन, कायथा, नागदा, रुणीजा, महिदपुर, दंगवाड़ा एवं सोडंग,
देवास जिले में बिलावली, राजगढ़ जिले में सारंगपुर,
इन्दौर जिले में आजादनगर,
खरगोन अर्थात् पश्चिमी निमाड़ जिले में कसरावद, महेश्वर, नावड़ा-टोड़ी एवं अट्ट-खास,
विदिशा जिले में बेसनगर,
रायसेन जिले में भीम बेटका एवं पिपलिया लोरका, तथा
सागर जिले में ऐरण।

इस आलेख में अवन्ती परिक्षेत्र के उत्खनन-स्थलों का महत्त्व संक्षिप्त रूप में ही विवेचित है।

मन्दसौर का प्राचीन नाम दशपुर रहा है। यहाँ किये गये उत्खनन से मालवा ताम्राश्म एवं आहाड़ अवशेषों से लेकर परमार काल तक के अवशेष प्राप्त हुए। यह तथ्य सर्वविदित ही है कि गुंप्त-औलिकर काल में दशपुर विकास की पराकाष्ठा पर था। यह नगर अनेक उतार-चढ़ाव झेलता हुआ आज तक अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुए है।

मोड़ी में हुए उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि यह एक ताम्राश्मीय बस्ती रही। वैसे परमार काल में यह मोड़ीपत्तन नाम से एक उल्लेखनीय नगर रहा है।

इन्द्रगढ़ के उत्खनन द्वारा सिद्ध हुआ कि यह स्थान छठी व सातवीं शती में राष्ट्रकूटों द्वारा प्रशासित था। उस काल में अनेक मन्दिर यहाँ थे। यह स्थल पाशुपत शैवों का केन्द्र भी रहा।

आवरा से प्राप्त एक सील से ज्ञात हुआ कि इस स्थल का प्राचीन नाम अपराय था। यहाँ उत्खनन में सबसे निम्न स्तरों पर प्राचीनतम ताम्राश्मीय पात्र मिले। आहाड़ एवं मालवा पात्र भी मिले। इस युग की बस्ती के प्रमाण भी उपलब्ध हुए। यहाँ की बस्ती गुप्त काल में एक नगर के रूप में विकसित हो गई थी। आवरा भागवत धर्म का एक प्राचीन केन्द्र भी रहा।

मनोटी में हुए महत्त्वपूर्ण उत्खनन के परिणामस्वरूप यह स्थल एक प्राचीनतम ताम्राश्मीय बस्ती सिद्ध हुआ। यहाँ काले व लाल व मालवा पात्र भी प्राप्त हुए। गुप्तकालीन अवशेष भी यहाँ मिले। पसेवा में हुए उत्खनन से सिद्ध हुआ कि वहाँ शुंग काल से लेकर परमार काल तक एक बस्ती रही।

उज्जैन में एकाधिक बार उत्खनन हुए। यह सिद्ध हुआ कि मौर्य काल में वैश्या टेकरी एक विशाल स्तूप थी। कुम्हार टेकरी एक प्राचीन श्मशान था। गढ़ क्षेत्र की खुदाई में चित्रित भूरे पात्र भारी मात्रा में मिले तथा यह महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आया कि प्रद्योत काल में यहाँ बाढ़ से नगर की रक्षा के निमित्त एक विशाल काष्ठ-प्राकार निर्मित किया गया था। उज्जयिनी आज तक अपना अस्तित्व सुरक्षित रखे हुए है। कायथा में हुए उत्खनन द्वारा निम्नतम स्तरों पर कायथा ताम्राश्मीय पात्र और उनसे ऊपर क्रमशः आहाड़, मालवा एवं चित्रित भूरे पात्र प्राप्त हुए। गुप्त काल से लेकर परमार काल तक के अवशेष भी प्राप्त हुए। यह स्थान भी मालवा का एक प्राचीनतम ताम्राश्मीय स्थल सिद्ध हुआ। नागदा के टीलों की खुदाई करने पर प्रकट हुआ कि ताम्राश्म काल से लेकर लौह काल तक यह एक महत्त्वपूर्ण स्थल रहा। रुणीजा भी उत्खनन द्वारा एक ताम्राश्मयुगीन सभ्यता का केन्द्र प्रमाणित हुआ। यहाँ गुप्त से लेकर परमार काल तक एक व्यापारिक बस्ती रही। दंगवाड़ा निश्चित ही एक उल्लेखनीय उत्खनन स्थल रहा है। यहाँ की बस्ती कायथा शैली के पात्र निर्माताओं द्वारा बसाई गई। कालान्तर में यहाँ आहाड़ व मालवा पात्र-निर्माता जन आये। यहाँ हुए उत्खनन द्वारा ताम्राश्मकालीन यज्ञकुण्ड, आयताकार इष्टियाँ व गज-पृष्ठाकार मन्दिर प्रकाश में आये। इसके ऊपर के स्तरों पर क्रमशः विचित्र भूरे पात्र तथा मौर्य शुंग कालीन अवशेष भारी मात्रा में मिले।

महिदपुर की भस्मा टेकरी उत्खनन से ताम्राश्मीय सिद्ध हुई है। यह स्थल ई. पू. 2000 के लगभग अस्तित्व में आ गया था। यहाँ के ताम्राश्मीय पात्रों में लाल व काले पात्र तथा मालवा पात्र प्रमुख हैं। सोडंग उत्खनन के माध्यम से ई. पू. 1000 से 600 ई. तक का एक बौद्ध स्थल सिद्ध हुआ है।

अभी तक केवल इन स्थानों पर ही उत्खनन हो पाया है, जबकि अभी भी अवन्ती क्षेत्र में ऐसे लगभग 100 स्थल और हैं, जो पुराविदों की कुदाली एवं खोजी दृष्टि की उत्सुक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि मालवा में सभ्यता का सिलसिला आज से लगभग 4500 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया था। कायथा जन, पश्चिम में आहाड़ से आये काले व लाल पात्रों के निर्माता, लाल पात्रों पर काले चित्रण करने वाले ताम्राश्म-संस्कृति के उन्नायक कबीले एवं चित्रित भूरे पात्र

निर्माता, लौह उपकरणों से परिचित जन, मालवा की आदिम सभ्यता को पल्लवित करने की दिशा में सचेष्ट थे। संभवतः ये ही वे नाग, हैहय, इक्ष्वाकु, भार्गव आदि जन थे जिनकी गाथाएँ हमारे पुराणों का वर्ण्य-विषय रही हैं। उत्खनित अवशेष की सभ्यता की कहानी जबानी सुनना जितना मौलिक है, उतना ही उत्तेजक भी है।

विभिन्न उत्खननों के माध्यम से सबसे अधिक प्रकाश उस ताम्राश्म संस्कृति पर पड़ा है, जिसका लगभग आधी सदी के पूर्व भारतीय इतिहासविदों को ज्ञान तक न था। अवन्ती परिक्षेत्र में उत्खनन के परिणामस्वरूप तीन प्रमुख ताम्राश्म अनुक्रम प्राप्त हुए हैं। इन अनुक्रमों की पहचान मुख्य रूप से उन मृदभाण्डों से प्राप्त होती है जो इन अनुक्रमों के विभिन्न स्तरों से प्राप्त हुए हैं। रेडियो कार्बन तिथि निर्धारण द्वारा मालवा क्षेत्र में ताम्राश्मीय युग लगभग 2000 ई. पू. से 700 ई. पू. तक रहा। इस अवधि में जो विशिष्ट मृद्भाण्ड अवन्ती परिक्षेत्र में प्राप्त हुए, उनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है-

कायथा पात्र- कायथा के निम्नतम स्तर से प्राप्त ये पात्र 2000 ई. पू. से 1800 ई. तक बनते रहे। ये पात्र मोटे एवं मजबूत हैं। कायथा पात्रों के निर्माताजन ने तीन विभिन्न प्रकार के मृदभाण्डों का निर्माण किया। उनके द्वारा निर्मित पात्रों में हंडिया, सुराही बैठकदार प्याले आदि प्रमुख थे। इन पात्रों पर लाल या गहरे चाकलेटी रंग पर लाल रंग से ज्यामितीय चित्रण किया जाता रहा था।

काले व लाल पात्र- ताम्राश्मीय जन गुजरात व आहाड़ होते हुए मालवा में 1800 ई. से 1200 ई. पू. के मध्य आ बसे थे। वे काले व लाल पात्रों को उपयोग में लाते थे। इन पात्रों के निर्माताओं ने कायथा पात्र जन को जीतकर इस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाया था। काले व लाल पात्र घर्षित होते थे। कई बार उन पर सफ़ेद रंग से चित्रण भी किया जाता था। ऐसे पात्रों में हण्डिया, तश्तरियाँ, प्याले, दीपक आदि प्रमुख हैं।

मालवा पात्र- ये पात्र लाल रंग के होते थे जिन पर काले रंग से चित्रण किया जाता था। ताम्राश्मकालीन अवन्ती क्षेत्र में यह पात्र बड़ा लोकप्रिय था एवं भारी मात्रा में बनाया जाता रहा। इन पात्रों पर ज्यामितीय अलंकरणों के साथ मनुष्यों व पशु-पक्षियों का चित्रण भी होता रहा। इस काल के पात्रों में प्याले, तश्तरियाँ, बैठकनुमा पात्र, लोटे, हण्डे व अन्न-संग्राहक वर्तुलाकार पात्र प्रमुख रूप से मिले हैं। ये पात्र लगभग 1500 ई. पू. से 1200 ई. पू. तक प्रमुख रूप से बनाये गये थे। ये पात्र अपने परवर्ती काल में ई. पू. 700 तक अपना अस्तित्व प्रकट करते रहे।

इन पात्रों के साथ-साथ मालवा में जोर्वे नामक भूरापन लिये काले पात्र, खुरदरे एवं भद्दे लाल-काले पात्र, चित्रित या सादे भूरे पात्र भी उत्खनन में मिले, किन्तु अवन्ती परिक्षेत्र में तो कहीं-कहीं ही वे बहुत कम मात्रा में मिले हैं। इन पात्रों के युग का समापन ऐतिहासिक काल लगने (छठी सदी ई. पू.) तक हो गया था और एक नवीन, किन्तु अत्यधिक आकर्षक उत्तरी काले ओपदार पात्र (एन.बी.पी.) पटल पर आ गया था। ऐसे पात्रों की बौद्ध एवं मौर्य युग में धूम रही। अभी क्षेत्र के कई स्थानों से ये अत्यन्त पतले, किन्तु बड़े मजबूत पात्रों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। कुछ विद्वानों की यह धारणा रही कि ये बौद्ध भिक्षुओं के कमण्डल के टुकड़े हैं।

अवन्ती क्षेत्र का एक प्रमुख केन्द्र उज्जैन रहा है। उज्जैन गढ़ पर खुदाई करने पर नगरीय सभ्यता के अवशेष प्राप्त तो नहीं हो पाये हैं, किन्तु जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसे उपनगरीय सभ्यता अवश्य कह सकते हैं। लगता है जिन स्थानों पर खुदाई हुई, वे उन कृषकों के निवास-स्थल थे जो उज्जैन में रहते थे। यहाँ मिट्टी के 2 फीट वृत्त वाले तथा लगभग पौन फुट ऊँचे नल एक-दूसरे में फँसे पाये गये। इन परस्पर गुम्फित नलों की ऊँचाई 15 फीट तक रही है। लगता है ये अनाज के कूप रहे होंगे, किन्तु इनमें प्राप्त भस्मियाँ तथा अस्थियाँ आश्चर्य उत्पन्न करती हैं। मिट्टी की कतिपय मुद्राएँ भी इनमें प्राप्त हुई हैं।

कुछ स्थानों पर 40 फीट तक उत्खनन किया गया। शुंग और मौर्यकालीन स्तरों के नीचे कच्ची ईंटों की दीवार दिखाई दी। संभवतः ये प्राकार के अवशेष हों। किन्तु सबसे आश्चर्यजनक उपलब्धि लकड़ी के पुख्तों का एक-दूसरे के पास जमा हुआ पाया जाना है। लगता है ये क्षिप्रा की बाढ़ रोकने के लिये रखे गये हों। सुरक्षा के लिये लकड़ी का प्रयोग मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में भी किया जाता रहा।

एक भस्मीपात्र में मिट्टी की मुद्रा प्राप्त हुई है, जिस पर मानव मस्तक व कमल पुष्प अंकित है। इनके अतिरिक्त मिट्टी के बर्तन, सुराहियाँ, ढक्कन, प्याले, तश्तरियाँ, दीपक, बाट, खिलौने, ईंटें, सीप, हाथीदाँत के सामान के अवशेष, मिट्टी की मुद्राएँ, पत्थर के गुरिये आदि प्राप्त हुए हैं। उज्जैन मुक्ताओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त नगर रहा है। खुदाई में कुछ ऐसे साधन भी प्राप्त हुए हैं, जिन्हें मोतियों को रगड़ने के यंत्र माना जा सकता है।

वेश्या टेकरी अशोक की वैश्य पत्नी की स्मृति है। खुदाई पर यहाँ ऐसे स्तूप का पता लगा है जैसे भारत में अन्यत्र प्राप्त नहीं होते। इस वैश्य महिला के पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा सिंहल में बौद्ध धर्म प्रचारार्थ गये थे। विदिशा में यह रानी भिक्षुणी बनकर रही थी। साँची में उसके संघाराम के खण्डहर देखे जा सकते हैं।

नगर के उत्तर-पूर्व में स्थित यह टेकरी 40 फीट व्यास में स्थित है। ऊँचाई लगभग 100 फीट है। इसके चारों ओर खंदक है और पृष्ठ भाग में तालाब है। यहाँ प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ ईंटों का एक विशाल स्तूप था। ईंटों का आकार 22½" x 18½" x 33" तथा 22½" x 15½" x 3¾" है। उज्जैन में मौर्यकालीन वास्तुकला का यह एक ज्वलंत प्रमाण है।
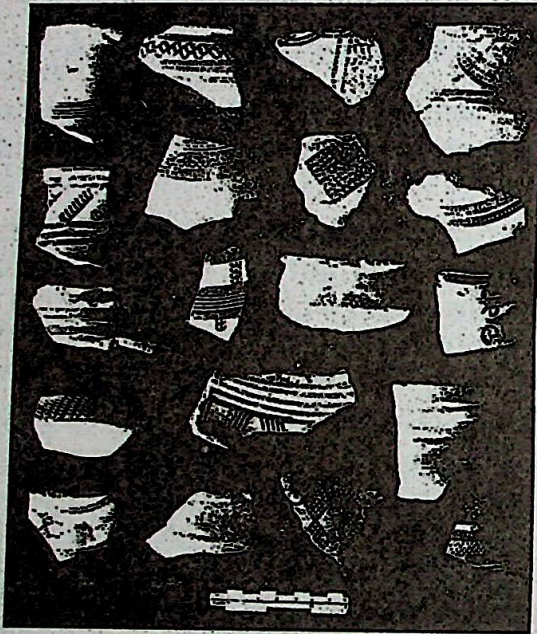
उत्खनित मालवा पात्र
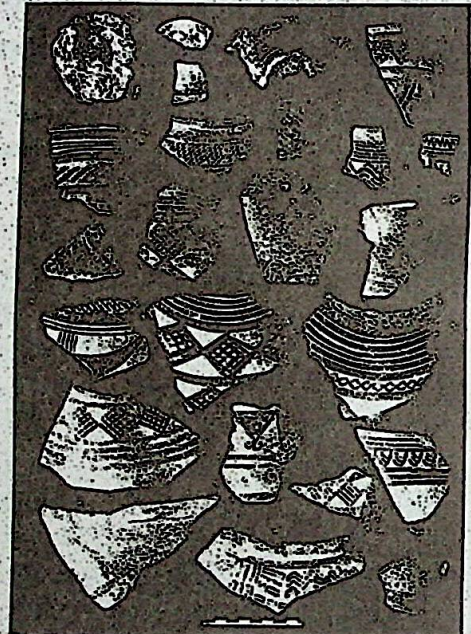
लाल पर काले चित्रण वाले पात्र (दंगवाड़ा)

वेश्या-टेकरी से 1 मील दूर उण्डासा तालाब के पास 220 फीट लम्बा, 100 फीट चौड़ा और 15 फीट ऊँचा एक टीला है। कुम्हारों द्वारा निर्मित बर्तनों के प्राप्त होने के कारण इसे कुम्हार टेकरी कहा जाता है।

खुदाई में यहाँ 42 मानव-पंजर विभिन्न मुद्राओं में प्राप्त हुए हैं। इन नरकंकालों के पास में भस्मीपात्र, मनके, मिट्टी के प्याले और तश्तरियाँ भी पाये गये हैं। लगता है यह कोई प्राचीनकालीन श्मशान था। श्मशान की भस्मी भी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है, किन्तु पंजरों की प्राप्ति, उनकी मुद्राएँ आदि शोधकर्त्ताओं के लिये रहस्य भावनाओं का प्रेरण करते हैं।

अवन्ती क्षेत्र में कायथा, दंगवाड़ा, नागदा, रुणीजा, मन्दसौर, महिदपुर आदि स्थानों पर जो उत्खनन हुए उनसे ताम्राश्मयुगीन संस्कृति के साथ-साथ ऐतिहासिक काल से सम्बन्धित पुरा-सामग्री पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हुई है, जो मौर्य-पूर्व लौह युग, मौर्य, शुंग-काण्व, गुप्त एवं गुप्तोत्तर तथा राजपूत, मुस्लिम एवं मुगल कालों से भी सम्बन्ध रखती है। प्राप्त सामग्री में मृदभाण्ड, मृण्मूर्तियाँ,

पाषाण-वस्तुएँ, धातु के पात्र एवं औजार, आभूषण, मनके एवं आवासीय प्रमाण आदि प्रभूत मात्रा में मिले हैं।

उत्खनन से प्राप्त पुरा-सामग्री ने यह सिद्ध किया है कि ताम्राश्म काल में मालवा के लोग बड़ी तेजी से अन्न-संग्राहक की अपेक्षा अन्न उत्पादक हो गये थे। वे सभ्यता के क्षेत्र में प्रवेश कर चुके थे। छोटे-छोटे ग्राम-खेड़ों में वे मिट्टी, काष्ट, घास एवं बाँस से निर्मित कुटीरों में निवास करने लगे थे। कृषि के साथ-साथ पशुपालन भी उनका प्रमुख व्यवसाय था। वे ताम्र एवं सूक्ष्माश्म उपकरण का प्रयोग करते थे। सामान्यतया वे मातृदेवियों, वृषभादि पशुओं, वनस्पतियों आदि की पूजा-उपासना करते थे। मिट्टी के पात्र, ईंटों व खिलौने या मृण्मूर्तियाँ बनाने एवं पात्रों पर विविधतापूर्ण चित्रण करने में वे दक्ष थे। निर्धन लोग मिट्टी एवं प्रस्तर मनकों व ताँबे के आभूषण तथा धनी वर्ग सोने व चाँदी के आभूषण पहनते थे। मुद्राओं का प्रचलन नहीं था। वस्तु विनिमय प्रणाली से ग्रामीण जीवन सीमित मात्रा में काम चला लेता था।

लौह युग के प्रारम्भ होते ही ऐतिहासिक काल आ गया था। लौह के प्रयोग ने ताम्राश्म युग को बिदा कर दिया था और जीवन के भौतिकाभौतिक क्षेत्रों में एक निर्णायक परिवर्तन एवं रूपान्तर स्थापित हो गया था। यह क्रम आज भी जारी है। संक्षेप में अवन्ती क्षेत्र को पुरातत्त्व की यही देन है जो आगे भी वैज्ञानिक एवं खोजपूर्ण रूप में जारी रहेगी।

(2) अवन्ती क्षेत्र के प्राचीन अभिलेख

इतिहास एवं संस्कृति विषयक अध्ययन के लिये साहित्यिक स्रोतों के साथ-साथ पुरातात्त्विक साक्ष्यों का भी बड़ा महत्त्व होता है। इन स्रोतों में अभिलेखों की महती भूमिका असंदिग्ध है। अभिलेखीय साक्ष्य तत्कालीन स्थितियों की प्रामाणिक सूचनाएँ तो प्रदान करते हैं ही, परोक्ष रूप से वे ऐसे संदर्भ भी प्रस्तुत करते हैं, जो धर्म, दर्शन एवं संस्कृति विषयक अनेक तथ्यों को भी सहज रूप में उद्घाटित कर देते हैं। यहाँ सम्राट अशोक के काल के अभिलेखों से लेकर परमार काल तक अभिलेख प्राप्त हुए हैं और अभी भी प्राप्त हो रहे हैं।

इस आलेख में अवन्ती मालवा-क्षेत्र के प्रमुख प्राचीन अभिलेखों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है-

1. नरवर्मा का बिहार-कोटरा शिलालेख- यह अभिलेख राजगढ़ जिले की नरसिंहगढ़ तहसील में स्थित बिहार-कोटरा नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इस लेख पर मालव संवत् 474 तद्नुसार 417 ई. की तिथि अंकित है। इस लेख की भाषा संस्कृत तथा लिपि दक्षिणी वर्ग की परवर्ती ब्राह्मी है। औलिकर वंश से सम्बन्धित यह प्रथम अभिलेख है, जिसमें नरवर्मा को 'नरेन्द्र' कहा गया है।

2. औलिकर अभिलेख-मन्दसौर से अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। दशपुर से प्राप्त लेखों में औलिकर नरेश नरवर्मा की मन्दसौर प्रशस्ति, विश्वकर्मा का गंगधार अभिलेख, कुमारगुप्त तथा बन्ध वर्मन का मन्दसौर प्रस्तर अभिलेख, प्रभाकर का प्रस्तर अभिलेख, महाराज गौरी का खण्डित शिलालेख उल्लेखनीय हैं। अन्य अभिलेखों में मन्दसौर जिले की सीतामऊ तहसील के पश्चिम में स्थित रिस्थल नामक गाँव से प्राप्त औलिकर प्रकाशधर्मा का अभिलेख, यशोधर्मा-विष्णुधर्मा का सोंधणी प्रस्तर स्तम्भ लेख तथा यशोधर्मा-विष्णुवर्धन का दशपुरीय कूप अभिलेख विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। मन्दसौर प्राचीन संस्कृत अभिलेखों की दृष्टि से मालवा का एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नगर है। यहाँ से प्राप्त अभिलेखों का साहित्यिक एवं ऐतिहासिक-दोनों दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व है। दशपुर से प्राप्त अभिलेखों पर अनेक विद्वानों के स्वतन्त्र शोध-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। अतः उनका विशद विवरण पिष्टपेषण मात्र होगा।

3. अन्य अभिलेख- मालवा से प्राप्त पूर्व परमारकालीन इन प्रतिनिधि अभिलेखों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक उल्लेखनीय अभिलेख हैं, जिनसे तत्कालीन भौगोलिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों पर

पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इनमें शाजापुर जिले के संग्रहालय में सरक्षित शाजापुर के निकटवर्ती एक ग्राम से प्राप्त अभिलेख का उल्लेख करना आवश्यक है। यह अभिलेख प्राकृत मिश्रित संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में अंकित है। यह अभिलेख महाक्षत्रप स्वामी विश्वसिंह से सम्बन्धित है। यह किसी सम्बन्धी के कल्याण के निमित्त कूप उत्खनन के अवसर पर उत्कीर्ण करवाया गया था।

उपर्युक्त अभिलेखों के अतिरिक्त कुछ ऐसे अभिलेख भी हैं, जो यद्यपि विद्यमान तो हैं, किन्तु खण्डित होने या घिस.जाने के कारण पठनीय नहीं हैं। इनमें उज्जैन आदि नगरों से प्राप्त परवर्ती आहत सिक्के उल्लेखनीय हैं। ये तत्कालीन शासकों के नाम, रूप, उपाधि और वंश-परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश विकीर्ण करते हैं।

4. मालवा से सम्बन्धित प्राचीन अभिलेख-कतिपय ऐसे अभिलेखों का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा जो मालवा से प्राप्त तो नहीं हुए हैं, परन्तु मालवा से सम्बन्धित अवश्य हैं और इनसे तत्कालीन महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं, वस्तुतः उन अभिलेखों का संचालन-केन्द्र उज्जैन होने के कारण वे मालवा से सर्वथा सम्बन्धित है। ऐसे अभिलेखों में नहपान के जामाता उपवदात का नासिक अभिलेख, वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी का नासिक अभिलेख, चष्टन पुत्र रुद्रदामन् का जूनागढ़ अभिलेख तथा पुलकेशिन् द्वितीय का ऐहोल अभिलेख उल्लेखनीय हैं। इन अभिलेखों का मालवा से सीधा सम्बन्ध तो नहीं है, पर इनमें मालवा-अंचल के विशिष्ट क्षेत्रों, नगरों, घटनाओं अथवा स्थितियों का यत्र-तत्र प्रासंगिक उल्लेख मिलता है।

5. परमार अभिलेख- प्राक्-परमारकालीन उपर्युक्त अभिलेखों के अतिरिक्त मालवा के परमारकालीन अभिलेखों की एक विस्तृत सूची है। परमार नरेशों ने प्रायः 800 ई. से 1300 ई. तक शासन किया था। इस अवधि के परमार शासकों के 85 संस्कृत अभिलेखों का अध्ययन कर डॉ. ए. सी. मित्तल ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस क्षेत्र के परम ज्ञानी एवं वयोवृद्ध पुरातत्त्वविद् डॉ. एच. व्ही. त्रिवेदी द्वारा दो खण्डों में प्रणीत **'कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इन्डीकेरम्'** का उल्लेख करना भी अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों शोधपूर्ण स्वतंत्र-ग्रन्थों में परमार अभिलेखों पर महत्त्वपूर्ण शोध सामग्री विद्यमान है, जिससे परमार काल के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश विकीर्ण होता है। वस्तुतः परमार अभिलेखों की सूची इतनी विस्तृत है कि उसके एक लेख को लघुकाय आकार में समावेश करना और उन पर प्रकाश डालना असंभव है। उनमें से कतिपय प्रतिनिधि लेखों का उल्लेख मात्र यहाँ अभीष्ट है।

परमार अभिलेख या तो प्रस्तरों या ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण मिलते हैं। प्रस्तरांकित अभिलेख अधिकतर मन्दिरों के निर्माण या जीर्णोद्धार अथवा धार्मिक समारोहों से सम्बन्धित हैं जबकि ताम्रपत्रांकित लेखों का सम्बन्ध प्रमुखतः भूमि-दानों से हैं। अभी तक छोटे-बड़े लगभग 100 परमारकालीन अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं। मालवा के परमारों के ये अभिलेख पूर्व में वेत्रवती नदी से लेकर पश्चिम में माही कांठे तथा उत्तर में चन्द्रभागा नदी से लेकर दक्षिण में नर्मदा कांठे के मध्य अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। ऐसे स्थानों में हरसोला, गांवड़ी, बांसवाड़ा, बेटमा, मांधाता, विदिशा, भोजपुर, उदयपुर, शेरगढ़, धार, झालरापाटन, उज्जैन, ऊन, पिपलियानगर, भोपाल, धरमपुरी, मांडव, ग्यारसपुर, सीहोर, नागदा आदि हैं। जगदेव नामक एक वीर परमार नायक के अभिलेख मालवा से बाहर डोंगरगाँव एवं जैनड़ से मिले हैं। परमार नरेश नरवर्मा की एक प्रस्तरांकित प्रशस्ति नागपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। अभिलेखों की इन स्थानों पर प्राप्ति यह प्रमाणित करती है कि ये स्थान मालवा के परमारों के आधीन या उनके प्रभाव क्षेत्र में रहे थे।

परमार अभिलेख मालवा की राजनैतिक स्थितियों और परमार वंशावली पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इनके अनुसार प्रारंभिक परमार शासक राष्ट्रकूटों के आधीन सामन्त मात्र थे। इस संयोग के कारण कई विद्वानों ने उन्हें राष्ट्रकूटों की ही एक शाखा मान लिया है जबकि एकाधिक परमार अभिलेख उनकी उत्पत्ति दुष्टों का संहार करने के लिए आबू में सम्पन्न हुए, एक विशाल यज्ञ के कुण्ड से मानते हैं। हलायुध नामक परमार राजकवि उन्हें ब्रह्मक्षत्र अर्थात् ब्राह्मण एवं क्षत्रियों की विशिष्टताओं से युक्त मानता है।

अभिलेखों के अनुसार मालवा के परमारों का मूल पुरुष उपेन्द्र था। विद्वानों ने इसका समय 791 से 818 ई. तक रखा है। उसके उपरान्त क्रमशः बैरिसिंह प्रथम एवं उसका पुत्र कृष्णराज अर्थात् वाक्पति प्रथम तथा बैरिसिंह द्वितीय हुए। इसके उपरान्त सीयक द्वितीय अर्थात् हर्ष सामन्त बना। सीयक अपने वंश का प्रथम उल्लेखनीय शासक था। उसने न केवल राष्ट्रकूटों की आधीनता से मालवा को मुक्त किया अपितु सन् 982 ई. में राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यकूट व राष्ट्रकूट सत्ता को तहस-नहस कर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। वाक्पतिराज के गाँवड़ी अभिलेखों में उसे अपने पिता का पादानुध्यायी तथा परमभट्टारक, महाराजाधिराज व परमेश्वर कहा गया है। इन्हीं अभिलेखों में वाक्पतिराज मुंजदेव को सीयक का पादानुध्यायी, पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ, नरेन्द्रदेव, परमेश्वर, परम भट्टारक श्रीमान अमोघवर्षदेव आदि कहा गया है। चालुक्यों द्वारा मुंज के मारे जाने पर उसका अनुज सिंधुराजदेव परमार नृपति बना। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि मुंज के समय मालवा की राजधानी उज्जैन के स्थान पर धार या धारानगरी हो गई थी। नवसाहसांक के नाम से सुविख्यात सिंधुराज की मृत्यु के उपरान्त इतिहास-प्रसिद्ध राजा भोज शासक बना। इसका राज्यकाल सन् 1011 से 1055 ई. तक रहा। भोज अपने चाचा मुंज की ही भाँति एक उल्लेखनीय नृपति था। वह एक वीर एवं विद्वान् शासक था। भारतीय वाङ्मय को उसकी अभूतपूर्व देन रही। वह अनेक विद्वानों का आश्रयदाता एवं समर-शूर था। भोज के उपरान्त क्रमशः जयसिंह प्रथम, उदयादित्य, नरवर्मा, यशोवर्मा आदि परमार नृपति बने। इनमें उदयादित्य एवं नरवर्मा महान निर्माता एवं विद्वान्-संरक्षक सिद्ध हुए। यशोवर्मा के उपरान्त परमार राज्य दो शाखाओं में विभक्त हो गया। धार-उज्जैन की मुख्य शाखा में उसके उपरान्त क्रमशः जयवर्मा, विंध्यवर्मा, सुभटवर्मा व अर्जुनवर्मा शासक बने। दूसरी विदिशा शाखा पर परमार महाकुमार शासन करने लगे। प्रारम्भिक महाकुमार शासकों में लक्ष्मीवर्मा, त्रैलोक्यवर्मा, हरिश्चन्द्र, उदयवर्मा आदि उल्लेखनीय है। सन् 1218 ई. में देवपालदेव के नेतृत्व में दोनों शाखाएँ पुनः एकीकृत हो गयीं। जैतुगीदेव, जयवर्मा द्वितीय, अर्जुनवर्मा द्वितीय, भोज द्वितीय, महलकदेव, जयसिंह तृतीय अन्तिम परमार नरेश हुए। इसके उपरान्त अर्थात् चौदहवीं सदी के प्रारम्भिक दशक में मालवा से परमारों की सत्ता क्षीण हो गयी और मालवा दिल्ली के सुल्तानों के आधीन हो गया।

परमार अभिलेख तत्कालीन प्रशासकीय व्यवस्था पर भी अच्छा प्रकाश डालते हैं। राज्य का स्वरूप राजतंत्रात्मक होता था। राजा अनेक उपाधियों से विभूषित होते थे। उदाहरणस्वरूप नरवर्मा 'निर्भय-नारायण', 'निर्वाण नारायण', 'त्रिविध-वीर-चूडामणि' जैसी उपाधियों से विभूषित था। केन्द्रीय स्तर पर राजा की सहायता के लिये मंत्रि-परिषद् होती थी। राजा के बाद राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी महाप्रधान होता था। महासंधिविग्रहीक, महादण्डनायक, महाप्रतिहार, महापुरोहित आदि अन्य प्रमुख पदाधिकारी होते थे। मालव देश को अनेक मण्डलों में बाँटा गया था। मण्डल प्रमुख मांडलिक कहलाते थे। अभिलेखों से चौदह मण्डलों की सूचना मिलती है। इन मण्डलों को विषयों और भोगों में विभक्त किया गया था। छोटी प्रशासनिक इकाइयाँ पथक एवं प्रतिजागरणक कहलाती थीं। ग्रामों के पदाधिकारी पट्टकिल, पटेल, दण्डपाशिक, ग्रामटक आदि होते थे।

परमार सेना के तीन भाग-पैदल, अश्व एवं हस्ति सेना होते थे। सैन्य व्यवस्था में दुर्ग का विशिष्ट महत्त्व होता था। राजा धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय करता था। न्याय सम्बन्धी विशिष्ट अधिकारी धर्मस्थेय कहलाता था। नगरों में पंचकुल तथा ग्रामों में पंचायतें स्थानीय विवादों का निर्णय करती थीं। नगरों के प्रशासनिक अधिकारियों में महत्तर, शौल्किक आदि होते थे। परमार काल में सामन्त प्रथा विद्यमान थी। इन सामन्तों को उनके क्षेत्र के वित्तीय एवं प्रशासनिक अधिकार प्राप्त थे।

परमार अभिलेखों से उस समय के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। परमार काल में बहुत से ब्राह्मण परिवार राजकीय आमंत्रण पाकर मालवा में आ बसे थे। ब्राह्मणों की पहिचान उनकी शाखा, गोत्र, प्रवर आदि के द्वारा होती थी। धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के सम्पादन के बदले में ब्राह्मणों को प्रभूत दान मिलता था। कई बार ब्राह्मणों को ग्राम भी दान में दिये जाते थे। ऐसे ग्रामों को अग्रहार कहते थे। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में क्षत्रियों,

वैश्यों, श्रेष्ठियों, कायस्थों आदि का भी विशिष्ट स्थान था। निम्न वर्ग के लोगों एवं शूद्रों की स्थिति दयनीय थी यद्यपि उस समय मालव देश समृद्ध एवं सम्पन्न था। राज्य को भाग, भोग, उपरिकर, हिरण्य, शुल्क, मार्गदेय आदि के माध्यम से पर्याप्त आय होती थी। यह आय शिक्षा, धार्मिक एवं सार्वजनिक निर्माणों, सैनिक एवं प्रशासनिक कार्यों तथा जन-कल्याण योजनाओं पर व्यय की जाती थी। कृषि एवं उद्योग प्रमुख व्यवसाय थे, इस कारण मार्गों एवं सिंचाई सुविधाओं के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। परमार नृपति उदार, सहिष्णु व दानी थे। उनके अभिलेखों में एक निर्देशक तत्त्व बार-बार दुहराया गया है-

"इस पृथ्वी का आधिपत्य वायु में बिखरने वाले बादलों के समान चंचल है, विषय-भोग प्रारंभ में ही मीठे लगते हैं। मनुष्य का अस्तित्व तो तृण के अग्रभाग में रहने वाले जलबिन्दु के समान है, परलोक गमन के समय केवल धर्म ही सखा होता है। इस कारण चंचल लक्ष्मी को पाकर जो दान नहीं करते, उनको पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कोई फल प्राप्त नहीं होता।

परमार काल में भूमिज शैली में शतशः मन्दिरों का निर्माण किया गया। अनेक मन्दिरों या उनके अवशेषों तथा स्तम्भों से इस आशय के अभिलेखों से तत्कालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का विशद ज्ञान प्राप्त होता है। शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्य सम्प्रदाय पर्याप्त रूप से विकसित हो रहे थे। शिव के अनेक रूपों की पूजा की जाती थी। ऐसे रूपों में विभिन्न देवी-देवताओं के विभिन्न रूपों की पूजा-उपासना प्रचलित थी। प्राप्त अभिलेखों में उनके नामों व स्वरूपों की स्तुतियाँ की गई हैं।

जैन धर्म की दिगम्बर एवं श्वेताम्बर शाखाएँ अनेक आकर्षक मन्दिरों का निर्माण करवा रहीं थीं। यद्यपि इस काल की जैन प्रतिमाओं के पादपीठ पर उत्कीर्ण लेखों को भी अभिलेखों में सम्मिलित कर लिया जाय तो परमार अभिलेखों की संख्या कई सौ तक पहुँच जावेंगी।

यद्यपि अधिकांश परमार नरेश शैव थे, किन्तु अन्य सम्प्रदायों के प्रति वे अत्यधिक सहिष्णु थे। परमार अभिलेखों की धार्मिक स्तुतियों में साहित्यिक एवं धार्मिक सौन्दर्य कूट-कूटकर भरा है और हमें भी यह गुनगुनाने को बाध्य करता है-

जयति व्योम केशोसौ यः सर्गाय विभर्ति तां
एंदवी शिरशा लेखां जगद्बीजांकुराकृतिम्।
तन्वन्तु वः स्मराराते: कल्याणमनिशं जटाः
कल्पान्त समयोद्दाम तडिद्वलयपिंगला।।

❑

उज्जयिनी के पुराणोक्त तीर्थ

डॉ. श्यामसुन्दर निगम
डॉ. वन्दना यादव

तीर्थ का अर्थ होता है, पानी। प्रत्येक धार्मिक स्थलों में तीर्थों का अपना विशिष्ट महत्त्व रहा है और इस दृष्टि से उज्जयिनी प्राचीन काल से ही सुसम्पन्न रही है। स्कन्द पुराण पंचम खण्ड में अवन्ति क्षेत्र के निम्नलिखित तीर्थों का वर्णन हमें प्राप्त होता है–

महाकाल या कोटि तीर्थ (अध्याय 7), कलिमलनाशक (अध्याय 9), अप्सरा कुण्ड तीर्थ (अध्याय 10), कुटुम्बेश्वर तीर्थ (अध्याय 11), गन्धर्व तीर्थ (अध्याय 12) मर्कटेश्वर तीर्थ (अध्याय 13), महिष कुण्ड तीर्थ (अध्याय 13), स्वर्गद्वार तीर्थ (अध्याय 14), दशाश्वमेघ तीर्थ (अध्याय 18), पिशाचमोचन तीर्थ (अध्याय 22), हनुमत्केश्वर (अध्याय 23), यमेश्वर तीर्थ (अध्याय 24), वाल्मीकेश्वर (अध्याय 27-28), शुक्रेश्वर तीर्थ (अध्याय 27-28), गर्गेश्वर तीर्थ (अध्याय 27-28), कामेश्वर तीर्थ (अध्याय 27-28), चण्डेश्वर तीर्थ (अध्याय 27-28), अंकपात तीर्थ (अध्याय 33), चन्द्रादित्य तीर्थ (अध्याय 34), करभेश्वर तीर्थ (अध्याय 35), कुसुमेश्वर तीर्थ (अध्याय 37), सोमेश्वर तीर्थ (अध्याय 38), नरकेश्वर तीर्थ (अध्याय 39), केदारेश्वर तीर्थ (अध्याय 41), सौभाग्येश्वर तीर्थ (अध्याय 42), गोपेन्द्र तीर्थ (अध्याय 42), शक्तिभेद तीर्थ (अध्याय 45), अभयेश्वर तीर्थ (अध्याय 48), कलकलेश्वर तीर्थ (अध्याय 48), अंगारेश्वर तीर्थ (अध्याय 48), अगस्त्येश्वर तीर्थ (अध्याय 49), अमरावती तीर्थ (अध्याय 56), गया तीर्थ (अध्याय 58), गोमती कुण्ड तीर्थ (अध्याय 73), वामन तीर्थ (अध्याय 74), वामन कुण्ड अथवा ब्रह्म तीर्थ (अध्याय 74), वीरेश्वर तीर्थ (अध्याय 75), नाग तीर्थ (अध्याय 75), भैरव तीर्थ (अध्याय 75), कुटुम्बेश्वर तीर्थ (अध्याय 77), नृसिंह तीर्थ (अध्याय 77), खण्डेश्वर तीर्थ (अध्याय 78), कर्कराज तीर्थ (अध्याय 81), देव तीर्थ (अध्याय 82), घृतकुल्या तीर्थ (अध्याय 83), मधुकुल्या तीर्थ (अध्याय 83), अवन्ति तीर्थ (अध्याय 83), पुरुषोत्तम तीर्थ (अध्याय 71), विष्णु तीर्थ (अध्याय 47), चक्र तीर्थ (अध्याय 83), कपिलाश्रम तीर्थ (अध्याय 83), ऋणमुक्तेश्वर तीर्थ (अध्याय 83), नरादित्य तीर्थ (अध्याय 43), विमलोदक तीर्थ (अध्याय 66), मंदाकिनी तीर्थ (अध्याय 32), त्रिभुवन वंदित तीर्थ (अध्याय 83), गंगा तीर्थ (अध्याय 83), कलहनाशन तीर्थ (अध्याय 8), विद्याधर तीर्थ (अध्याय 12), अक्रूरेश्वर तीर्थ (अध्याय 31), शंकरादित्य तीर्थ (अध्याय 33), चन्द्रादित्य तीर्थ (अध्याय 34), रामेश्वर तीर्थ (अध्याय 41), केशवादित्य तीर्थ (अध्याय 44), खगर्ता संगम तीर्थ (अध्याय 59), यात्रेश्वर तीर्थ (अध्याय 83) क्षाता संगम तीर्थ (अध्याय 67), योग तीर्थ (अध्याय 83) चिपिटा तीर्थ (अध्याय 83), देव प्रयाग तीर्थ (अध्याय 83), प्रयागेश्वर तीर्थ (अध्याय 83), पापमोचन तीर्थ (अध्याय 83), प्रेतशिला तीर्थ (अध्याय 83), ब्रह्म तीर्थ (अध्याय 83), शंखोध्दार तीर्थ (अध्याय 42), धूपताप तीर्थ (अध्याय 48), ऊखऱ तीर्थ (अध्याय 83), नव नदी संगम तीर्थ (अध्याय 83)आदि।

इन तीर्थों के अतिरिक्त भी हमें स्कन्द पुराण में निम्नलिखित तीर्थों की जानकारी प्राप्त होती है–

जटाशंकर तीर्थ, उत्तरमानस तीर्थ, सनातन तीर्थ, पुष्कर तीर्थ, कायावरोहण तीर्थ, सहस्त्रकोटि तीर्थ, विजय तीर्थ, शुद्धोदक तीर्थ, लुम्पेश्वर तीर्थ, स्वर्णाक्षुर तीर्थ, मल्लिकार्जुन तीर्थ एवं वागन्धक तीर्थ।

वर्तमान में इन समस्त तीर्थों में से बहुत कम तीर्थ हमें उज्जयिनी में प्राप्त होते हैं। जो तीर्थ वर्तमान उज्जयिनी में हमें प्राप्त होते हैं, वे निम्नानुसार हैं:

शिप्रा के पूर्वी तट पर स्थित तीर्थ– कर्कराज तीर्थ, नृसिंह तीर्थ, संगम तीर्थ, पिशाचमोचन तीर्थ, मल्लिकार्जुन तीर्थ, गंधवती तीर्थ, ब्रह्म तीर्थ (सुनहरा घाट), चक्र तीर्थ, प्रयागेश्वर तीर्थ, ऋणमुक्तेश्वर तीर्थ, भैरव तीर्थ, ओखलेश्वर तीर्थ, गंगेश्वर तीर्थ, मंदाकिनी तीर्थ, अंगार तीर्थ, ब्रह्म कुण्ड।

शिप्रा के पश्चिमी तट पर स्थित तीर्थ– क्षाता संगम या त्रिवेणी तीर्थ (विमलोदक) दत्त तीर्थ, केदार तीर्थ, सोम तीर्थ, घृतकुल्या तीर्थ, मधुकुल्या तीर्थ, ओखर तीर्थ, भैरव तीर्थ, शक्तिभेद तीर्थ, प्रेतशिला तीर्थ, ब्रह्म कुण्ड या वामन कुण्ड।

उपलब्ध तीर्थों का विवरण:

(1) कर्कराज– कर्कराज तीर्थ पर कर्कराजेश्वर का मन्दिर विद्यमान है। मन्दिर शिप्रा के किनारे उस स्थान पर खड़ा है, जहाँ नृसिंह द्वीप के सामने स्थित शिप्रा द्वीप प्रारम्भ होता है। यहाँ इसी द्वीप के कारण शिप्रा दो भागों में विभक्त हो जाती है। ये दोनों धाराएँ द्वीप को अपने बाहुओं में समेटती हुई पुनः नृसिंह तीर्थ के सामने संगम तीर्थ में मिल जाती हैं। सारा ही दृश्य बड़ा ही मनोरम, प्राकृतिक व एकांत छबि वाला है।

(2) नृसिंह तीर्थ–यह एक वैष्णव तीर्थ है, जो कर्कराज के उत्तर और संगमेश्वर के दक्षिणी भाग में स्थित है। वैष्णव तीर्थ होते हुए भी जब सभी प्रकार के तीर्थों की तीर्थयात्रा प्रारम्भ होती है, तो इस तीर्थ की यात्रा एक अपरिहार्यता होती है। इस तीर्थ पर प्राचीन समय में पक्के घाट व मन्दिर थे। मराठा काल में बाबा रामचन्द्र ने इन घाटों का जीर्णोद्धार करवाया। स्कन्द पुराण में इस तीर्थ पर महासवितृ व्रत के आचरण का उल्लेख है एवं नृसिंह चतुर्दशी को स्नान का महत्त्व दर्शाया गया है।

(3) संगम तीर्थ– यह तीर्थ जयरामदास सनेहीराम की बगीची और विराट हनुमान के बीच में स्थित है। यहाँ चौरासी महादेवों में से 69वें संगमेश्वर महादेव स्थित है। इस तीर्थ के घाट मिट्टी में दब गये हैं, अतः यहाँ स्नान की सुविधा नहीं है। केवल संगमेश्वर का मन्दिर ही दिखाई देता है।

(4) पिशाचमोचन तीर्थ– यह तीर्थ उज्जैन का प्रमुख घाट है। स्कन्द पुराण में उल्लेख मिलता है कि भगवान रामचन्द्र ने यहाँ एक शिवलिंग की स्थापना की थी। इसी स्मृति में देवताओं ने इसे रामतीर्थ की संज्ञा दी, जो वर्तमान में रामघाट के नाम से प्रसिद्ध है। सिंहस्थ-पर्व का मुख्य स्नान सभी वैष्णव संतों द्वारा इसी घाट पर किया जाता है। इसी तीर्थ पर चौरासी ईश्वरों में पिशाचमुक्तेश्वर, डमरुकेश्वर व ढूँढेश्वर विद्यमान हैं जिनमें पिशाचमुक्तेश्वर की प्रधानता शास्त्रों में की गई हैं। यहाँ पाँच तीर्थ एकत्र हो जाते हैं, यथा-रामघाट, सुन्दरकुण्ड, पिशाचमुक्त, नीलगंगा संगम एवं हरिहर तीर्थ। अतः इसे पंचतीर्थी भी कहा जाता है। स्कन्द पुराण में इस तीर्थ के महत्त्व के विषय में विस्तार से कहा गया है।

(5) मल्लिकार्जुन तीर्थ– यह तीर्थ शिप्रा घाट पर पिशाचमोचन और गंधवती तीर्थ के मध्य स्थित रहा। आजकल यह मौलाना घाट कहलाता है। प्राचीन समय में यह एक वैष्णव तीर्थ था।

(6) गंधवती तीर्थ– इस तीर्थ पर गंधवती नदी आकर शिप्रा में मिलती थी। स्कन्दपुराण में विस्तार से इस तीर्थ की महिमा कही गई है। चन्द्रग्रहण में यहाँ स्नान करने का विशेष महत्त्व है। यहाँ के मुख्य देवता मनकामनेश्वर महादेव हैं। कुक्कुटेश्वर एवं दुर्द्धरेश्वर के मन्दिर भी यहीं विद्यमान हैं।

(7) ब्रह्म तीर्थ (सुनहरा घाट)– केदार तीर्थ के सामने की ओर ब्रह्मपोल के सामने का हिस्सा ब्रह्म तीर्थ का सुनहरा घाट कहलाता है। कभी यह उज्जैन का प्रमुख घाट था। ब्रह्म तीर्थ या सुनहरा घाट यही कहलाता है।

(8) चक्र तीर्थ– यह तीर्थ प्रयागेश्वर व सुनहरा घाट के मध्य में है। उज्जैन से बड़नगर जो मार्ग जाता है, उस पर एक बड़ी पुलिया शिप्रा पर बनी है। इसी के उत्तर में नगर की ओर यह घाट है। इस तीर्थ की महिमा स्कन्द पुराण में विस्तार से कही गई है। पुराण में वर्णन आता है कि यहाँ स्नान कर, भगवान चक्रपाणि की पूजा करने से पृथ्वी पर चक्रवर्ती राजा का पद प्राप्त होता है। वर्तमान में यहाँ एक दशभुज गणेश का मन्दिर, शिवालय तथा एक भैरव का मन्दिर है। यह शहर का सदर श्मशान है। इसी के पास में वीर दुर्गादास की छत्री है। प्रायः धोबी घाट की भूमि होने से यह जगह बहुत गन्दी हो गई है।

(9) प्रयाग तीर्थ– चक्रतीर्थ और ऋण मुक्तेश्वर के बीच पुराने जीर्ण-शीर्ण घाटों की एक बड़ी परम्परा है। इन घाटों का निम्न स्थान कीचड़ में दब गया है। प्रयाग तीर्थ बचा है। घाट के ऊपर की ओर खेत में प्रयागेश्वर का शिवलिंग है, जो प्रयाग तीर्थ के अधिष्ठाता देवता हैं। यहाँ मकर संक्रान्ति के दिन मेला लगता रहा है। यहाँ उत्तरायण पर्व काल पर खिचड़ी, तिल, गुड़, घृत और गोदान करना कहा गया है।

(10) ऋणमुक्तेश्वर– वर्तमान में यह तीर्थ विशाल वट-वृक्ष की छाया में स्थित है। वट-वृक्ष की जड़ में दिव्य शिवलिंग है। मन्दिर के अर्धमण्डप में नंदी आकर्षक मुद्रा में स्थित है। गर्भगृह 6' का वर्गाकार है, जो पूरी तरह जीर्णोद्धारित है। वट-वृक्ष के नीचे 2' की ताम्रमण्डित जलाधारी में छोटा-सा शिवलिंग विद्यमान है। सिद्धेश्वर के बाद वट-वृक्ष के मूल पर स्थित यह दूसरा शिवलिंग उज्जैन में है। 1931 में इसे पूर्णतः किसी भक्त ने जीर्णोद्धारित करवा दिया है। इसके आसपास सुन्दर घाट बने हैं। नित्य पूजन-अर्चन की व्यवस्था है। स्कन्द पुराण में कहा गया है कि यहाँ स्नान करके तीर्थाधिपति का दर्शन करके घृतदान करना चाहिए। स्वर्णदान का यहाँ महाफल कहा गया है। यहाँ ऋणमुक्तेश्वर की आराधना करने से मनुष्य-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण इन तीनों ऋणों से मुक्ति प्राप्त होती है।

(11) भैरव तीर्थ– इसे कालाग्नि तीर्थ भी कहा जाता है तथा यह काल भैरव पर स्थित है। यहाँ भी सुन्दर घाट बना हुआ है। यहाँ स्थित काल भैरव का मन्दिर बहुत विशाल है। प्रतिमा दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत है। यहाँ नित्य पूजन-पाठ आदि की सरकार की ओर से व्यवस्था है। कहते हैं कि श्रीमंत बायजाबाई सा. शिन्दे की एक बार संकट में साक्षात् काल-भैरव ने सहायता की थी। अतः उन्होंने इस मन्दिर का यहाँ निर्माण करवाया। यहाँ पूर्ण पात्र का (कांसे के पात्र में चावल) दान कहा गया है। आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा तथा मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी को यहाँ मेला लगता है। कार्तिक पूर्णिमा को भी यहाँ प्रायः यात्रियों की भीड़ बनी रहती है। स्कन्द पुराण में कहा गया है कि स्वर्ग-द्वार में स्नान करके भैरव का दर्शन करने से मनुष्य सौ यज्ञों का फल पाता है।

(12) ओखलेश्वर तीर्थ– भैरव तीर्थ के सामने व विक्रान्त भैरव के पार्श्व में ओखलेश्वर तीर्थ विद्यमान है। ओखलेश्वर तीर्थ पर अनेक परमारकालीन प्रतिमाएँ विद्यमान रही हैं।

(13) गंगेश्वर तीर्थ– वर्तमान में यह तीर्थ मंगलनाथ के कुछ पहले ही गंगाघाट पर स्थित है। इस घाट का सिंहस्थ के समय पूर्णतः जीर्णोद्धार कर दिया गया है। यहाँ एक मन्दिर में गंगा की प्रतिमा स्थापित है। शिप्रा नदी यहाँ से पूर्व दिशा की ओर बहती है, जिससे इसे पूर्ववाहिनी (गंगा) कहा है। इसी कारण इस घाट को गंगा घाट कहते हैं।

(14) मंदाकिनी तीर्थ– यह तीर्थ मंगलनाथ पर स्थित है। यहाँ से मंगल ग्रह का उद्भव माना जाता है। यहाँ पर पक्का घाट बना हुआ है तथा ऊपर की ओर भगवान् मंगलेश्वर का मन्दिर है।

(15) अंगार तीर्थ– इस तीर्थ के अधिष्ठाता देवता अंगारकेश्वर हैं। भगवान् शंकर के अंग से श्वेत बिन्दु के रूप में इस भूमि पर गिरने से जिस बालक का जन्म हुआ, वही भूमिपुत्र अंगारक कहलाया। भगवान् शंकर ने स्वयं उज्जैन के महाकाल वन में खगर्ता संगम पर इसका स्थान निश्चित किया तथा नवग्रहों में तृतीय स्थान और चतुर्थी तिथि भी प्रदान की। तभी से वह अंगारक तिथि कहलाई। यह दिन इस तीर्थ का महापर्व है। मंगलवार को कृष्ण पक्ष की चतुर्थी होने पर यह पर्व मनाया जाता है तथा तब यहाँ चार ताम्र के पात्रों के दान का महत्त्व स्कन्द पुराण में बतलाया गया है।

(16) ब्रह्म कुण्ड– स्कन्द पुराण में ब्रह्म तीर्थ का वर्णन आया है। यह तीर्थ वर्तमान में कालियादेह क्षेत्र कहलाता है। मुस्लिम व मुगल काल में यह सम्पूर्ण तीर्थ नष्ट कर दिया गया था और एक विशाल कालियादेह महल का निर्माण एक ऐसे टापू पर किया गया, जहाँ शिप्रा दो भागों में विभक्त होकर बहती है और टापू की समाप्ति पर पुनः एक हो जाती है। यहाँ का दृश्य अत्यधिक सुरम्य, मनोहारी एवं प्राकृतिक छबि से युक्त है। शिप्रा की कलकल ध्वनि महल में गूँजती रहती है। इस महल के सामने शिप्रा पर बावन कुण्ड बनाये गये थे जिनमें से होकर शिप्रा का जल अत्यन्त ही सर्पाकार घूमता हुआ बड़ी सुन्दर छबि प्रस्तुत करता है। इसी कारण यह मांडव के सुल्तानों व मुगल सम्राटों का बड़ा प्रिय विश्राम-स्थान रहा। इन कुण्डों में ही एक कुण्ड ब्रह्म कुण्ड है, जो जैसे-तैसे अपनी प्राचीन सांस्कृतिकता को कायम रखे हुए है। इस ब्रह्म कुण्ड पर आज भी क्रिया-कर्म सम्पन्न होते हैं तथा अट्ठाईस तीर्थ यात्रा में इसका अपना निश्चित स्थान है।

क्षाता संगम या विमलोदक तीर्थ– यह तीर्थ इन्दौर-उज्जैन मार्ग पर शिप्रा के पुल के पार करने पर दाहिनी ओर एक सुरम्य स्थल पर स्थित है। इसका वर्तमान प्रचलित नाम त्रिवेणी है। यह नाम इसे इसलिये दिया गया है, क्योंकि यहाँ शिप्रा एक नदी द्वीप द्वारा दो भागों में विभक्त होती है और शिप्रा की इन दो धाराओं में क्षाता (आधुनिक खान) आकर मिलती है।

दत्त तीर्थ-- रामघाट के सामने की ओर दत्त तीर्थ स्थित है। यहाँ दशनामी गुसांई लोगों के अखाड़े बने हुए हैं। इनमें गुरु दत्तात्रय का अखाड़ा, जूना अखाड़ा आदि प्रमुख हैं। सिंहस्थ पर्व पर ये लोग इसी पश्चिमी तट के घाट पर मुख्य शाही स्नान करते हैं। ऐसी मान्यता है कि इस अखाड़े की स्थापना शंकराचार्य द्वारा हुई। उनके द्वारा यहाँ हरि और हर के स्फटिक लिंग स्थापित किये गये, इस कारण इस घाट को हरिहर घाट भी कहते हैं।

केदार तीर्थ– इसे बद्री-केदार तीर्थ भी कहा जाता है। यह शिप्रा के पश्चिमी तट पर स्थित है जहाँ केदारेश्वर व प्रभुकेश्वर के मन्दिर स्थित हैं। यहाँ तक पहुँचने के लिये एक छोटा पुल बना हुआ है। यह शैव-वैष्णव परम्पराओं को जोड़ने वाला स्थल है। स्कन्द पुराण में मार्गशीर्ष माह के स्नान का महत्त्व इसी घाट पर बताया गया है।

सोमतीर्थ– इस तीर्थ को सोमवती संगम तीर्थ भी कहा जाता है। स्कन्द पुराण में इस तीर्थ के सम्बन्ध में उल्लेख आता है कि सोम के पिता महाभाग के ब्रह्मतेज से सोमा नदी उत्पन्न हुई जो बाद में जाकर शिप्रा में मिल गई। तभी से यह संगम-स्थल सोमतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है।

घृतकुल्या या मधुकुल्या तीर्थ– ये तीर्थ वापियों के रूप में शिप्रा के पश्चिमी किनारे पर योग तीर्थ व ओखलेश्वर के मध्य स्थित थे। उज्जैन नगर का इन तीर्थों की ओर ध्यान नहीं है, किन्तु हमारे सर्वेक्षण के दौरान यह पाया गया कि इन तीर्थों के अवशेष अभी भी वहाँ खेतों में विद्यमान हैं। अष्ट तीर्थों के दौरान कभी-कभी यात्रीगण यहाँ पर भी आते हैं। स्कन्द पुराण में वर्णन मिलता है कि घृतकुल्या तीर्थ में स्नान करके घृतधारयेश्वर शिव का दर्शन व ब्राह्मण को घृतमयी धेनु का दान करने से समस्त पापों से मुक्ति तथा स्वर्ग लोक की प्राप्ति सम्भव होती है। मधुकुल्या तीर्थ में स्नान करके मधुकुल्येश्वर का दर्शन कर मधु व धेनु का दान करना चाहिये।

ऊखर या ऊसर तीर्थ– यह प्राचीन उज्जयिनी का श्मशान घाट है। शहर की प्रधान सतियों के स्मारक अभी भी यहाँ दिखाई देते हैं। इस स्थान के दो विभाग हैं, जो शिप्रा के दोनों घाटों पर हैं। भारतवर्ष में जो नौ महा–श्मशान कहे गये हैं, उनमें से एक यह ऊखर श्मशान है। इसी कारण उज्जैन को सब तीर्थ स्थानों में प्रधान माना गया है।

शक्तिभेद तीर्थ– यह तीर्थ भी उज्जैन का प्रमुख तीर्थ है। स्कन्द पुराण में उल्लेख मिलता है कि यहाँ कार्तिक स्वामी का चौल संस्कार किया गया था तथा नरकासुर को वध के पश्चात् देवसेनापति ने अपनी विजयदायिनी शक्ति को यहाँ शिप्रा में त्याग दिया था। इसी से इस तीर्थ का नाम शक्ति भेद तीर्थ है। यहाँ चौरासी महादेव में से ग्यारहवें सिद्धेश्वर महादेव हैं। वे ही इस तीर्थ के अधिष्ठाता देवता हैं। यहाँ सिद्धवट नामक एक अक्षय–वट–वृक्ष है। जिस प्रकार गया व प्रयाग में अक्षय वट की महिमा है, उसी प्रकार उज्जैन में सिद्ध–वट है। यहीं पर एक छोटे से जलाधारीयुक्त शिवलिंग की स्थापना की गई है। कार्तिक शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को यहाँ मेला लगता है। नाग–बलि, नारायण बलि, त्रिपिण्डि श्राद्ध, तीर्थ श्राद्ध और अन्त्येष्टी कर्म यहाँ हुआ करता है। यहीं पास में ब्राह्मणों का बाणेश्वर महादेव का मन्दिर भी दर्शनीय है। चौरासी महादेवों के अन्तर्गत बडलेश्वर महादेव भी यहाँ स्थित है। इसके अतिरिक्त स्कन्द पुराण में वर्णित प्रेतशिला भी यहाँ स्थित थी, किन्तु वर्तमान में यह घाटों के जीर्णोद्धार के कारण दिखाई नहीं देती। सम्पूर्ण तीर्थ दर्शनीय है।

❑
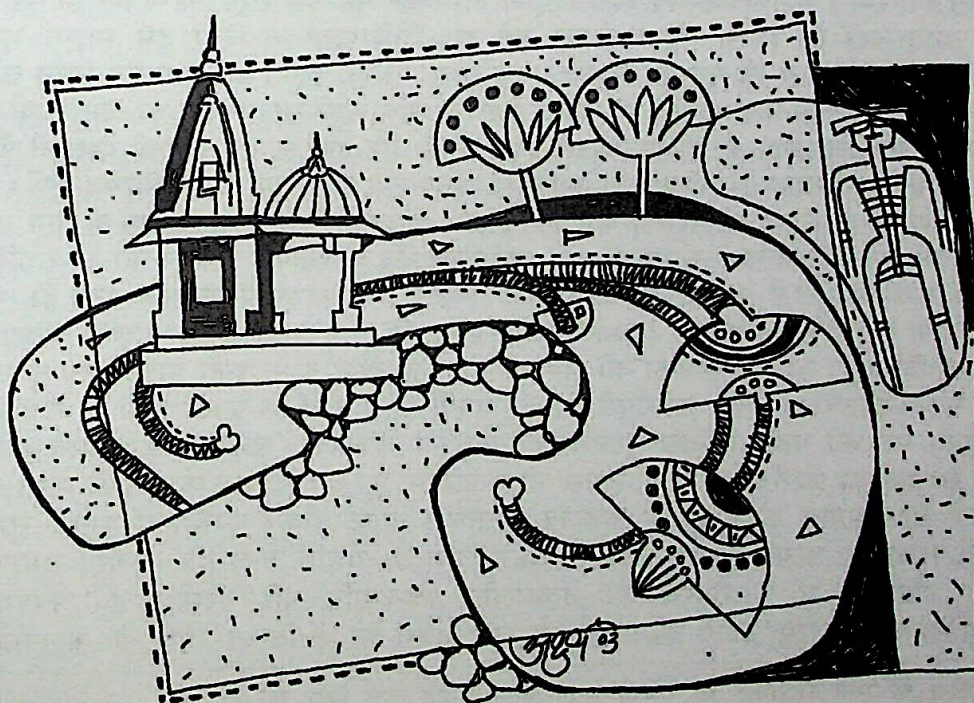
उज्जैन के प्रमुख दर्शनीय स्थान

स्व. पं. सूर्यनारायण व्यास

अवन्ती के ऐतिहासिक, धार्मिक तथा साहित्यिक महत्त्व पर जहाँ अनेक वश्यवाक् विद्वानों ने अपनी प्रांजल प्रतिभा की पुष्पांजलि समर्पित करके के भी संपूर्ण संतोष न माना हो, वहाँ हम इस साधारण वर्णनमात्र में उसे कितना संक्षिप्त कर समावेश करने का साहस कर सकते हैं?

यहाँ हम इस महिमान्विता पावन नगरी के उन पवित्र और प्रसिद्ध प्रमुख स्थानों का परिचय देते हैं, जो दर्शनीय हैं।*

मानवलोकेश्वर महाकाल

नगर के दर्शनीय स्थानों में प्रमुख महाकालेश्वर मन्दिर है। इनकी सेवा में श्रद्धापूर्वक भगवान् राम और कृष्ण ने भी सादर अंजलि अर्पित की है। अनेक कवि-कोविदों और आचार्यों ने अर्चना की है। 'मृत्युलोके महाकालम्' इस पुराणोक्ति की पृष्ठभूमि में अवश्य ही ऐतिहासिक तथ्य-परम्परा विद्यमान है। समस्त मानवलोक की स्वामिता का अधिकार महाकालेश्वर को केवल धार्मिक भावना से ही प्राप्त नहीं है; किन्तु महाकालेश्वर की इस विशिष्टता के लिए हमें मालव-भूमि की प्राग्-ऐतिहासिक युग से भी पूर्व की स्थिति पर दृष्टिपात करना होगा। प्रलयकालीन भारत की हमारे समक्ष एक धुँधली-सी कल्पनारेखा है। उसके पश्चात् यदि कहीं मानवसृष्टि के आरम्भिक विस्तार का कारण स्थल ज्ञात होता है तो वह मालव प्रदेश ही है और इसी कारण अवन्ती देश की पौराणिक विभिन्न नामावलियाँ रहस्य से परिपूर्ण हैं। उसमें भी प्रतिकल्पा शब्द ऐसा है जो विभिन्न युगों (कल्पों) में इस प्रदेश के अस्तित्व की सूचना देता है। ये नाम और पौराणिक राजवंशों के वे नाम जो सुमेर एवं मिस्र की संस्कृति से नाम-साम्य ही नहीं, अधिकार क्षेत्र के व्यापक स्वरूप की भी संगति जुड़ाने में पर्याप्त सहायक होते हैं, मालव की अति पुरातन महत्ता स्थिर करने में सहायक बनते हैं। और यही कारण है कि पुराणों के 'प्रलयो न बाधते तत्र महाकालपुरी', इस पद्यांश में तत्कालीन ऐतिह्य भावना का ही प्रतिबिम्ब है। नर्मदा उपत्यका की सभ्यता के अनुसन्धान ने भी इन्हीं विचारों को पुष्टि दी है। फलतः महाकालेश्वर की यह पावनपुरी मानव-जननी के रूप में ही प्रकट होती है। तक्षशिला के धर्मराजिका मठ की मही से जिस पुरातनतम मानव के कंकाल ने प्रकट होकर भारत की किसी विशिष्ट सभ्यता का प्रदर्शन किया था, उससे भी शताब्दियों पूर्व की सभ्यता के समर्थन करने के लिए एक दूसरे महा-मानव के मूलपुरुष कंकाल ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर उज्जैन में मानव-सृष्टि की प्रथमोत्रतावस्था का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित कर दिया है। महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत रामायण की पुरातनता इतिहास में निर्संदिग्ध है। तत्कालीन विन्ध्याद्रि की परमोत्रतता-'अपश्यद्रावणो विन्ध्यमाविशन्तमिवाम्बरम्' इतनी प्रख्यात है कि स्वयं रावण को भी विन्ध्य-सौध-श्रृंग नीलनभोमण्डल

---

* इस आलेख के सभी चित्रांकन श्री राजवी जयपालसिंह राठौड़ द्वारा किए गए हैं।
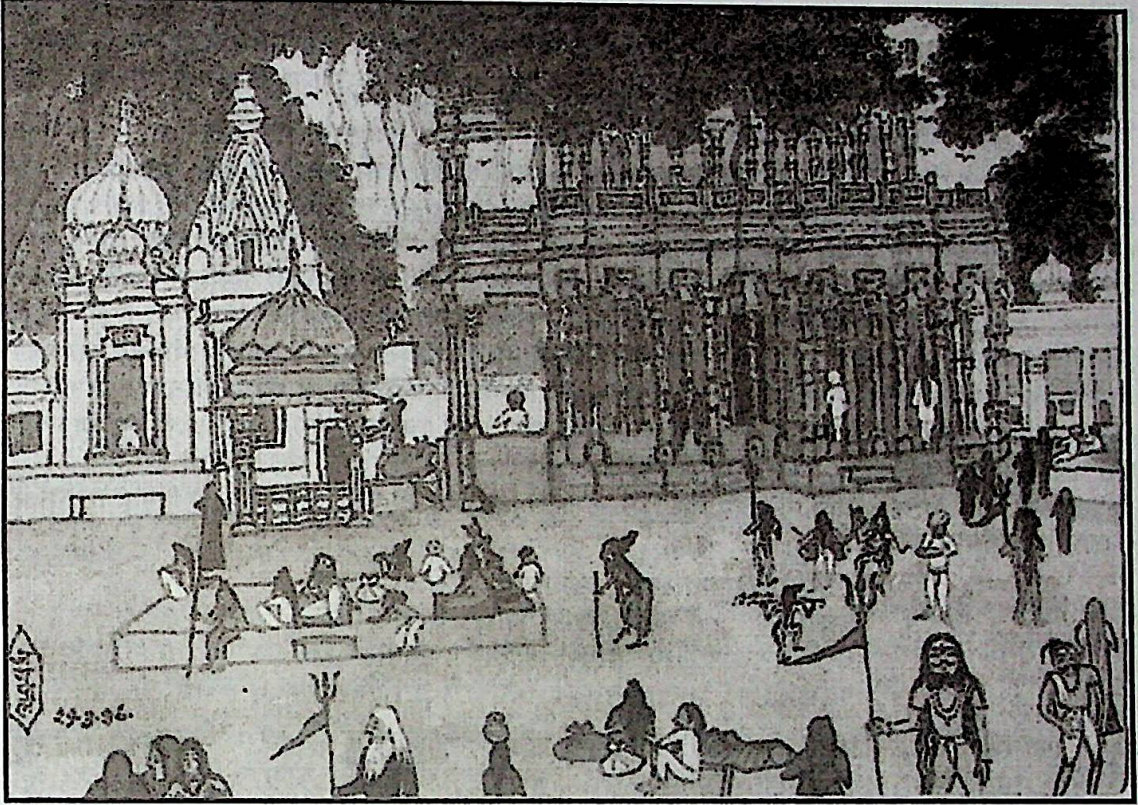
श्री महाकालेश्वर मन्दिर परिसर

को छूता हुआ दिखाई पड़ा था। वह इस विन्ध्याटवी की उष्णता से भयभीत हो सीताहरण के समय सीधा रास्ता काटकर ही चला गया था। विन्ध्य की उस गगनोन्नत अवस्था का जिस सहस्राब्दी को भास हो सकता है उस युग की अवन्ती का मानवावास भी समर्थित है। स्वयं किष्किन्धाकाण्ड इसका प्रमाण है। वैदिक रामायणयुगीन अवन्ती की आर्य संस्कृति की रक्षा, विस्तार और व्यापकता एक नहीं अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। प्रलयावृत्त पृथ्वी तट पर भारत हृदयासीन मध्यभारत ही मानवसृजन में सन्नद्ध था, यही कारण है कि मानवलोकेश महाकाल इस सृष्टि-समारम्भ-साधिकापुरी के पुराणप्रथित प्रभु हैं। उपनिषद् और आरण्यक ग्रंथों ने वराहपुराण की उस पद्यसंगति को सबल बनाया है, जो इस भारतभूमि के नाभिदेशावस्था में शरीर-क्षेत्र के मानव मानचित्र पर अवन्ती रूप में प्रस्तुत है (नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः ... इत्येषा तैत्तिरी श्रुतिः) और जिसे उपनिषदों में से अनेक ने प्रमाणित भी किया है। महाकालेश्वर इसी कारण ज्योतिर्लिंगों की द्वादशसंख्यक सत्ता से उठकर मृत्युलोकेश की सार्वभौम सत्ता के सर्वाधिकारी रूप में स्वीकृत हो गये हैं।

यह उस आध्यात्मिक युग की स्थिति है जिस युग की महत्ता ने समस्त जग को, हमारे महादेश को सर्वतोपरि सुसंस्कृत स्वीकृत करने को विवश कर दिया है।

महाकालेश्वर की मूर्ति और मन्दिर के विषय में पुरातनों और आधुनिकों के संघर्षों में इतिहास को बीच में रखकर हमें उलझने की आवश्यकता नहीं। शिल्पकलाप्रवीणों के प्रासाद-निर्माण साहित्य की कुछ निश्चित अवस्थाएँ हैं। उनकी 'युगों' की योजना में वह आयु-निर्णय का अधिकार प्राप्त करे, परन्तु महाकालेश्वर के आवन्तिक-अस्तित्व और उनकी प्राचीनता के प्रमाणों की खोज करना सूर्य के महाप्रकाश में दीप का प्रकाश करना है। प्रलयांतर सृष्टिसमर्पिका नगरी के प्रत्येक युगीन निर्माण 'प्रतिकल्पा' के नाम से न्यायसंगत ही हैं और अपना औचित्य भी रखते हैं। इस वैदिक प्रदेश

की महत्ता और महाकालेश्वर की महिमा सृष्ट्यारंभ की है। यही कारण है कि इस प्रदेश को वेदों से लेकर समस्त पुराणों ने अपनी प्रशंसापुष्पांजलि ही समर्पित नहीं की है, इसको समस्त तीर्थों से 'तिलाधिक्य' प्रतिष्ठा का पद भी सादर समर्पित किया है। यदि इन समस्त महतियों के मूल को देखा जाय, तो मानवलोकेश महाकालेश्वर ही इसके प्रमुख कारण हैं।

आज से दो हजार वर्ष पूर्व सम्राट विक्रमादित्य के अभिन्न सखा विश्वाराध्य कवि कालिदास तभी अपनी प्रतिभा की पद्यपुष्पांजलि महाकालेश्वर के श्रीचरणों में सादर समर्पित कर देते हैं। काव्यमाधुरी की अजस्र मधुधारा प्रवाहित करते समय वह (रघुवंश के वर्णनावसर में) महाकालेश्वर की अर्चना का पुण्यार्जन किये बिना आगे नहीं बढ़ते। विरह-विधुरावस्थ यक्ष के दौत्य के लिये मेघ को द्रुतगति देते हुए भी वह अपनी परमप्रिय नगरी अवन्ती में प्रेषित कर महाकालेश्वर के पूजन के लिये प्रेरित किये बिना नहीं रहते। सायंसुषमा के समय 'सौधौत्संग-प्रणयविमुख' न बनाते हुए भी वह मेघ को मानवेश्वर महाकाल के सुन्दर मन्दिर के समागम का सन्देश देते हैं और सांध्य-साधना (पूजन) के समय घनगर्जन द्वारा नक्कारखाने की भावना पोषित कर तथा त्रिशूली शंकर की आर्द्रनागाजिनेच्छा पूर्ण कर (गीले गजचर्मावृत्त शिव की ताण्डव-नर्त्तनकामना की पूर्त्ति कर) वह मेघ के द्वारा भी अपने आराध्य के प्रति अर्घ्य अर्पित करवाने का मोह संवरण नहीं कर सकते, इसका कारण महाकालेश्वर की महती महिमा ही है।

> अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले,
> स्थातव्यं ते नयनसुभगं यावदत्येति भानुः।
> कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
> मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ (मेघ.)

कालिदास की कीर्त्तिकौमुदी के अमल-धवल-प्रकाश-विकास के अन्तर में भूतभावन भगवान् की यही भावनामयी शुचि भक्ति है। कालिदास, भास, भवभूति और बाण ने महाकालेश्वर को काव्यकुसुमों का कमनीय किंजल्क अर्पित किया है। बाण की शिप्राशोभा और महाकालमहिमा मोहित करने वाली है। मुंज के मानित कवि पद्मगुप्त ने सिन्धुराज की विवाहयात्रा से (नागलोक से) लौटते समय राजदम्पत्ति द्वारा इन्हीं महाकालेश्वर की पावन पूजा के प्रसंगवश जैसी पद्य-प्रतिभा प्रकट की है, वह काव्यरसिकों के मनमधुपों को मुग्ध कर छोड़ती है। संस्कृत साहित्य में अभिनव कालिदास (परिमल उर्फ पद्मगुप्त) की यह काव्यकलाकृति आनन्दविभोर कर देने वाली है। दसवीं शताब्दी में भी महाकालेश्वर ने इस कवि को आकर्षित किया है।

कथासरित्सागर (ग्यारहवीं शताब्दी) के कवि को भी अनेक पृष्ठों के क्रमशः अनेक श्लोक उज्जैन और महाकालेश्वर की पूजा के लिये प्रस्तुत करने पड़े हैं। फिर अन्य ग्रंथों, पुराणों का कहना ही क्या है? महाभारत जैसे पंचम वेदग्रंथ तथा भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ निदर्शक महाग्रंथ के अनेक पर्वों का तथा व्यास वाक्यों का विशद विवेचन करना यहाँ तो अप्रस्तुत ही होगा, परन्तु वनपर्व की वह घटना, जिसमें महाकालेश्वर के सम्मुखस्थ कोटितीर्थ के स्पर्शमात्र से अश्वमेध का पुण्य प्राप्त करा देने की कथा वर्णित है तथा सभापर्व की विन्दानुविन्द की सहदेवसंघर्ष-कथा, उद्योग-द्रोणपर्व द्वारा भी समर्थित हुई है, जिसका सीधा सम्बन्ध इन्हीं महाकालेश्वर से है।

पौराणिक इन्द्रद्युम्न राजा की राजधानी अवन्ती और उसके परमाराध्य प्रभु महाकाल की गौरवगाथा ब्रह्मांडपुराण (42वाँ अध्याय) में भी ग्रंथित हुई है। प्राचीन अग्निपुराण की अवन्ती महिमा (108 अध्याय), गरुड़पुराण के प्रेतकल्पोक्त वर्णन (27वाँ अध्याय), शिव-पुराण (ज्ञानसंहिता 38 तथा 46वाँ अध्याय) तथा लिंगपुराण में तो महाकालेश्वरपुरी को सृष्टिसमारम्भ की स्थली ही कहा गया है। 83वें अध्याय में वामनपुराण में प्रह्लाद को शिप्रास्नान कर महाकालेश्वर के दर्शनार्थ पहुँचाने की चर्चा, विस्तारपूर्वक उल्लिखित की है। स्कन्दपुराण का एक अध्याय ही ऐसा है, जिसमें लगभग 200 पृष्ठ से ऊपर उज्जैन और महाकालेश्वर का वर्णन बहुत विशद रूप से किया गया है। ब्रह्मोत्तर खण्ड के पंचमाध्याय में यहाँ के राजा चण्डसेन की महत्त्वपूर्ण कथा और महाकालेश्वर की पूजा का

वर्णन है। मत्स्यपुराण (178वाँ अध्याय), भविष्यपुराण (पूरा प्रतिसर्गपर्व) तथा सौरपुराण (67वाँ अध्याय) यह पुराणप्रियों के लिये उज्जैन की महत्ता का मनोहर इतिहास प्रदान करते हैं।

भागवत की इस महती कथा से सम्भवतः समस्त धर्मभावनाप्रधान एवं शिक्षित समुदाय पूर्ण परिचित है कि गीता धर्म के सृष्टा भगवान् श्रीकृष्ण, अपने अग्रज बलराम एवं मित्र सुदामा सहित उज्जैन में पढ़ने को आये थे और महर्षिप्रवर सांदीपनि व्यास के चरणों में बैठकर इसी अवन्ती में उन्होंने चौदह विद्या एवं चौंसठ कलाओं में प्रावीण्य प्राप्त किया था और जिस समय ज्ञानलाभ लेकर वे स्वगृह जाने को उद्यत हुए हैं, तब गुरुवर के साथ जाकर भगवान् महाकाल की उन्होंने भक्ति-भावना समवेत पूजा की है और एक सहस्त्र कमल शिवजी के सहस्त्र नाम के साथ समर्पित किये हैं। विष्णुपुराण के 21वें अध्याय, ब्रह्मांड-पुराण के 86वें अध्याय तथा ब्रह्मवैवर्त्त के 54वें अध्याय ने भी भागवत के दशमस्कन्धोक्त इस घटना का एक स्वर से समर्थन किया है। भवभूति, पॅरिप्लस और टॉल्मी ने भी महाकालेश्वर को ही 'कालप्रियनाथ' नाम से सम्बोधित किया है।

परमपुरातन बुद्ध-समसामयिक प्रद्योत के समय महाकालेश्वर का स्थान परमोत्कर्षमय था। उसके सुवर्ण-तालद्रुमवन की शोभा का तो उज्जैन के इतिहास में तथा प्रद्योतकाल में एक विशिष्ट स्थान है। आज भी उस वन की रमणीयता का स्मरण कर मन्दमलय महामयी वासवदत्ता की वीणा-विनिंदित स्वरलहरी को वहन कर विस्तारित करने के लिये आकुल हो इतस्ततः चक्कर लगाता रहता है।

सम्राट् विक्रमादित्य की यह कथा प्रसिद्ध है कि वह महाकाल की आराधना में सदोद्यत रहता था। अवन्तीनाथ का पद किसी व्यक्ति को नहीं, महाकालेश्वर के लिये ही स्वतन्त्र था। हरसिद्धि देवी के चरणों में तो उसने, कहा जाता है, अपने मस्तक की बलि देकर 134 बार कमल-पूजा ही की है। 135वीं बार जब मस्तक चढ़ा देने पर उसका मस्तक कबन्ध पर वापस नहीं आया, तभी उसके शासन की इति हो गई और शालिवाहन का शकारम्भ हुआ। जो कुछ भी हो, धर्म, अध्यात्म, पुराण और तांत्रिक ग्रंथों में भी महाकाल की महत्ता का असाधारण वर्णन हुआ। भारतवर्ष में नाट्यकला के अभ्युदय के सर्वप्रथम जिस अभिनय की कल्पना का उल्लेख विदित होता है, वह इन्द्रध्वज महोत्सव के प्रसंग पर महाकालेश्वर के प्रांगण में ही सर्वप्रथम अभिनीत हुआ था। इस प्रकार साहित्य और ललितकला में भी महाकालेश्वर की महत्ता स्वीकृत हुई है। महाकालेश्वर मन्दिर की सुन्दरता और विशालता का वर्णन साहित्य एवं धर्मग्रंथों में है। बाण और कालिदास ने इस स्थल की अभिरामता का जैसा मनहर चित्र खींचा है, वह तो मनोमुग्धकारी ही है। यह मान्यता महाकालेश्वर के विषय में समस्त मालव में स्वीकृत है कि उज्जयिनी के इस महामन्दिर के प्रांगण के विशालकाय, किन्तु कलांकित स्तम्भों की संख्या 121 थी और मन्दिर भी 121 गज ऊँचा था, ऐसी जनश्रुति शताब्दियों से प्रचलित है। परन्तु, इस जनश्रुति का आधार सत्य पर समाश्रित है, केवल कथानक तक ही सीमित नहीं। आज भी महाकाल मन्दिर के निकटवर्ती भू-स्तरों में वैसे ही वास्तुशिल्प से उत्कीर्णित अनेक स्तम्भ सहज ही रजकण सम्पुटों को उठाते ही प्राप्त हो जाते हैं, जैसे वर्त्तमान मन्दिर में लगे हुए हैं। तब इस कथन में सन्देह को स्थान नहीं रहता कि मन्दिर गगनोन्नत था। इसी प्रकार यह भी असम्भव ज्ञात नहीं होता कि महाकालेश्वर का मन्दिर अनेक रत्नालंकरणों से जटित था, उसके स्फटिकप्रभ-धवल प्रांगण में मणिमौक्तिकों के झूमर-तोरण झूला करते थे, जिनकी आभा से वह स्फटिक-शिलाएँ विविध वर्णों की द्युति धारण कर अनेक चित्रों की झाँकी बना दिया करती थीं।

---

1. 'नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छा।। (मेघ)'

लेखकीय नोट- इस घटना के ऐतिहासिक प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप निरन्तर पाँच हजार वर्ष से महर्षि सांदीपनि व्यास के वंशज इसी महाकालेश्वर मन्दिर के निकट आज भी विद्यमान हैं और इस मन्दिर से सम्बन्धित बने हुए हैं। यह वास्तव में विस्मय की बात है कि अनेक उत्थान-पतनों के पश्चात् भी यह अपना अचल अस्तित्व रख रहा है। इस वंश का पूरा वंशवृक्ष महात्मा सांदीपनि से अब तक विद्यमान है।

प्रवेश द्वार पर लटकती हुई घंटिकाएँ सुवर्ण-रजत-राशि से निर्मित रहती थीं और उनके चारों ओर मोतियों की झालरें लटकती रहती थीं, फिर भगवान् शिवजी के पूजार्चन वैभव का तो कहना ही व्यर्थ है। इस काव्यकथित सौन्दर्यरचना की सचाई में इस कारण भी सन्देह नहीं होता कि महाकवि कालिदास स्वयं स्वीकार करते हैं कि वैभवशालिनी अवन्ती के बाजारों में धान्यराशियों की तरह समस्त रत्नों की ढेरियाँ यत्र-तत्र विस्तृत रहती थीं, जिसके कारण कवि को यह कहना पड़ा है कि रत्नाकर सागर शायद इसीलिये केवल जलमात्रावशेष रह गया है, क्योंकि समस्त रत्नराशि तो इस नगरी के बाजार में चकाचौंध लगाए हुए है-

दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गाम्।
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषः ॥ (मेघ.)

परन्तु इस वैभव का स्मृतिशेषमात्र यह मन्दिर वर्त्तमान युग के समक्ष अपने भव्य अतीत का प्रतीक बनकर शून्य भावना से उपस्थित है, मानो वह निर्लिप्त है। अतीत के 'सत्य' को वर्त्तमान के 'सन्देह' से चाहे भ्रम का विषय क्यों न बना लिया जा सके, किन्तु उसकी विशालता और साहित्यिक अस्तित्व, चिरकाल पर्यन्त महनीय भावना को सजग बनाये रखेगा।

वर्त्तमान मन्दिर न तो 121 गज की ऊँचाई रखता है, न वह रजत चन्द्रिका धौत-धवल ही है। वैभव तो इस युग का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा है, तब मन्दिर पर उसकी मुद्रा कैसे मिले। इस पर भी आज के मन्दिर पर अनेक संस्कार क्षत-विक्षत हुए हैं। सम्राट् प्रद्योत के पश्चात् के इतिहास ने मन्दिर की महिमा विक्रम-कालिदास से ही प्राप्त की है और पुनः कई शताब्दियों के अनन्तर सिंधुराज एवं मुंज ने इसे सादर स्मरण किया है। भोज के आत्मज उदयादित्य ने तो मन्दिर का पुनर्वार जीर्णोद्धार करवाया है, जिसके प्रमाणस्वरूप अनेक शिलाखण्ड यथासमय महाकाल के पार्श्ववर्ती भू-भाग से उपलब्ध होते रहते हैं (एक शिलाखण्ड मन्दिर के ऊपर लगा है, दूसरा मन्दिर के पश्चिमी भाग की एक मन्दिरी में रखा है तथा 3-4 खण्ड भारती भवन, उज्जैन में सुरक्षित हैं। एक-दो खण्ड पुरातत्त्व विभाग को भी दिये गये हैं) और विशद अन्वेषण-संशोधन के लिये निमन्त्रण देते हैं। उदयादित्य के पश्चात् पेशवाओं के प्रिय तथा राणोजी सिंधिया के कार्यकर्त्ता रामचन्द्रराव शेणवई (ई. स. 1734) ने मन्दिर-सुधार में सहयोग दिया है। कहा जाता है कि गजनी के महमूद की आक्रमणकारी दूषित मनोवृत्ति का प्रभाव भारतवर्ष पर उसके पश्चात् भी बहुत काल तक बना रहा है। मनहर मालव-भूमि उससे कैसे अछूती रहती, अनेक आक्रमणों से वह उध्वस्त, छिन्न-विच्छिन्न हुई है। गुलामवंशीय अल्तमश ने जिस समय मालव की सौभाग्य-श्री का अंचल उतारा है, उस समय जड़ एवं चेतनों के धर्म और धन को भी पनाह लेनी पड़ी थी। उसने उज्जैन के सौभाग्य-शृंगार का अपहरण कर उसे भिक्षुणी बना डाला था। परन्तु यह अल्तमश और अन्य सुल्तान तथा सम्राटों के द्वारा उज्जैन के वैभवापहरण की कथा बहुत कुछ यूरोपीय इतिहासकारों की सूचित की हुई है। इनमें सत्य का कितना अंश है, कहना कठिन है। उनके इन आक्रमणों के प्रमाणों की परम्परा भी संशोधन की कसौटी पर कसकर परखने की वस्तु है। इसके विपरीत आज उज्जैन में अनेक मुस्लिम सम्राटों की सात्विक भावना-प्रदर्शक प्रमाण प्रत्यक्ष उपस्थित हैं। जिन सम्राटों को दुष्ट और आक्रमणकारी समझा गया है, स्वयं उन्हीं सम्राटों में से कई 'उग्रों' ने इस मालवभूमि की मृदु-मन्द समीरण में अपने मस्तक को विवेकपूर्ण ही नहीं बना रखा है, बल्कि अपने धर्म के विरुद्ध उज्जैन के अनेक देवालयों, महामन्दिरों में अपनी पूजा-पुष्पांजलि समर्पित कर श्रद्धा एवं सद्भावना भी व्यक्त की है।

औरंगजेब आदि 10-12 मुस्लिम सत्ताधारियों ने उज्जैन के कई मन्दिरों की पूजा, नैवेद्यव्यवस्था के लिए अपनी सनदें सादर समर्पित की हैं।* उज्जैन के अंकपात स्थित जनार्दन मन्दिर के लिये अनेक बादशाहों की ऐसी ही सनदें आज यहाँ विद्यमान हैं।

---

* (पं. व्यास ने अपने इस आलेख में ऐसी ही कुछ सनदों, उनके मूल कलेवर एवं प्राप्ति-स्थल का उल्लेख किया है।-सम्पादक)

सम्राट् अकबर और जहाँगीर की उदारता तो उनकी महत्ता की साक्षी बन इतिहास में उन्हें अमर बनाये हुए है। सम्राट् अकबर और उनके पुत्र सम्राट जहाँगीर प्रायः मालव देश को बहुत पसन्द करते रहे हैं। अनेक बार अपने राजत्वकाल में उज्जैन में आकर उन्होंने कई मास तक आवास किया है। मण्डप दुर्ग (माण्डव) के सुल्तानों द्वारा सूर्य मन्दिर ध्वस्त कर निर्मित कालियादेह महल प्रासाद में जहाँगीर तो अनेक बार कई मास पर्यन्त रहा है और यहाँ के योगी जदरूप स्वामी ने जहाँगीर बादशाह पर अपना प्रचुर प्रभाव डाल रखा था। (तुजुक जहाँगीरी देखिये) और इस आकर्षण के वशीभूत हो वह बार-बार अपनी साम्राज्यधानी छोड़कर उज्जैन आकर रह जाते थे और धार्मिक भावना प्रदर्शित करते रहते थे।
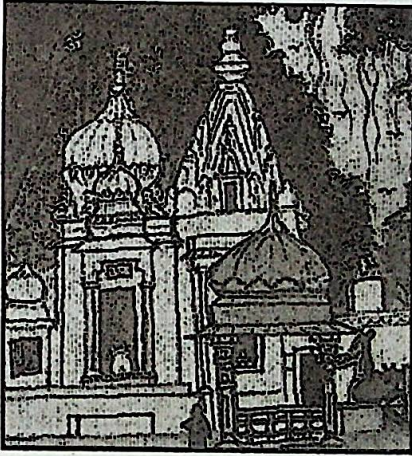
इसी प्रकार शाहजहाँ, आलमगीर, औरंगजेब आदि शाहों ने भी उज्जैन में अपने राजत्वकाल में धार्मिक मन्दिरों के विषय में सद्भावनास्वरूप सनदें तक दी हैं। भारत में कहीं भी प्रमुख शिव मन्दिर हो वहाँ नन्दादीप (निरन्तर प्रदीप्त रहनेवाला दीपक) लगाने की शास्त्रीय प्रथा है। साहजिक है कि महाकालेश्वर के इस पुरातन मन्दिर में भी यह पद्धति अज्ञात काल से प्रचलित रहती चली आई है। जो-जो शासन इस महामहिम नगरी पर होते रहे, उन्होंने भी इसी नन्दादीप और महाकालेश्वर मन्दिर के पूजार्चन कार्य में अपनी शासकीय सहायता श्रद्धापूर्वक भेंट की, फिर हिन्दू राज्यतंत्रों में तो इस पद्धति का निरन्तर पोषित होते रहना साहजिक ही था। प्रायः प्रत्येक शासक ने पूर्वप्रथापोषक प्रवृत्ति के अनुरूप यह अपना कर्त्तव्य समझा है कि अपने शासनकाल में भी पूर्वाज्ञा का समर्थन करे। परन्तु आश्चर्य और प्रशंसा की बात तो यह है कि हिन्दू शासकों की तरह ही मुस्लिम शासनकाल में भी कई उग्र और उदार शासकों, सम्राटों और उनके स्थानीय प्रतिनिधिस्वरूप अधिकारियों ने उज्जैन के धार्मिक मन्दिर-मठों, पूज्य स्थानों की अधिकार परम्परा को ठीक हिन्दुओं की तरह ही और कहीं-कहीं उससे अधिक भी पोषिक्र करने की विशेषाज्ञाएँ प्रदान की हैं।

हिजरी सन् 1061 की एक घटना है। महाकालेश्वर के तत्कालीन पुजारी ब्राह्मण ने अनेक शासकों की सनदों, प्रमाण-पत्रों के साथ तत्कालीन सम्राट् आलमगीर के निकट निवेदन किया कि महाकालेश्वर मन्दिर में नंदादीपक जलाने के लिय पिछले शासकों की आज्ञानुसार व्यय प्राप्त होता रहा है। इसलिये उन सम्राटों के आज्ञापत्रों के अनुसार ही आपके शासन से भी उस परम्परा का पोषण-समर्थन किया जाना चाहिये। इस निवेदन पर सम्राट् 'वाकयानवीस' हकीम मुहम्मद मेंहदी ने ब्राह्मणों के निकट की सनदों की जाँच-पड़ताल की और सही पाकर उस सनद की तस्दीक कर दी। सम्राट् आलमगीर ने अपने अधिकारी के समर्थन पर 4 सेर घी रोजाना नन्दादीप (महाकालेश्वर मन्दिर में) जलाने के लिये स्वीकृत किया। यह सनद मुस्लिम सम्राट् की परधर्मसहिष्णुता का एक आदर्श उदाहरण है। इस सनद का मूल पाठ इस प्रकार है-

शराबखते सदारत वय अलीपनाह
फजीलत व हिक़्कत दस्तगाह आंके
दाखिले वाके अनुमायन्द

× × ×

चार आसार बने अकबरी योमिया

× × ×

उज्जैन पर जिस समय से शिन्दे वंश का अधिकार हुआ है, तब से महाकालेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा और आदरभावना में वृद्धि ही हुई है। यह तो हम प्रथम ही बतला चुके हैं कि रामचन्द्रराव

शेणवई ने राणोजी के काल में महाकालेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है। सिंधिया राज्य के संस्थापक महाराजा महादजी ने तो उक्त मन्दिर और अनेक पुजारी वर्ग का परम आस्था से पोषण किया था।

ग्वालियर राज्य, होलकर राज्य और भारतीभूषण भोज के राजवंशियों की ओर से महाकालेश्वर के पूजनादि के लिये सहायता प्राप्त होती रही थी। इस व्यय की व्यवस्था ग्वालियर संस्थान के अन्तर्गत होती जा रही थी। महाकालेश्वर के इस महान् स्थान की दिन में त्रिकाल-पूजा होती है। प्रातःकाल सूर्योदय से प्रथम एक पूजन होता है, जिसमें भूतभावन भगवान् शिवजी पर चिताभस्म का लेपन किया जाता है, जिसकी अनादिकाल से किसी विशिष्ट चिताभस्म की निरंतर प्रज्वलित रहनेवाली वह्निक से योजना की जाती है। इस पूजन का अधिकार स्थानीय महन्त को है, जिनकी परम्परा महिम्नस्तोत्र के 'चिताभस्मालेपः' श्लोक की सार्थकता करती आई है। उक्त महन्तों की गुरु परम्परा की समाधियाँ इसी मन्दिर के निकट महन्तों के पुरातन अस्तित्व और मन्दिर से सम्बन्ध को सूचित करती हैं। महन्त भैरवपुरीजी इसी परंम्परा के प्रतीक होते हुए 'ते हि नो दिवसा गताः' के स्मारक थे।

महाकालेश्वर की सरकारी प्रथम पूजा प्रातः 8 बजे, द्वितीय मध्यान्ह में और तृतीय सायंकाल के समय होती है। इन पूजनों का नैवेद्य स्थानीय महन्त के अधिकार की वस्तु है। महाकालेश्वर के मन्दिर में श्रावण मास में प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों यात्रियों का मेला प्रातः से सायं लगा रहता है। अमांत (श्रावण) मास के चारों सोमवारों के दिन नगर में महाकालेश्वरजी की एक भव्य रजत-प्रतिमा की बहुत शानदार सवारी निकलती है। इन सवारियों के देखने के लिए नगर के ही नहीं, बाहर से भी हजारों यात्री एकत्रित होते हैं और भक्ति-भावांजलि अर्पित करते हैं। इन सवारियों में नगर के समस्त राज्याधिकारी सम्मान के लिये पैदल ही चलते हैं। इस प्रकार हरिहर-मिलाप, दशहरे के पूजन का दृश्य भी आकर्षक रहता है। शिवरात्रि के समय नवरात्रि का उत्सव होता है। प्रतिदिन महाकालेश्वरजी के विविध शृंगार किये जाते हैं। हरिकीर्तन भी विशाल प्रांगण में किया जाता है। धार्मिक नर-नारियों की यात्रा लगी रहती है और शिवरात्रि को जो पूजा होती है वह तो बहुत ही भव्य, कैलाश का पवित्र वातावरण उपस्थित कर देती है। जन-नियंत्रण कठिन हो जाता है। मन्दिर की पृष्ठभूमि भी बहुत विशाल है। सहस्त्रों व्यक्तियों का सहज समावेश हो जाता है। इसी प्रकार मन्दिर के प्रवेशद्वार के प्रांगण में कोटितीर्थ का विशाल भाग चारों दिशाओं से मुक्त और विस्तृत है। शतशः जन इसमें स्नान कर शिवजी को जल अर्पण करते थे। इसी प्रकार कार्तिक और वैशाख मास में भी हजारों भावुकों की भीड़ दर्शनार्थ आती है। उज्जैन के प्रमुख स्थान होने के कारण धार्मिकों का आवागमन तथा सप्तपुरियों में से श्रेष्ठ नगरी और भारत-यात्रा की आरम्भिक नगरी का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण ही प्रतिदिन भारत भर के विभिन्न प्रदेशों से दर्शक समूह का समारोह यहाँ जुड़ा करता है। धर्म, इतिहास, विक्रम और विश्वकवि कालिदास की आश्रयदात्री नगरी होने के कारण पश्चिम प्रदेश के प्रवासियों का तथा देश के विद्वान् विवेचकों का दल भी अपनी श्रद्धांजलि लिये निरन्तर आया करता है।

बारह वर्षों में जिस समय सिंह राशि पर बृहस्पति आते हैं तब उज्जैन में सिंहस्थ (कुम्भ की तरह की) महायात्रा होती है। इसमें कई लाख मानवों का समूह उज्जैन का यात्री बन एक मास निवास करता है। हजारों साधु-सन्त-साधकों का समाज भी सम्मिलित होता है। राज्य की ओर से उनकी व्यवस्था और जैसा आतिथ्य किया जाता है वह महाप्रसंग अपूर्व, अप्रतिम ही होता है। इस मानव-समुद्र-समारम्भ का वर्णन करना असम्भव है। यह तो प्रत्यक्ष देखने का ही विषय है। महाकालेश्वरजी की मूर्त्ति स्वयंभू और विशाल है। गुहागृह-द्वार से मन्दिर के अन्दर प्रवेश किया जाता है। मूर्त्ति की विस्तीर्ण जलाधारी रजत की, सुन्दर, कलामय, नागवेष्टित निर्मित हुई है। मन्दिर में शिवजी के सम्मुख विशाल नन्दिकेश्वर की पाषाणप्रतिमा धातुपत्रवेष्टित है। भगवान् शिव दक्षिण-मूत्ति हैं। तांत्रिकों ने जिस शिव की दक्षिण-मूर्त्ति की आराधना का महत्त्व प्रतिपादित किया है, द्वादश ज्योतिर्लिंगों में यह महत्त्व केवल यहीं प्राप्त हो सकता है। पश्चिम की ओर गणेशजी, उत्तर की ओर

भगवती पार्वती और पूर्व में कार्तिकेय की प्रतिमा स्थापित है। मन्दिर में निरन्तर दो नन्दादीप (तेल और घृत के) प्रज्वलित रहते हैं। मन्दिर में धवल पाषाण जड़ा हुआ है। आरम्भ में प्रवेश का एक ही द्वार था, किन्तु कुछ समय पूर्व द्वितीय द्वार बन गया है। मन्दिर की भव्यता दर्शनीय है। अत्युच्च शिखर पर विद्युद्दीप की योजना की गई है, जो प्रकाशित होने पर समस्त मन्दिर को अपनी धवल-ज्योत्स्ना के आवरण से ढँककर एक सुषमा फैला देता है। मन्दिर के प्रांगण प्रवेश द्वार पर नक्कारखाना है, जहाँ दिन-रात चौघड़िये की ध्वनि विस्तीर्ण होती रहती थी।

महाकालेश्वर के ठीक ऊपरी भाग पर ओंकारेश्वर शिवजी की प्रतिमा स्थापित है (जैसा कि ओंकारेश्वर के नर्मदा स्थित मन्दिर के ऊपर महाकाल मूर्त्ति स्थापित है)। कुण्ड के तटवर्ती गर्भागार में ब्राह्मणों की बैठक है, जहाँ कुछ ब्राह्मण पूजार्चन व्यवस्था के लिए निरन्तर बैठे रहते हैं। महाकालेश्वर की पूजन-व्यवस्था और दक्षिणा सोलह पुजारियों के अधिकार की वस्तु है। मन्दिर के दक्षिण विभाग में ऊपर वृद्धकालेश्वर, अनादि कालेश्वर और शिव मन्दिर हैं। पूर्व की कुशकों में पुरातत्त्व विभाग का छोटा-सा म्यूजियम भी है।*

महाकालेश्वर के निकटवर्ती भू-भाग को 'महाकाल वन' कहने की पौराणिक ख्याति और चतुर्दिक परकोटा बने रहने के कारण इस विभाग को कोटमुहल्ला भी कहा जाता है। आज वह परकोटा (सीमा-दर्शक कोट) नहीं है, पर कोट की ख्याति यथावत् है। मध्ययुग में इस विभाग में राजप्रासाद, भव्य भवन, उपवन आदि रहे हैं। भू-गर्भ पर अनेक ध्वंसावशेष झाँककर अपनी पूर्वसत्ता का स्मरण करा देते हैं। सिक्के और शिलाखण्डों, मन्दिरावशेषों की झाँकी भी प्रायः इस ओर थोड़े-से खुद जाने पर ही हो जाती है। दीर्घकाल से ब्राह्मणों के संकल्पों में 'महाकालवने हरसिद्धिपीठे बौद्धावतारे' की उक्ति में अवश्य ही रहस्य निहित है। महाकालेश्वर का महामन्दिर, कुंण्ड और उसके चारों ओर की शिव-मन्दिरियाँ शुक्लपक्ष की रजत-रजनी में इतने सुन्दर, आकर्षक बन जाते हैं कि कालिदास के काव्यवैभव की सहसा स्मृति सजग हो जाती है। महाकालेश्वर के सभामण्डप ही में एक ओर राम मन्दिर के पृष्ठभाग में अवन्तिका देवी की मूर्त्ति है, जो इस पुरातन भव्य नगरी की अधिष्ठात्री है। काव्य-पुराण साहित्य की अवंतिका नगरी का वैभव चाहे चर्मचक्षुओं की सीमा से परे का विषय हो, पर हृदयहारी वर्णनों की परम्परा एक बार अतीत की महत्ता के रम्य चित्र को अन्तर पर अंकित किये बिना नहीं छोड़ती।

बड़े गणेशजी

महाकालेश्वर मन्दिर के निकट संलग्न कोटितीर्थ कुण्ड के कुछ ही ऊपर उत्तरी द्वार के निकट अत्यन्त भव्य, विशाल और कलामयी महागणेशजी की मनोहारी प्रतिमा है। इतनी विशाल और कलामयी मूर्त्ति भारत में अन्यत्र नहीं है। यह स्थान उज्जैन के महर्षि-प्रतिम विद्यामहोदधि स्व. नारायणजी महाराज व्यास का आराधना-स्थल है। मन्दिर के मध्य में पंचमुखी हनुमानजी की सुन्दर मूर्त्ति, पृथ्वी-कूर्मनाग और उस पर कमल की विकसित नाभि पर प्रतिष्ठित है। मन्दिर में सहस्त्रों देव प्रतिमाएँ हैं। प्रतिदिन सावधानीपूर्वक व्यवस्थासहित पूजा होती है। संस्कृत-ज्योतिष के अध्ययन की व्यवस्था भी है। हजारों छात्र यहाँ से ज्ञान लाभ कर विभिन्न भागों में फैले हुए हैं। मन्दिर में खगोल-कक्षाक्रम के अनुसार नवग्रह मूत्ति भी है। गणपति की विशाल प्रतिमा के दर्शन कर मनमुग्ध हो जाता है।

विक्रमादित्य की आराध्य देवी हरसिद्धि

उज्जैन के प्राचीन और पवित्र स्थानों में हरसिद्धि देवी का मन्दिर विशेष महत्त्व रखता है। हरसिद्धि देवी सम्राट् विक्रमादित्य की आराध्या देवी है। बड़े गणेशजी के सामने पश्चिम भाग में

* यह व्यववस्था अब शसन के हाथों में है। जिसने पूजार्चन विषयक नियम निश्चित बना रखे हैं। इसी प्रकार यहाँ का पुरातत्त्व संग्रहालय विक्रम कीर्ति मन्दिर संग्रहालय का रूप लेकर यहाँ से स्थानांतरित हो चुका है। -सम्पादक
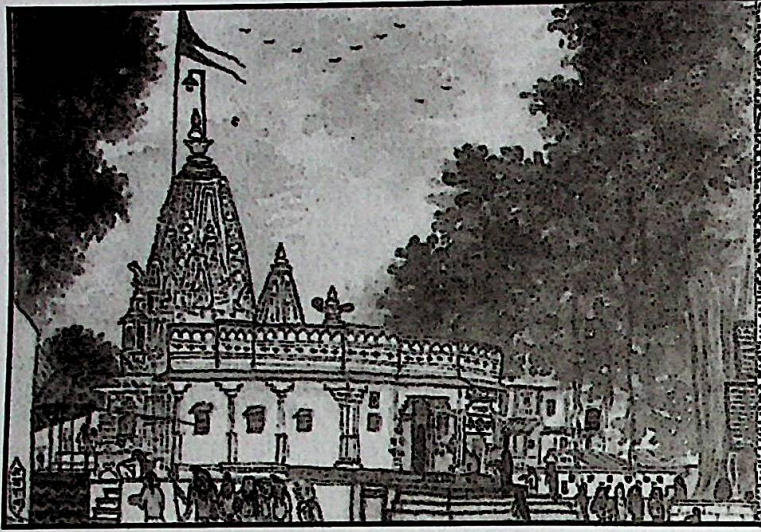
श्री हरसिद्धि माता का मन्दिर

रुद्रसागर के तट पर चारों ओर परकोटे के अन्दर यह सुन्दर मन्दिर है। हरसिद्धि वैष्णवी देवी है। पुराणों में इस स्थान का धार्मिक महत्त्व बतलाया गया है। शिवपुराण के अनुसार दक्ष-यज्ञ में सती की कोहनी का यहाँ स्थान है। तांत्रिकों के ग्रंथों में इसे 'सिद्धपीठ-स्थान' कहा गया है।

यस्मात् स्थानं हि मातृणां
पीठं तेनैव कथ्यते।

स्कंदपुराण में इस स्थान का परिचय इस प्रकार है-

प्राचीन काल में चण्ड-प्रचण्ड दो असुर थे। अपने प्रबल पराक्रम का आतंक इन्होंने सारे देश पर छा दिया था। दोनों दानव एक बार कैलाश पर गये, जहाँ शिव-पार्वती द्यूतक्रीड़ा में निरत थे। अन्दर प्रवेश करने का प्रयत्न किया, तो शिव के नन्दीगण ने इन्हें जाने से रोका। दानवों ने शिवगण को शस्त्र से घायल कर दिया। शिवजी ने यह देखकर चण्डी का स्मरण किया। देवी के प्रकट होने पर शिवजी ने दानवों के वध करने का आदेश दिया।

वध्येतां देवि तौ दैत्यो,
वधामीति वचोऽब्रवीत्

तद्नुसार देवी ने दानवों का वध कर डाला। शिवजी ने प्रसन्नता से कहा-

हरस्तामाह हे चण्डि,
संहृतौ दुष्टदानवौ।
हरसिद्धिरतो लोके
नाम्ना ख्यातिं गमिष्यसि

(अ. 19, श्लोक 10)

(हे चण्डी, तुमने इन दुष्ट दानवों का वध किया है, अतः समस्त लोक में हरसिद्धि नाम प्रसिद्ध रहेगा।)

परकोटे के चारों ओर चार द्वार हैं। मन्दिर का द्वार पूर्व दिशा की ओर है। दक्षिण में एक बावड़ी बनी हुई है, जो पुराणों के अनुसार एक तीर्थ है। बावड़ी के ऊपर एक प्राचीन कलापूर्ण स्तम्भखण्ड है, जिस पर सं. 1447 अंकित है। मन्दिर में यन्त्र की प्रतिष्ठा है और ऊपर मनोहर श्री अन्नपूर्णाजी की मूर्त्ति स्थापित है। मन्दिर के नीचे ही रुद्रसागर तालाब है। जिस समय यह जलमय रहता है, कमल के पुष्प खिले रहते हैं। नयनरम्य दृश्य प्रस्तुत कर ये दर्शकों की पदगति को रोके बिना नहीं रहते। मन्दिर के प्रांगण में ही एक गुफा बनी हुई है, जहाँ साधक डेरा डाले रहते हैं। मन्दिर में प्रायः दुर्गापाठ करने वाले साधक-सुधीजन पवित्र वातावरण बनाए रहते हैं। मन्दिर के ठीक सामने दो विशाल

दीपस्तम्भ बने हुए हैं। नवरात्रि के समय जब इन पर दीपक प्रज्वलित किये जाते हैं, सुवर्ण की तरह उनकी ज्योति झिलमिलाती है। हजारों यात्री इस स्वर्गीय शोभा को देखने के लिये प्रतिदिन आते हैं। जगमगाते हुए ये दिव्यस्तम्भ अपने प्रकाश से सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। यह शोभा वर्णनीय ही नहीं, दर्शनीय भी होती है। रुद्रसागर जब जल से भरा हुआ हो, तो यह दीपस्तम्भ अपने ज्योतिर्मय प्रतिबिम्ब से विशेष आकर्षक बन जाता है।

हरसिद्धि देवी सम्राट विक्रमादित्य की आराध्य देवी है। इसके समक्ष, लोककथा के अनुसार, वीरविक्रम ने 11 बार अपने मस्तक को अपने ही हाथों अर्पित किया और 11 ही बार वह पुनः उसके शरीर से जुड़ गया। इस प्रकार 135 वर्ष उसका शासन यहाँ रहा है।

हरसिद्धि के मन्दिर के पीछे अगस्त्येश्वर का पवित्र स्थान है। अवन्ती-यात्रा में इनका दर्शन पवित्र माना जाता है। देवी के मन्दिर के उत्तर में शिप्रातट पर वेंकटेश्वर धर्मशाला है। यहाँ यात्रियों के निवास की व्यवस्था है। पास ही रामानुज सम्प्रदाय का मन्दिर है और यात्रियों के निवास की सुविधा है। रामबाड़ा और गजाधरजी की धर्मशाला भी निकट है, जहाँ यात्रीगण निवास करते हैं।

शिप्रातट

हरसिद्धि देवी के मन्दिर के पीछे ही पुण्यसलिला शिप्रा नदी है। उज्जैन नगर इसी के पूर्व भाग पर बसा हुआ है। सुरम्य वनराजि से वेष्टित, मन्दिर-मठों और सुदीर्घ घाटों से लगी हुई शिप्रा उत्तर की ओर प्रवाहित होती है। इसी तट पर अनेक ऋषि-मुनियों ने साधना की है। कालिदास की प्रतिभा को इसी नदी के सरस-मलय-मंद समीरण ने प्रेरणा प्रदान की है। महाकवि बाण की वाणी का वैभव इसी की लोल-लहरों से प्रेरित हुआ है। शिप्रा का उद्‌गम महू नगर से 11 मील दूर एक पहाड़ी से हुआ है और मालव के विभिन्न भागों की यात्रा करती हुई यह चर्मण्वती (चम्बल) में मिल जाती है। स्कंदपुराण में इस नदी का महत्त्व बतलाते हुए लिखा है-

नास्ति वत्स महीपृष्ठे
शिप्रायाः सदृशी नदी।
यस्यास्तीरे क्षणान्मुक्तिः
किंचिदासेवितेन वै।।

तथा

शिप्राशिप्रेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि
मुच्यते सर्व पापेभ्यो.........
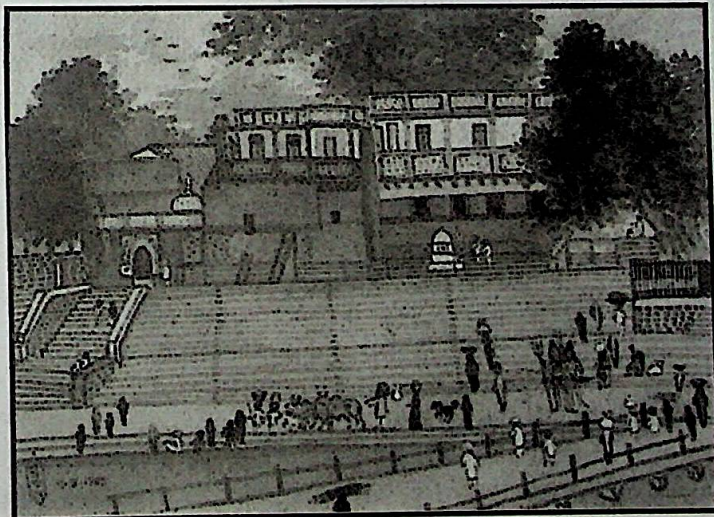
शिप्रा तट पर श्री दत्त अखाड़ा
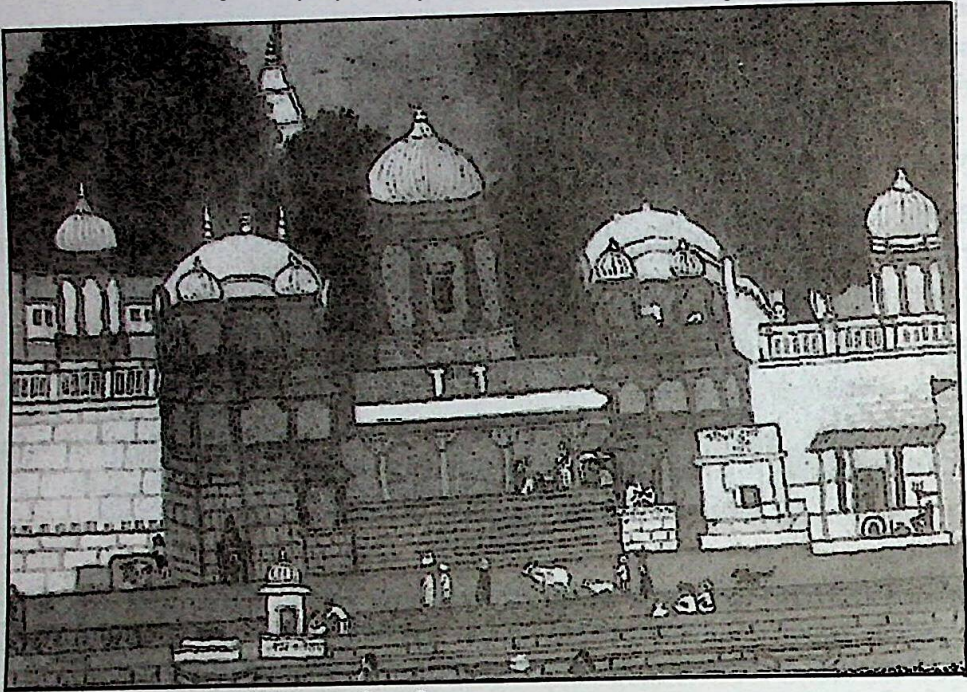
शिप्रा तट स्थित राणोजी सिंधिया की छत्री

शिप्रातट पर दूर-दूर तक विशाल घाट बने हुए हैं। अनेक मन्दिर और छत्रियाँ बनी हुई हैं। प्रातःकाल और सायंकाल दर्शनार्थी और स्नानार्थी जन आया ही करते हैं। बाहर के हजारों यात्री सदैव आते रहते हैं। ब्राह्मण लोग यहाँ बैठते हैं। शिप्रा के उस पार दत्त का अखाड़ा-शैव साधुओं का स्थान है। यहाँ भी यात्रीवर्ग ठहरते हैं। महान् सिंहस्थ पर्व भी इसी शिप्रा के दोनों तटों पर होता है। लाखों यात्री, साधु सन्त स्नान-सत्संग करते हैं। उस समय शिप्रा तट का दृश्य हृदयहारी हो जाता है।

सोमवती या अन्य पर्व प्रसंग पर सर्वदा यात्रियों का समूह स्नान के लिए जुड़ता रहता है। ज्येष्ठ मास में गंगा दशहरा का 10 रोज तक उत्सव-भजन-कीर्त्तन तट पर होता है। गंगापूजा होती है। कार्तिकी पूर्णिमा पर तीन दिन तक अनेक सहस्र यात्री दूर-दूर से आकर यात्रा में सम्मिलित होते हैं। मास भर तक प्रातःकाल सैकड़ों स्त्री-पुरुष स्नान, पूजन, दीपदान आदि करते हैं। यहाँ नदी के उस पार विशाल यात्रा भरती है। एक सप्ताह तक हजारों दर्शक जुड़ते हैं। अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम भी होते हैं। व्यापार, उद्योग, स्वास्थ्य आदि के प्रदर्शन भी होते हैं।

इसी प्रकार वैशाख मास में भी हजारों नर-नारी स्नानपुण्य के लिए एक मास भर जुड़ते हैं। वैशाखी पूर्णिमा को यात्रा लगती है। इसी समय पंचक्रोशी और अष्टतीर्थी यात्रा भी रहती है। इसमें सैकड़ों लोग भाग लेते हैं। शिप्रातट के छत्रीघाट पर राणोजीराव सिन्धिया की छत्री बनी हुई है। बायजाबाई शिन्दे की भी छत्री है। यहाँ से शिप्रा की शोभा दर्शनीय होती है। गंधवती के आगे उस पार जाने को पुल से मार्ग है। उस पार दत्त अखाड़ा, केदारेश्वर, रणजीत हनुमान के जागृत स्थान हैं। आगे चलकर हनुमन्तबाग आदि हैं, जहाँ सिंहस्थ के समय हजारों साधु-सन्तों, मठाधीशों, मण्डलेश्वरों के आश्रम खड़े होते हैं और निरन्तर कार्यक्रम होते हैं।

गंधवती के पहले ही मौलाना साहब नाम से मुसलमानों का एक स्थान है और पड़ौस ही में उदासीन साधुओं का भव्य अखाड़ा है। आगे जाकर श्मशान है। इसी के ऊपर नदीतट पर वीरवर दुर्गादास राठौर की ऐतिहासिक समाधि (छत्री) बनी हुई है। यहाँ इस नरवीर ने देह-त्याग किया था। इससे कुछ ही आगे पत्थर की दीवार से सुरक्षित बोहरों का बाड़ा है और जरा आगे बढ़कर ऋणमुक्त महादेव का प्रकृति-कुंज में रम्य स्थान बना हुआ है।

सारांश यह है कि सारे भू-मण्डल पर शिप्रा के समान कोई दूसरी नदी नहीं है, जिसके तट पर क्षणभर खड़े रहने मात्र से मुक्ति मिल जाती है। इसी प्रकार सौ योजन दूर से भी शिप्रा का स्मरण करने से ही सब पापों से मुक्ति मिल जाती है।

शिप्रा का महत्त्व बतलाने वाली अनेक कथाएँ पुराणों में अंकित हैं। पवित्र तीर्थ के रूप में सभी पुराणों में शिप्रा का महत्त्व स्वीकार किया गया है। वैसे इस सरिता के अनेक नाम हैं। अवन्ती में यह शिप्रा (शिप्राऽवन्त्यां समाक्रांता) नाम से प्रसिद्ध है। कालिदास ने भी इसकी स्तुति की है।

एक बार भगवान् महाकालेश्वर ने क्षुधावश भिक्षार्थ भ्रमण किया। बहुत काल तक भिक्षा उपलब्ध नहीं हुई, तब विष्णु से भिक्षा चाही। विष्णु ने अपनी तर्जनी (अंगुलि) दिखला दी। इस पर शिव ने क्रुद्ध होकर अंगुलि को त्रिशूल से बिद्ध कर दिया। उस अंगुलि से रक्त प्रवाहित होने लगा, तब शिव ने उसके नीचे कपाल कर दिया। कपाल के भर जाने पर नीचे रक्त प्रवाहित हुआ। उसी से शिप्रा हुई। संकल्पों में कहा जाता है कि -

"विष्णुदेहात्समुत्पन्ने शिप्रे त्वं पापनाशिनी"

निरुक्तकार ने शिप्रा की व्याख्या करते हुए कहा है-

शिप्रा कस्मात् शिप्रा कस्मात्

शिवेन पातितं यत् रक्तं तत् प्रभवति तस्मात्।

कालिकापुराण के अनुसार मेघातिथि ऋषि ने अपनी कन्या अरुन्धती को जिस समय वशिष्ठ को दान में दिया, उस संकल्प का जल शिप्रा सर का था। उसके गिर जाने से शिप्रा हुई। शुक्ल यजुर्वेद में एक मंत्र में आया है-

शिप्रे अवेः पयः
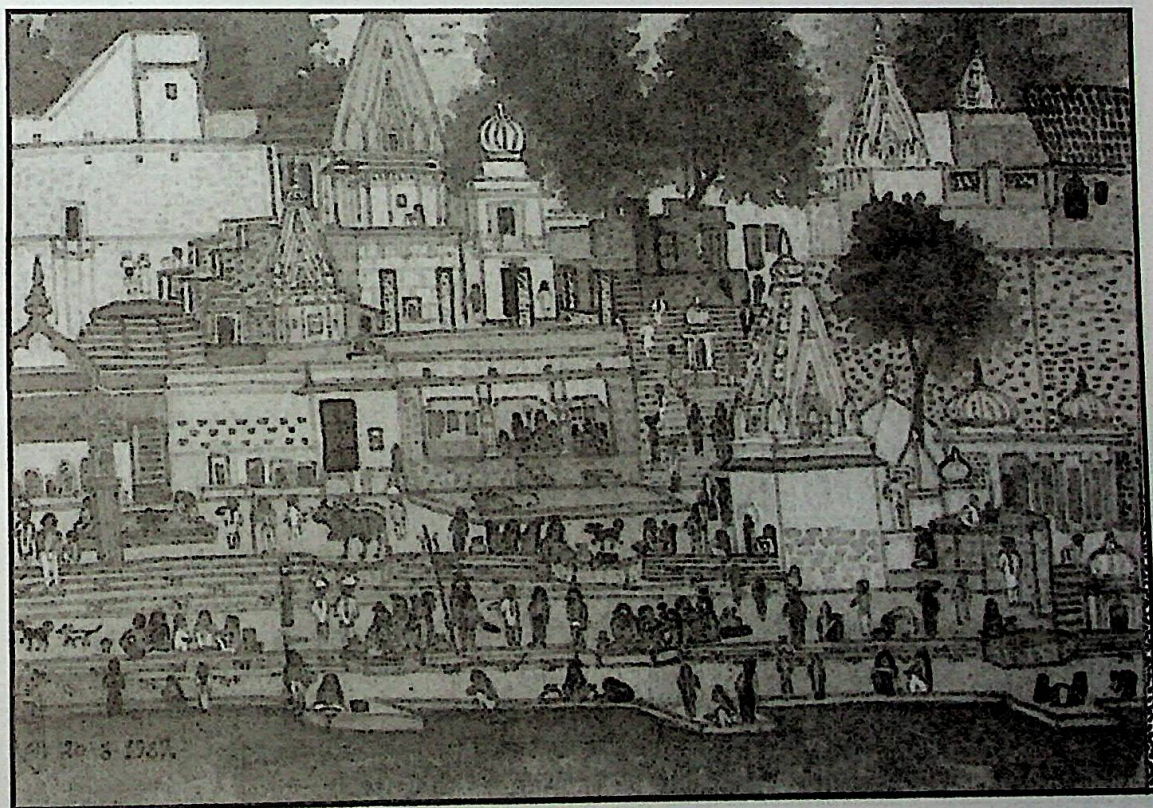
शिप्रा तट

चौबीसखम्भा द्वार

महाकालेश्वर के मन्दिर के पास से बाजार की ओर जाने के मार्ग पर यह पुरातन द्वार चौबीस खम्बा है। यह द्वार बहुत पुरातन प्रतीत होता है। इसके पास लगे हुए मुहल्ले का नाम 'कोट' है। इसी कोट के परकोटे का यह द्वार है। महाकालेश्वर मन्दिर में नगर से प्रवेश करने का यही पुरातन द्वार रहा है। ऐसा उल्लेख मिलता है-

सहस्त्रपदविस्तीर्णं महाकालवनं शुभम्।
द्वारं महार्घरत्नाद्यैः खचितं सौम्य दिग्भवम्।
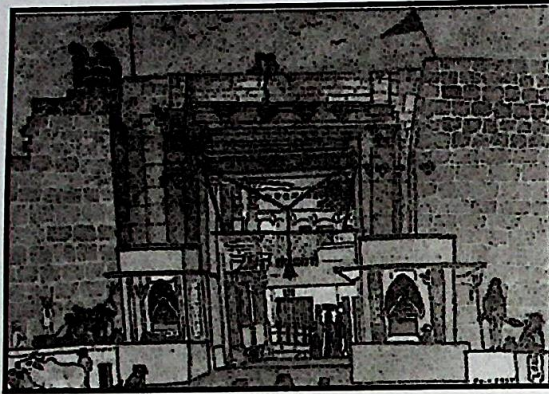
इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह महाकाल वन का द्वार रहा है। इसके आगे ही एक छोटा द्वार और बना हुआ था। उस पर 12वीं शताब्दी का एक शिलालेख लगा था। उसमें लिखा था कि अनहिलपट्टन के राजा ने अवन्ती में व्यापार के लिये नागर और चातुर्वेदी व्यापारियों को लाकर बसाया था। चौबीस खम्बा के दरवाजे के 24 खम्बे बने हुए हैं और उसकी बनावट पुराने शिल्प की है। आगे बाजार लगता है, जिसका नाम पटनी बाजार है, जो पट्टन के निवासियों की बस्ती रही है।*

गोपाल मन्दिर

नगर के मध्य में विशाल गोपाल मन्दिर है। यह मन्दिर महाराजा दौलतराव सिंधिया की महारानी श्री बायजाबाई ने निर्मित करवाया था। सफेद संगमरमर की सुन्दर कलापूर्ण मूर्त्ति है। मन्दिर में भगवान् गोपी कृष्ण, राधिकाजी की आकर्षक प्रतिमा है। पास ही में स्व. बायजाबाई की भी मूर्त्ति स्थापित है। मन्दिर की सुन्दर व्यवस्था महाराजा ग्वालियर की ओर से है। इस मन्दिर का मुख्य द्वार पन्ने के बहुमूल्य पत्थरों का बना हुआ है।

गढ़कालिका देवी

यह स्थान उस भूमि में है, जहाँ पुरातन अवन्ती बसी हुई थी जिसके ध्वंसावशेष भूगर्भ में दबे हुए हैं। इसी में खुदाई होने पर प्रागैतिहासिक काल की बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई है। गढ़कालिका देवी महाकवि कालिदास की आराध्य देवी मानी जाती है। नगर से लगभग दो मील की दूरी पर यह दर्शनीय स्थान रम्य वनराजी में एकांत बना हुआ है। इस मन्दिर का जीर्णोद्धार ई. स. 606 के लगभग सम्राट् श्रीहर्ष ने करवाया था। यहाँ सप्तशती का पाठ और पूजा होती रहती है। नवरात्रि में यात्रा होती है। यह तांत्रिक सिद्ध स्थान है। शक्ति संगम तंत्र में लिखा है-"**अवन्ती संज्ञके देशे कालिका यत्र तिष्ठति।**" इसी तरह पुराणों में भी इस स्थान के माहात्म्य का वर्णन प्राप्त होता है। लिंगपुराण में कथा है कि जिस समय युद्ध विजयी होकर राम अयोध्या को वापस जा रहे थे तब रुद्रसागर के निकट ठहरे थे। उसी रात्रि को कालिका भक्ष्य की शोध में निकली हुई थी। हनुमान को पकड़ने का यत्न किया, किन्तु हनुमान के भीषण रूप लेने पर देवी भयभीत हो गई। भागने के समय जो अंग गलित होकर गिर गया वही स्थान यह कालिका देवी का है।

---

* वर्तमान में यह अभिलेख विक्रम विश्वविद्यालय संग्रहालय में है।

मन्दिर के पृष्ठभाग में ही स्थिर गणेश की प्राचीन पौराणिक प्रतिमा है और सामने ही पुरातन हनुमान मन्दिर है। इससे लगी हुई विष्णु की एक भव्य चतुर्भुज प्रतिमा है, जो अद्भुत और दर्शनीय है। पड़ौस ही में शिप्रा की निर्मल धारा है, जहाँ सतियों के स्थान हैं। उस पार नगर का ऐतिहासिक ओखर स्मशान है।

भर्तृहरि की प्राचीन गुफा

देवीजी के मन्दिर के निकट ही शिप्रा तट के ऊपरी भाग में भर्तृहरि की गुफा है। प्रसिद्ध विद्वान्, शतकत्रय के प्रणेता राजर्षि की यह साधना-स्थली है। बौद्धकालीन शिल्प की यह रचना है। यहाँ नाथ सम्प्रदाय के साधुओं का स्थान है। भर्तृहरि ने बन्धु विक्रम को राज्य देकर वैराग्यवश नाथ सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। अपनी प्रिय पत्नी महारानी पिंगला के अवसान पर उन्हें संसार से विरक्ति हो गई थी। इस गुफा में उन्होंने योगसाधना की थी। दक्षिण में गुफा के अन्दर गोपीचन्द की मूर्त्ति है। गुफा में प्रवेश करने का एक संकरा मार्ग है। प्रकाश की व्यवस्था करके यहाँ प्रवेश किया जाता है।

मौलाना रूमी का मकबरा

इस गुफा और महाकाली के मन्दिर के मध्य में एक मकबरा ध्वस्त अवस्था में दिखाई देता है। यह तुर्की सौदागर रूमी की समाधि का कही जाती है। यह पुरातन ऐतिहासिक स्थान है।
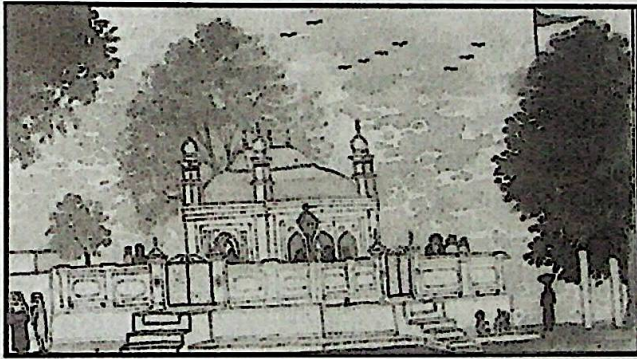
पीर मत्स्येन्द्रनाथ

गुफा से थोड़ी ही दूरी पर टीले पर पीर मत्स्येन्द्रनाथ नाम का स्थान है। भर्तृहरि की गुफा के पड़ौस में यह नाथ सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ का स्मारक स्थान है। नाथ पंथ में योगी-महन्त को पीर नाम से ज्ञापित किया जाता है। आजकल यह यवनों का मकबरा बन गया है। इसके पास खुदाई होने पर मोहनजोदड़ो के समकालीन चिह्न मिले हैं। यहाँ से शिप्रा का और वनराजी का दृश्य मनोरम लगता है। यह स्थान बहुत पुरातन है।

कालभैरव

भैरवगढ़ शिप्रा नदी के तट पर ही पुरानी अवंती के प्रमुख देव कालभैरव का मन्दिर है। चारों ओर परकोटा बना हुआ है। टीले पर बहुत सुन्दर एकान्त स्थान है। भैरवगढ़ की बस्ती पास ही है और यह नाम इन्हीं भैरव के कारण है। प्रवेशद्वार के ऊपर चौघड़िये बजा करते थे। काल भैरव की मूत्ति बहुत भव्य एवं प्रभावोत्पादक है। कहा जाता है कि यह मन्दिर राजा भद्रसेन द्वारा निर्मित है। मन्दिर सुन्दर है। मन्दिर पर भैरव अष्टमी को यात्रा होती है। सवारी भी निकलती है। पुराणों में अष्टभैरव का वर्णन है। उनमें ये प्रमुख हैं। स्थान पुरातन एवं दर्शनीय है।

सिद्धवट
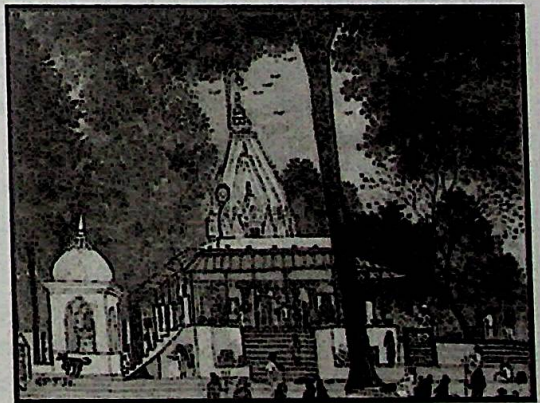
प्रयाग और गया में जिस प्रकार अक्षयवट का महत्त्व माना जाता है, उसी प्रकार उज्जैन में यह सिद्धवट है। शिप्रा के विशाल रम्य तट पर यह पवित्र वटवृक्ष है। हजारों यात्री यहाँ आते रहते हैं। श्राद्ध-कर्म के लिये यहाँ तीर्थ का विशेष महत्त्व है। हर चतुर्दशी और वैशाख मास में विशेष यात्रा होती है। मुगल शासकों ने इस वृक्ष को कटवाकर लोहे के तवे मढ़वा दिये थे, पर उन लोहपत्रों को छेदकर वृक्ष पुनः हरा-भरा हो गया है। यहाँ सदैव पूजन कार्य होता रहता है और नीचे ही शिप्रा प्रवाहित होती है। शिप्रा का विशाल घाट बना हुआ है और आसपास सुन्दर दृश्य हैं। इसी के आसपास कपड़े छापनेवालों की एक छोटी-सी बस्ती है, जो सदियों से कपड़े पर सुन्दर छपाई का काम करती आ रही है। यहाँ का छपा हुआ कलापूर्ण वस्त्र किसी जमाने में चीन और रोम तक पहुँचा करता था। उज्जैन के छपाई-काम की प्रशंसा भारतीय और विदेशी इतिहासों में भी है। सिद्धवट से थोड़ी ही दूरी पर आगे उज्जैन का अत्यन्त प्राकृतिक सौन्दर्य रखनेवाला भव्य कालियादेह महल है।

उज्जैन का शाही महल-कालियादह

इस स्थान का नाम कालियादह महल है। अवन्ती-माहात्म्य नामक पौराणिक ग्रन्थ में इस स्थान को पुराना ब्रह्मकुण्ड कहा है। यहाँ सूर्यनारायण का मन्दिर होने का उल्लेख है। कालियादह या कालीदह ये नाम पीछे के हैं। पौराणिक कथा के अनुसार इसके आस-पास ऐसी कारीगरी के पत्थर लगे हुए थे, जिनके देखने से इसका हिन्दू मन्दिर होना पाया जाता है। सर्वप्रथम इस स्थान का उल्लेख मांलवे के होशंगशाह और गुजरात के अहमदशाह की लड़ाई के वर्णन के समय (सन् 1418) मिलता है।

यहाँ के एक शिलालेख के खण्डांश से विदित होता है कि इस स्थान का निर्माण सन् 1458 में मोहम्मद खिलजी के समय में कराया गया था। 'तवारीखशाही' में लिखा है कि 946 हिजरी (सन् 1542) में जब शेरशाह ने यहाँ अपना डेरा डाला था, उस समय सिकन्दर खाँ ने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली थी।

किन्तु अधिक विश्वसनीय बात यह है कि चार-सौ वर्ष पहले मांडू (मण्डप दुर्ग) के सुलतान नासिरुद्दीन खिलजी ने मूल स्थान को तोड़-फोड़कर कालीदह महल बनवाया था। सुलतान नासिरुद्दीन को पारा खाने की आदत थी, इसलिये भीतरी उष्णता के शमन करने के लिये अत्यन्त शीतलता का वातावरण आवश्यक था। कालीदह महल उसी उद्देश्य से जलाशय के तट पर जलयन्त्रों से युक्त बनाया गया था। ऋतुसंहार काव्य के उज्जयिनी वर्णन में ग्रीष्म की आतप-शांति के लिये जिन स्थानों का सुन्दर वर्णन "निशा शशांकक्षतनीलराजः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्रमन्दिरम्" इन शब्दों में किया गया है, कालीदह महल उन स्थानों का सहसा स्मरण करा देता है।

कर्नल ल्युअर्ड ने अपनी 'हिस्ट्री ऑफ दी सेण्ट्रल इण्डिया' में भी लिखा है कि नासिरुद्दीन खिलजी पारे की गर्मी शमन करने के लिये कालियादह महल के निकटवर्ती शिप्रा नदी के अगाध जल में बड़ी देर तक डुबकी लगाये पड़ा रहता था। एक दिन एक नौकर ने उसको बेहोशी में गिरा हुआ समझ कर जल से बाहर निकाल लिया। जब उसको सुध आई तब उसने अपने बचानेवाले का नाम पूछा। मालूम होने पर उस नौकर को इस अपराध में कि उसने शाही शरीर पर हाथ लगाने का दुस्साहस किया, दोनों हाथ काट देने का दण्ड दिया। नासिरुद्दीन को तो नशे में चूर होने पर डूबने की आदत ही थी। वह नित्य महल के नीचे नदी में डुबकी लगाये पड़ा रहता था। एक दिन अधिक

गर्मी चढ़ जाने के कारण उसको इसी शिप्रा नदी की गोद में जलसमाधि मिल गई। उसके शरीर को स्पर्श करना नौकरों के सामर्थ्य से बाहर का काम था, अतः दूसरे दिन जब उसकी लाश तैरती हुई मिली, तब वह मृतक समझ कर निकाला गया।*

सम्राट् अकबर ने भी इस महल की सुन्दरता पर मुग्ध होकर सन् 1599 में अपना मुकाम यहाँ किया था। कुशक के एक पत्थर पर उसके शिलालेख में लिखा है–

''बतारीख सन् 44 साल इलाही मुताबिक 1008 हिजरी रायात जफर आं अज्म तस्खीर दकन कर्द व ईजा उबूर उफ्ताद–

नामी जे फलक दानिश दिलम कर्द सवाल,
अज रफ्ता व आयन्दा बयां कुन अहवाल।
गुफ्ता चे खबर अज रफ्तां नेस्त असर,
आयन्दा चौरफ्ता व आंचे भी पुर्सी हाल॥

अर्थात् दक्षिण की फतह करने के इरादे से यात्रा करते हुए सम्राट् यहाँ ठहरे थे। सम्राट् अकबर के यहाँ (25 जनवरी 1599 ई.) निवास के विषय में प्रसिद्ध अबुल फजल ने 'अकबरनामा' में लिखा है कि दुनिया के निहायत फरहतबख्श मुकामों में से यह भी एक मुकाम है।' इसी तरह उन्होंने आइने-अकबरी में भी इस जल-महल की बड़ी तारीफ की है। तवारीख फरिश्ता में उसके लेखक ने इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

सम्राट् जहाँगीर के साथ सन् 1616 में सर टामस रो ने भी इस महल में निवास किया था। उसने भी अपनी डायरी में इसका वर्णन किया है।

दूसरी कुशक की दीवार पर एक जगह खुदा हुआ है, जो हिजरी सन् 1031 (ई. सन् 1621) का लिखा हुआ है–

'बहुक्म शाहजहाँ साख्त ईदरे अशरतगाह,
हसन ब अहद जहाँगीर अकबरशाह।
बहिश्त रूय जमीं याफ्त अक्ल तारीखश,
कि सर वरा-ई-जहाँ रास्त मंजिले दिलख्वाह॥

अर्थात् ऐ हसन अशरतगाह का दरवाजा सारी दुनिया के फतह करने वाले शहंशाह अकबर के जमाने में उनकी आज्ञा से बना था। अक्ल ने इसकी तारीख 'बहिश्त रूय जमीं' (सन् 1030 हि.) बतलाई है, क्योंकि इस महत्त्व से दुनिया के बादशाहों का दिल निहायत खुश होता है।

इसी तरह बादशाह जहाँगीर को यह महल बहुत ही पसंद था। अक्सर वह इस महल में आकर रहता था और यहाँ के जलप्रवाह, जल के 52 कुण्डों की विचित्र कारीगरी की शोभा से मन को प्रसन्न किया करता था। जहाँगीर की यह बात भी प्रसिद्ध है कि वह इसी महल में रहते हुए कई बार नाव में बैठकर उज्जैन के जंगल में रहने वाले महान् योगी, तपस्वी जदरूप महाराज के पास अपनी ज्ञानपिपासा शांत करने जाया करता था।

अपनी स्वयंलिखित 'तुजुक जहाँगीरी' पुस्तक में सम्राट् जहाँगीर ने लिखा है–

''2 असफन्दार (माघ सुदी 15 संवत् 1673) को नाव में बैठकर मैंने कालियादह महल से प्रयाण किया। यह बात कई बार सुनी गई थी कि जदरूप नामक एक तपस्वी संन्यासी कई सालों से उज्जैन से कुछ दूर जंगल में भगवत्भजन करता है। मुझे उसके सत्संग की बड़ी इच्छा थी। जब मैं आगरे में था तब चाहता था कि उसे बुलाकर मिलूँ, परन्तु उसे मैं तकलीफ देना नहीं चाहता था। अब उज्जैन पहुँचकर किश्ती से उतरकर आध-पाव कोस पैदल चलकर उसे देखने को गया।''

* इसके विरुद्ध सम्राट जहाँगीर ने अपने रोजनामचे में यह लिखा है कि मैंने मांडू में उसकी कब्र खुदवाकर हड्डियाँ निकालीं और नर्मदा में फिकवां दीं।

आगे एक जगह जहाँगीर ने लिखा है-

"गुजरात से उज्जैन को लौटकर 29 आवान (अगहन सुदी 4 सं. 1675) को फिर मिला। जदरूप से, जो हिन्दू धर्म के तपस्वियों में से है और जिसका हाल पिछले पत्रों में लिखा जा चुका है, मिलकर कालियादह गया।"

इस तरह अकबर तथा जहाँगीर ने कई बार इस प्रसिद्ध स्थल में शान्ति की आराधना की थी।

पिंडारियों के जमाने में यह महल नष्ट-भ्रष्ट हो गया था और इसके पश्चात् पुनः जलयंत्रों और कुशकों की मरम्मत की गई। इसके बाद सन् 1886 में ग्वालियर राज्य के मालवा विभाग के सर सूबा माईकेल फिलोज ने इसका जीर्णोद्धार कर अपने रहने के लिए पसन्द किया। सर सूबा के जाने के बाद फिर किसी की इस ओर दृष्टि नहीं हुई। सन् 1920 में प्रसिद्ध नीतिनिपुण ग्वालियर के स्वर्गीय महाराजा माधवराव सिंधिया की नजर इस महल पर पड़ी। उन्हें उज्जैन बहुत प्यारा था। उसमें भी कालियादह महल जैसा अत्यन्त मनोहर स्थान उनको प्रिय क्यों न होता? स्वयं महाराज ने अपने निवास के लिए इसको पसन्द किया। फिर क्या था-महाराज के रहने के लिए जो पहले विशालकाय कोठी थी उसमें शहर की सारी कचहरियाँ स्थापित कर दी गईं। वहाँ का सारा आराइश का सामान इस शाही स्मृति महल में पहुँच गया। यही नहीं, कई लाख रुपया खर्च करके इसको आधुनिक सज्जा से युक्त किया। सायंकालीन शोभा में वृद्धि करने और शीतल-मन्द-समीर सेवन के लिये आसपास रंग-बिरंगे पुष्पोंवाले वृक्ष लगा दिये गये।

चारों ओर अपनी सुगन्ध से दिशाओं को सुरभित करने वाली लतिकाएँ हवा के झोंकों से अब वहाँ लहराती रहती हैं। आज यह उज्जैन का नन्दन-कानन है। जनाना महल, गेस्ट हाउस, ऑफिस आदि कई नये दर्शनीय भवनों का निर्माण हो गया है। सौ-डेढ़-सौ मनुष्य यहाँ रहते हैं। आसपास कृषि होती है। स्वर्गीय महाराजा ने कई बार इस महल में सपरिवार निवास किया।

आश्चर्य की बात तो यह है कि इस महल के जीर्णोद्धार की जरूरत नहीं पड़ी, केवल अपनी सुविधा के योग्य इसके विभाग बनाने पड़े और नवीनता का प्रवेश किया गया। अब यहाँ नवीन और प्राचीनता का सुन्दर सम्मिश्रण हो गया है। इस महल के बुर्ज, स्नानागार, पाकशाला, विश्रान्ति-भवन, अतिथि-भवन आदि आज भी जैसे के तैसे ही हैं। हाँ, बाहरी दृश्य में अन्तर आ गया है, परन्तु यह भी आकर्षकता को लिये हुए है, बिगड़ा नहीं है।

महल नदीतट पर बहुत ऊँचाई पर बना ऐसा प्रतीत होता है, जैसे- पहाड़ी पर बना हो। वह हरित दूब के कालीनों से घिरा हुआ है। नीचे एक तहखाना (गुप्तगृह) है। वहाँ गुप्त ही भोजन निर्माण हो सकता है, बाहर मालूम नहीं होता, इस पर भी प्रकाश का पर्याप्त प्रवेश है।

महल के नीचे पुण्य सलिला अगाध-जलपरिपूर्णा भगवती शिप्रा अपनी उत्ताल तरंगों से शोभा बढ़ा रही है। इसी के जल से भरे हुए पत्थर के बने हुए विचित्र कारीगरीयुक्त 52 कुण्ड हैं। इनमें सदैव थोड़ा बहुत जल, इधर से उधर, उधर से इधर क्रीड़ा-कल्लोल करता रहता है। उस कुशल कारीगर की चतुराई तो इसमें है कि बड़ी देर तक देखते रहने पर भी सहज में यह पता नहीं चलता कि इन 52 कुण्डों में पानी कहाँ से कहाँ जा रहा है, कहाँ से आ रहा है। ऐसी ही चक्की की शक्ल में एक जलयन्त्र बना हुआ है। उसमें जल एक बार दाहिनी ओर और एक बार बायीं ओर घूमता रहता है। जल-प्रवेश और जलनिवृत्ति का यह दृश्य इतना मनोहर तथा सुन्दर है कि घण्टों तक पास खड़े रहने को जी चाहता है।

इन्हीं कुण्डों के चारों ओर पुख्ता कुशकें बनी हुई हैं जिनके ऊपर बैठकें हैं। इनके अन्दर हजारों आदमी छुप के बैठे रहें, काम करते रहें, तो ऊपरवालों को पता नहीं चल सकता।

ये कुशकें सभी पुरानी पुख्ता बनी हैं और अत्यन्त ठंडी हैं। तार, टेलीफोन का भी यहाँ प्रबन्ध है; बिजली भी है। जल के आराम का तो क्या कहना है। शिप्रा में अपरिमित जल मौजूद रहता है, तथापि सर्वत्र नल का भी प्रबन्ध है।

शहर के लोग प्रायः मित्र-मण्डलियों के साथ सैर-सपाटे के लिये शाम के वक्त यहाँ आते रहते हैं।

यह स्थान इतना सुन्दर एवं मनोहर है कि स्वर्गीय दृश्य उपस्थित करता है। कुण्डों के पास जाकर जलविहार करने को किसका जी न चाहेगा? सायंकालीन शीतल-मन्द समीर तो शिमला-शैल-विहारियों को भी यहाँ आकर्षित कर लेगा। उज्जैन आने वाले यात्रियों का तो नित्य ही यहाँ ताँता लगा रहता है। बड़े हर्ष का विषय है कि विक्रम-कीर्ति मन्दिर के शिलान्यास समारोह के शुभावसर पर यहाँ हमारे सर्वप्रथम राष्ट्रपति मा. डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी ने अपने निवास द्वारा इस महल को गौरवान्वित किया था।

अंकपात

गोपाल मन्दिर (नगरमध्य) से लगभग दो मील की दूरी पर अंकपात (सान्दीपनि आश्रम) का स्थान है। जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण विद्याध्ययन के लिये अवन्ती में आये, यहाँ महर्षि सान्दीपनि व्यास का आश्रम था। यहाँ देशान्तरों से विद्याध्ययन के लिये लोग आया करते थे। तक्षशिला और नालन्दा की तरह ही अवन्ती ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति की संगमस्थली थी। वसुदेव ने श्रीकृष्ण का यज्ञोपवीत संस्कार कर अपने ज्येष्ठ बन्धु बलराम और मित्र सुदामा सहित यहाँ ज्ञान प्राप्त करने को गुरु चरणों में आश्रम जीवन व्यतीत करने भेज दिया था। यहाँ भगवान श्रीकृष्ण लिखने की पट्टियाँ धोकर अंक मिटाते थे, अतः इसका नाम अंकपात पड़ा।*

ततः सान्दीपनिं काश्यमवन्तीपुरवासिनम्
ज्ञानार्थे जग्मतुर्वीरौ बलदेवजनार्दनौ।

(वि. पुराण अ. 5, 21)

भागवत, महाभारत तथा अन्य पुराणों में इसका विस्तृत वर्णन है। पुराणों में कहा है, कृष्ण और सुदामा ने यहाँ समस्त कला और विद्याओं का संपादन किया। छात्रावस्था में गुरुचरणों की सश्रम सेवा और सुश्रूषा की। गुरुगृह की पाकशाला के लिए वे जंगलों से लकड़ी भी काटकर लाया करते थे। वह स्थान (नारायणा गाँव) स्मारक अब भी बना हुआ है। अध्ययन समाप्त करने पर जब कृष्ण ने गुरुदक्षिणा के लिए महर्षि से प्रार्थना की तब गुरुदेव ने कहा कि मैं जब चाहूँ तब इसी रूप में तुम्हारा दर्शन होता रहे। जब गुरुपत्नी से बिदा लेने के समय गुरुदक्षिणा की प्रार्थना की तब गुरुपत्नी ने कहा कि मेरा जो पुत्र गंगा में डूब गया है, उसे वापस ला दीजिए। तब श्रीकृष्ण ने स्वीकार कर उस पुत्र को वरुणलोक से वापस लाकर अर्पित किया। कहा जाता है कि गुरु के स्नानार्थ गोमती का जल भी यहाँ सुगम हुआ है। स्मृतिस्थल के पास ही गोमती कुण्ड विद्यमान है। यहाँ महर्षि सांदीपनि का स्थान, उनकी मूर्त्ति तथा कृष्ण-सुदामा की प्रतिमा है। आचार्य के उस पुत्र की भी प्रतिमा है, जो वरुणलोक से लाया गया था। स्थान परम पवित्र एवं एक पवित्र विद्या भवन का स्मारक है, किन्तु यह दुर्दशाग्रस्त है। यहाँ महाप्रभु वल्लभाचार्य भी आये थे, उनकी गद्दी भी है।

इसी स्थान के पास वैष्णव वैरागी साधु-सन्तों के स्थान हैं, जहाँ सिंहस्थ में हजारों वैष्णव साधु-जुड़ते हैं। सप्त सागर के विष्णु सागर और पुरुषोत्तम सागर भी यहाँ हैं। पीछे ही चित्रगुप्त का सुन्दर मन्दिर है जहाँ भव्य मूर्त्ति विद्यमान है। निकट ही जनार्दन मन्दिर है, जिसके लिये शाही सनदें पूजा-अर्चना के लिए प्राप्त हैं। मूर्त्ति भव्य एवं पुरातन है। सुन्दर कुण्ड और भव्य मन्दिर है।

मंगलनाथ

थोड़े ही आगे बढ़कर टीले पर मंगलेश्वर का भव्य मन्दिर है। शिप्रा का सुरम्य तट और वनराजि से इसकी शोभा बढ़ गई है। मन्दिर के निकट शिप्रा का विशाल घाट है।
यह पौराणिक परम्परा से मान्यता है कि उज्जैन मंगल ग्रह की जन्मभूमि है। मत्स्यपुराण में लिखा है-

अवन्त्यां च कुजो जातः

इसी प्रकार कर्मकाण्ड और संकल्पों में *'अवन्तीदेशोद्भव भो भौम'* कहा जाता है।

* इसी स्थान पर पुष्टिमार्ग के आचार्य वल्लभ प्रभु की 73वीं गादी भी विद्यमान है। -सम्पादक
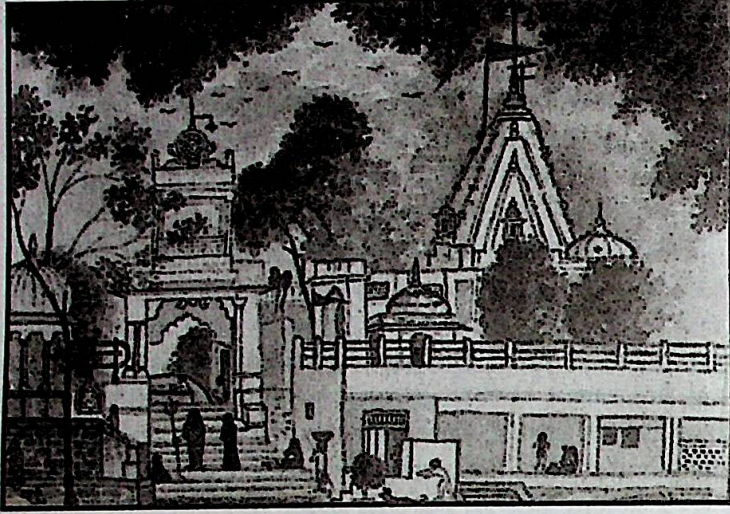
"यत्र हि मंगलजनिभूः साऽवन्ती मंगलस्यितेतुः" इस कथन में कहाँ तक तथ्य है कहना कठिन है, परन्तु यह स्थान बहुत भव्य, प्रभावोत्पादक एवं दर्शनीय है। पौराणिक महत्त्व भी बहुत है। यहाँ प्रति मंगलवार को दर्शनार्थी आते रहते हैं। सोमवार को अमावस्या होने पर बड़ी यात्रा लगती है। वैशाख मास में पर्व मान कर बहुत लोग आते रहते हैं। मन्दिर के निकट दीपस्तम्भ है।

पास ही गंगाघाट नामक स्थान है, जहाँ शिप्रातट पर विशाल घाट बना हुआ है और यात्रीवर्ग का आना-जाना रहता है। यह एकांत साधना-स्थल और रम्य भूमि है।

वेधशाला

जिस स्थान को यंत्रमहल के नाम से पहचाना जाता है, वह ज्योति-शास्त्र के ग्रहवेध लेने की ऐतिहासिक महत्त्व की संस्था शिप्रा के दक्षिण भाग पर, उन्नत तट पर स्थित है। उज्जैन भारतवर्ष का पुरातन ज्योति-शास्त्र का केन्द्र रहा है। यहाँ अनेक ग्रंथों का निर्माण हुआ है। ज्योति-शास्त्र के महान् विद्वान् वराहमिहिर यहीं रहे हैं। कुछ दूरी पर ही कायथा ग्राम है, जहाँ उनकी जन्मभूमि थी। उनके पुत्र पृथुयशस् ने उसी को कापित्थक कहा है। भारतवर्ष की कालगणना के माध्यम होने के कारण अवन्ती इस देश की 'ग्रीनविच' मानी जाती है। भू-मध्यरेखा यहीं से होकर निकली है।

यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशन्।
सूत्रं मेरुगतं ध्रुवैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः।

इसलिये ज्योतिर्गणना की दृष्टि से अवन्ती का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। 18वीं सदी में राजा जयसिंह ने अपने सूबा रहने के समय इस वेधशाला का निर्माण करवाया था। इसी तरह काशी, दिल्ली, मथुरा, जयपुर में भी वेधशालाएँ बनवाई थीं। स्वयं जयसिंह ज्योतिष के विद्वान् थे और उन्होंने ग्रंथ भी लिखा था। जयसिंह के नाम पर ही यहाँ एक उप-नगर 'जयसिंहपुरा' बसा हुआ है।

सं. 1961 में मुम्बई में स्व. लोकमान्य तिलक के तत्वावधान में अ. भा. ज्योतिर्विद्-सम्मेलन हुआ था। उज्जैन से उस समय महान् विद्वान् पं. नारायणजी व्यास भी उसमें सम्मिलित हुए थे। उज्जैन और वेधशाला के महत्त्व को बतलाने पर इस स्थान की ओर स्व. महाराजा माधवराव सिंधिया का ध्यान आकर्षित हुआ और स्व. महाराजा माधवराव सिंधिया के समय में इस वेधशाला का पुनः जीर्णोद्धार किया गया। यहाँ सम्राट यंत्र, विणांशयंत्र, नाडिवलययंत्र, भित्तियंत्र, पलभायंत्र आदि हैं। इसे शासन द्वारा सुव्यवस्थित रूप में संचालित किया जा रहा है और वेध आदि लिए जाते हैं। आधुनिक यंत्र-उपकरण भी यहाँ आ गये हैं और यह संस्था भारतवर्ष की यंत्रशालाओं में एकमात्र है, जहाँ इनका उत्तम उपयोग हो रहा है। प्राचीन शास्त्र और नवीन उपकरणों से अन्वेषण करने में इस शास्त्र की उन्नति का प्रयास हो रहा है। संस्था के निकट ही शिप्रातट का बड़ा मनोहारी दृश्य है।

यहाँ से प्रसिद्ध पुरातन चिन्तामणि गणेश-यात्रा का मार्ग है, जहाँ चैत्र के प्रत्येक बुधवार को यात्रा लगती है, हजारों दर्शनार्थी पहुँचते हैं।

त्रिवेणी संगम

नगर से दक्षिण की ओर त्रिवेणी-संगम तीर्थ है। यहाँ नवग्रहों का अत्यन्त पुरातन स्थान है। प्रत्येक शनैश्चरी अमावस्या को हजारों यात्री यहाँ पहुँचते हैं और स्नान, अर्चन आदि करते हैं।
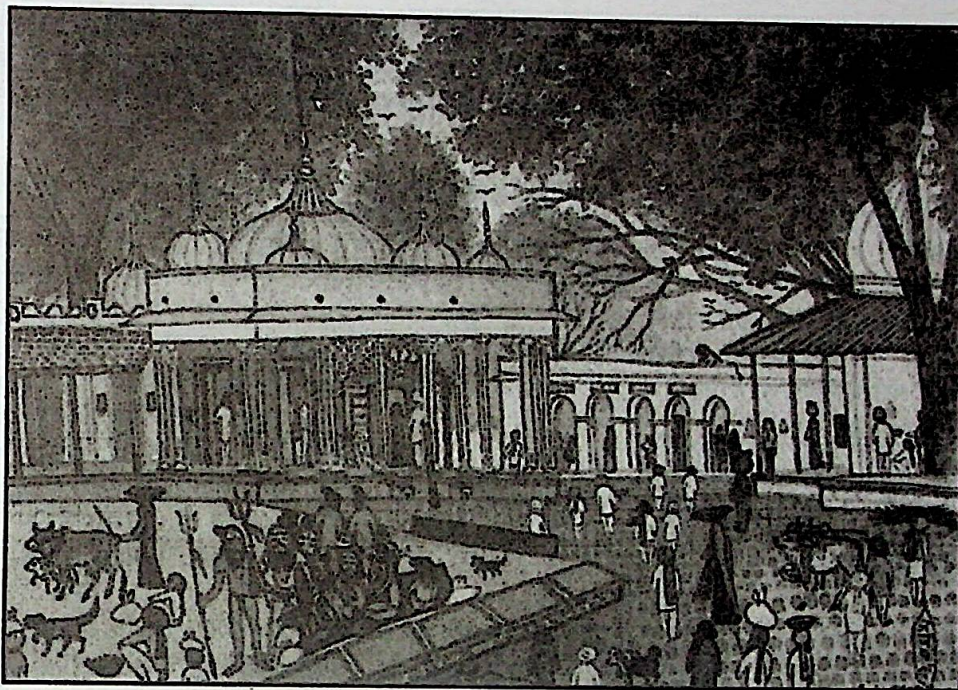
त्रिवेणी संगम स्थित नवग्रह मन्दिर

चित्रगुप्त धर्मराज

यह स्थान कायस्थों का महत्त्वपूर्ण तीर्थ माना जाता है। पद्मपुराण के पातालखण्ड के अनुसार चित्रगुप्त ब्रह्मदेव की आज्ञा से उज्जैन में तप करने के लिए शिप्रातट पर रहे। तप से प्रसन्न हो स्वयं ब्रह्म देव उज्जैन आये थे। चित्रगुप्त ने कोटिनगर (नगरकोट) में देवी की आराधना की और उसे प्रसन्न कर वर प्राप्त किये।

पद्मपुराण में चित्रगुप्त का वर्णन आया है। उसमें चित्रगुप्त का ब्रह्मदेव के अमात्य और मंत्री के रूप में उल्लेख किया है। चित्रगुप्त को धर्मराज कहा गया है। ये ब्रह्मानी की काया से उत्पन्न होने के कारण कायस्थ कहे गये हैं। भविष्यपुराण में भी चित्रगुप्त की कथा है। भविष्योत्तरपुराण में यमधर्म चित्रगुप्त का वर्णन है। चित्रगुप्त की मूर्त्ति बहुत भव्य, सुन्दर और दर्शनीय है।

बृहस्पतेश्वर

सराफा के निकट बृहस्पतेश्वर महादेव का पौराणिक पवित्र स्थान है। इसी प्रकार शनि की गली में शनिदेव की शिवरूप में प्रतिष्ठा है। त्रिवेणी संगम पर नवग्रहों की प्रतिष्ठा है। बड़े गणेशजी के मन्दिर में भी नवग्रह का स्थान है।

सराफा के राममन्दिर में राममूर्त्ति अत्यन्त दिव्य और दर्शनीय है। अंकपात के राममन्दिर की प्राचीनता ऐतिहासिक है। मुगल बादशाहों ने भी इसके लिए सनदें दी हैं।

अन्य प्रेक्षणीय स्थान

उक्त दर्शनीय और ऐतिहासिक पवित्र प्रसिद्ध स्थानों के अतिरिक्त बिना नींव की मस्जिद, ख्वाजा शकेब की मस्जिद, बेगम का मकबरा आदि भी उल्लेखनीय हैं।

अनन्त नारायण का मन्दिर, नगरकोट की राणी, नागनाथ का मन्दिर, खातियों का मन्दिर, सत्यनारायण मन्दिर, क्षीरसागर, आष्टेवाले का राधा-कृष्ण मन्दिर, योगेश्वर की उन्नत टेकरी, नीलगंगा पर हनुमान मन्दिर, राम मन्दिर सराफा; श्रीनाथजी का मन्दिर आदि स्थान भी दर्शनीय महत्त्व के हैं।*

❑

(गवर्नमेन्ट रीजनल प्रेस ग्वालियर से अप्रैल, 1957 ई. में प्रकाशित 'उज्जयिनी-दर्शन' से साभार)

** टिप्पणी : पद्मभूषण व्यासजी आज हमारे मध्य में नहीं है किन्तु इस नगर की चेतना में वे रचे बसे हैं। उनके महाप्रयाण के बाद उज्जयिनी के दर्शनीय स्थलों में अनेक परिवर्तन-परिवर्धन हुए हैं। महाकाल मन्दिर की भी व्यवस्था में आशातीत परिवर्तन आया है, परिसर का एक प्रकार से पुनर्निर्माण ही हुआ है। दर्शनार्थियों की प्रतीक्षा के लिये संगमरमर-निर्मित सुरक्षित बरामदा बना दिया गया है। निर्गम मार्ग भी पर्याप्त चौड़ा, सुविधाजनक एवं दर्शनीय बनाया गया है। कोटि-तीर्थ का तो एक प्रकार से रूपान्तर ही हो चुका है। सारी व्यवस्था अब शासन के हाथ में है। प्रशासक विभिन्न समितियों के माध्यम से सारा प्रबंध देखते हैं। सुरक्षा व्यवस्था भी पर्याप्त चौकस है। हरसिद्धि, कालिका, चतुर्व्यूह, शिप्रा तट, भर्तृहरि गुफा, सिद्धवट, मंगलनाथ, राम-जनार्दन मन्दिर आदि धर्मस्थलों एवं उनके परिसर को पर्याप्त भव्य एवं दर्शनीय बनाया गया है। खूबसूरत मराठाकालीन कोठी महल को उसकी जर्जरता से उबारने के पर्याप्त प्रयास हुए हैं। इस दृष्टि से कतिपय अन्य दर्शनीय स्थलों की चर्चा करना अन्यथा न होगा।*

***बोहरों का रोजा-** सब्जी मंडी (कमरी मार्ग) स्थित बोहरों का रोजा एक अत्यधिक आकर्षक निर्माण है। कभी बोहरों के धर्मगुरु सैयदना सा. का मुख्यालय उज्जैन रहा था। यह संगमरमरीय निर्माण उसका प्रतिफल है।*

***अवन्ती पार्श्वनाथ-** शिप्रा तट दानीगेट पर अवन्ती-पार्श्वनाथ का एक प्राचीन किन्तु चमत्कारिक जैन मन्दिर विद्यमान है। उज्जैन में अनेक दर्शनीय जैन मन्दिरों की परम्परा में यह सर्वाधिक प्रमुख स्थान रखता है।*

***रामघाट परिसर के दर्शनीय धर्मस्थल-** रामघाट क्षेत्र में अनेक दर्शनीय धर्म-स्थल हैं। इनमे रामानुज सम्प्रदाय का रामानुज कोट, पाटीदार समाज का राम मन्दिर, दण्डी स्वामियों का आश्रम, शिप्रा-गंगा मन्दिर आदि उल्लेखनीय हैं। विगत वर्षों में उज्जैन नगर को दो अत्यधिक दर्शनीय सौगाते मिली हैं। एक है चारधाम मन्दिर, जो अखण्डाश्रम के पार्श्व में निर्मित है तथा दूसरा है सिरवी समाज द्वारा निर्मित योगमाया (नवदुर्गा) मन्दिर। दोनों ही निर्माण अत्यधिक भव्य, आकर्षक एवं नयनाभिराम हैं। दत्त अखाड़ा क्षेत्र में कुंभ के समय जो प्रवेश द्वार निर्मित किया गया है, वह भी चित्ताकर्षक है। वेधशाला को नया रूप दे दिया गया है। विद्यमान घाटों की परम्परा में सिंहस्थ पर्व को देखते हुए पर्याप्त अभिवृद्धि की गई है। इससे कर्कराजेश्वर, भूखी माता, नृसिंह तीर्थ, हरिहर तीर्थ, केदार तीर्थ, ऋणमुक्तेश्वर, कपिलेश्वर, ओखर व भैरव तीर्थ, गंगा घाट, मंगलेश्वर आदि क्षिप्रा तट स्थित धर्म स्थलों में पर्याप्त निखार आ गया है।*

उज्जैन रेल्वे स्टेशन, उसका दक्षिण भाग, नानाखेड़ा बस स्टेण्ड आदि स्थल यात्रियों की सुविधाओं में पर्याप्त वृद्धि कर रहे हैं। विक्रम विश्वविद्यालय, कालिदास अकादमी, विक्रम कीर्ति मन्दिर, सिंधिया प्राच्य शोध संस्थान, कोठी महल, म. प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, श्री कावेरी शोध संस्थान, श्री वाकणकर शोध संस्थान आदि के माध्यम से उज्जयिनी की उच्च एवं शोध-परक गतिविधियों का परिज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार विक्रम विश्वविद्यालय संग्रहालय, वाकणकर स्मृति जिला संग्रहालय एवं जयसिंहपुरा स्थित जैन संग्रहालय उज्जैन एवं मालव क्षेत्र के कला-बोध का पर्याप्त परिचय देते हैं।

-सम्पादक

वीर दुर्गादास राठौड़ और उज्जैन स्थित उनकी समाधि

राजवी जयपालसिंह राठौड़

भारत में राजपूताना एक विशेष प्रान्त रहा है, जो स्वतंत्रता के पश्चात् राजस्थान कहा जाने लगा। यहाँ पर अनेक योद्धा, सन्त, कवि, कलाकार व विद्वान् हुए हैं। वीरों की तो यहाँ पर होड़ ही लगी हुई थी, जिनके विषय में महान् अंग्रेज इतिहासकार कर्नल जेम्स टाड ने लिखा है-''राजपूताने की चप्पा-चप्पा भूमि पर स्पार्टा के महान् योद्धा लियोनाइडस जैसे महान् योद्धा एवं थिरमापले जैसी घाटियाँ हैं। हम यूरोप के निवासी उन स्पार्टन योद्धाओं पर गर्व करते हैं एवं उनकी वीरता की कहानियाँ, यूरोप के निवासी भाव-विभोर होकर गाया करते हैं। पर जब मैं राजपूताने में आया तो मैंने पाया कि लियोनाइडस जैसे योद्धा तो यहाँ पर सर्वत्र उपलब्ध हैं। यहाँ के योद्धा विश्व में सबसे महान् हैं। उनकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती है।'' यहाँ पर असंख्य योद्धा अपूर्व शौर्य का प्रदर्शन करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए हैं। प्रत्येक राजपूत शूरमा एवं प्रत्येक राजपूत का घर एक सुदृढ़ दुर्ग जैसा है। कितनी सत्यता है कर्नल जेम्स टाड के लेखन में। कवियों ने सत्य ही तो कहा है-

इला न देणी आपणी, हालरियो हुलराय।
पूत सिखावै पालणें, मरण बड़ाई माय।। नाथूदान जी मेहारिया
रण कर कर, रज रज रंगै और रवी ढँके रज हूँत।
तिल जितणी धर नहिं देवे, रज-रज है रजपूत।।
लोहा बट भरिया थकाँ, घणाँ सू जावे मिट्ट।
तिल तिल कटै पर नहीं मिटे, बलिहारी रजपट्ट।।

किसी अन्य कवि ने पुनः कहा है कि -

और कटै बै सब घटै, आहै बात अदभूत।
ज्यूँ-ज्यूँ कटै, त्यूँ-त्यूँ बढै, रिजको और रजपूत।।

वीरों से परिपूर्ण राजस्थान में राठौड़ राजपूतों के पूर्वजों की भूमि मारवाड़ के जोधपुर राज्य के राजा राव जोधाजी के छोटे भाई कर्ण से कर्णोत वंश चला। राव जोधा मारवाड़ के प्रतापी राठौड़ राज रणमल के पुत्र व उत्तराधिकारी थे। अपने पिता के समय मारवाड़ की राजधानी मंडोर से जहाँ आज जोधपुर बसा है, आये एवं विश्वविख्यात ऐतिहासिक दुर्ग महरानगढ़ का निर्माण करवाया एवं इस दुर्ग की नींव महामाया श्री करणी माता जी महाराज के हाथ से लगवाई और जोधपुर नगर बसाया। इन्हीं राठौड़ों के वंश में वीर दुर्गादास राठौड़ का जन्म हुआ, जिनकी पावन समाधि उज्जैन के शिप्रा तट पर स्थित है।

दुर्गादास के परिवार का वंश वृक्ष

मंडोर मारवाड़ के प्रतापी राव रणमल के बारहवें पुत्र कर्ण राठौड़

कर्ण राठौड़ से कर्णोत वंश चला
↓
लूना राठौड़
↓
नींबा राठौड़
↓
आसकरण राठौड़
↓
दुर्गादास राठौड़

दुर्गादास का जन्म

आसकरण राठौर की तीसरी पत्नी, जो जयमल केलणोत भाटी की पोती थी, की कोख से तदनुसार द्वितीय श्रावण, शुक्ल पक्ष चौदस 1695 वि. सं 13 अगस्त 1638 ई. को दुर्गादास राठौड़ का सालवा ग्राम में जन्म हुआ। यह ग्राम जोधपुर मारवाड़ में है। जोधपुर के महाराजा श्री जसवंतसिंह राठौड़ के ऊँटों के चराने वाले ने अपने ऊँट दुर्गादास खेत में चराये। दुर्गादास द्वारा विरोध करने पर उसने अपशब्द कहे। दुर्गादास ने तब ऊँट चराने वाले की हत्या कर दी और उन्हें जोधपुर महाराजा के समक्ष उपस्थित होना पड़ा। बालक द्वारा निर्ममतापूर्ण विवरण जानकर महाराजा ने उसे अपने पास यह कहकर कि ऐसा वीर बालक किसी दिन सम्पूर्ण मारवाड़ की रक्षा करेगा।

दुर्गादास को महाराजा जसवंतसिंह की सेवा में नियुक्ति प्राप्त होना

वीर दुर्गादास अब महाराजा जसवंतसिंह जोधपुर की सेवा करने लगे। दुर्गादास महाराजा जसवंतसिंह के साथ प्रत्येक युद्ध में साथ रहे। उज्जैन के पास धरमाट, जिसे आजकल फतेहाबाद कहते हैं, में दुर्गादास ने अपूर्व शौर्य का प्रदर्शन किया था। सामूगढ़ के युद्ध में भी वह अपने स्वामी महाराजा जसवंतसिंहजी के साथ थे। जब मुगल राजकुमार औरंगजेब अपने पिता मुगल सम्राट शाहजहाँ को बन्दी बनाकर भारत का सम्राट बना, तब उसने जोधपुर नरेश जसवंतसिंह को अपनी सेवा में रखा, पर वह उनसे द्वेष रखता था, अतः उसने उन्हें सन् 1673 की वर्षा ऋतु की समाप्ति पर अफगानिस्तान में काबुल प्रदेश के जमरूद में नियुक्त किया। उनका दायित्व खैबर क्षेत्र में शान्ति बनाये रखना था। उन्होंने पेशावर को अपना मुख्यालय बनाया एवं अपनी सेना को यहीं रखा। दुर्गादास महाराजा जसवंतसिंह के साथ थे फिर जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह के स्वर्गवासी होने पर वीर दुर्गादास राठौड़ ने उसके परिवार की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिया।

महाराजा जसंवतसिंहजी ने अफगानिस्तान अपूर्व शौर्य का प्रदर्शन किया था, पर अपने पुत्रों के निधन से वे अत्यधिक दुखित थे और उनकी मृत्यु बृहस्पतिवार 28 नवम्बर 1678 को पेशावर में हो गई, जहाँ पर उनका मुख्यालय था। उनका दाह संस्कार पूर्णमल बुदेला, जो कि ओरछा के राजा वीरसिंह देव का पौत्र था, के बाग में किया गया। महाराजा जसवंत सिंह जी की दो रानियाँ, जो उनके साथ थी, सती होने लगीं तो राजपूत सरदारों ने उनसे प्रार्थना की कि वे गर्भवती हैं, अतः मारवाड़ के उत्तराधिकारी को जन्म दें। रानियाँ मान गईं और वे दुर्गादास के साथ अटक के तट पर आ पहुँची। महाराजा जसवंतसिंह जी की अस्थियाँ लेकर पुरोहित कल्याण दास को दुर्गादास ने आगे प्रस्थान करने का आदेश दिया और राज परिवार के साथ लाहौर आ पहुँचा। यहाँ राजपरिवार एक हवेली में निवास करने लगा। मारवाड़ के राठौड़ सैनिकों ने महारानी से वेतन प्राप्त करना बंद कर दिया और अपने ही व्यय से सेवा में रत रहे।

19 फरवरी, 1679 को लाहौर में सूर्योदय के एक प्रहर पूर्व राजकुमार अजीत सिंह का जन्म हुआ तथा उसके आधा घण्टे पश्चात् द्वितीय राजकुमार दलभंबन का जन्म हुआ। राठौड़ शिविर में उत्सव मनाया गया। उधर मुगल सम्राट औरंगजेब ने मारवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया। उसने प्रजा पर जजिया कर लगा दिया।

दुर्गादास राठौड़ का दिल्ली में आगमन

मुगल सम्राट औरंगजेब ने राठौड़ राजकुमारों का पालन अपनी देख-रेख में करने की इच्छा व्यक्त कर राजकुमारों व उनकी माताओं को अपने पास बुलवाया, जो दुर्गादास ने स्वीकार नहीं किया। दुर्गादास उन्हें दिल्ली ले गए जहाँ किशनगढ़ नरेश की हवेली में उन्होंने आश्रय लिया। तब मुगल सेनाओं ने 16 जुलाई 1679 को किशनगढ़ हवेली को घेर लिया। मुगल अधिकारियों ने राठौड़ों को शान्ति से काम लेने का परामर्श दिया और राजकुमारों एवं रानियों को उन्हें प्रदान करने की प्रार्थना की। दुर्गादास राठौड़ ने वार्तालाप को लम्बा कर गुप्त तैयारी कर ली। जब राजपूत नहीं माने तो मुगल सेना ने आक्रमण कर दिया। अब अपने मुख-मण्डल पर मृत्यु की सी गंभीरता एवं हाथों में भाले लिये राठौड़ वीर मुगल सेना पर टूट पड़े। युद्ध से पूर्व उन्होंने अपने इष्ट की पूजा-अर्चना की और कसूम्बा (अफीम) दुगनी मात्रा में पिया तथा तीव्र वेग से आक्रमण किया कि मुगल सैनिक त्रस्त हो गये। रघुनाथ भाटी ने एक सौ राठौड़ वीरों के साथ प्रचण्ड वीरता का प्रदर्शन करते हुए दिल्ली की गलियों को लाल कर दिया व अपने 70 साथियों सहित वीरगति को प्राप्त हुआ। दुर्गादास राठौड़ रानियों को पुरुष वेष धारण करवाकर व राजकुमारों को मुकुन्ददास खीची, जो सँपेरा बना था, के पिटारे में छिपाकर बाहर निकाल ले जाने में सफल हुआ। मुगल सेना ने पीछा किया व पुनः राठौड़ों के एक दल ने मुड़कर उनका मार्ग रोका और काम आये। ऐसा क्रम चलता रहा। अन्त में रानियों के सतीत्व की रक्षा हेतु उन्हीं की आज्ञा के अनुसार चन्द्रभान जोधा ने उनके मस्तक काट लिये व काम आया। इस युद्ध में रणछोड़ जोधा ने अपूर्व शौर्य का प्रदर्शन किया। रात्रि होने व थकने पर मुगल सैनिक लौट गये तब राठौड़ ने रानियों का अन्तिम संस्कार किया। दुर्गादास सात सैनिकों के साथ जोध पुर की सीमा में पहुँच गये। राजकुमार दलभंबन तो मार्ग में ही चल बसा, पर राजकुमार अजीत सिंह जीवित रहा। वह बलूँदे के दुर्ग में वहाँ के ठाकुर श्री मोहकम सिंहजी की ठकुरानी के पास रहा। कुछ समय पश्चात् वीर दुर्गादास उसे छप्पन के पहाड़ों में ले गया एवं एक कुटिया बना साधु का वेष ध ारण कर राजकुमार का लालन-पालन करने लगा।

मुगल-राठौड़ युद्ध

मुगल-राठौड़ युद्ध चलता रहा। औरंगजेब ने अपने पुत्र अकबर द्वितीय को दुर्गादास को पकड़ने हेतु भेजा, पर दुर्गादास ने उसे अपनी ओर मिलाकर उसे भारत का सम्राट बनाने का स्वप्न दिखा औरंगजेब को त्रस्त कर दिया। औरंगजेब ने चतुराई से अपने पुत्र को सफल नहीं होने दिया। तब निराश अकबर ने दुर्गादास की शरण ग्रहण की व दुर्गादास ने उसके पुत्र बुलन्द अख्तर व पुत्री शफीतुनिस्सा को सिवाना के दुर्ग में पहुँचा। मुगल राजकुमार अकबर को महाराष्ट्र के शिवाजी महाराज के वीर पुत्र शम्भाजी के पास पहुँचा दिया। वृद्ध मुगल सम्राट औरंगजेब 80 वर्ष की अवस्था में महाराष्ट्र की ओर मराठों से युद्ध में उलझ गया। वीर दुर्गादास ने जोधपुर औरंगजेब से महाराजा अजीत सिंह जी को पुनः प्रदान करवा दिया व मुगल राजकुमार बुलंद अख्तर व राजकुमारी शफीतुनिस्सा को औरंगजेब के पास भिजवा दिया। इस पर महाराजा अजीत सिंह दुर्गादास से रुष्ट हो गये।

दुर्गादास द्वारा मारवाड़ का त्याग

दुर्गादास ने मारवाड़ का त्याग किया। मेवाड़ के महाराणा ने दुर्गादास की अगवानी की और अपनी सेवा में रख लिया। मेवाड़ के महाराणा ने उसे रामपुरा भेजा। कुछ इतिहासकारों का मत है कि वह यहीं पर शान्त हो गया और उसकी इच्छानुसार उसका दाह संस्कार उज्जैन में शिप्रा के पावन तट पर कर दिया गया। पर चारण कवि अपने दोहे में कुछ और ही कहता है-

सागर पूछे बात सिपरा ऐसी लाल क्यूँ?
भारत भू विख्यात, खग धोई राठौड़ नैं।।

इस दोहे के अनुसार दुर्गादास मेवाड़ की सेना लेकर मुगलों से युद्ध करते हुये उज्जैन में शिप्रा के तट पर शूरवीरता का प्रदर्शन करते हुए काम आया। इस प्रकार वीर दुर्गादास 80 वर्ष 3 महीने व अट्ठाइस दिन जीवित रहकर 22 नवम्बर 1718 ई. को वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके साथ
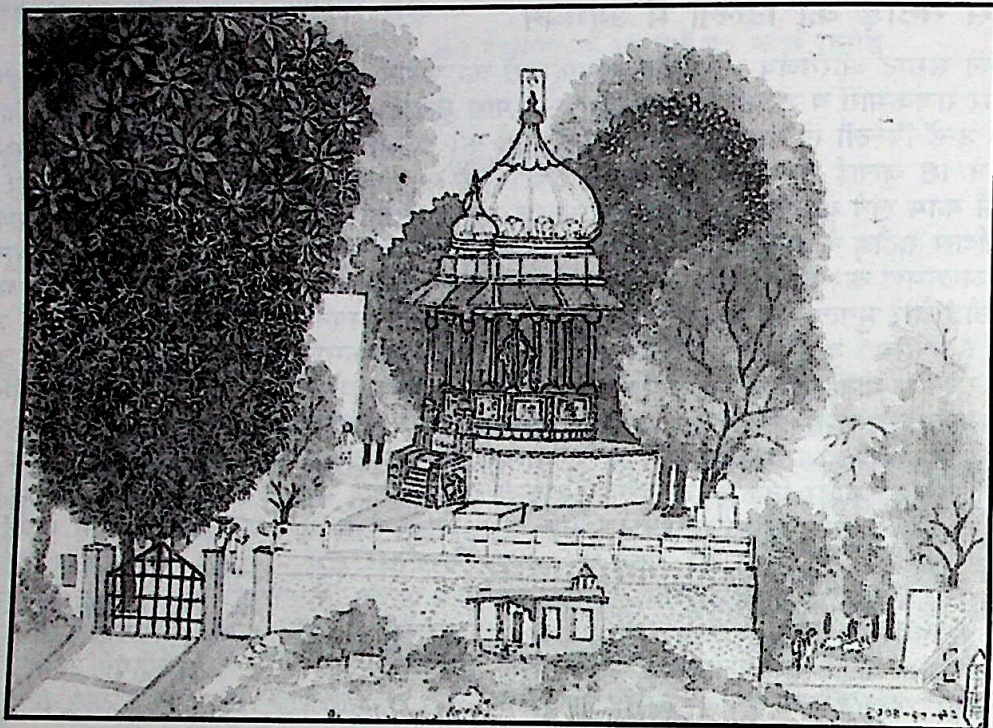
शाहपुरा के महाराजा उम्मेदसिंह जी राणावत भी वीरगति को प्राप्त हुए थे। दोनों का दाह संस्कार शिप्रा तट पर ही किया गया व उनके स्मारक भी बनाये गये। उम्मेदसिंह राणावत पर भी दोहा है, जो इस प्रकार है–

सागर पूछे सफ्फरा, आज रतम्बर काह?
भारत तणी उम्मेदि में खड्ग झकोळी जाइ।।

दुर्गादास की प्रशंसा में लिखे गये हृदयस्पर्शी दोहे

जसवंत कहियो जोय, घर रूखाळो गूदड़ा।
साँची कीन्हीं सोय, आछी आसकरनावंत।।
माई एहड़ा पूत जण जेहड़ा दुर्गादास।
मार मंडासौ थामियों, बिन थाम्बा आकाश।।
आठ पहर चौसठ घड़ी घुड़ले ऊपर वास।
सेल अणीं सूँ सेकतो बाटी दुरगादास।।
दुरगा आसकरण रा नितरै बागौ जाय।
अमल औरंगा उतरै दिल्ली घड़का खाय।।
ढंबक ढंबक ढोल बाजे, दे दे ठोर नगारौ की।
आसे घर दुरगो नहीं होतो तो, सुन्नत होती सारौ की।।
अवरंग घोर अंधार जोत मिटे राजा जशो।
तू दुरगा तिणबार आंधा लकड़ी आशाउत।।
मुख जै देन गोराँ जस धारी।
धिन दुरगो राखियो अजमाल।।
दुरगे जो धरतीह मुरधर री राखी मदद।
जिने तीन पैंड पिरथीह मरती बेळा ना मिली।।
पिडरी गई परतीत माण पाण सारो गयो।
इण घर आही रीत दुरगो सिपरा दागियो।।

दुर्गादास की समाधि

उज्जैन में शिप्रा तट पर चक्रतीर्थ के पास वीर दुर्गादास की मनोहारी छतरी इस वीर की उज्ज्वल कीर्ति की प्रतीक है। देख-रेख के अभाव में यह समाधि जर्जर होती जा रही है। इस समाधि की सुरक्षा हेतु स्वर्गीय नंदलाल पोतदार एवं स्वर्गीय लच्छू भैया के प्रयास विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके साथ ही मदनलाल शर्मा ने भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इस समाधि की सुरक्षा की और यहाँ पर दुर्गादास जयन्ती मनवानी प्रारम्भ करवाई। श्री मदनलाल शर्मा, ले. कर्नल बलदेवसिंह शेखावत, नगरकोट माताजी के परमहंस संत स्वरूपानंदजी महाराज, स्वर्गीय डॉ. वाकणकरजी, श्री जगतसिंह क्यूरेटर, महरानगढ़, जोधपुर निवासी ग्राम चरखड़ा बीकानेर व राजमाता विजयाराजे सिंधिया के प्रयास से इस समाधि में वीर दुर्गादास की पावन देवळी को स्थापित किया गया। जोधपुर नरेश महाराजा श्री गजसिंहजी (द्वितीय) ने इस हेतु धन प्रदान कर जैसलमेरी पाषाण में बीकानेर के राजाओं ही की भाँति अश्वारूढ़ वीर दुर्गादास की पावन देवळी जयपुर में निर्मित करवाई और इस समाधि को भेंट की एवं वीर दुर्गादास के पावन नाम को गौरवान्वित किया। वीर दुर्गादास ने शिप्रा के पावन तट पर अन्तिम विश्राम करते हुए उस मारवाड़ को चिरस्मरणीय बना दिया है, जिसने ऐसे महान् सपूत को जन्म दिया। वीर दुर्गादास के लिये कवियों ने सत्य ही तो कहा है-

बंका मग मारू बहण, भडबंका सिर मोड़।
नर बंका किरतब करण, रण बंका राठौड़।
बलहठ बंका देवड़ा किरतब बंका गौड़।
हाड़ा बंका गाढ में, रण बंका राठौड़।।
बज देशाँ चंदन बिडाँ, मेरु पहाड़ाँ मोड़।
गरुड़ खगाँ लंका गढाँ, राजकुलाँ राठौड़।।
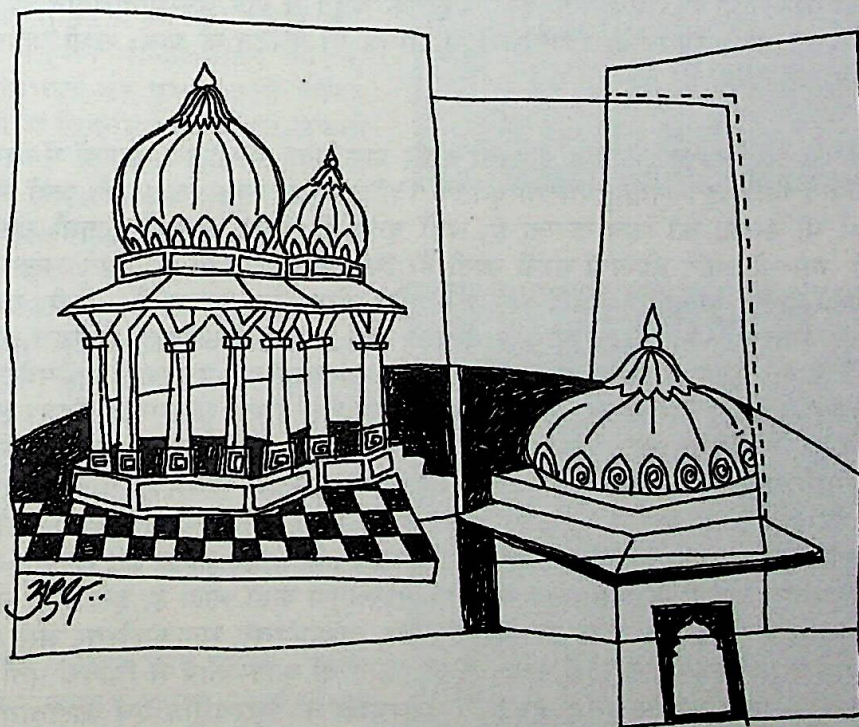
अवन्ती परिक्षेत्र का पार्यटनिक वैभव

डॉ. सीताराम दुबे

भारत में तीर्थ यात्रा, मेला आदि के रूप में प्राचीन काल से ही पर्यटन का महत्त्व रहा है। यंत्र-संवलित, अर्थ-प्रवण भौतिक समाज में व्यस्त यांत्रिक जीवन एवं क्लान्त शारीरिक-मानसिक स्थिति से मुक्ति पाने और विश्राम के लिए आज यह और अधिक आवश्यक बन गया है। संभवतः इस आवश्यकता की प्रतीति के कारण ही औद्योगिक इकाई, कार्यालय, विश्वविद्यालयों में श्रमिकों-अधिकारियों सब के लिए यात्रा भत्ता के साथ सवैतनिक अवकाश की व्यवस्था की गई है। इस बदलते परिवेश के साथ पर्यटन आज एक विशिष्ट उद्योग तथा किसी देश की आर्थिक आय का महत्त्वपूर्ण संसाधन बन गया है। प्रत्येक देश अपने यहाँ पर्यटन की नवीन संभावनाएँ तलाश रहा है। पर्यटन की दृष्टि से उल्लेखनीय क्षेत्रों एवं स्मारकों पर करोड़ों रुपये खर्च कर उन्हें आकर्षक बनाया जा रहा है। सौभाग्यवश भारत के मध्यप्रदेश को प्रकृति ने ही असीम प्राकृतिक सुषमा और पार्यटनिक अवसर दिया है। आज भी, जहाँ भारत के बहुत से क्षेत्र वनस्पतिविहीन हो गये हैं, वहाँ यह प्रदेश विविध वनों-उपवनों एवं वनोपजों से सम्पन्न है। पर्यटन के प्रायः सभी प्रकारों की दृष्टि से यहाँ अनेक आकर्षण हैं।

बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, निमाड़, मालवा आदि प्राकृतिक-भौगोलिक खण्डों में विभक्त विशाल मध्यप्रदेश अपनी विशिष्ट जलवायु एवं सांस्कृतिक विविधता के लिए प्रख्यात है। जहाँ निमाड़ अंचल शरद ऋतु में भी ऊष्मा का भान कराता है, वहीं पचमढ़ी ग्रीष्म ऋतु में गुलाबी ठण्ड का। यहाँ बुन्देलखण्डी, मालवी आदि बोलियाँ बोली जाती हैं। भिन्न-भिन्न अंचलों के अपने अलग-अलग राई, माच जैसे लोक-नृत्य, मालवी, बुन्देली जैसे लोकगीत और रीति-रिवाज हैं। साँची, खजुराहो, ऊन जैसे प्रभविष्णु स्थापत्य स्मारक-समूह और ओरछा जैसे महल, असीरगढ़, माण्डव, हिंगलाजगढ़, बीजागढ़ जैसे किले, एरण, कायथा, गढ़कालिका जैसे पुरास्थलों की प्रचुरता है। भीमबेटका, रायसेन, पुतलीकरार, सिंहनपुर, कबरा पहाड़, चतुर्भुज नाला जैसे शैल चित्रों से सम्बद्ध चित्रकला-स्थल, धमनार, पोलाडोंगर, खेजड़िया भोप, बाघ जैसी गुफाओं की शृंखलाएँ हैं। इसी प्रकार कान्हा-किसली जैसे अभयारण्य तथा चन्देरी जैसे पर्यटन उद्योग हैं। विविध अंचलों रामवन, विदिशा, मन्दसौर आदि में आकर्षक विशाल संग्रहालयों की स्थापना की गई है। स्वयं पुतलीकरार, झाबुआ जैसे क्षेत्र, जिन्हें आदिम जनजाति एवं संस्कृति का जीता-जागता संग्रहालय और आदि मानव की सभ्यता और संस्कृति को समझने, भारतीय आत्मा को पहचानने के लिये महत्त्वपूर्ण कहा जाता है, इस प्रदेश के पार्यटनिक गौरव में और अधिक अभिवृद्धि करते हैं। पशुपतिनाथ, ओंकारेश्वर, महाकालेश्वर जैसे आराध्य तथा ओंकारेश्वर, महेश्वर, उज्जैन जैसे तीर्थ-स्थल हैं जो भारत के कोने-कोने से विविध पर्वों पर भारतीय धर्मप्राण जनता की यात्रा का आकर्षण बनते हैं। मध्यप्रदेश के पारस्परिक एवं जालवायुविक अनेक विधि विभाजनों के होते हुए भी पर्यटन की दृष्टि से मध्यप्रदेश को विन्ध्य, मध्यभारत, निमाड़, गोपाद्रिगिरि क्षेत्र में बाँटकर अध्ययन करना सुविधाजनक एवं उपयोगी है, परन्तु पश्चिमी मध्यप्रदेश
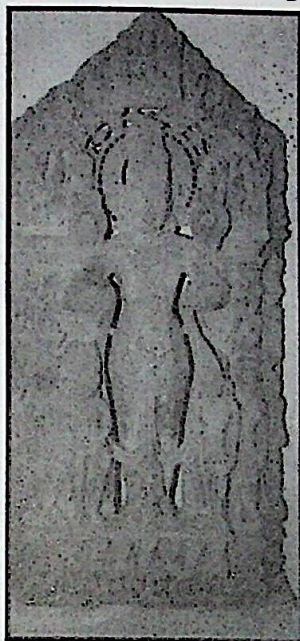
शुजालपुर से प्राप्त परमारकालीन सूर्य प्रतिमा (दसवीं शती ई.)

का मालवा अंचल भी पर्यटन की दृष्टि से अपार आकर्षण रखता है। इस आलेख में इस क्षेत्र में अवस्थित अवन्ती परिक्षेत्र की पार्यटनिक विशेषताओं की विवेचना ही अभिप्रेत है।

कार्दमक शक-वंश के गौरव का साक्षी, परमार काल में बहुविध समृद्ध, मुगलकालीन शाहजहाँ काल में शाहजहाँपुर नाम से अभिहित माधवराव सिंधिया के समय में शाजापुर के रूप में स्वीकृत न केवल शाजापुर जिला मुख्यालय का वरन् समस्त शाजापुर जिले का पर्यटन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुगलों के काल में सामरिक दृष्टि से महत्त्व-प्राप्त किले का सिंधिया शासकों के काल में जीर्णोद्धार किया गया। अतः इस पर मुस्लिम स्थापत्य का स्पष्ट प्रभाव है। गिरवर मार्ग पर स्थित बोहरा संत सैयदी यूसुफ खान साहब की मजार तथा चीलर नदी के तट पर स्थित राजराजेश्वरी का मन्दिर दर्शकों को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। आगर से करीब 5 किलोमीटर की दूरी पर स्थित बैजनाथ महादेव मन्दिर भी आकर्षक है, जहाँ 1984 से प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया को भव्य मेले का आयोजन किया जाता है। बेसाल्ट चट्टान की पहाड़ी को काटकर बनाई गई दूसरी-तीसरी शताब्दी की बौद्ध गुफा भी दृष्टव्य है। आगर और उसके आसपास अनेक आकर्षक बौद्ध प्रतिमाएँ भी उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार शाजापुर जिले के सुसनेर तहसील के बरई ग्राम में स्थापित परमारकालीन मन्दिर और उसकी मूर्तियाँ, गुराड़िया का देवी मन्दिर और पीपल्या का हनुमान मन्दिर आदि को भी थोड़ी-सी देखभाल कर प्रभावशाली पर्यटन स्थल के रूप में विकसित किया जा सकता है। शुजालपुर के सुन्दरसी नामक ग्राम में परमारकालीन अनेक भव्य मन्दिर स्थापत्य पूर्वकालीन गौरव गरिमा के ज्वलन्त प्रमाण हैं। यही बात जामनेर के जैन मन्दिर के बारे में भी कही जा सकती है। शाजापुर जिले की मक्सी तहसील मुख्यालय जैन तीर्थ के लिए विश्व प्रसिद्ध है, जहाँ अनेक जैन धर्मावलम्बी तो श्रद्धा सुमन समर्पित करने आते ही हैं, सामान्य पर्यटक भी इसमें अभिरुचि रखते हैं। शाजापुर से कुछ किलोमीटर दूरी पर करेड़ी माता का सुप्रसिद्ध शाक्त मन्दिर है। करेड़ी की देवी, सहस्त्रबाहु गणेश एवं नाग प्रतिमायें अत्यन्त दर्शनीय हैं।

करेड़ी की देवी और गणेश प्रतिमा

देवताओं के वास के लिए प्रसिद्ध 'देवास' जहाँ सांस्कृतिक जगत में कुमार गन्धर्व, उस्ताद रज्जब अली खाँ, उस्ताद बशीर खाँ साहब के लिए विख्यात है, वहीं प्रदेश का नोट छापने

देवास टेकरी स्थित तुलजा भवानी और चामुण्डा माता

का एकमात्र केन्द्रीय बैंक नोट प्रेस तथा लगभग 400 छोटे-बड़े औद्योगिक संस्थानों के कारण अब औद्योगिक नगरी के रूप में भी प्रख्यात हो गया है। यहाँ की चामुण्डा देवी की पहाड़ी पर माँ तुलजा भवानी, चामुण्डा माता, जैन मन्दिर तथा दमदमे वाले बाबा की मजार के दर्शन के लिए दूर-दूर से धार्मिक पर्यटक आते रहते हैं। नवरात्रि में पर्यटकों की संख्या और अधिक हो जाती है। भव्य द्वारों वाला जिला मुख्यालय, कलन्दरी मस्जिद, छत्री बाग, मोती एवं शाही मस्जिदों के माध्यम से अपने अतीत के वैभव की कहानी कहता है। देवास से पाँच किलोमीटर दूर स्थित नागदा अपने प्राचीन मन्दिरों, मस्जिद, मकबरों एवं भवन स्थापत्य के लिए उल्लेखनीय है। कुछ विद्वानों की दृष्टि से देवास नगर का मूल स्थान यही है। कन्नौद तहसील के पानी गाँव की छोटी-बड़ी पहाड़ियाँ अपनी प्राकृतिक छटा से पर्यटकों को सहज ही आकृष्ट कर लेती हैं। यहीं एक भव्य जैन मन्दिर भी विद्यमान है। देवास अपने ग्राम बिलावली के शिव मन्दिर तथा हाटपीपल्या के नरसिंह मन्दिर के लिए भी जाना जाता है। यह अपने में किटी जलप्रपात, धाराजी, चन्द्रकेशर बाँध तथा चन्द्रकेशर उद्यान स्थल जैसे मनोरम स्थान भी सँजोए है।
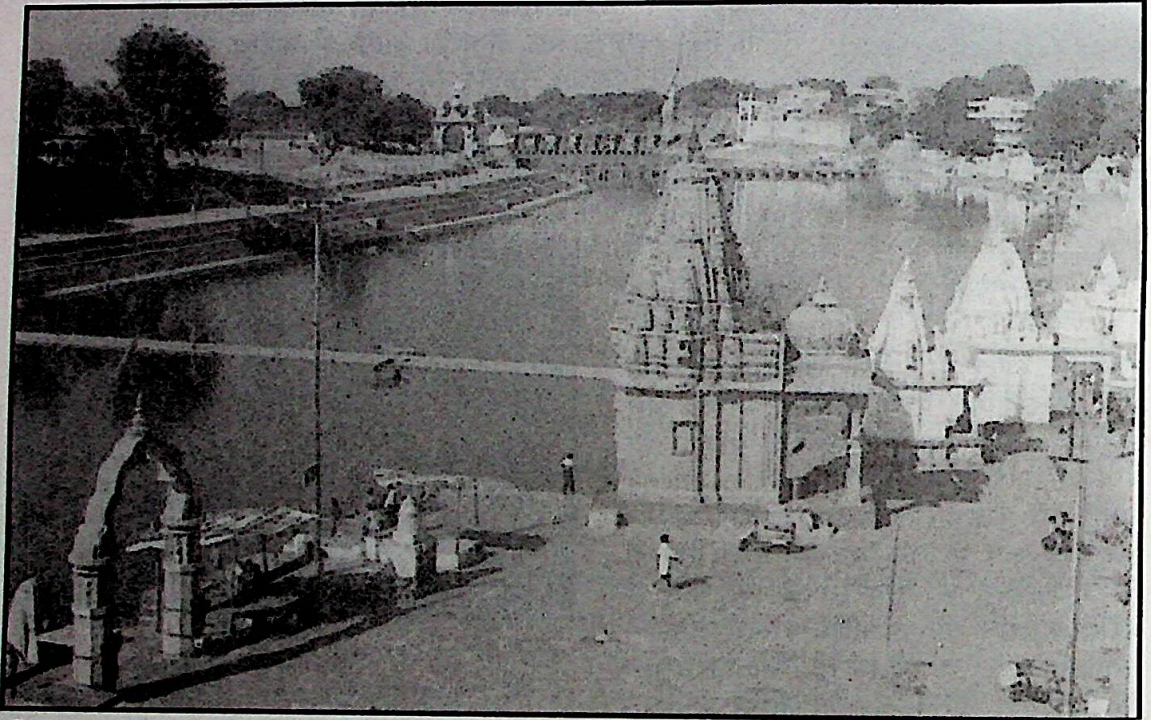
शिप्रा तट

राजा विक्रमादित्य की न्यायस्थली, कृष्ण की शिक्षण-स्थली, कात्यायन की कर्मस्थली, प्राचीन भारत की सात विशिष्ट नगरियों में प्रमुख नगरी उज्जयिनी अपनी गौरवशाली सांस्कृतिक परम्परा, मन्दिरों एवं पुण्य-सलिला क्षिप्रा एवं उसके घाटों के लिए विश्व-विख्यात है। महाकालेश्वर, जिसके मन्दिर परिसर में दर्जनों अन्य देवी-देवताओं से सम्बद्ध मन्दिर हैं, के दर्शन के लिए देश-विदेश से हजारों पर्यटक नित्यप्रति आते रहते हैं। त्यौहारों और पर्वों पर यह संख्या बहुगुणित हो जाती है। 12 वर्षों पर लगने वाले सिंहस्थ पर्व पर तो यह संख्या लाखों में पहुँच जाती है। पुरासम्पदा तो यहाँ गली-गली में मिल जाती है। यहाँ काल-भैरव का मद्यपान अपने भक्तों की श्रद्धा में जहाँ और अधिक वृद्धि करता है, वहीं सामान्य दर्शक में रहस्यात्मक भाव एवं कौतूहल को जन्म देता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध अन्य मन्दिरों में चिन्तामण गणेश,
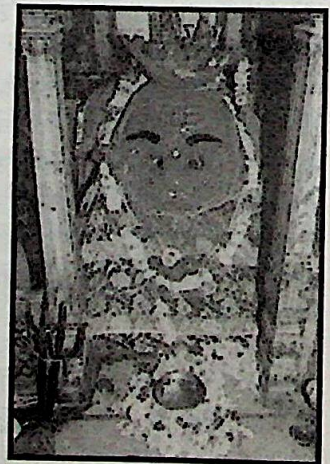
श्री काल भैरव

श्री सिद्धवट

मंगलनाथ, सिद्धवट, नवग्रह मन्दिर, बड़ा गणेश, हरसिद्धि, गढ़कालिका, राम जनार्दन मन्दिर, सिक्खों का गुरुद्वारा, त्रिवेणी संगम, चौबीस खम्भा, गोपाल मन्दिर, महर्षि सान्दीपनि आश्रम आदि का अपना अद्भुत वैशिष्ट्य है। जैन धर्म के मन्दिरों में हासामपुरा जैन मन्दिर एवं जयसिंहपुरा का दिगम्बर जैन मन्दिर उल्लेखनीय है। नगर के व्यस्ततम क्षेत्र कमरी मार्ग पर अत्यन्त मनोरम उद्यान के मध्य श्वेत संगमरमरी गुम्बद का बना बोहरों का रोजा अपने श्रद्धालुओं में तो शान्ति एवं सद्भाव की प्रेरणा देता ही है, जन-सामान्य को भी भाव-विभोर कर देता है। इसी प्रकार इस्लाम धर्म की प्रसिद्ध इमारतों में रूमी का मकबरा, बेगम का मकबरा, ख्वाजा साहब की मस्जिद तथा बिना नींव की मस्जिद का भी ससम्मान उल्लेख किया जा सकता है। बौद्ध धर्म-स्थली के रूप में वैश्या टेकरी का अपना विशिष्ट स्थान है। भर्तृहरि गुफा, दुर्गादास राठौर की छतरी, योगेश्वरी टेकरी, नगरकोट की रानी अन्य महत्त्वपूर्ण दर्शनीय स्थल हैं। राजा जयसिंह द्वारा जयसिंहपुरा क्षेत्र में निर्मित वेधशाला में सम्राट् यंत्र, नाड़ीवलय यंत्र, दिगंश यंत्र, भित्ति यंत्र आदि अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। 1937 में यहाँ शंकु यंत्र की भी स्थापना की गई। यहाँ के अन्य दर्शनीय स्थलों में वाकणकर शोध संस्थान, कालिदास अकादमी, सिंधिया प्राच्य विद्या संस्थान, वेद विद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन दुग्ध संयंत्र, श्री सिन्थेटिक्स, विक्रम विश्वविद्यालय परिसर, विक्रम विश्वविद्यालय पुरातत्व संग्रहालय, वाकणकर स्मृति जिला पुरातत्त्व संग्रहालय, जयसिंहपुरा दिगम्बर जैन संग्रहालय, श्री कावेरी शोध संस्थान आदि का प्रमुखता से उल्लेख किया जा सकता है। उज्जैन नगर से लगभग 6 किलोमीटर दूर भैरवगढ़ में शिप्रा-तट पर अवस्थित कालियादेह महल न केवल उज्जैनवासियों के लिए भव्य, मनोरम पिकनिक स्थल है, वरन् दूर-दूर से पर्यटक इसकी तकनीकी बनावट को देखने आते रहते हैं। अपनी पाकशाला, फव्वारे, सूर्य मन्दिर, 52 कुण्ड आदि के द्वारा यह स्थल अपने बीते युग के वैभव की कहानी कहता जान पड़ता है। बगल से बहने वाली क्षिप्रा नदी के कारण इस नगर का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। घाटों और नदी-कूलों को व्यवस्थित कर इस नगर के सौन्दर्य एवं महत्त्व में और अधिक वृद्धि की जा सकती है। घाटों का सौन्दर्यीकरण कर रामघाट को नौकायन केन्द्र के रूप में विकसित किया जा सकता है।

वेधशाला और कालियादेह महल

जिला मुख्यालय उज्जैन के अतिरिक्त उसकी प्रायः सभी तहसीलें भी अपनी वैभवशाली सांस्कृतिक परम्परा के लिए प्रख्यात हैं। उज्जैन से 7-8 किलोमीटर दूर सोढंग नामक स्थान पर किए गए पुरातात्त्विक उत्खनन से यह एक महत्त्वपूर्ण बौद्ध केन्द्र के रूप में उभरकर सामने आता है। नागदा तहसील का सांस्कृतिक वैभव तो सर्वविदित है ही। महिदपुर तहसील अपने में धार्मिक, सांस्कृतिक, दृश्य-सौन्दर्य एवं कला से सम्बद्ध अनेक स्थलों को अपने में समेटे हैं। ताला-कूँची की बावड़ी के सामने महिदपुर चारों ओर प्राचीर से घिरा उत्कृष्ट शिल्प का उदाहरण प्रस्तुत करता है। तहसील के धुलेट और नारायणा ग्राम से अनेक सांस्कृतिक संस्मरण जुड़े हैं।
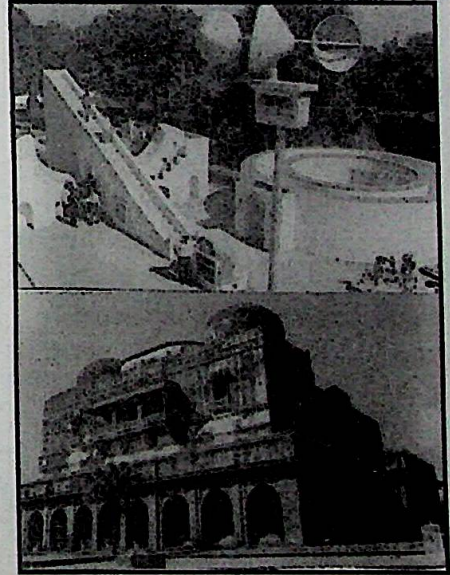
नारायणा ग्राम में बना कृष्ण-सुदामा मन्दिर भारत का अपने प्रकार का अकेला मन्दिर है, जिसके माध्यम से कृष्ण-सुदामा की किंवदन्तीपरक मैत्री रूपायित होती दिखाई देती है। कृष्ण-सुदामा की शिक्षण-स्थली होने के कारण यह स्वाभाविक भी लगती है।

गंधावल यद्यपि आज तो एक छोटा-सा गाँव है, किन्तु कभी परमारकालीन मूर्ति-निर्माण का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा, ऐसे मन्तव्य को पुष्ट करती है यहाँ की यत्र-तत्र बिखरी पड़ी ओजस्वी जीवन्त प्रतिमाएँ। कतिपय लोगों ने तो अपने घरों के खम्भों तक में इन मूर्तियों को लगा रखा है। मूर्तियों की बहुलता के कारण यहाँ एक मुक्ताकाश संग्रहालय भी स्थापित है, जहाँ संरक्षित सूर्य, हरिहर, पितामह, विष्णु, वाराह आदि की सुरुचि-सम्पन्न मूर्तियाँ अपने दर्शकों को मंत्र-मुग्ध कर देती हैं। दो जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष एवं अनेक तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी यहाँ समुपलब्ध हैं। उज्जैन से लगभग 25 किलोमीटर दूर कालीसिन्ध नदी के किनारे प्रागैतिहासिक टीले पर बसा कायथा गाँव अपनी पुरा-उपलब्धियों के लिए प्रख्यात है। कपित्थक के रूप में इसे वराहमिहिर की जन्म स्थली होने का भी श्रेय प्राप्त है। यहाँ गुप्त काल से लेकर परमार काल तक की दुर्लभ प्रतिमाओं की बहुलता है, जो पर्यटकों के लिए आकर्षण का महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो सकती हैं।

अपनी प्राकृतिक विशिष्टता, जालवायुविक अनुकूलता, आर्थिक सम्पन्नता, सामाजिक समरसता, धार्मिक समृद्धि, सांस्कृतिक वैभव आदि के कारण मध्यप्रदेश का मन्दसौर जिला लोगों के आकर्षण का प्रधान केन्द्र रहा है। यही कारण रहा कि गुप्तकाल में तन्तुवायों की श्रेणी लाट देश को छोड़ तत्कालीन दशपुर नाम से ख्यात मन्दसौर चली आई, धनधान्य सम्पन्न, मरिचमालिन भगवान सूर्य के गगनचुम्बी भव्य मन्दिर, धर्मन्नामांत शासकों के शासन का केन्द्र यह जिला मराठों को भी प्रिय रहा और आज भी इस क्षेत्र की गौरव-गरिमा, प्राकृतिक सुषमा और सांस्कृतिक वैभव के अवलोकन के लिए देशी-विदेशी पर्यटक नित्यप्रति आते रहते हैं। वैसे तो आज मन्दसौर जिले का एक भाग अलग कर नीमच जिला बना दिया गया है, किन्तु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से यहाँ दोनों का सम्मिलित अध्ययन ही उपयोगी होगा।
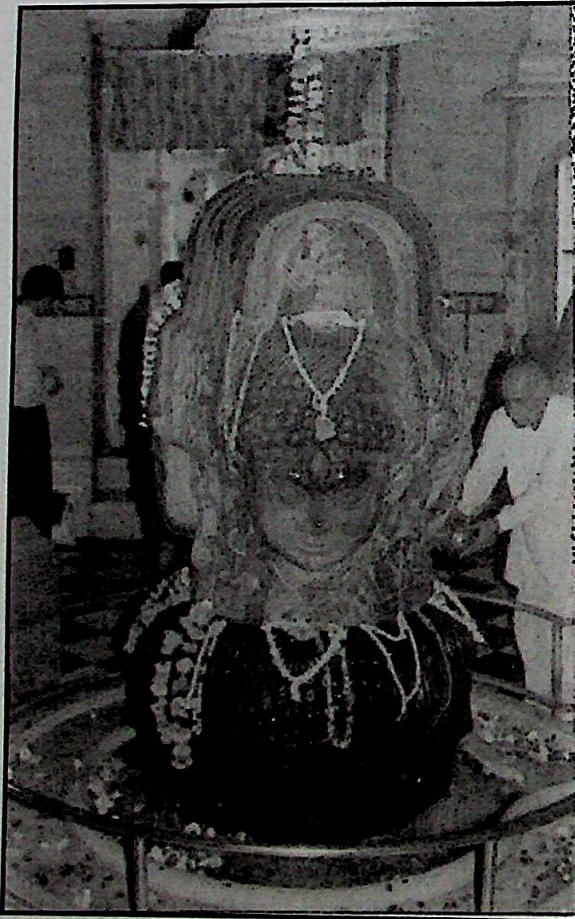
पशुपतिनाथ, मन्दसौर

शिवना नदी के तट पर अवस्थित जिला मुख्यालय मन्दसौर सम्प्रति पशुपतिनाथ मन्दिर के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध है, जहाँ धार्मिक पर्यटक हजारों की संख्या में खिंचे चले आते हैं। मन्दसौर स्थित इस पशुपतिनाथ की तुलना नेपाल स्थित पशुपतिनाथ से की जाती है, किन्तु यह नेपाल के चारमुखी प्रतिमा से अधिक आकर्षक है। इस अष्टमुखी लिंग का पूर्व मुख जहाँ बाल्यावस्था को प्रकट करता है वहीं दक्षिणाभिमुख युवावस्था का द्योतक है। इसी प्रकार पश्चिमाभिमुख एवं उत्तराभिमुख से क्रमशः प्रौढ़ एवं वार्धक्य का भान होता है। मन्दिर के पार्श्व में पर्यटन की दृष्टि से आकर्षक अन्य मन्दिरों का भी निर्माण किया गया है। पुरातात्विक स्मारकों में मालवा के सुल्तान (1405) द्वारा अपने पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त की सुरक्षा के लिए

प्रागैतिहासिक चित्र चतुर्भुज नाला (भानपुरा)

विजय स्तम्भ (ग्यारहवीं शती ई.) सौंधनी, मन्दसौर

भानपुरा संग्रहालय में संग्रहीत नन्दी (ग्यारहवीं शती ई.), हरिपुरा

निर्मित 12 दरवाजों वाला किला भी आकर्षक है। यद्यपि इसके अधिकांश द्वार अब नष्टप्रायः हैं, किन्तु किले के दो उद्यानों के मध्य विद्यमान गुप्तकालीन विशाल शिव की प्रतिमा पर्यटकों को मन्त्रमुग्ध कर देती है। जिलाधीश कार्यालय एवं न्यायालय सम्प्रति इसी किले में लगते हैं। यहाँ एक विशाल पुरातत्त्व संग्रहालय की स्थापना भी की गई है, जिसमें प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल की आकर्षक मूर्तियों एवं वस्तूपकरणों को संग्रहीत किया गया है। मध्यप्रदेश के महत्त्वपूर्ण कला स्थापत्यों के छायाचित्र आदि भी इसमें संरक्षित हैं। विविध कला-वीथिकाओं में विभक्त इस संग्रहालय को देखना निश्चय ही अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक एवं सुखकारी है।

जिला मुख्यालय से 5 किलोमीटर दूर सौंधनी नामक स्थान पर मिहिरकुल विजेता औलिकर सम्राट यशोधर्मन् के अभिलिखित युगल स्तम्भ हैं, जिन्हें विद्वानों ने दो महत्त्वपूर्ण विजयों के उपलक्ष्य में अभिलिखित दो विजय-स्तम्भ के रूप में समीकृत किया है।

मन्दसौर से 136 किलोमीटर दूर स्थित भानपुरा तहसील में पुरातात्त्विक एवं पर्यटकीय महत्त्व के शैल-चित्र, अनेक चित्रित गुफाएँ आदि अवस्थित हैं। चतुर्भुज नाला नामक स्थान पर नदी की तटवर्ती पहाड़ियों में अनेक गुफाएँ बनी हैं जिनमें प्रागैतिहासिक युग से लेकर ऐतिहासिक युग तक के जन-जीवन से सम्बद्ध चित्रों का प्रतिनिधित्व मिलता है। यशवन्तराव होलकर प्रथम की छतरी भी अत्यन्त आकर्षक है। एक विशाल परिसर में बनी यह छतरी वस्तुतः शिव मन्दिर है, जिसका शिखर-आमलक स्वर्णकलश-युक्त पंचरथ योजना में निर्मित है। गर्भगृह में शिव के साथ राजा-रानी की प्रतिमा भी प्रतिष्ठित है। राजा की दाढ़ी में जड़ा हीरा बरबस ही दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। परिसर में ही दीवान-ए-खास बना है, जिसमें महाराजा एवं महारानी के पर्यंक की प्रतिकृतियाँ भी सुरक्षित हैं। इसी परिसर में दायें एवं पीछे की ओर बने बरामदों में हरिपुरा, हिंगलाजगढ़ आदि की दुर्लभ मूर्तियों को संरक्षित किया गया है, जिनमें ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाओं में हरिपुरा की गौरी, हिंगलाजगढ़ की सुपार्श्वनाथ, महावीर स्वामी आदि की प्रतिमाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। सङ्ग्रहालय में संराक्षत एक नन्दी प्रतिमा तो अद्वितीय है। यह अपने समानुपातिक अङ्गविन्यास, प्रभविष्णुता और लावण्य से बरबस ही दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह अपने अप्रतिम सौन्दर्य के कारण विदेश यात्रा तक कर चुकी है और विश्व कला मर्मज्ञों की प्रशंसा की केन्द्र रही है। साथ ही यहाँ तोपचियों के नाम वाली कई तोपें और
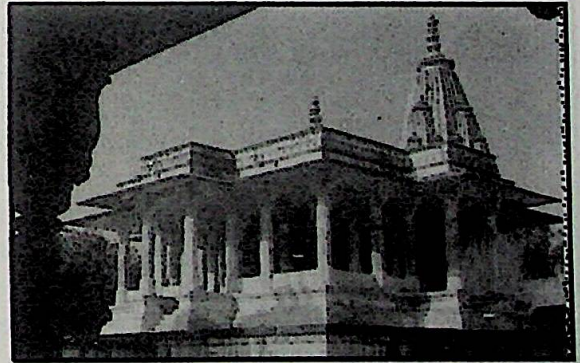
होलकर की छतरी, भानपुरा
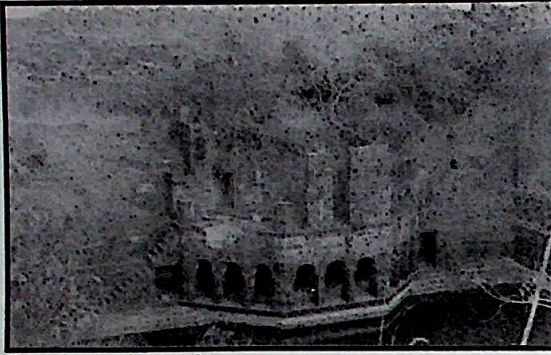
चतुर्भुज नाला स्थित शैल-चित्रों की प्रतिनिधि प्रतिकृतियाँ भी प्रदर्शित हैं।

हिंगलाजगढ़ का दुर्ग

भानपुरा से लगभग 21 किलोमीटर दूर हिंगलाजगढ़ मार्ग पर ताखाजी नाम से लोकप्रिय तक्षकेश्वर अपनी प्राकृतिक सुषमा से दर्शकों को अनायास ही मुग्ध कर देता है। यहाँ के प्राकृतिक कुण्ड में अठखेलियाँ करती मछलियाँ तथा 2000 फीट ऊपर से गिरता गरम पानी का झरना अत्यन्त मनोहर प्रतीत होता है। यहाँ से लगभग 8 किलोमीटर दूर स्थित हिंगलाजगढ़ दुर्ग जीर्ण-शीर्ण अवस्था में अपनी दुर्दशा पर आँसू बहाता, परन्तु अपने दुर्ग स्थापत्य आदि के माध्यम से अतीत की गौरव-गाथा कहता पर्यटकों के आकर्षण का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। दूर-दूर तक फैला वनप्रान्तर और घाटियाँ और उनसे निर्मित नैसर्गिक सौन्दर्य देखते ही बनता है। यहाँ की मूर्तियाँ अपनी बनावट, ओज और सौन्दर्य के लिए न केवल भारत, वरन् विश्व में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। पूर्ण एवं अनगढ़ दोनों प्रकार की मूर्तियों की बहुलता से लगता है कि यह स्थल मूर्ति-निर्माण का केन्द्र रहा होगा, यहाँ से मूर्तियाँ बनाकर नदी के माध्यम से भिन्न-भिन्न स्थलों को भेजी जाती रही होंगी। संभवतः यही कारण है कि यहाँ की प्रतिमाएँ सुदूरस्थ स्थलों-भोपाल आदि के संग्रहालयों तक में संरक्षित हैं। भानपुरा क्षेत्र के छोटे एवं बड़े महादेव, बाकली, कँवला, मोड़ी, संधारा, केथूली आदि के प्राचीन मन्दिर कलात्मक एवं दर्शनीय हैं।

मन्दसौर जिले की गरोठ तहसील से चन्दवासा मार्ग पर 28 किलोमीटर दूर स्थित धमनार में जहाँ एक ओर शैलकृत गुफाएँ बौद्ध संस्कृति की गाथा कहती हैं, वहीं दूसरी ओर धर्मराजेश्वर मन्दिर और उसके परिसर में निर्मित अन्य ब्राह्मण देवी-देवताओं
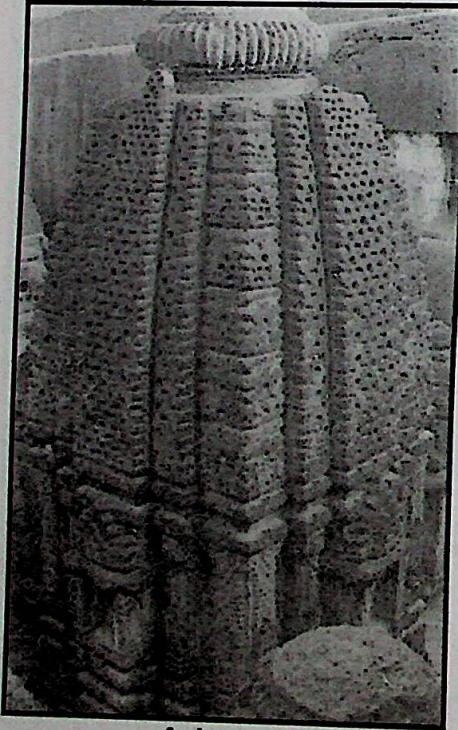
धर्मराजेश्वर मन्दिर (ग्यारहवीं शती ई.)-धमनार (मन्दसौर)
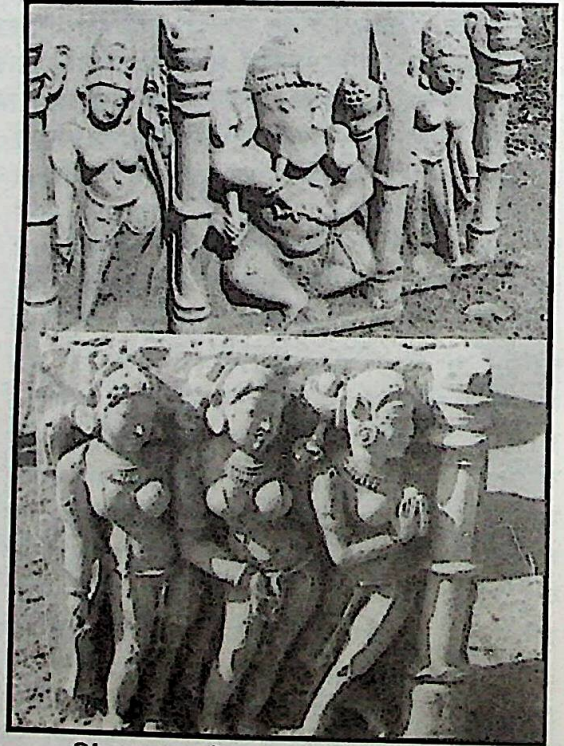
हिंगलाजगढ़ से प्राप्त गणेश प्रतिमा एवं नायिकापट्ट (ग्यारहवीं शती ई.)

बौद्ध गुफा, धमनार (मन्दसौर)
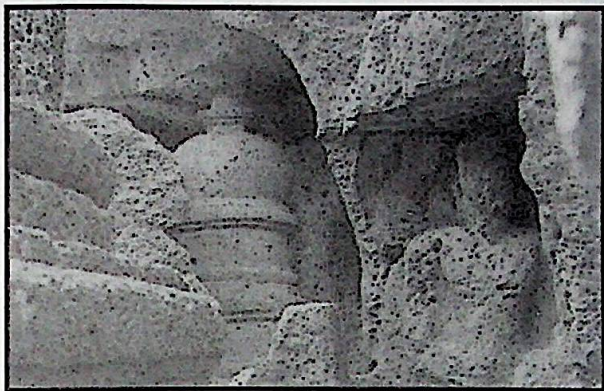
के मन्दिर ब्राह्मण धर्म के विविध सम्प्रदायों के समन्वय के अनुधावक लगते हैं। विष्णु को समर्पित एकात्मक विशाल भव्य मन्दिर 54 मीटर लम्बी, 19 मीटर चौड़ी एवं 9 मीटर गहरी चट्टान को तराश कर बनाया गया है। मन्दिर के चारों तरफ अन्य सात लघु मन्दिर हैं, जिनमें स्थापित देवी-देवताओं को देखते हुए लगता है कि यह मन्दिर-स्थापत्य ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित प्रमुख सम्प्रदायों का समन्वित केन्द्र था। लगभग आठवीं सदी में निर्मित मन्दिर को अपनी भव्यता और प्रभुविष्णुता की दृष्टि से मध्यप्रदेश का एलोरा कहा जाता है। मन्दिर के दूसरी ओर लगभग दो मील लम्बी विस्तृत पहाड़ी पर बौद्ध धर्म के हीनयानी महायानी सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करती अनेक बौद्ध गुफाएँ उत्खनित हैं, जिनमें विविध भाव-भंगिमाओं में उत्कीर्ण बुद्ध एवं बौद्ध धर्म से सम्बद्ध मूर्तियाँ, स्तूप आदि मानव-मन को उत्कण्ठित कर देते हैं। दूर-दूर तक फैली वनराशि इन गुफाओं को द्विगुणित कर देती है। कतिपय गुफाओं में चित्रकारी के लक्षण भी विद्यमान हैं। इनमें उत्कीर्ण अलंकरणादि की दृष्टि से बड़ी एवं छोटी कचहरी, कामिनी महल (राजलोक) भीम बाजार, छोटा बाजार, हाथी बंधी गुफा का अपना विशेष महत्त्व है। पर्वत-पृष्ठ पर अगल-बगल मन्दिर स्थापत्य के अन्य अनेक पुरावशेष भी उपलब्ध होते हैं, जिनको देखकर लगता है कि पहले बौद्धों ने इस पर्वत को अपना आश्रय बनाया, कालान्तर में इसके मनहर सौन्दर्य ने ब्राह्मण धर्मावलम्बियों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया। धमनार से लगभग 32 किलोमीटर दूर खेजड़िया भोप नामक स्थान पर भी अनेक बौद्ध गुफाएँ निर्मित थीं, जिनमें से 28 गुफाएँ आज भी प्रायः सुरक्षित हैं।

गरोठ से लगभग 20 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में स्थित पोलाडोंगर भी अपनी पहाड़ियों में निर्मित बौद्ध गुफा के लिए सुख्यात है। लेटराईट पत्थर की क्षरणशील प्रकृति के बावजूद आज भी यहाँ अनेक गुफाएँ सुरक्षित हैं। इस प्रकार खेजड़िया भोप और पोलाडोंगर का यह पूरा का पूरा परिक्षेत्र बौद्ध वर्चस्व की कहानी कहता है। बौद्ध स्थापत्य कला के विकास एवं बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार की प्रक्रिया को समझने के लिए ये गुफाएँ निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृतिक सुषमा से सम्पन्न इन क्षेत्रों को व्यवस्थित कर पर्यटन की दृष्टि से बहुविध उपयोगी बनाया जा सकता है।

मन्दसौर से 100 किलोमीटर दूर स्थित रामपुरा भी सौन्दर्य-सम्पन्न स्थापत्य-कला वाले मन्दिरों के कारण पर्यटकों को आकर्षित करता दिखाई देता है, जिनमें कल्याण राय मन्दिर, लक्ष्मीनारायण मन्दिर, जगदीश मन्दिर, जैन मन्दिर आदि अपनी प्रभुविष्णुता के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं। परोपकारी सन्त बाबा मुल्ला खाँ की दरगाह अपने आकर्षक संगमरमरी गुम्बद के कारण दर्शकों को मुग्ध कर देती है। यहाँ नित्यप्रति सैकड़ों दर्शनार्थी आते हैं। मन्दसौर से लगभग 75 किलोमीटर दूर अरावली पर्वत श्रेणी पर स्थित सुखानन्द शिव मन्दिर भी एक रमणीय तीर्थ-स्थल है।

साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास विषयक शोध में रुचि रखने वालों के लिए मन्दसौर से लगभग 35 किलोमीटर दूर पहाड़ी पर स्थित सीतामऊ अपने नटनागर शोध संस्थान के कारण महत्त्वपूर्ण है। यहाँ दुर्लभ ग्रंथों एवं पाण्डुलिपियों का अनूठा संग्रह है।

नवगठित जिला नीमच के रामपुरा आदि के

भादवा माता मन्दिर (मनासा मार्ग) नीमच

गरुड़ प्रतिमा, जीरण (जिला नीमच)

पार्यटनिक महत्त्व का तो ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है, यह अपने बरूखेड़ा के मन्दिर समूह तथा भादवा माता के मन्दिर के लिए भी ख्यातिलब्ध है। 'भादवा माता मन्दिर' में तो हर समय तीर्थयात्रियों का मेला लगा रहता है। यहाँ के कुण्ड के जल को पोलियो से ग्रस्त रोगियों के लिए रामबाण औषधि माना जाता है। नीमच जिले की जावद तहसील का खोर भी ऐतिहासिक पुरातात्त्विक पर्यटन में अभिरुचि रखने वालों के लिए महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। गुहिलवंशीय शासकों के समय में ललित एवं वास्तुकला की अपूर्व उन्नति हुई। नवतोरण मन्दिर, मोवा मन्दिर, उसके पार्श्व में स्थित जैन मन्दिर, देउर मन्दिर आदि विशेष रूप से दर्शनीय हैं। नीमच जिले के जीरण का भी अपना पर्यटकीय महत्त्व है। यहाँ किलेश्वर महादेव परिसर में निर्मित मुक्ताकाश संग्रहालय अत्यन्त प्रभावोत्पादक कहा जा सकता है। तालाब के उस पर स्थित पञ्च देऊर मन्दिर में स्थापित गरुड़ मूर्ति अपने आप में अद्वितीय है। मन्दिर परिसर में अनेक मूर्त्तियाँ जो पौराणिक बिम्ब प्रतीकों की निदर्शक है, सङ्गृहीत है। मन्दिर के बाहर स्थित छतरियाँ अत्यन्त आकर्षक हैं।

माही, चम्बल, शिप्रा आदि नदियों के जल से सिंचित रतलाम जिला ऐतिहासिक, धार्मिक एवं दृश्यावली–पर्यटन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके बिरमावल, नरसिंहपाड़ा आदि स्थल जहाँ प्रागैतिहास में रुचि रखने वाले इतिहासकारों के आकर्षण के केन्द्र हो सकते हैं, वहीं ढोढर, नगरा, बड़ावदा, सेजावता, शिपावरा, सोनकच्छ, पिपलौदा आदि स्थल ताम्राश्मयुगीन इतिहास में रुचि रखने वालों के लिए रोचक कहे जा सकते हैं। शक एवं गुप्त काल में भी सिपावरा, बिलपाँक एवं बिरमावल जैसे स्थलों में भव्य स्मारकों की स्थापना हुई। बिलपाँक का विरूपाक्ष महादेव मन्दिर परिसर सुविख्यात है। माही तट पर उच्चानगढ़ (गढ़ खरंवई) एक प्राचीन शैव, शाक्त एवं जैन नगर के अवशेषों को प्रस्तुत करता है। परमार काल में रतलाम में शैव, शाक्त, वैष्णव एवं जैन धर्म से सम्बद्ध अनेक मन्दिर स्थापत्य का निर्माण हुआ जो आज पर्यटकों के आकर्षण के महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। रिंगनोद से तो अभी हाल में प्रचुर मात्रा में शैव एवं जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें आदिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि की प्रतिमाएँ अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं। रतलाम जैन धर्मावलम्बियों का प्रमुख स्थल है। यहाँ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदाय के दर्जनों सुन्दर, भव्य एवं आकर्षक मन्दिर हैं। ऐसे मन्दिर निकटवर्ती सागोद, करमदी एवं बिबड़ोद में भी अवस्थित हैं। रतलाम में त्रिवेणी, रणजीत विलास महल, गंगासागर, कालिका मन्दिर, जयन्त विटामिन्स का धार्मिक परिसर, सैलाना मार्ग पर राधाकृष्ण मन्दिर आदि आधुनिक निर्माण भी मन मोहते हैं। सैलाना का कैक्टस व गुलाब उद्यान एवं केदारेश्वर मन्दिर, जावरा की हुसैन टेकरी, आलोट का अनादिकल्पेश्वर महादेव मन्दिर आदि सहित अनेक स्थल भी पर्यटकों की उत्सुक हो प्रतीक्षा करते हैं।

❑

अवन्ती क्षेत्र से उपलब्ध मुद्राएँ : ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. जे. एन. दुबे

पुण्य-सलिला शिप्रा नदी के तट पर प्राचीन काल में कई बस्तियाँ बसी हुई थीं तथा वर्तमान में भी वे विद्यमान हैं। नदी तट पर बसे कई ग्राम व नगर जिनका ऐतिहासिक और धार्मिक महत्त्व प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान काल तक रहा है, उनमें विविध प्रकार के सिक्के क्रय-विक्रय हेतु प्रचलित थे। ये सिक्के आजाद नगर उत्खनन, इन्दौर, उज्जैन के गढ़कालिका और कुम्हार टेकरी उत्खनन और पुरातात्त्विक सर्वेक्षण से प्राप्त हुए हैं। ग्रीष्मकाल में नदी-जल सूख जाने के कारण कई धूल-धोयों से भी ये सिक्के मुद्रा-संग्राहकों के पास पहुँच जाते हैं। इनमें इन्दौर और उज्जैन के कई संग्राहक गिने जा सकते हैं जिनके पास विविध प्रकार के सिक्के (आहत सिक्कों से लेकर मुगल-मराठा काल तक) संग्रहीत हैं। मुद्रा-संग्राहकों में प्रमुख रूप से स्व. परदेशी, अडवानी, डॉ. नागू, इन्दौर और स्व. वि. श्री. वाकणकर, उज्जैन संग्रहालय हैं। इनके अतिरिक्त सर्वश्री राजेन्द्र कुमार सेठी, पद्मसुखा वकील, उमरावसिंह बावेल, दाउलाल जौहरी और शर्मा-शास्त्री संग्रह, इन्दौर में कई सिक्के संग्रहीत हैं। सिक्कों पर पाश्चात्य मुद्रा शास्त्रज्ञों जैसे- कनिंघम, ऐलन, रेप्सन व थियोवॉल्ड और भारतीय विद्वानों में प्रमुख रूप से एच. व्ही. त्रिवेदी, जे. एन. बेनर्जी और वि. श्री. वाकणकर ने सराहनीय कार्य किया है।

इन सिक्कों को विभिन्न धातुओं यथा-चाँदी, ताँबा, सीसा और पोटीन से निर्मित किया गया है। ये विविध आकार, प्रकार के वजन के हैं। इन सिक्कों की अपनी स्थानीय विशेषताएँ हैं। प्रारम्भिक सिक्के लेखरहित हैं, कालान्तर में सिक्कों पर लेखांकन होने लगा और निर्माण पद्धति में भी परिवर्तन होता गया। क्षिप्रातट पर अवस्थित एक प्रमुख स्थल उज्जैन नगर जिसका प्राचीनकाल से ही ऐतिहासिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान रहा है। यहाँ कई शासकों ने इसे राजधानी बनाकर शासन किया, जैसे- चण्डप्रद्योत, मौर्य-शासक अशोक, शुंगशासक, सातवाहन, शक-क्षत्रप, गुप्त, हर्ष, गुर्जर, प्रतिहार, परमार, मुगल, मराठा आदि।

शिप्रा परिक्षेत्र से उपलब्ध इन सिक्कों को कई वर्गों, उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। उनके प्रकार निम्न रूपेण हैं-(1) चाँदी के आहत सिक्के (2) ताँबे के आहत सिक्के (3) चाँदी व ताँबे के ढले सिक्के (4) प्रकृति जगत् (5) पशु जगत् (हाथी, अश्व, वृषभ, सिंह, श्वान) (6) खड़ी मानवाकृति प्रकार (7) देवता, मानवीय रूप (8) दैवी प्रकार (9) लेखयुक्त सिक्के (10) स्थानीय स्वतंत्र शासक (11) शक शासक (12) सातवाहन-क्षत्रप शासक (13) नाग शासक (14) रामगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय (15) वल्लभी (16) जिष्णु (17) ससानियन प्रकार (18) परमार (19) मुगल और (20) मराठाकालीन सिक्के।

प्रथम वर्ग में चाँदी के आहत सिक्के आते हैं जिनके तीन उपवर्ग हैं[1]-

(अ) ये सिक्के अनियमित आकार और एक ओर ही चित्रांकित हैं। इन पर सूर्य, अर्द्धचन्द्र, मकार, त्रिगोल, सिंह, वृषभ, शश, मेंढक और त्रिमत्स्य का अंकन है।

(ब) ये मोटे और गोलाकार हैं। इनके पुरोभाग पर वृत्त, बिन्दुओं तथा मकार का अंकन है।

(स) ये सिक्के वर्गाकार हैं। इन सिक्कों पर प्राय: पाँच चिह्न अंकित मिलते हैं। किरणों से युक्त सूर्य, षड्-मकार चक्र, त्रिकूट (तीन चाप वाला चैत्य), मेंढक, मकार, छेदित त्रिगोल, मानवाकृति, वृक्ष, मछलियाँ और मयूर। वाम भाग पर छेदित त्रिगोल और मयूर अंकित हैं।

दूसरे वर्ग में ताँबे के आहत सिक्के आते हैं।[2] अधिकांश सिक्के आयताकार व कुछ गोलाकार भी हैं। इन सिक्कों के पुरो भाग पर प्राय: पाँच चिह्न अंकित हैं और वाम भाग पर दो या तीन चिह्न। इन सिक्कों के पुरो भाग पर अंकित चिह्न सूर्य, तारा, षड्-मकार चक्र, वेदिका, वृक्ष, चैत्य, वृषभ, शश, मानवाकृति, दण्डधारी, ऊर्ध्वकेशी, त्रिशूल-चक्र, मयूर, छेदित त्रिगोल और उज्जयिनी चिह्न। वाम भाग पर छेदित त्रिगोल, सूर्य, उज्जयिनी चिह्न, पहाड़ी पर मयूर और शश अंकित हैं। इन सिक्कों के अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म आकार के सिक्के[3] भी प्राप्त हुए हैं जिन पर विविध चिह्नों का अंकन है।

तीसरे वर्ग के सिक्कों पर प्रकृति-जगत् पशु-जगत्, विविध मानवाकृतियाँ, देवता का मानवीय रूप तथा दैवी प्रकार का अंकन है। ये सिक्के लेखरहित हैं। इन सिक्कों के कई उपवर्ग हैं। इन सिक्कों का वर्णन निम्नलिखित है-

वर्ग अ: इन सिक्कों के पुरो भाग पर प्रमुखत: वेदिका वृक्ष का अंकन है।[4] अन्य चिह्न त्रिशर-मकार हैं। वाम भाग पर उज्जयिनी का चिह्न अंकित है।

वर्ग ब: पुरोभाग पर बायीं ओर अश्व खड़ा है।[5] उसके ऊर्ध्व भाग पर घुमावदार किरणों से युक्त सूर्य अंकित है। अन्य चिह्न वेदिका वृक्ष है। वाम भाग पर उज्जयिनी चिह्न अंकित है। इसके अन्य उपवर्ग में सूर्य के साथ अर्द्धचन्द्र का भी अंकन किया गया है।

वर्ग स: पशु- इन सिक्कों के पुरोभाग पर हाथी का अंकन[6] वेदिका वृक्ष, अष्टार-चक्र और मत्स्य सरित चिह्न, वाम भाग पर उज्जयिनी या चैत्य चिह्न अंकित है। पुरो भाग पर वृषभ[7], स्वस्तिक और वेदिका वृक्ष अंकित है। वाम भाग पर उज्जयिनी चिह्न एवं दोनों वृत्तों के मध्य स्वस्तिक अंकित है। कतिपय सिक्कों के पुरोभाग पर सिंह[8], वेदिका वृक्ष और निम्न भाग पर बिन्दुओं का अंकन है। वाम भाग पर गतिशील हाथी, दोनों ओर मकार व स्वस्तिक अंकित है। कुछ सिक्कों पर कछुआ अंकित है। मेंढक भी विविध रूपों में चिह्नित है।

वर्ग द: मानव-आकृतियाँ - इन सिक्कों के कई उपवर्ग हैं।[9] इनके पुरोभाग पर एक खड़ी मानवाकृति, वेदिका वृक्ष, निम्न भाग पर नदी का अंकन है। वाम भाग पर कहीं उज्जयिनी का चिह्न और कहीं स्वस्तिक-मकार चिह्न अंकित है।

---

1. उज्जयिनी दर्शन (1957), पृष्ठ
2. इस प्रकार के सिक्के स्व. अडवानी संग्रह, इन्दौर एवं भारती कला भवन संग्रहालय, उज्जैन में संरक्षित हैं। आजाद नगर उत्खनन से भी ये सिक्के प्राप्त हुए हैं।
3. उज्जयिनी दर्शन (1957), पृष्ठ 48
4. क. क्वा. एं. इं. प्लेट 10 क्रमांक 9; एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 243; जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 13, पृष्ठ 74; वही, भाग 16, पृष्ठ 56.
5. एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 243; ग्वा. आ. रि., 1940-41, पृष्ठ 54.
6. एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 261-62; जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 13, पृष्ठ 75; वही, भाग 16, पृष्ठ 179.
7. क. क्वा. एं. इं. पृष्ठ 98; एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 244, 258-259; जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 13, पृष्ठ 207.
8. एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 260.
9. एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 253; क. क्वा. एं. इं. प्लेट 10 मुद्रा क्रमांक 11; जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 2, पृष्ठ 80-81; वही, भाग 16, पृष्ठ 180.

वर्ग इः देवता-मानवीय रूप[10] इस वर्ग के सिक्कों के पुरो भाग पर दाहिनी ओर खड़े सामने देखती हुई देवाकृति, षडर-चक्र, वेदिका वृक्ष, कुछ सिक्कों पर खड़ी हुई देवाकृति के हाथ में शक्ति व कमण्डलु है। कतिपय सिक्को पर त्रिमुख देवाकृति (शिव)[11] उनके दाहिने हाथ में दण्ड और बायें हाथ में कमण्डलु है। अन्य चिह्न अष्टार चक्र, वेदिका वृक्ष और मत्स्य-सरित चिह्न अंकित है। कभी देवता के अंकन के साथ वृषभ दाहिनी ओर खड़ा है, उसका मुँह दण्डधारी की ओर अंकित है। इस प्रकार के एक सिक्के के पुरो भाग पर मध्य में खड़ी देवाकृति, जिसके दाहिने हाथ में सूर्यध्वज तथा बायें हाथ में कमण्डलु है।[12] दाहिनी ओर वृषभ खड़ा है, ऊर्ध्व भाग पर स्वस्तिक व मकार, बायीं ओर वेदिका वृक्ष तथा निम्न भाग पर मत्स्य-सरित चिह्न है। इसके वाम भाग पर उज्जयिनी स्वस्तिक युक्त गोल चिह्न अंकित है। सिक्कों पर शिवलिंग, शिव दण्ड धारण किए हुए, दण्ड-कमण्डलु ध ारण किए हुए वाहन नन्दी सहित, त्रिमुख शिव दण्ड धारण किए हुए अंकित है।[13] पद्मासीन योगी शिव तथा नटराज शिव के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। क्वचित् ताँबे के सिक्कों पर नारी आकृति और उसकी बायीं तरफ एक मानवाकृति अंकित है।[14] इस आकृति के बायीं ओर मकार तथा निम्न भाग पर मत्स्य-कूर्म सरित चिह्न अंकित है। इन आकृतियों को मुद्राशास्त्रवेत्ताओं ने उमा-महेश्वर (कल्याण-सुन्दर) अनुमान किया है। सिक्कों के पुरो भाग पर लक्ष्मी के विविध स्वरूप जैसे-कमलासना लक्ष्मी सम्मुख दृष्टि, गजाभिषेक लक्ष्मी और कमलासना लक्ष्मी, दाहिने हाथ में कमलनाल और बायाँ हाथ जंघा पर स्थित है।[15] इन सिक्कों के वाम भाग पर उज्जयिनी चिह्न है। क्वचित् सिक्कों पर साँची स्तूप के तोरणद्वार सदृश आकृति भी अंकित है।[16]

लेखयुक्त सिक्के :

नगर-नाम वाले सिक्के - ये कई प्रकार के हैं।

पुरो भाग पर सूँड ऊपर उठाए हाथी का अंकन तथा वाम भाग पर ब्राह्मी लिपि में 'उजनियि' लेख है।[17] कुछ सिक्कों के पुरो भाग पर हाथी का अंकन, उज्जयिनी चिह्न, वाम भाग पर ऊर्ध्व भाग में बायीं ओर अष्टार चक्र, दाहिने पंचांगुलांक, दाहिनी ओर वृषभ और सिक्के के निम्न भाग पर ब्राह्मी लिपि में 'उजेनी' लेख है।[18] एक अन्य सिक्के के पुरो भाग पर वस्त्राभूषण धारण किए मानवाकृति बायीं ओर गतिशील, निम्न भाग पर ब्राह्मी लिपि में 'मा-ही-स' (माहिष्मती) लेख अंकित है।[19]

स्थानीय स्वतंत्र शासकों के नाम वाले सिक्के :

रथिमदन नामक शासक के सिक्कों के पुरो भाग पर मध्य में मेरु स्थित वृक्ष, बायीं ओर द्वि-मत्स्य कुण्ड, ऊर्ध्व भाग पर त्रिशर-मकार का कुछ भाग और निम्न भाग में दो समानान्तर पंक्तियों के मध्य अशोककालीन ब्राह्मी लिपि में 'रथि मदनो' (रट्ठी मदन) लेख है।[20] सवितस

---

10. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 17, जिल्द 2, पृष्ठ 45.
11. क. क्वा. एं. इं. पृष्ठ 98; एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 250-251; जॅ. न्यू.सो. इं. भाग पृष्ठ 75, 207; वही, भाग 16, पृष्ठ 181. (इस सिक्के के वाम भाग पर नाग चिह्न अंकित है)।
12. क. क्वा. एं. इं., पृष्ठ 98, प्लेट 10 मुद्रा क्रमांक 13.
13. एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 85, 245-247, 248 एवं 252.
14. एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 257, इं. हि. क्वा., पृष्ठ 723; जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 13, पृष्ठ 75.
15. क. क्वा. एं. इं. पृष्ठ 98; एलन कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा., पृष्ठ 252, 256; जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 16, पृष्ठ 180.
16. चक्रवर्ती, मोनिका-मालवा इन पोस्ट मौर्य पीरियड, पृष्ठ 140.
17. एलन, कॅ. ब्रि. म्यू. क्वा. पृष्ठ 262.
18. क. आ. स. इं., भाग 14, पृष्ठ 148. इस प्रकार के सिक्के महिदपुर से भी मिले हैं।
19. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 13, पृष्ठ 73, मुद्रा क्रमांक 1.
20. इं. न्यू. क्रा., भाग 7, जिल्द 1 व 2 (1969), पृष्ठ 67.
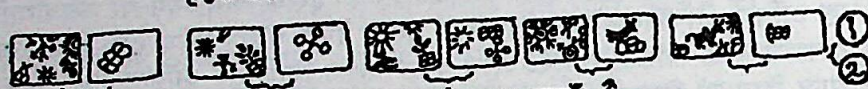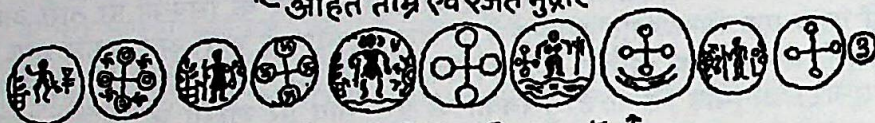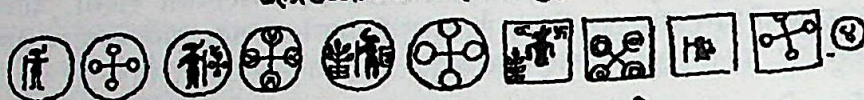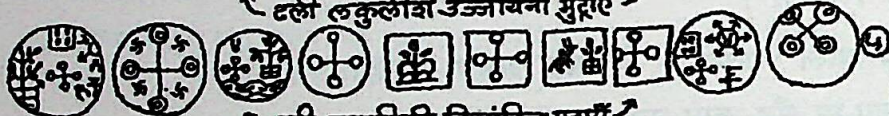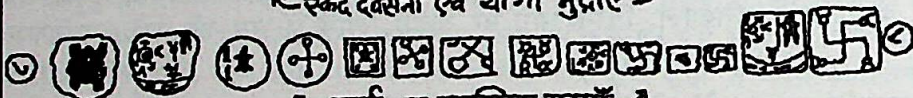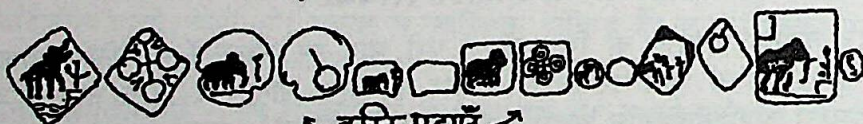
पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. वाकणकर के संग्रहालय भारती कला भवन स्थित वाकणकर शोध संस्थान में संगृहीत मुद्राएँ
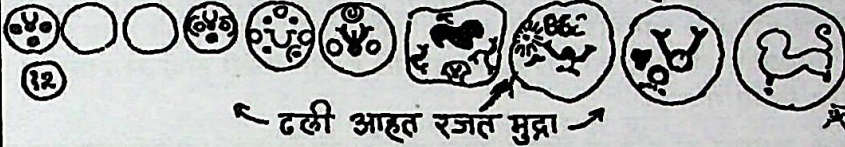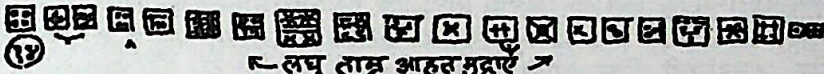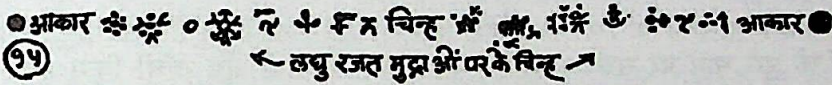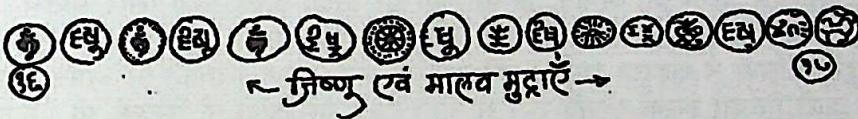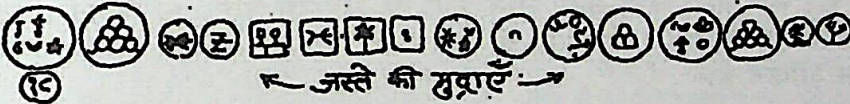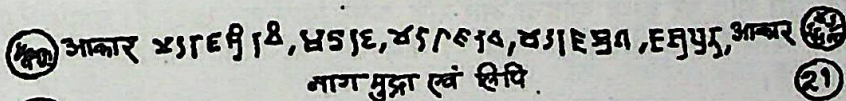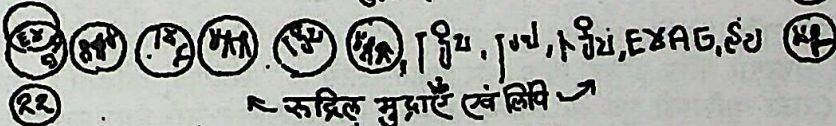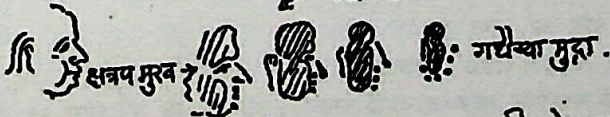
सिक्के के पुरो भाग पर त्रिशर-मकार-चक्र, मीन-कुण्ड तथा वेदिका वृक्ष और निम्न भाग पर ब्राह्मी लिपि में 'सवितस' (सवितृ) लेख है। वाम भाग पर उज्जयिनी द्विगोल चिह्न अंकित है। एक अन्य सिक्के पर दण्ड-कमण्डलु धारण किए शिव, अन्य चिह्न वेदिका वृक्ष और मेरु अंकित है। ब्राह्मी लिपि में 'सवितस' लेख है।[21]

रञो दतस नामक सिक्के के पुरो भाग पर मध्य में वृक्ष का अंकन तथा ऊपर दोनों ओर एक-एक मकार अंकित है। निम्न भाग में ब्राह्मी लिपि में 'रजो दत' (राजा दत्त) लेख है।[22] भूमि मित्र नामांकित सिक्के के पुरो भाग पर पद्मासना लक्ष्मी का अंकन है, ब्राह्मी लिपि में 'भूमि मितस' लेख है। इसी प्रकार दो अन्य शासकों भानुमित्र और महीमित्र के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। [23] नगर राज्य और स्थानीय स्वतंत्र शासकों का तिथिक्रम लगभग ई. पू. तीसरी सदी से लेकर ई. पू. दूसरी सदी तक निर्धारित किया गया है।

प्रारम्भिक शक शासकों के ताँबे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों के पुरो भाग पर प्रथम सदी ई. पू. की ब्राह्मी लिपि में उनके नाम जैसे- हमुगज, बलाक, सउमश, महु और दास अंकित है।[24] इन पर मेंढक, मेरु, उज्जयिनी, चिह्न आदि चिह्न चित्रित हैं।

आन्ध्र-सातवाहन शासकों के सिक्के चाँदी, ताँबे व पोटीन के मिले हैं। गौतमीपुत्र सातकर्णि के ताँबे के सिक्कों के पुरो भाग पर मध्य में बायीं ओर गतिशील हाथी सूँड ऊँची किए हुए, निम्न भाग में चक्र और लहरदार पंक्ति का अंकन, ऊर्ध्व भाग पर ब्राह्मी लेख 'रञो सिरि सातस' अंकित है। वाम भाग पर उज्जयिनी चिह्न, नन्दि पद आदि का अंकन है।[25] पोटीन के सिक्के उपर्युक्त सिक्कों के समान हैं।[26] इस शासक ने क्षहरात शासक को पराजित कर उसके सिक्कों पर अपना ठप्पा लगाकर उन्हें फिर से जारी किया। इसके स्वतंत्र रूप से जारी किए गए चाँदी के सिक्के भी मिलते हैं। इनके पुरो भाग पर छः चापवाला चैत्य और निम्न भाग पर लहरदार पंक्ति का अंकन है। ब्राह्मी लेख ''गौतमी पुत सिरि सातकनस' (गौतमीपुत्र श्री सातकर्णि) उत्कीर्ण है। वाम भाग पर उज्जयिनी चिह्न बिन्दुयुक्त गोल अंकित है।[27]

सातवाहन शासकों के आवक्ष प्रतिभा वाले चाँदी के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। वाशिष्ठीपुत्र पुलमावि के चाँदी के सिक्कों के पुरो भाग पर उसकी आवक्ष प्रतिमा, शीश पर मुकुट धारण किए हुए ब्राह्मी लेख 'राञो वासिती पुतस सिरि पुलमाविस' अंकित है। वाम भाग पर अर्द्धचन्द्रयुक्त छः चापवाला चैत्य और उज्जयिनी चिह्न अंकित है। द्रविड़ भाषा में लेख 'अरहणकु वाहित्ती माकनकु तीरु पुलुमाविकु' अंकित है।[28] स्कन्द सातकर्णि के दो प्रकार के सिक्के मिले हैं। पहला प्रकार पोटीन सिक्का जिसके पुरो भाग पर हाथी दाहिनी ओर सूँड ऊपर किए हुए खड़ा है। ब्राह्मी लिपि में (सर) खड सात (क) शिव स्कन्द सातकर्णि लेख है। वाम भाग पर उज्जयिनी चिह्न, बिन्दुयुक्त गोल पर अर्द्धचन्द्र अंकित है।

दूसरा प्रकार चाँदी के सिक्कों का है जिनके वाम भाग पर अर्द्धचन्द्रयुक्त छः चाप वाला दैत्य, निम्न भाग पर लहरदार पंक्ति द्रविड़ भाषा और ब्राह्मी लिपि में 'अरहणकु वाहित्ती माकनकु हर खड हातकणिकु' (राज्ञो वाशिष्ठी पुत्र श्री स्कन्द सातकर्णि) लेख है।[29] पुरो भाग पर अंकित राजा की

21. -वही, पृष्ठ 67.
22. -वही, पृष्ठ 67; जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 32, पृष्ठ 77.
23. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 41, जिल्द 1 व 2 (1979) पृष्ठ 38.
24. वाजपेयी, कृष्णदत्त, न्यूली डिस्कवर्ड क्वायन्स ऑफ द अर्ली शकाज़, जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 28, पृष्ठ 46-50.
25. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 15, जिल्द 2 (1953) पृष्ठ 6, 210.
26. - वही - भाग 46, जिल्द 1 व 2 (1984) पृष्ठ 34-36.
27. - वही - भाग 8, पृष्ठ 111-113, प्लेट 7, क्रमांक 5.
28. जर्नल ऑफ द एकेडमी ऑफ इण्डियन न्यूस्मेटिक एण्ड सिग्लोग्रॉफी (iii) पृष्ठ 6.
29. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 48, जिल्द 1 व 2 (1986) पृष्ठ 26-29. इस प्रकार के सिक्के श्री गोपालदास मंगलजी संग्रह और स्व. डॉ. नागू संग्रह, इन्दौर में संरक्षित हैं।

आवक्ष प्रतिमा और लेख अस्पष्ट है। गौतमीपुत्र यज्ञ श्री सातकर्णि के चाँदी के सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनके पुरो भाग पर राजा की आवक्ष प्रतिमा दाहिनी ओर शीश पंचशिखायुक्त सिर के अग्र भाग में चूड़ामणि, कान में कुण्डल, ब्राह्मी लिपि में 'गोतम पुतस स रञो' लेख है। वाम भाग पर दाहिनी ओर अर्द्धचन्द्रयुक्त छः चापवाला चैत्य, बायीं ओर बिन्दुयुक्त उज्जयिनी गोल, निम्न भाग में लहरदार पंक्ति का अंकन, द्रविड़ भाषा और ब्राह्मी लिपि में (अरह) णकु गोतमी पुतकू हिरू' (राज्ञो गोतमीपुत्र श्री यज्ञ सातकर्णि) लेख है।[30]

विजयक नामक शासक के सिक्के भी दो प्रकार के हैं। पहला प्रकार जिसके पुरो भाग पर दाहिनी ओर खड़ा हुआ वृषभ, निम्न भाग में दाहिनी ओर स्वस्तिक तथा बायीं ओर मकार ब्राह्मी लेख 'विजयक' अंकित है। वाम भाग में द्वि-गोल उज्जयिनी चिह्न अंकित है। दूसरे प्रकार के सिक्के पर राजा की आवक्ष प्रतिमा और ब्राह्मी में 'विजयक' लेख है।[31] क्षहरात वंश के दो शासकों भूमक व नहपान के सिक्कों में भूमक के ताँबे के सिक्कों के पुरो भाग पर बाण, वज्र और खरोष्ठी लेख 'छहर दस क्षत्रपस भूमकस' हैं।[32] वाम भाग पर सिंह स्तम्भ शीर्ष व धर्मचक्र तथा ब्राह्मी में 'क्षहरातस क्षत्रपस भूमकस' लेख है। नहपान के चाँदी के सिक्कों के पुरो भाग पर उसकी आवक्ष प्रतिमा यूनानी लेख 'नहपानस' है। वाम भाग पर बाण, वज्र और चक्र ब्राह्मी लिपि में 'राज्ञो क्षहरातस नहपानस' और खरोष्ठी लिपि में 'राञो छहरतस नहपनस' लेख है।[33]

पश्चिमी भारत में शासन करने वाले विदेशी आक्रामक कार्दमक शक-क्षत्रप शासकों के चाँदी, ताँबे, पोटीन और शीशे के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। इन शासकों का संघर्ष निरन्तर आन्ध्र-सातवाहन शासकों से चलता रहा। इस वंश के संस्थापक चष्टन के चाँदी के सिक्कों के पुरो भाग पर उसकी आवक्ष प्रतिमा, वाम भाग पर अर्द्धचन्द्रयुक्त छः चाप वाला चैत्य, दाहिनी ओर सूर्य तथा बायीं ओर अर्द्ध चन्द्र का अंकन है। ब्राह्मी लिपि में 'राज्ञो महाक्षत्रपस घसमोतिक पुत्रस चष्टनस' लेख है।[34]

प्रथम रुद्रसिंह के चाँदी के सिक्के भी आवक्ष प्रतिमायुक्त हैं।[35] इसके पोटीन के सिक्कों के पुरो भाग पर ककुदमान वृषभ और ऊर्ध्व भाग पर तिथि का अंकन, वाम भाग पर अर्द्धचन्द्रयुक्त तीन चाप वाला चैत्य और ब्राह्मी में 'राज्ञो महाक्षत्रपस रुद्रसींहस' लेख है।[36] जीवदामन के भी इसी प्रकार के पोटीन के सिक्के मिले हैं।[37] प्रथम रुद्रसेन के पोटीन-सिक्कों के पुरो भाग पर दाहिनी ओर खड़ा हुआ हाथी, दाहिने अर्द्धचन्द्र, बायें तारा चिह्न, तिथि का अंकन है। वाम भाग पर अर्द्धचन्द्रयुक्त तीन चाप वाला चैत्य अंकित है।[38] प्रथम रुद्रसेन के कई पोटीन-सिक्के भी इसी प्रकार के हैं। दामसेन ने भी इसी परम्परा में अपने पोटीन के सिक्के जारी किए।

शक-क्षत्रप वंश के सभी शासकों के चाँदी के सिक्कों की यह विशेषता है कि इनके पुरो भाग पर शासक की आवक्ष प्रतिमा तथा जीवदामन के शासनकाल से तिथियाँ अंकित मिलती हैं। वाम भाग पर निरन्तर एक ही चिह्न अर्द्धचन्द्र युक्त तीन चाप वाला चैत्य, दाहिनी ओर सूर्य तथा बायीं ओर अर्द्धचन्द्र का अंकन तथा निम्न भाग पर लहरदार पंक्ति का अंकन है।

---

30. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 48, जिल्द 1 व 2 (1986) पृष्ठ 28. इस प्रकार के चाँदी के सिक्के भारती कला भवन, उज्जैन (वर्तमान वाकणकर न्यास) में संरक्षित हैं।
31. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 46, जिल्द 1 व 2 (1984) पृष्ठ 34 से 36.
32. - वही - भाग 17, जिल्द प्रथम (1955) पृष्ठ 92.
33. नहमान के चाँदी के सिक्के भारती कला भवन, उज्जैन (वर्तमान वाकणकर न्यास) में संरक्षित हैं।
34. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 14, जिल्द प्रथम (1952) पृष्ठ 20. इस प्रकार के चाँदी के सिक्के स्व. अॅडवानी संग्रह, इन्दौर में संरक्षित हैं।
35. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 13, पृष्ठ 213.
36. रेप्सन, कॅटलाग, ब्रि. म्यू. स्वा. आ. वे. क्ष., पृष्ठ 94, मुद्रा क्रमांक 325.
37. लेफ्टि. कोनोली को उज्जैन से प्राप्त, प्रिंसेप, ऐसे ऑन इण्डियन एण्टिक्विटीज़ (लन्दन, 1858), भाग 2, पृष्ठ 86.
38. रेप्सन, कॅटलाग ब्रि. म्यू. क्वा. आ. वे. क्ष., पृष्ठ 105; जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 38, जिल्द प्रथम (1976) पृष्ठ 41.

एक अन्य शासक ईश्वरदत्त के चाँदी के सिक्के के पुरो भाग पर उसकी आवक्ष प्रतिमा एवं तिथि शक संवत् 154 (232 ई.) एवं वाम भाग पर अर्द्धचन्द्रयुक्त तीन चाप वाला चैत्य, ब्राह्मी में 'राज्ञो महाक्षत्रपस ईश्वरदत्तस वर्षे चतुर्थे' लेख अंकित है।[39] यह सिक्का प्राचीन भारत में सर्वप्रथम है जिसमें शासक की तिथि एवं उसका राज्य वर्ष अंकित है। नागवंश के शासकों में प्रमुख रूप से रवि नाग, भव नाग, पद्माकर नाग, स्कन्द नाग और गणपति नाग के सिक्के मिले हैं।[40] ये सिक्के ताँबे के निर्मित एवं आकार में बहुत छोटे हैं। इनके पुरो भाग में वृषभ आकृति (नन्दी) अंकित है। ब्राह्मी लिपि में इनके नाम वाम भाग पर उत्कीर्ण हैं। इन नागवंश के शासकों पर डॉ. एच. व्ही. त्रिवेदी ने 'ए कॅटलॉग ऑफ दि क्वायन्स- नाग किंग्स ऑफ पद्मावती' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

मालवगण के ताँबे के छोटे आकार के सिक्के जो नागवंश के शासकों के ही समान हैं। इन सिक्कों के पुरो भाग पर ब्राह्मी लिपि में नाम मगज, पसम, मयक जमक और यम अंकित है। वाम भाग पर हस्ति, वृषभ का प्रमुख रूप से अंकन है। ये सिक्के प्रथम सदी ई. से चौथी सदी ई. तक के हैं।[41]

गुप्त वंश के शासक रामगुप्त के ताँबे के सिक्के जिनके पुरो भाग पर ब्राह्मी में 'रामगु मगु' लेख अंकित है, इनके वाम भाग पर प्रमुख रूप से सिंह का अंकन मिलता है[42] इस सम्पूर्ण क्षेत्र से स्व. नारायण भाटी को केवल एक सिक्का गुप्त वंश के सम्राट द्वितीय चन्द्रगुप्त का सर्वेक्षण से प्राप्त हुआ है। यह सिक्का ब्रान्ज निर्मित है। इसके पुरो भाग पर चन्द्रगुप्त खड़ा हुआ है, उसके बायें हाथ में धनुष और दाहिने हाथ में बाण है (धनुर्धर प्रकार)। ब्राह्मी में बायें हाथ के नीचे 'चन्द्र लेख है। वाम भाग पर पद्मासना लक्ष्मी दाहिने हाथ में कमलनाल और बायाँ हाथ जंघा पर स्थित है। ब्राह्मी में 'श्री विक्रमः' लेख है।

माहिष्मती के कलचुरि शासक कृष्णराज के सिक्के, जिनके पुरो भाग पर उसकी आवक्ष प्रतिमा का अंकन है, वाम भाग पर त्रिशूल-परशु अंकित है और ब्राह्मी लेख 'महाराजाधिराज परम माहेश्वर कृष्णराज' है, प्राप्त हुए हैं।

जिष्णु नामक शासक के ताँबे के छोटे आकार के सिक्कों पर उसका नाम ब्राह्मी लिपि में 'जिष्णु' और वाम भाग पर या तो चक्र या शंख का अंकन है अथवा रिक्त है।[43] ये सिक्के लगभग पाँचवीं सदी में रखे जा सकते हैं। इण्डो-सासनियन सिक्के भी प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। इनके पुरो भाग पर राजा की आकृति विकृत रूप में अंकित है। वाम भाग पर सिक्कों के मध्य अग्नि-कुण्ड और दोनों ओर एक-एक पहरेदार अंकित है।

परमार शासकों (नवी सदी ई. से तेरहवीं सदी ई. तक) ने कलचुरि शासक गांगेय देव के अनुकरण पर सोने के सिक्के जारी किए। इन सिक्कों के पुरो भाग पर पद्मासना लक्ष्मी का अंकन है और वाम भाग पर तीन पंक्तियों में परमार शासक 'श्रीमन्नरवर्मदेव अथवा श्रीमद् उदयदेव' का नाम नागरी लिपि में अंकित है।[44] अजय देव के चाँदी के सिक्के भी पद्मासना लक्ष्मी प्रकार के हैं। एक सिक्के पर एच. व्ही. त्रिवेदी ने तेरहवीं शती के अक्षरों में राजा का नाम 'अर्जुन' पढ़ा है।[45]

अकबर के शासनकाल में उज्जैन में सोने के सिक्के ढालने हेतु एक नई टकसाल की स्थापना की गई थी। इस टकसाल से हिजरी संवत् 988 की वर्गाकार मुहर जारी की गई थी। यहाँ से चाँदी

39. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 40, जिल्द 1 व 2 (1978) पृष्ठ 34.
40. ताँबे के नागवंश के शासकों के सिक्के भारती कला भवन, उज्जैन (वर्तमान वाकणकर न्यास) में संरक्षित हैं।
41. आ. इं. ओ. कॉ, लखनऊ, 1954 में प्रकाशित आलेख। इसमें पीपल खोदरा, उज्जैन से मालवगण के सिक्के प्राप्त हुए हैं।
42. इस प्रकार के ताँबे के सिक्के भारती कला भवन, उज्जैन (वर्तमान वाकणकर न्यास) में संरक्षित हैं।
43. जॅ. न्यू. सो. इं. भाग 16, जिल्द प्रथम (1954) पृष्ठ 105-106.
44. -वही - भाग 30, पृष्ठ 208. श्री नरवर्म देव का एक सोने का सिक्का श्री पद्मसिंह संग्रह व दूसरा चाँदी का सिक्का श्री शान्तिलाल परदेशी संग्रह, इन्दौर में संग्रहीत है। उदय देव नामक शासक का सिक्का न्यू. स. , भाग 36, पृष्ठ 84 पर प्रकाशित हुआ है। ये सिक्के पद्मासना लक्ष्मी प्रकार के हैं।

के सिक्के भी जारी किए गए थे जिन पर नगर का नाम उज्जैनपुर भी उत्कीर्ण किया गया था।[46] जहाँगीर ने यहाँ चाँदी के सिक्के ढालने की टकसाल स्थापित करवाई थी जिसमें सौ ग्रेन वजन के आयताकार ताँबे के सिक्के ढाले जाते थे जिन पर तिथि का अंकन नहीं है। उसके शासनकाल में यहाँ चाँदी के सिक्के भी ढाले गए। शाहजहाँ के हिजरी संवत् 1039 के चाँदी के रुपये भी यहाँ की टकसाल में ढाले गये। इन सिक्कों पर टकसाल स्थान का नाम 'बलदत्त-उज्जैन' अंकित है। औरंगजेब के राज्यकाल में यहाँ ढाले गये सिक्कों पर उपाधि 'दारुलफत' अंकित है।[47]

अहमदशाह के शासनकाल में यह क्षेत्र सिंधिया राजवंश के अधिकार में आ गया। इस काल में प्रचलित सिक्कों को भी मुगल सिक्का कहा जाता है।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में यहाँ चाँदी व ताँबे के सिक्के प्रचलित थे। शिन्दे राजवंश की एक टकसाल महादजी सिंधिया के समय उज्जैन में स्थापित की गई थी।[48] महिदपुर भी होलकर शासकों के राज्यान्तर्गत एक जिला था। शिन्दे राज्य द्वारा निर्गमित रुपया चाँदी का होता था और 'हाली' कहलाता था। ताँबे के सिक्कों के विभाजन में एक आना, आधा आना और पाव आना था। यह सिक्का सोलह आने का होता था। सिक्कों के निर्माण में धातु की शुद्धता का ध्यान रखा जाता था। इनका वजन भी निश्चित था। इन सिक्कों के पुरो भाग पर राजा की आवक्ष प्रतिमा का अंकन, उनका नाम, उपाधि तथा स्थान का नाम ग्वालियर (ग्वालियर) टंकित रहता है। वाम भाग पर सिक्कों का मूल्य तथा उनके जारी होने का संवत् और मध्य में राज्य चिह्न अंकित रहता था।

इन सिक्कों के आधार पर शिप्रा परिक्षेत्र में समकालीन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का आकलन किया जा सकता है। प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण में सिक्के अत्यधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। इन सिक्कों पर अंकित चिह्नों का किसी-न-किसी राजवंश से निश्चित ही सम्बन्ध रहा है। जिन सिक्कों पर 'मेरु' चिह्न है, उन्हें परमेश्वरीलाल गुप्त ने नन्द वंश से सम्बन्धित माना है।[49] 'चन्द्र' व 'मेरु' अंकित सिक्कों को काशीप्रसाद जायसवाल ने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा प्रसारित किया गया माना है। चन्द्रगुप्त ने ही नन्दों के 'मेरु' प्रकार के सिक्कों को अर्द्धचन्द्रयुक्त किया और सिक्के निर्माण करने का अधिकार शासन के अन्तर्गत ले लिया।

उज्जयिनी नगर नामांकित सिक्कों से यह प्रकट होता है कि यहाँ कोई स्वायत्तशासी संस्था रही हो जिसने नगर-राज्य प्रकार के सिक्के जारी किए। ये सिक्के उज्जयिनी की सीमा के अन्तर्गत ही मिलते हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् इस क्षेत्र में स्थानीय स्वतंत्र शासकों जैसे रट्ठी मदन, राजा दत्त, सवितृ, महीमित्र और भूमिमित्र के सिक्के मिलते हैं। इन स्थानीय स्वतंत्र शासकों का संघर्ष विदेशी शक शासकों से हुआ होगा जिनके नामांकित सिक्के (यथा हमुगम, बलाक, दास, महु और सउमश) इस क्षेत्र में मिलते हैं। ये सिक्के प्रथम सदी ई. पू. के हैं।

आन्ध्र-सातवाहन और पश्चिमी कार्दमक शक-क्षत्रपों के सिक्के इस क्षेत्र में बहुल मात्रा में मिलते हैं। पश्चिमी शक-क्षत्रप शासकों ने उज्जयिनी को राजधानी बनाकर लगभग 250 वर्षों तक लगातार शासन किया। इन शासकों ने तिथिक्रम युक्त सिक्के जारी किए व उन पर अपने पिता की उपाधि, उनका नाम तथा अपनी उपाधि और नाम का अंकन करवाया। तिथिक्रम व नामों के अंकन से केवल सिक्कों के द्वारा उनकी वंशावलि का निर्माण किया जा सकता है।

नाग शासकों ने भी कुछ समय तक इस क्षेत्र पर शासन किया। नाग वंश के प्रतापी शासक गणपति नाग को 'भावशतक' में 'धाराधीश' कहा गया है। गणपति नाग का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में आया है, जहाँ इसका समूल रूप से उच्छेद करने के विवरण है। गुप्त शासक

45. कनिंघम अलेक्ज़ेण्डर, आ. स. इं. डि. 10, पृष्ठ 26.
46. सी. आर. सिंघल, मिन्ट टाउन्स ऑफ मुगल इण्डिया, पृष्ठ 1 व 2. जं. न्यू. सो. इं. भाग 6, जिल्द 1, पृष्ठ 68.
47. सी. आर. सिंघल, मिन्ट टाउन्स ऑफ मुगल इण्डिया, पृष्ठ 5 व 6.
48. जॉन मालकम, ए मेमायर ऑफ सेन्ट्रल इण्डिया एण्ड मालवा, भाग 2, पृष्ठ 80-6।
49. ज. न्यू. सो. इं. भाग 11, पृष्ठ 4 से 46.

समुद्रगुप्त के ताँबे के सिक्कों की उपलब्धि से यह प्रकट होता है कि कुछ काल तक उसने इस क्षेत्र पर राज्यपाल के रूप में शासन किया।

पूर्व मध्यकाल में इस क्षेत्र में इण्डो-सासानियन सिक्के जारी रहे। परमार शासकों के आधिपत्य में यह क्षेत्र दीर्घकाल तक रहा किन्तु उनके सिक्के बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हैं।

मुगलकाल में मालवा के अन्तर्गत प्रमुख रूप से उज्जयिनी उनका सूबा रहा। अकबर से लेकर औरंगजेब तक यहाँ उनके सिक्के ढालने की टकसाल रही। यहाँ सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के ढलते रहे। मराठाकाल में उज्जयिनी राजधानी रही। यहाँ सिक्कों को ढालने की टकसाल रही।

धार्मिक दृष्टि से इस परिक्षेत्र के सिक्कों का यदि गहन अध्ययन किया जाए तो यहाँ पर विविध सम्प्रदायों के अस्तित्व का आभास होता है। शैव धर्म का ज्ञान तो यहाँ से प्राप्त तीसरी सदी ई.पू. के सिक्कों से होता है, जिन पर शिवलिंग, दण्ड धारण किए हुए शिव, दण्ड-कमण्डलु धारण जटायुक्त शिव, उनके वाहन नन्दीयुक्त शिव, त्रिमुख शिव दण्ड-कमण्डलु धारण किए, योगी रूप और नटराज रूप में अंकन है। प्राचीन भारत में सर्वप्रथम यहीं से प्राप्त सिक्कों पर शिव का विविध रूपों में अंकन है। नाग वंश के शासकों के सिक्कों पर वृषभ का अंकन है। यह परम्परा मराठाकाल तक प्रचलित रही।

वैष्णव धर्म का आभास भी लगभग तीसरी सदी ई. पू. से होता है। इस काल के सिक्कों पर लक्ष्मी का अंकन जैसे-पद्मासना लक्ष्मी, गजाभिषेक लक्ष्मी, चक्र व शंख मिलता है। जिष्णु नामक शासक के सिक्कों पर चक्र व शंख का अंकन है। परमार शासकों के सिक्कों पर प्रमुख रूप से पद्मासना चतुर्भुज लक्ष्मी का अंकन किया गया है। अतएव प्रारम्भ से लेकर परमार काल तक शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव धर्म भी प्रचलित रहा, उसका प्रमाण इन सिक्कों से मिलता है।

आर्थिक दृष्टि से इस परिक्षेत्र की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। दक्षिणापथ से जाने वाला मार्ग उज्जैन से होकर जाता था। उज्जैन यातायात का एक प्रमुख केन्द्र था। उज्जयिनी चिह्न सेवकों से यह प्रतीत होता है कि इस नगर के चारों ओर मार्ग थे। व्यापारियों का निवास स्थल भी यह रहा है जिसकी पुष्टि वेदिका वृक्ष से अंकित सिक्कों से होती है। यह राजमार्ग से युक्त था और दूरस्थ व्यापार केन्द्रों से राजमार्गों से जुड़ा था। पाटलिपुत्र एवं उत्तर भारत के प्रमुख नगरों को दक्षिण भारत के सुप्पारक, प्रतिष्ठान एवं भृगुकच्छ जैसे सुप्रसिद्ध व्यापार केन्द्रों को जाने वाला मार्ग विदिशा और उज्जैन होकर था। आन्ध्र-सातवाहन शासकों और पश्चिमी शक-क्षत्रप शासकों के संघर्ष से भी यह प्रमाणित होता है कि यह परिक्षेत्र व्यापार-व्यवसाय की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। यहाँ ग्रीको-रोमन बुलें भी प्राप्त हुई हैं जिससे विदेशी व्यापार का पता चलता है।

सिक्के समाज में व्यक्ति के स्थान तथा आर्थिक स्थिति के द्योतक हैं। सिक्कों की उत्पत्ति और प्रचलन में मानव ने किस प्रकार या कितना योगदान दिया, इससे उनकी मानसिक तथा व्यावहारिक स्थिति का विशेष ज्ञान होता है। सामाजिक प्रगति के साथ सिक्कों के आकार-प्रकार, चिह्न आदि सम्बन्धित होते हैं, जैसे-उज्जयिनी, शिव (महाकाल) प्रकार के सिक्के इस परिक्षेत्र के समाज की अभिरुचि का स्पष्ट प्रमाण हैं। धातु के मूल्यवान होने के कारण कुछ काल-विशेष में लघ्वाकारित और कम मूल्य के सिक्के जारी किए गए हों जिससे जनता को प्रतिदिन के लेन-देन में सुविधा प्राप्त हो सके।

❑

द्वितीय खण्ड

अवन्ती : धर्म, दर्शन एवं संस्कृति

सम्पादक
डॉ.भगवतीलाल राजपुरोहित

प्राचीन वाङ्मय में अवन्ती

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

अवन्ती क्षेत्र भारत की हृदयस्थली है। चारों दिशाओं से मार्ग यहाँ आकर मिलते थे। इस प्रकार यह क्षेत्र देश का चौराहा था। सब ओर के सब प्रकार के लोग यहाँ आकर मिलते थे। इस भूमि की रमणीयता, पौराणिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, व्यावसायिक, कलागत एवं साहित्यिक समृद्धि से आकर्षित होकर भी लोग आते थे और प्रायः यहीं के होकर रह जाते थे। चले भी जाते थे तो इसे बिसार नहीं पाते थे। इस प्रकार जब वे कोई रचना करने बैठते तो किसी-न-किसी बहाने उज्जैन, अवन्ती और मालवा उनकी रचनाओं में उपस्थित हो जाता था। यहाँ तक कि कई बार तो इस क्षेत्र की कभी यात्रा न करने वाले भी इस भूमि से इतने आकृष्ट होते रहे कि दूर बैठे कल्पना से ही इसका वर्णन करने का लोभ संवरण नहीं कर पाते थे। इसका एक उदाहरण तो पिछली सदी का ही है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर कभी उज्जैन नहीं आए, परन्तु उन्होंने उज्जैन पर आकर्षक कविता अवश्य रची।

पौराणिक साहित्य तो अवन्ती की महिमा गाते अघाता नहीं है। स्कन्द पुराण में तो एक पूरा अवन्ती खण्ड ही है जिसमें अवन्ती के चप्पे-चप्पे के धार्मिक महत्त्व को उजागर किया गया है। पौराणिक साहित्य के कारण धार्मिक परम्पराएँ इस नगरी के साथ जुड़ती गईं और बढ़ती गईं। फलतः यह पूर्णतया धर्मनगरी बन गई।

ज्योतिष के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सूर्यसिद्धान्त' में बताया गया कि लंका, अवन्ती, रोहतक, कुरुक्षेत्र तथा मेरु को जोड़ने वाली मध्य रेखा है और इनका सूर्योदय समय भी एक ही है।

राक्षसालयदेवौकशैलयोर्मध्यसूत्रगाः।
रोहीतकमवन्ती च यथा सन्निहितं सरः।। 1/62।।

भास्कराचार्य ने अपने 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ (गोलाध्याय) में भी इस तथ्य की पुष्टि की है। अवन्ती की ज्योतिर्गणित की यह परम्परापुष्ट महत्ता सतत रही है और इसकी यह प्रसिद्धि देश-विदेश तक पहुँची है। इसलिए अरबी में उजीन भूकेन्द्र के अर्थ में प्रचलित शब्द है। वराहमिहिर का वंश ज्योतिष् के क्षेत्र में उज्जैन-कायथा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकार के रूप में प्रसिद्ध है। राजा भोज ने कितने ही ज्योतिर्विषयक ग्रन्थों की रचना की। अठारहवीं सदी में ज्योतिर्विद् राजा जयसिंह ने उज्जैन में वेधशाला का निर्माण करवाया जो अब भी सक्रिय है, वहीं उनके नाम से जयसिंहपुरा भी बसा हुआ है।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय के 16 महाजनपदों में उज्जयिनी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत का राजपुरोहित महाकच्चान या महाकात्यायन अवन्ती में बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण प्रचारक सिद्ध हुआ। इसी समय की इसिदासी (ऋषिदासी) इस क्षेत्र की प्रसिद्ध थेरी हुई, जिसकी गाथाएँ आज भी सुलभ हैं।

पूर्वोक्त कात्यायन ही तो वह नहीं था जिसने अष्टाध्यायी पर वार्तिकों की रचना की थी! कात्यायन वररुचि की भी दूसरी संज्ञा है। वररुचि प्रसिद्ध विद्वान् और कवि हो गया है। वररुचि का काव्य पढ़कर तब के लोग भी कवि बन जाते थे। पालि साहित्य में अवन्ती सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ और कथाएँ हैं। इसी प्रकार जैन साहित्य ने भी उज्जयिनी, अवन्ती और मालवा की प्रसिद्धि में कम योगदान नहीं किया। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश-सर्वत्र उज्जयिनी-अवन्ती केन्द्रित प्रसंगों की विपुलता है।

कौटिल्य, वात्स्यायन, पाणिनि, पतंजलि आदि शास्त्रकारों ने अवन्ती के मौसम, वातावरण, मानव-प्रवृत्तियों तथा स्थितियों पर प्रकाश डाला है। कौटिल्य के अनुसार अवन्ती में 23 द्रोण अर्थात् 46 इंच वर्षा होती थी। पतंजलि के अनुसार उज्जैन से महेश्वर का मार्ग एक रात का था। वात्स्यायन के अनुसार अवन्ती और मालवा की नारियों के शृंगार की अपनी विशेषताएँ थीं।

बृहत्कथा का रचनाकेन्द्र अवन्ती क्षेत्र था। उसमें उज्जयिनी का परिवेश विस्तार से उपस्थित है। वहाँ यह भी बताया गया है कि विभिन्न चारों युगों में उज्जयिनी के क्रमशः अलग-अलग नाम थे-कुशस्थली, पद्मावती, अम्बिका और उज्जयिनी। ये बस्ती के विकास और उसके गुण के अनुसार विभिन्न मोहल्लों के नाम होंगे।

भास ने अपने तीन नाटकों का केन्द्र अवन्ती को बनाया है। चारुदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण में प्रमुख तथा स्वप्नवासवदत्ता नाटक में भी अवन्ती को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इन नाटकों से प्रद्योतयुगीन उदयन-वासवदत्ता की सुप्रसिद्ध और लोकप्रिय कथाओं तथा तत्कालीन वातावरण की अनुगूँज सुनाई देती है। चारुदत्त नाटक का विस्तार शूद्रक के मृच्छकटिक में तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण का विस्तार वीणावासवदत्ता नाटक में पाया जाता है। भास से अनुप्रेरित कितने ही नाटक और ग्रन्थ लिखे गये। यहाँ तक कि प्रतिज्ञायौगन्धरायण के श्लोक तथा छद्म हाथी से उदयन को बंदी बनाने की घटना कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी रेखांकित हुई है। शूद्रक के पद्म-प्राभृतक और श्यामिलक के पादताडितक भाण में अवन्ती और उज्जैन के बहुविध रूपों के दर्शन होते हैं। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक पाषण्डों को इनमें उजागर किया गया है। अनंगहर्ष का तापसवत्सराज और हर्ष की रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नाटिकाएँ भी उदयन-वासवदत्ता की कहानी कहती हैं। इस लोकप्रिय कथा का ही वितान है गुणाढ्य की बृहत्कथा, जिसके कई संस्कृत रूपान्तर परवर्ती काल में होते रहे।

स्वप्नवासवदत्ता नाटक में कहा गया है कि उज्जयिनी नगरी में स्नान के लिए अनेक रमणीय जलाशय या जलस्थान थे- "अस्ति नगरी उज्जयिनी नाम। तत्र अधिकरमणीयानि उदकस्नानानि वर्तन्ते किल।" (अंक 5) उस युग से आज की स्थिति सर्वथा विपरीत होती जा रही है। उन पौराणिक और ऐतिहासिक नदियों तथा जलाशयों का योजनाबद्ध लोप होता चला गया और अब पानी की गुहार की जाने लगी है।

मृच्छकटिक तथा रघुवंश से ज्ञात होता है कि शिप्रा के तट पर और उज्जयिनी के आसपास उद्यानों का सिलसिला था-

सिप्रातरंगानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु। (रघुवंश, 6/35)

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक विद्यमान उद्यानों की वह विपुलता भी अब क्षीण हो गई है।

महाकवि कालिदास ने अवन्तीनाथ की सन्तुलित और मनोहर शरीरयष्टि का उल्लेख करते हुए बताया है कि उसका प्रासाद महाकाल मन्दिर के निकट ही था। इस राजा की अश्वसेना विशाल थी। मेघदूत में कवि का अवन्ती जनपद के प्रति विशेष लगाव द्योतित होता है। वक्र पंथ होने पर भी उज्जयिनी अवश्य जाने का आग्रह मेघ से किया जाता है-

वक्रः पंथा यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौरांगनानां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लौचनैर्वंचितोसि ॥27॥

तब मालवा की सिन्धु (कालीसिन्ध)[1] नदी पार करते ही अवन्ती जनपद में प्रवेश करने का संकेत किया जाता है जहाँ के ग्रामवृद्ध उदयन कथा कहने में दक्ष हैं। यह प्रदेश स्वर्ग से अल्प फल के कारण धरती पर आते पुण्यशाली लोगों के शेष पुण्य के बल अपने साथ लाया गया स्वर्ग का एक कान्तिमान् खण्ड है।

प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥30॥

धन-लक्ष्मी से सम्पन्न तथा श्रीविशाल प्रकार के भवनों से अलंकृत वह नगरी उज्जयिनी है। उज्जयिनी की सम्पन्नता, वीरता और ऐतिहासिक महत्ता के साथ ही शिप्रा के मनहर पवन की भी कवि ने प्रशंसा की है-

सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः।

महाकाल मन्दिर के निकट के उद्यान से सटी गन्धवती का बहना और सान्ध्य आरती में नौबत की आवाज, महाकाल के प्रांगण में वैश्याओं का नर्तन और नटराज नृत्य-शिवजी की बहुभुज प्रतिमा पर सान्ध्य प्रकाश- इन सब दृश्यों का मनहन रूपांकर किया है कालिदास ने।

बाणभट्ट ने अपनी विख्यात कृति 'कादम्बरी' में अवन्ती और उज्जयिनी का भव्य स्वरूप प्रस्तुत किया है। उसमें शिप्रा में स्नान करती मालवी युवतियों, महाकाल का अर्चन, नागरिकों की विशेषताएँ, परिवेश, शैक्षणिक उदात्तता आदि पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत हुआ है। 'हर्षचरित' और दण्डी के 'दशकुमारचरित' में भी अवन्ती उपस्थित है। हर्षचरित में मौखरी ग्रहवर्मा, दशपुर क्षेत्र में उसका घात आदि अभिवर्णित है।

राजशेखर ने अवन्ती तथा मालवा की विशेषताओं को अपने 'बालरामायण' और 'काव्य-मीमांसा' में प्रस्तुत किया है। उन्होंने उस परम्परा की ओर भी संकेत किया कि उज्जैन में कवियों की परीक्षा होती रही और साहसांक विद्वानों का सम्मान भी करता था।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।

कालिदास, मेण्ठ, अमर, रूप, सूर, भारवि, हरिचन्द, चन्द्रगुप्त आदि की भी इस विशाला में परीक्षा हुई थी। साहसांक राजा ने अपने अन्तःपुर और राज्य में संस्कृत का वर्चस्व स्थापित कर दिया था।

'शंकर दिग्विजय' (सर्ग 15) में शंकराचार्य द्वारा महाकाल मन्दिर में पूजा-अर्चना की चर्चा है। राजा भोज ने भी अपनी 'शृंगारमंजरीकथा' में उज्जयिनी का बार बार स्मरण किया है। श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधचरित' में उज्जयिनी का वर्णन 40 श्लोकों में करते हुए इस स्थान के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया है। उन्होंने उज्जयिनी की धार्मिक महत्ता व्यक्त करते हुए कहा कि इस शिप्रा नदी के तट पर वनवासी, तपस्वी और विप्र सदा तपस्या और स्नान किया करते हैं-

तत्रानुतीरवनवासितपस्विविप्रा
शिप्रा तपोर्मिभुजया जलकेलिकाले।
आलिंगनानि ददती भविता वयस्या
हास्यानुबन्धरमणीयसरोरुहास्या॥

कृष्णानन्द के सहृदयानन्द काव्य में भी अवन्ती को शिप्रा तरंगों से आलिंगित बताया है। महाकाल की अर्चना वहाँ महत्त्वपूर्ण है। वराह पुराण में अवन्तीका को नाभि स्थान का मणिपूर कहा है-

---

1. कालीसिन्ध को साहित्य में सिन्धु नदी कहा गया। कालीसिन्ध परवर्ती नाम है। अतः ध्वनिसाम्य के आधार पर उसे कालिदास का जन्मस्थान बताना भ्रामक है।

स्वाधिष्ठानं स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका।
नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः।।

राजतरंगिणी के अनुसार (तरंग तीन) उज्जैन में हर्ष विक्रमादित्य राजा हुआ था–

तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत।।

ज्योतिर्विदाभरण के अनुसार उज्जैन विक्रमादित्य और उनके नौ रत्नों सहित अनेक विद्वानों से शोभित थी। वहाँ महाकाल और रमेशयोगिनी भी रहीं–

यद्राजधान्युज्जयिनी महापुरी सदा महाकालरमेशयोगिनी।

उज्जयिनी पुण्यप्रदा नगरी रही है। गरुड़पुराण में पवित्र सप्तपुरियों में इसकी गणना की गई है। ❑
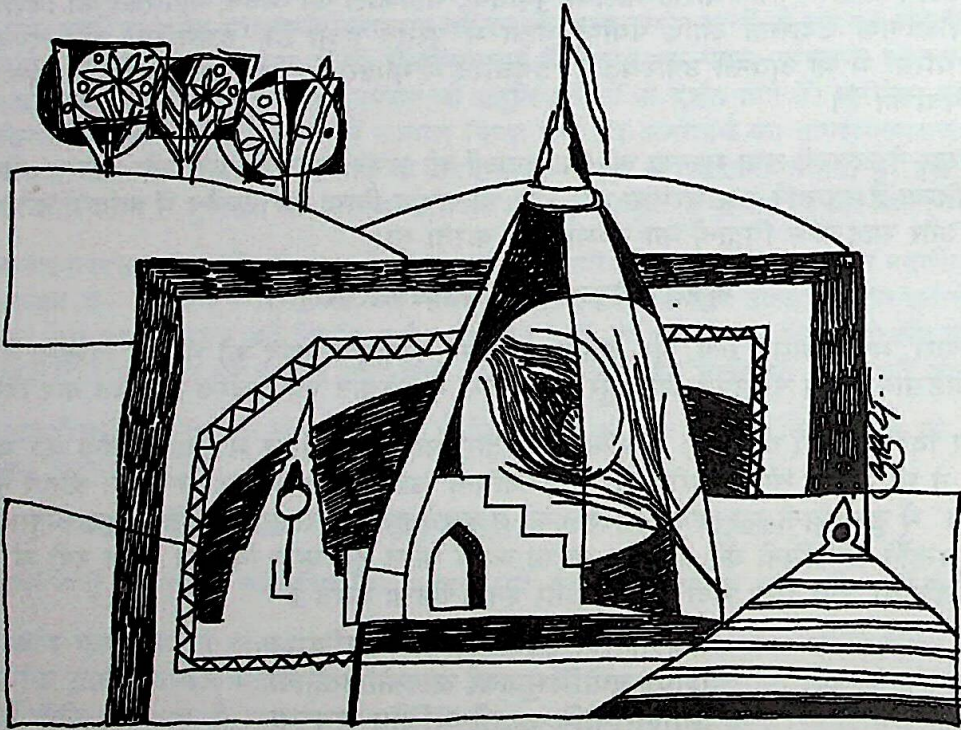
प्राचीन वाङ्मय में उज्जयिनी की धार्मिक परम्पराएँ

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।।

इस घोषणा के साथ गरुड़ पुराण ने अवन्तिका को मोक्ष-क्षेत्र बतलाया है। पुराणों, पुरातन साहित्य और परम्परा में उज्जयिनी की धार्मिक महत्ता स्थापित है।

पौराणिक परम्परा में उज्जयिनी की जैसी महत्ता विभिन्न प्रकार से बताई गई है, वैसी केवल वाराणसी की ही है, अन्य की नहीं। लिंग पुराण के अनुसार अवन्ती को प्रलय भी बाधा नहीं पहुँचाता। वह सृष्टि की आरम्भ स्थली है। इन दोनों तथ्यों के साथ ही वह मोक्षपुरी है।

विभिन्न पुराणों में उज्जयिनी का किसी न किसी प्रसंग में महत्त्व अवश्य दिखाया गया है। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, मार्कण्डेय पुराण, लिंग पुराण, स्कन्द पुराण आदि इसके प्रमाण हैं। स्कन्द पुराण में तो अवन्ती खण्ड ही पृथक् से है। इसमें विभिन्न कथाओं तथा आख्यानों द्वारा अवन्ती का महत्त्व प्रकट किया गया है। इसमें अवन्ती के पुण्य स्थलों, देवस्थानों, तीर्थों, पवित्र नदियों, कुण्डों, सरोवरों आदि का निरूपण किया गया है।

अवन्ती सम्बन्धी विभिन्न पुराणों में विभिन्न कथाएँ हैं। शिवपुराण में ज्योतिर्लिंग महाकाल की महिमा वर्णित है। वैष्णव पुराण में भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उज्जयिनी सान्दीपनि आश्रम में शिक्षा-प्राप्ति की कथा है। दिग्विजय के सन्दर्भ में प्रद्युम्न का उज्जैन आना भी हरिवंश आदि पुराणों में वर्णित है। परन्तु उज्जयिनी और अवन्ती क्षेत्र का व्यापक धार्मिक तथा तीर्थगत विवरण और उसकी पोषक कथाएँ स्कन्द पुराण के अवन्ती खण्ड में हैं। इस खण्ड के दो भाग हैं- (1) अवन्ती माहात्म्य और (2) अवन्ती क्षेत्र माहात्म्य अथवा 84 लिंग माहात्म्य।

इस सम्पूर्ण खण्ड की विषयानुक्रमणिका नारद पुराण के बृहदाख्यान के चतुर्थ पाद के 104वें अध्याय में अभिवर्णित है। वर्णित विभिन्न विषय इस प्रकार बताए गए हैं-प्रायश्चित्त विधि, अग्नि की उत्पत्ति, देवदीक्षा, पापनाशक शिवस्तोत्र, कपालमोचन आख्यान, महाकाल वन की स्थिति, पापनाशक कलकलेश तीर्थ वर्णन, रुद्रसर में पवित्र अप्सर कुण्ड वर्णन, कुटुम्बेश, विद्याधर, मर्कटेश्वर, स्वर्गद्वार, चतुःसागर तीर्थ, शंकरवापी, दशाश्वमेध, एकानंशा आदि हरि को सिद्धि प्रदान करने वाले तीर्थों का वर्णन है। इसमें पिशाचक यात्रा, महाकालेश्वर यात्रा, हनुमत्केश्वर और यमेश्वर तीर्थ, वाल्मीकेश्वर तीर्थ, कुशस्थली परिक्रमा, अक्रूरेश, मन्दाकिनी, अंकपाद, चन्द्रसूर्य वैभव, करभेश, कुक्कुटेश, लड्डुकेश आदि का वर्णन हुआ है। कार्मण्डेश, यज्ञवापी, सोमेश, नरकान्तक, केदारेश्वर, रामेश,

सौभाग्येश, नरार्क, केशार्क, शक्तिभेद, स्वर्णसुरमुख, ओंकारेश्वर और अन्धक स्तुति प्रस्तुत हुई है। महाकाल वन में लिंगों की गणना, स्वर्णशृंग तीर्थ वर्णन भी हुआ है।

स्कन्दपुराण में अवन्तीखण्ड में अवन्ती, उज्जयिनी, कुशस्थली, पद्मावती, अमरावती, कुमुद्वती के नाम प्रसिद्धि के कारण भी बताए गए हैं। विशाला और प्रतिकल्पा के नाम में ज्वरशान्ति है। शिप्रा नदी में स्नान का फल, नागरचित शिवस्तुति, हिरण्याक्ष-वध कथा, सुन्दरकुण्ड तीर्थ, नीलगंगा, पुष्कराख्यान, विन्ध्यवासिनी, पुरुषोत्तम अधिमास तथा विविध पापनाशक तीर्थ वर्णन, गोमती, वामन कुण्ड, वीरेश्वर तालाब, कालभैरव, कुटुम्बेश्वर यात्रा, कर्कराज, विघ्नेश, रुद्रकुण्ड आदि तीर्थ का वर्णन है। कहीं कहीं आख्यान की और स्थान की महत्ता भी वर्णित है। 83 अध्यायों में अवन्ती क्षेत्र की महत्ता अभिवर्णित है। इसके बाद के 84 अध्यायों में क्रमशः 84 महादेव का माहात्म्य वर्णित है।

अवन्ती क्षेत्र माहात्म्य अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक है। उसका आरम्भ महाकाल वन की प्रशंसा से होता है। तब ब्रह्मशिरश्छेद, प्रायश्चित, अग्नि की उत्पत्ति, देवागम, कपालमोक्षण, महाकालवन-वर्णन-विधि, कलहनाशनादि तीर्थ माहात्म्य, अप्सरा कुण्ड, महिष कुण्ड, कुटुम्बेश्वर तीर्थ, विद्याधर तीर्थ, शीतला माहात्म्य, स्वर्गद्वार माहात्म्य, राजस्थलेश्वर के निकट चतुःसमुद्र, शंकरादित्य, नीलगंगा-गन्धवती नदी माहात्म्य, दशाश्वमेध, एकानन्दा, हरसिद्धि, वटयक्षिणी, चतुर्दश यात्रा, हनुमत्केश्वर यात्रा, यमेश्वर, रुद्रसागर, महाकाल यात्रा, वाल्मीकेश्वर, अन्य तीर्थ महत्ता, पंचेशान यात्रा, मन्दाकिनी, अंकपाद, चन्द्रादित्य, करभेश्वर, गणेश, सोमेश्वर, सप्तनाम महिमा, अंकुरेश्वर, मन्दाकिनी, सोमवती, नरकेश्वरान्तक, दीपदान, रामतीर्थेश्वर, सौभाग्यतीर्थ, नरादित्य, केशवादित्य, शक्तिभेद माहात्म्य, अगस्त्येश्वर, विष्णु चतुर्थी व्रत, अन्धक वृत्तान्त, महाकाल माहात्म्य, कनकशृंगाभिधान, कुशस्थली नाम हेतु कथा, अवन्त्यभिधानक, उज्जयिनी नाम, पद्मावती, कुमुद्वती, अमरावती, विशाला, प्रतिकल्पा, शिप्रा माहात्म्य (अध्याय 60 से 63), सुन्दर कुण्ड, पिशाचमोचन, नीलगंगा, विन्ध्यवासिनी, विमलोदक तीर्थ, क्षातासंगम, गयातीर्थ (68 से 70 अध्याय), पुरुषोत्तम मास, गोमती कुण्ड, विष्णुसहस्रनाम, ब्रह्मप्रोक्त, वामन कुण्ड, कालभैरव तीर्थ यात्रा, नागतीर्थ, नृसिंह तीर्थ, कुटुम्बेश्वर, खण्डेश्वर, कर्कराज, देवतीर्थ यात्रा अन्तर्गृही, तीर्थ माहात्म्य, तीर्थ महिमा- ये सम्पूर्ण ग्रन्थ मिलकर समग्र रूप से अवन्ती का धार्मिक प्रभामण्डल निर्मित करते हैं।

वहाँ बताया गया है कि समस्त पाप यहाँ क्षीण हो जाते हैं, इसलिए यह 'क्षेत्र' कहलाता है। मातृकाओं का स्थान होने से इसे 'पीठ' कहते हैं। अवन्ती में पुनर्जन्म नहीं होने (मुक्ति हो जाने से) से यह 'ऊषर' कहलाता है। शिव का नित्यप्रिय एवं गुह्य क्षेत्र होने से यह 'श्मशान' कहलाता है। ये पाँचों-श्मशान, ऊषर, क्षेत्र, पीठ और वन एकत्र मिलते हैं इसलिए महाकाल वन वाराणसी से दशगुण अधिक है। प्रलय होने पर कोई भी वस्तु नहीं बची थी, तब केवल महाकाल ही यहाँ अद्वितीय थे। तब महाकाल ने हाथ में काठ लेकर दक्षिण हाथ की तर्जनी का मन्थन किया उससे स्वर्ण-अण्ड प्रकट हुआ। उसके दो खण्ड करने पर पृथ्वी और आकाश निर्मित हुए और ब्रह्मा हुए। उनकी ही महिमा से सृष्टि का प्रसार हुआ। विभिन्न तथ्यों को विस्तार से समझाने के लिए इस अवन्ती खण्ड में आख्यानों की क्रमबद्ध उपस्थिति है। उनके द्वारा विभिन्न तीर्थों, देवी-देवताओं का प्रतिपादन किया गया है।

अवन्ती आस्था की नगरी है। तीर्थ, भावना का केन्द्र होता है। अवन्ती के विभिन्न तीर्थ और स्थान भिन्न-भिन्न पूजन, अर्चन, धार्मिक कर्म के परम्परागत मान्य स्थल रहे हैं। मध्ययुगीन राजनीतिक आपाधापी में अवन्ती का भी धार्मिक वातावरण कुछ डगमगाया। इसी अवधि में कई तीर्थों का, अनेक देवस्थानों, सरोवरों, कुण्डों, नदियों तक का लोप होता चला गया और उनकी सुध लेने की स्थितियाँ भी अनुकूल नहीं रह पाई थीं। इसलिए वे स्थान यथावत् नहीं रह पाए। परन्तु फिर भी मराठा राज्य स्थापित होने पर 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध से अवन्ती का सांस्कृतिक पुनर्जागरण होने लगा। ध्वस्त मन्दिरों के शिखर आकाश छूने लगे। नदी पर घाट बनने लगे। वीर दुर्गादास, राणोजी आदि की छत्रियाँ बनीं। वेदध्वनि का पुनः सान्द्रध्वनि से अनुगुंजन होने लगा। मन्दिरों की घण्टियाँ, झालर, पटह

वातावरण को पुनः धार्मिक परिवेश प्रदान करने लगे। जो क्रम अन्तराल के बाद आरम्भ हो गया था, वह पुनः सतत रहा और आज तक अपनी धर्मध्वनि को न केवल अवन्ती तक अपितु पूरे भारत-मानस में क्षेत्र को व्यापक गहराई तक पहुँचा रहा है। पुराणों तथा धार्मिक साहित्य का उज्जयिनी की गरिमा बढ़ाने में सर्वाधिक योगदान रहा है। गरिमामय ज्योतिर्लिंग महाकाल के माध्यम से समूचा शैव जगत् मालवा से जुड़ गया और जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण की शिक्षास्थली होने से पूरा वैष्णव जगत् इस भूमि से अनुरक्त हो गया। शाक्तों की यह साधना-भूमि रही। नाथों ने यहाँ अलख जगाया। जैन साधकों की यह पुरातन भूमि रही है तथा बौद्धों का तो यह प्राचीन केन्द्र रहा है। प्राचीन धार्मिक अवशेष तो किसी भी परम्परा के नहीं बचे, जो भी हैं, वे सब मराठा-युगीन। प्राचीन अवशेषों का मराठा-युग में पुनः नवीनीकरण हुआ, पुनर्निर्माण हुए और विपुल मात्रा में हुए। इतने हुए कि यह पौराणिक नगरी वास्तव में पुनर्यौवन प्राप्त कर नए उत्साह और नई उमंग के साथ नई पीढ़ियों को पुराण नवीन पथ-प्रदर्शन के लिए सोत्साह तैयार हो गई।

विभिन्न उपपुराणों में भी विभिन्न व्रतों की कथाओं का केन्द्र उज्जैन बनाया गया है। उज्जयिनी वास्तव में धार्मिक, ऐतिहासिक, अद्भुत और सामाजिक विभिन्न कथाओं का युगयुगीन केन्द्र रहा है। प्राचीन बहुधा कथाएँ या तो उज्जैन से सम्बन्धित हैं अथवा काशी से। प्राचीन काव्यों, आख्यायिकाओं, कथाओं में अवन्ती की धार्मिक पृष्ठभूमि भी अवश्य ही प्रकट हुई है। परन्तु प्राचीन नाटकों में उज्जयिनी की उस छवि का एकान्त अभाव है। केवल दो स्थलों पर ऐसी चर्चा है-भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में वासवदत्ता उज्जैन की यक्षिणी की पूजा के लिए जाती है। अविमारक नाटक में बलि व शम्बर के साथ महाकाल की भी प्रसन्नता की कामना की गई है। 'मृच्छकटिक' का प्रारम्भ भोजन के लिए ब्राह्मण की खोज से होता है और कहा जाता है कि इस समृद्ध उज्जयिनी नगरी में सामान्य जन द्वारा अपने योग्य ब्राह्मण खोजना भी समस्या है। तभी विदूषक मैत्रेय दिखाई देता है, परन्तु वह भी भोजन के लिए अन्यत्र व्यस्त है। उसे लालच दिया जाता है कि भोजन तैयार है, कोई अन्य व्यक्ति स्पर्द्धा में भी नहीं है। मनचाही दक्षिणा भी दी जाएगी। परन्तु तब भी मैत्रेय उसका निमंत्रण अस्वीकार कर देता है। दूसरे ब्राह्मण की खोज होने लगी। इस पर मैत्रेय स्वयं की आर्थिक स्थिति को कोसता है- ''आज मेरी यह स्थिति हो गई कि दूसरों के आमंत्रण का भोजन भी मुझे करना पड़े।''

मयापि मैत्रेयेण परस्य आमन्त्रणकानि भक्षितव्यानि।

-मृच्छकटिक (प्रथम अंक)

नायक चारुदत्त पशु-पक्षियों के बलि या खाद्य घर से बाहर रखता है। इससे स्पष्ट है कि घर-घर में पंच महायज्ञ के आचरण का नित्य नियम था। इस प्रकार नित्य और नैमित्तिक धार्मिक नियमपालन अवन्तीजनों के जीवन का अंग था।

कालिदास अपने काव्यों में उज्जयिनी के महाकाल की प्रमुखता को रेखांकित करते हैं। रघुवंश और मेघदूत दोनों में शिप्रा नदी का भी स्मरण हुआ है। चण्डी, पाशुपत परम्परा का स्मरण भी मेघदूत में ही है। महाकाल प्रांगण में गणिकाओं द्वारा हाथ में चँवर लेकर ललित नृत्य करने की परम्परा की ओर भी कालिदास संकेत करता है और कवि यह याद दिलाना भी नहीं भूलता कि यह उज्जयिनी पवित्र नगरी है। यहाँ पुण्यशाली लोगों का निवास है। यहाँ के निवासी स्वर्ग के निवासी पुण्यशाली लोगों से थोड़े ही न्यून हैं, पुण्यता में। यही कारण है कि यह नगरी स्वर्ग का एक टुकड़ा ही लगता है।

स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्।।

कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि उज्जैन के लोगों का सुचरित स्वर्ग के निवासियों से न्यून नहीं है। यहाँ के निवासियों के चरित की उदात्तता के कारण भी यह नगरी स्वर्गखण्ड-सी लगती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सदाचार और धर्म के प्रति आस्था का यहाँ अटूट वातावरण था। यह वातावरण बनाने में पूर्वोक्त पौराणिक और पारस्परिक पृष्ठभूमि का कम योगदान नहीं है।

इस नगरी की धार्मिक परम्पराओं को चतुर्भाणी के भाणों ने भी नहीं बिसारा है। वहाँ भी छद्म छुआछूत करने वाले चोक्ष और दुराचारी भिक्षुओं की प्रस्तुति हुई है। यह दूसरा या धर्म के पाषण्ड का पक्ष है, जो हर समय रहता ही है। बाणभट्ट ने भी उज्जयिनी के अनुकरणीय सदाचार की बहुमुखी धाराओं की प्रस्तुति की है। दण्डी काली और महाकाल दोनों का एक साथ स्मरण करता है।

यशस्तिलक चम्पू सहित विभिन्न जैन ग्रन्थों में भी उज्जयिनी की धार्मिक पृष्ठभूमि की बार बार व्यापक प्रस्तुति हुई है। राजा भोज ने उज्जैन के महाकाल में पंचायतन बनवाकर उसे और भी पूज्य वातावरण प्रदान किया। अपने इस धार्मिक वातावरण का कथासरित्सागर में एक और पक्ष उद्घाटित किया गया है। उसमें बताया गया है कि उज्जैन की गन्धवती नदी के तट पर तर्पण किया जाता है और वहाँ जो भूत-पिशाच वायु रूप में रहते हैं, वे तृप्त होते हैं, मुक्त होते हैं। अब गन्धवती नदी समाप्त हो जाने से वे सब कर्मकाण्ड शिप्रा के तट पर ही सम्पन्न होते हैं और कम से कम मालवा में तो उज्जैन का शिप्रा-तट कर्मकाण्ड का केन्द्र ही है तथा इस कर्मकाण्ड के लिए भी इस अवन्ती क्षेत्र की प्रसिद्धि है। यही नहीं, इन विभिन्न कारणों से दूर-दूर से समागत धर्मयात्रियों या धार्मिक पर्यटकों पर भी उज्जैनवासियों की बहुधा जीविका तथा बाजार-व्यवसाय निर्भर है।

पुराणों में महाकाल वन, अवन्ती क्षेत्र, उज्जयिनी तथा वहाँ की पवित्रता और पुण्य की महनीय परम्पराओं की पुनः पुनः पुष्टि की गई है। इस समूचे क्षेत्र की पुण्य परम्पराओं के कारण आस्थावान् अनवरत दूर-दूर से इस ओर आकर्षित होते चले आते हैं और पर्व-उत्सव आदि के अवसर पर तो इस धर्मनगरी के प्रति जनभावना इतनी उमड़ पड़ती है कि अनायास ही उमड़ी भीड़ के कारण समय समय पर मेले का वातावरण बन जाता है। सोमवती और शनैश्चरी अमावस्या, ग्रहण, मकर संक्रान्ति, पुरुषोत्तम या अधिकमास, कार्तिक पूर्णिमा इत्यादि ऐसे कितने ही अवसर आते ही रहते हैं। उनमें सर्वाधिक आकर्षक पंचेशानी या पंचक्रोशी यात्रा का प्रसंग है। अवन्ती क्षेत्र की परिक्रमा करता हजारों-लाखों लोगों का यह चलित धार्मिक मेला है जिसमें जनता किसी भी प्रकार के कष्ट की परवाह न करते हुए धर्म-आस्था में लीन पैदल दण्ड प्रणाली द्वारा भी यात्रा सम्पन्न करती है।

इस नगरी को सिद्धभूमि माना जाता है। अतः साधना और सिद्धि के लिए विभिन्न पंथों के तांत्रिक भी अपनी अपनी पद्धति के अनुसार अवन्ती क्षेत्र में आते हैं, सिद्धियाँ करते हैं, साधनाएँ करते हैं और सन्तुष्ट-प्रसन्न होते हैं।

अवन्ती क्षेत्र में साधना और तीर्थ रूप में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नदी शिप्रा-तट है, परन्तु इसके अतिरिक्त गन्धवती, नीलगंगा, फल्गु, मन्दाकिनी, नवनदी, खगर्ता या पिंगला, गोमती, सरस्वती के साथ ही गंगा, सरयू, पयस्विनी, कौशिकी, महासुर, महानदी की महिमा या उल्लेख प्राप्त होते हैं। विवाह अवसर के मंगलाष्टक में उज्जैन की क्षिप्रा, महासुर तथा क्षाता (खान) नदी के भी उल्लेख हैं, जिन्हें विवाह में साक्षी माना जाता है-

शिप्रा वेत्रवती महासुर नदी क्षाता गया गण्डकी।

प्रकृष्ट नन्दोक्तागम के महाकाल सहस्रनाम के माहात्म्य में उज्जैन के कोटितीर्थ, रुद्रसर, शिप्रा, गयाकूप, गोमती, खगर्तासंगम, मयतडाग, नवनदी आदि के तट पर उसके पाठ के भिन्न-भिन्न फल बताए गए हैं। अवन्ती खण्ड में इन तीर्थों की भी चर्चा है-

शंखोद्धार, अजागन्ध, चक्र, अनरक, जटाभृंग, इन्द्र, गोप, चिपिटा, सौभाग्यक, घृत, शंखावर्त, सुधोदक, दुर्धर्ष, गोपीन्द्र, पुष्पकरण्ड, लम्पेश्वर, कामोदक, प्रयाग, भद्रजट देव, कोटि, स्वर्णक्षुर, सोम, वीरेश्वर, नाग, नृसिंह आदि। इनमें से सोम, वीरेश्वर, कोटि, नृसिंह, चक्र आदि तीर्थ आज भी सुज्ञात हैं। पुराण के अनुसार राजस्थल मन्दिर के पास क्षारसागर (खारा कुआ), क्षीरसागर के अवशेष तो अब भी हैं, दुग्ध कुण्ड (दूधतलाई) भी रही। परन्तु दधि सागर अब अज्ञात है। आजकल सप्तसागर की यात्रा, पुरुषोत्तम मास में विशेषतः की जाती है-रुद्र, पुष्कर, क्षीर, गोवर्धन, पुरुषोत्तम या सोला, विष्णु एवं रत्नाकर या उँडासा तालाब की यात्रा कर स्नान, दान आदि से पुण्यार्जन किया जाता है।

इनमें से बहुधा तालाबों का अब लोप हो गया है। अब तो केवल स्थान पर बनी बावड़ियों में ही पूजा-अर्चना सम्पन्न होती है। इनके अतिरिक्त भी कई वापी, कुण्ड आदि धार्मिक महत्त्व के हैं। अब तो रामघाट और सिद्धनाथ धार्मिक कार्य सम्पन्न करने के बहुधा केन्द्र हो गये हैं।

स्कन्द पुराण के अवन्ती खण्ड में उज्जैन की 24 मातृकाओं का वर्णन प्राप्त होता है, जो इस प्रकार हैं-महामाया, कपालमातृका, अम्बिका, अम्बा, शीतला, अम्बालिका, अष्टसिद्धिका, ब्रह्माणी, पार्वती, योगिनी, कौमारी, भगवती, कृत्तिका, तर्पटमातृका, वटमातृका, सरस्वती, महालक्ष्मी, महाकाली, भद्रकाली, चामुण्डा, वाराही, ब्रह्मचारिणी, वैष्णवी और विन्ध्यवासिनी।

उज्जयिनी के षड्विनायकों में मोदी, प्रमोदी, सुमुख या स्थिर, दुर्मुख, अविघ्न, विघ्न इत्यादि विनायक हैं।

इसी प्रकार उज्जयिनी के आसपास भी ऐसे कई महत्त्वपूर्ण स्थान हैं, जो धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। मन्दसौर का अष्टमुख शिवलिंग प्राचीन और अभिराम है। आज वह दर्शनीय और तीर्थस्थान का महत्त्व पाता जा रहा है। सुसनेर के निकट बगलामुखी का मन्दिर तांत्रिक साधना का दुर्लभ स्थान है। उज्जैन का कालभैरव परिसर भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आजकल विक्रान्त भैरव की प्रसिद्धि बढ़ती जा रही है। ओखलेश्वर क्षेत्र श्मशान-साधकों के आकर्षण का चिरकाल से केन्द्र रहा है। इन विभिन्न विशेषताओं के कारण समवेत रूप से कहा भी गया है-

अस्ति चोज्जयिनी नाम पुरी पुण्यफलप्रदा।
यत्र देवो महाकालः सर्वदेवगणैः स्तुतः।।

-अवन्ती खण्ड

❑
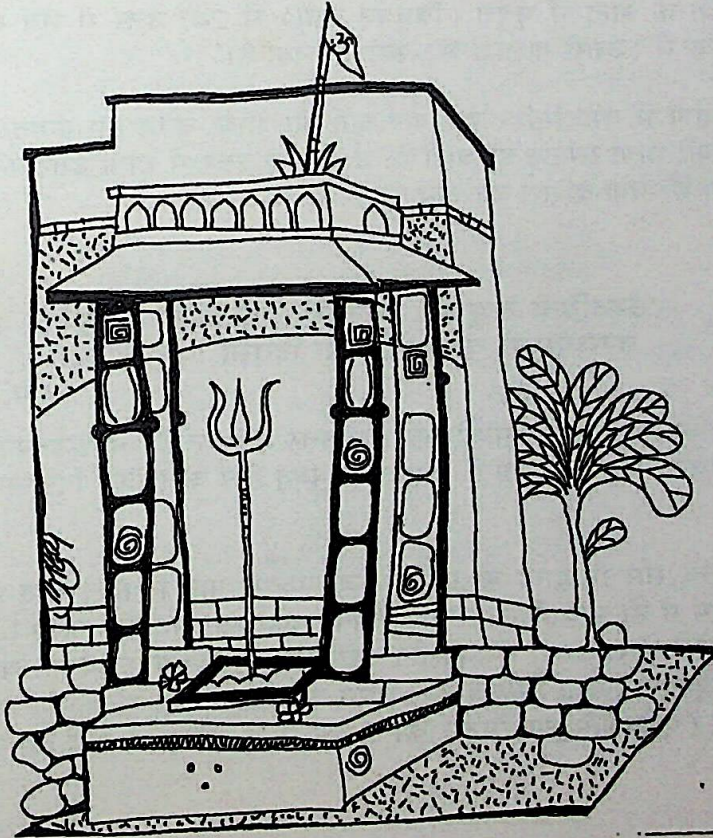
उज्जयिनी की ज्योतिर्वैज्ञानिक परम्परा तथा वेधशाला

डॉ. मोहन गुप्त

वराहमिहिर ने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका के अध्याय 13 'त्रैलोक्य संस्थानम्' में ज्योतिर्गणना के दो महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ बिन्दुओं के रूप में 'अवन्ती' तथा 'उज्जयिनी' का उल्लेख किया है-

मिथुनांशे च कुवृत्तादंशचतुर्विंशतिं विहायोच्चैः
भ्रमति हि रविरमराणां समोपरिष्टाद् तदाऽवन्त्याम्॥
(पं. सि. XIII -10)

'मिथुन राशि के अन्त में भूवृत्त (विषुवत् रेखा) से 24^0 उत्तर में सूर्य अवन्ती के ऊपर से देवताओं के लोक में (उत्तरी गोलार्द्ध में) भ्रमण करता है।'

आगे की आर्या में वराहमिहिर इस बात को और स्पष्ट करते हुए कहता है कि, "उस दिन मध्याह्न में शंकु की छाया समाप्त हो जाती है, उज्जैन के उत्तर में छाया उत्तर की ओर रहती है तथा उज्जैन से दक्षिण में छाया दक्षिण की ओर रहती है।"

इसी प्रकार-

'उज्जयिनी लङ्कायाः सन्निहिता योत्तरेण समसूत्रे
तन्मध्याह्नो युगपद् विषमो दिवसो विषुवतोऽन्यः
(पं. सि. XIII - 17)

'उज्जयिनी लंका से समसूत्र (सीधी रेखा) में उत्तर में स्थित है। अतः उनका मध्याह्न साथ-साथ होता है, किन्तु दिवस मान में भिन्नता है, सिवाय विषुवत् दिन के (जिस दिन सर्वत्र दिन रात बराबर होते हैं)।'

इनके अतिरिक्त सौर सिद्धान्त के ग्रहों के जो मध्यम मान निकाले जाते हैं, वे सभी उज्जैन मध्यरात्रि के सन्दर्भ में हैं। परवर्ती सभी गणिताचार्यों; ब्रह्मगुप्त, महावीर भास्कर आदि ने उज्जयिनी के सन्दर्भ बिन्दु को यथावत् रखा। समकालीन आर्यभट्ट ने भी इसे स्वीकारा। यहाँ तक कि प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थों में यूनानियों तथा मिश्र देश से भारत के सम्पर्क होने के कारण जब (उनके प्रयोजन के लिये) यवनपुर (एलैक्जैण्ड्रिया-मिश्र) को सन्दर्भ बिन्दु बनाया तो वहाँ का समय मध्य सूर्यास्त

रखा गया[1] तथा यवनाचार्य ने यूनान में वार की प्रवृत्ति सूर्यास्त से 20 घटी बाद मानी[2]। पौलिश सिद्धान्त में वराहमिहिर ने उज्जैन से यवनपुर तथा काशी का देशान्तर अन्तर दिया है[3]–

यवनान्तरजानाड्यः सप्तावन्त्यां त्रिभागसंयुक्ताः
वाराणस्यां त्रिकृतिः साधनमन्यत्र वक्ष्यामि

'उज्जयिनी से यवनपुर का नाड़ी–अन्तर देशान्तर (कालान्तर) 7 नाड़ी तथा 20 विनाड़ी है तथा वाराणसी से 9 विनाड़ी है। इसका साधन आगे बतायेंगे।'

7 घटी 20 पल अन्तर का अर्थ होता है 44° (पश्चिम)। अगले ही श्लोक में पौलिश सिद्धान्त में देशान्तर गणना की पद्धति बताई गई है ताकि यवनपुर के गणित को उज्जैन का बनाया जा सके या कि उज्जैन के गणित से यवनपुर का गणित किया जा सके। दिवस प्रवृत्ति के विषय में पञ्चसिद्धान्तिका के टीकाकार कुप्पन् शास्त्री ने लिखा है–

If the people in Greece are meant by yavanas here, Yavanacharya perhaps this tries to fit a Greek astronomical work into serviceabiity in ujjain for 20 nadis after sun-set in Greece is the moment of sun-rise at Ujjain assuming a rough longitude correction of 10 nadis[4]".

सूर्य सिद्धान्त भी उज्जैन को शून्य रेखांश पर मानता है जैसा कि वराहमिहिर–

राक्षसालयदैवोकः शैलयोर्मध्यसूत्रयाः
रोहीतकमवन्ती च यथा सन्निहितं सरः[5]

'राक्षसों के आवास लङ्का तथा देवताओं के निवास स्थान सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) के मध्यगत सीधी रेखा पर स्थित रोहतक, अवन्ती तथा कुरुक्षेत्र रेखा देश कहे जाते हैं। (रेखा देश का अभिप्राय है शून्य देशान्तर..)

इसी प्रकार सूर्य अपनी परम उत्तरा क्रान्ति के समय उज्जैन के ऊपर होकर गुजरता है तथा यह परम क्रान्ति 24° है। यह भी सूर्य सिद्धान्त में है तथा यह भी कि गणितागत मध्यमग्रह उज्जैन के ही होते हैं, अन्य स्थान के लिये उनमें रेखान्तर संस्कार करना पड़ता है।[6] इतना ही नहीं इसमें यह भी निर्दिष्ट है कि पूरे विश्व में वार प्रवृत्ति रेखा देश (अर्थात् लंका/उज्जैन) के सन्दर्भ में होगी अर्थात् जब मध्यरात्रि में उज्जैन में (या लंका में) वार बदलेगा उसी समय सम्पूर्ण विश्व में बदलेगा–

वार प्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपार्धेऽप्यधिके भवेत्
तद्देशान्तर नाडीभिः पश्चादूने विनिर्दिशेत्[7]

'रेखादेश से पूर्व–स्थित देशों में रेखादेशीय मध्यरात्रि काल से देशान्तर नाडी तुल्य अधिक काल में वार प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार पश्चिमस्थ देशों में देशान्तर घटी तुल्य पहिले वार प्रवृत्ति होती है। यही कारण है कि यवनाचार्य ने उज्जैन के सूर्योदय से 10 घटी पूर्व यवन देश में वार प्रवृत्ति मानी है। आशय यह है कि ज्योतिर्विज्ञान के सिद्धान्त काल के प्रारम्भ से ही उज्जैन का उपयोग पृथ्वी पर एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ बिन्दु के रूप में किया जाता रहा है तथा उस समय उज्जैन का वही महत्त्व

1. वराहमिहिर : पञ्चसिद्धान्तिका : टी. एस. कुप्पन शास्त्री एवं के. वी. शर्मा, पी. पी. एस. टी. फाउण्डेशन अड्यार मद्रास 1993. I.8 (पृ. 6) 'अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सोमदिवसाद्यः'
2. तदेव XV -19' यवनानां निशिदशाभिर्मुहूर्तैश्च तद्गुरुणा' पृ. 288
3. तदेव III. 13 पृ. 51
4. तदेव पृ. 289 श्लो. XV-19 की टीका
5. सूर्य सिद्धान्त : रंगनाथ की टीका : सम्पादक प्रो रामचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 2000, पृ. 41 (I - 62)
6. तदेव II- 28 8.63 I-50 (पृ. 28)
7. तदेव I-66 (पृ. 44)

था, जो आज की गणना के सन्दर्भ में ग्रीनविच (इंग्लैण्ड) का है। इसका अक्षांश 24° तथा देशान्तर 0° था। सूर्य की परम क्रान्ति भी उस समय 24° ही थी अर्थात् उत्तरायण यात्रा में सूर्य अपने अन्तिम पड़ाव उज्जैन तक आता था फिर लौट जाता था। दक्षिणायन प्रारम्भ हो जाता था। सूर्य सिद्धान्त के टीकाकार श्री ई. बर्जेस ने भी इसे स्वीकार किया है-

But the circumstance which actually fixes the position of the prime meridian is the situation of the city of Ujjayini.......It is the capital of the rich and populous province of Malva,... and from old time a chief seat of Hindu literature science and arts. Of all the centres of Hindu culture, it lay nearest to the great ocean route by which during the first three centuries of one era, so important a commence was carried on between Alexandria as the mant of Rome, and India and the countries lying still farther east. That the prime meridian was made to pass through this city proves it to have been the cradle of the Hindu science of astronomy or principal seat during its early history.[8]

श्री बर्जेस ने उज्जयिनी के अपने इस विश्लेषण में वे कारण भी बताए हैं, जिनके आधार पर लंका की तुलना में उज्जयिनी को प्रमुख रेखांश पर विराजित होने में वरीयता मिली। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से पूरे सिद्धान्त काल में तथा आज तक अक्षुण्ण बनी रही। परवर्ती सभी सिद्धान्त ग्रन्थों में उज्जैन को पृथ्वी की मध्य रेखा माना गया। भास्कराचार्य ने अपने गोलाध्याय (सिद्धान्त शिरोमणि) में लिखा है कि जो रेखा लंका एवं उज्जयिनी के ऊपर जाती हुई कुरुक्षेत्र को छूकर सुमेरु तक जाती है, उस रेखा को विद्वान् लोग पृथ्वी की मध्यरेखा मानते हैं।[9]

इसमें कोई शक नहीं कि उज्जयिनी की विशेष स्थिति के साथ-साथ यहाँ की ज्योतिष परम्परा भी अत्यन्त समृद्ध रही तथा यहाँ वराहमिहिर के आचार्यत्त्व में ज्योतिर्विदों का 'कापित्थक गुरुकुल' स्थापित हुआ, जिसमें स्वयं आचार्य वराहमिहिर के अतिरिक्त कल्याण वर्मा, ब्रह्म गुप्त, महावीराचार्य एवं भास्कराचार्य जैसे तेजस्वी एवं मेघावी ज्योतिर्विद् हुए। यह गुरुकुल लगभग 700 वर्ष तक विश्व भर में इस विज्ञान का प्रकाश फैलाता रहा। इस गुरुकुल के सम्बन्ध में प्रसिद्ध गणितज्ञ डॉ. घनश्याम पाण्डे ने बड़ा सटीक विवरण दिया है।[10] वराहमिहिर के पिता आदित्यदास बल्ख बुखारा (बैक्ट्रिया) से भारत आये तथा उज्जैन के पास कापित्थक (आधुनिक 'कायथा') में एक गुरुकुल की स्थापना की। वराहमिहिर अपनी मेधा के कारण गुप्त शासकों के कृपापात्र बने तथा उनके उदार अनुदानों से इस गुरुकुल को गणित एवं विज्ञान के एक बड़े केन्द्र के रूप में विकसित किया। उन्होंने स्वयं 'पञ्चसिद्धान्तिका' तथा 'बृहत् संहिता' जैसे अमर ग्रन्थ दिये। उनके परवर्ती कल्याण वर्मा, पृथुयशा, ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य तथा भास्कर द्वितीय ने अपनी कालजयी कृतियों से विश्व के ज्योतिर्विज्ञान तथा गणित विज्ञान को समृद्ध किया। ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त (628 AD) तथा खण्ड खाद्यक (665 AD) का अनुवाद अरबी भाषा में क्रमशः 'अल सिन्द हिन्द' तथा 'अल् अरकन्द' के नाम से हुए। अल बरुनी के ग्रन्थ के आधार पर प्रोफेसर साचो ने लिखा है-''प्राच्य सुधार के इतिहास में ब्रह्मगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा है। अरब निवासियों को टालमी के ग्रन्थ का पता लगने से पहिले, ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिष शास्त्र सिखाया, क्योंकि अरबी भाषा के साहित्य में 'सिन्द हिन्द' और 'अल् अरकन्द' ग्रन्थों के नाम बार-बार आते हैं और वे दोनों ब्रह्मगुप्त के ब्रह्म सिद्धान्त तथा 'खण्ड खाद्य के अनुवाद हैं'' (भाग 2 पृ. 304)[11]। इसी समय भारत में उज्जैन से ही कुछ विद्वानों का

8. सूर्य सिद्धान्त : अंग्रेजी अनुवाद द्वारा ई. बर्जेस इण्डोलौजिकल बुक हाउस वाराणसी, 1977 पृ. 46
9. सिद्धान्त शिरोमणि, गणिताध्याय VII-2.
10. The Solden Age of Mathematics in India : G.S. Pandey, (article) Deptt. of Mathematics and Astronomy, Lucknow University P. 21-35
11. भारतीय ज्योतिष : शं. बा. दीक्षित, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश 1975 पृ. 299.

एक जत्था बगदाद गया था और उन्हीं में से एक विद्वान् ने ब्रह्म-स्फुट सिद्धान्त का व्याख्यान किया था[12]। बीजगणित भी अरब वालों ने ब्रह्मगुप्त से ही सीखा। उन्होंने गणित के क्षेत्र में कई नये आविष्कार किये, जो आज के वैज्ञानिक जगत् को भी चमत्कृत करते हैं। भास्कर प्रथम ब्रह्मगुप्त के समकालीन हैं। उन्होंने लघु-भास्करीयम् तथा महा भास्करीयम् लिखकर आर्यभट्ट के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया। लल्ल एवं महावीराचार्य क्रमशः आठवीं तथा नवमी शताब्दी के ज्योतिर्विज्ञान के रत्न हैं, जो उज्जैनी के कापित्थक गुरुकुल से ही सम्बद्ध थे। महावीराचार्य ने वर्ग समीकरण, घनमूल चक्रीय चतुर्भुज इत्यादि से सम्बन्धित गणित की कठिन समस्याओं का समाधान दिया। भास्कराचार्य द्वितीय इस गुरुकुल के मूर्धन्य गणितज्ञ थे जो 12वीं शती के अन्त तक गणित तथा ज्योतिर्विज्ञान के क्षितिज पर सूर्य की तरह पूरे विश्व में चमकते रहे। उनका आविर्भाव 1114 ई. में हुआ तथा अवसान 1185 में। भास्कर के विषय में अंग्रेज गणितज्ञ सी. बी. बॉयर ने लिखा है-

"Bhaskar was the last significant medieval mathematician from India and his work represents the culmination of earlier Hindu contributions. Bhaskaracharya has written three famous treatisis, Viz. Siddhant Siromani, Lilavati and Bija ganita the latter two contain many interesting problems on linear and quadratic equations, indeterminate equations, mensuration, arithmatic and geometric progresions and extractions of square and cube roots." The arithmatics of zero had not been part of Greek mathematics and Brahmagupta had been non-Commital on the division of a number other that zero by the number zero. It is therefore in Bhaskar's Bijaganita that we find the first statement that such a quotient is infinite."[13]

इस प्रकार ईसा की 12वीं शती के अन्त तक यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रही। भास्कर के भाई तथा पुत्र-पौत्रों ने कुछ समय तक इस परम्परा को बनाए रखा। बाद में देश में राजनीतिक उथल-पुथल के साथ लगता है उज्जैन का यह गुरुकुल भी उपेक्षा और झंझावातों का शिकार हो गया। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में उज्जयिनी के इस गुरुकुल ने 700 वर्षों तक अक्षुण्ण रूप से विश्व में ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में वही कार्य किया जो 17वीं से 19वीं शती में कैम्ब्रिज तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों ने किया। भारत का मध्य क्षेत्र मुसलमानों के आक्रमण से अशान्त होने के कारण बाद में विज्ञान तथा कलाओं के केन्द्र उज्जैन से हटकर दक्षिण में कर्नाटक-केरल, पूर्व में मगध तथा उत्तर में काशी में चले गये; तथापि ज्ञान प्रवाह की तेजस्विता मन्द पड़ गई। सुल्तानों तथा मुगलों के काल में प्राचीन ज्ञान-विज्ञान का अधिकांशतया ह्रास ही हुआ, यद्यपि संगीत कला तथा मूर्त्तिकला की अभिवृद्धि हुई।

किन्तु उज्जयिनी को यह केन्द्रीय महत्त्व कब से प्राप्त हुआ इसके सम्बन्ध में ज्योतिर्विज्ञान का इतिहास मौन है। वर्तमान इतिहासकार इसका प्रारम्भ वराहमिहिर अर्थात् ईसा की पाँचवीं शती से ही मानते हैं, किन्तु यह सच नहीं है। स्वयं वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका में सौर सिद्धान्त, पौलिश सिद्धान्त तथा त्रैलोक्य संस्थान के अध्यायों में इसे एक प्राचीन परम्परा के रूप में स्वीकार किया है जब सूर्य की परम क्रान्ति 24^0 थी तथा उज्जैन का अक्षांश भी 24^0 ही था।

आजकल सूर्य की परम क्रान्ति 23^0-26' है तथा वर्तमान उज्जैन का अक्षांश 23^0-11' है। परम क्रान्ति 34' कम हो गई है तथा उज्जैन के अक्षांश एवं परम क्रान्ति में भी 15' का अन्तर आ गया है। इस अन्तर से भी गणित द्वारा काल का अनुमान लगाया जा सकता है। ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि सूर्य की परम क्रान्ति या कि पृथ्वी का अपनी धुरी पर

12. भारतीय ज्योतिष : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, नवम संस्करण 1981 (प्रथम 1978) पृ. 84.
13. सी. बी. बॉयर : हिस्ट्री ऑफ मैथेमेटिक्स, जॉन विले एण्ड सन्स 1968 पृ. 244.

जो लगभग 23½° का झुकाव है उसमें भी गति है, यद्यपि है अत्यन्त धीमी। इसकी गति 1000 वर्ष में 7' -56'' है। तदनुसार आज की परम क्रान्ति 23°-26' तथा सिद्धान्तकालीन परम क्रान्ति 24° का कालात्मक अन्तर

$$\frac{24^0 - \left(23^0 - 26'\right)}{7'-56''} \times 1000 = 4285 \text{ वर्ष}$$

होता है अर्थात् 4285-2000 = 2285 ई. पूर्व। ज्ञान-विज्ञान तथा कला-संस्कृति-साहित्य तब फलते-फूलते हैं, जब राज्य में राजनीतिक स्थिरता के साथ-साथ समृद्धि भी रहती है तथा किसी स्थान विशेष को राष्ट्रीय महत्त्व किसी विशेष घटना के सन्दर्भ में या किसी विशेष राजाश्रय के कारण मिलता है। वराहमिहिर से पूर्व उज्जयिनी में ऐसा काल तीन बार आया-लोक विश्रुत नृपति विक्रमादित्य के समय विक्रम की पहली शती अर्थात् 57 ई. पू. के आसपास, वत्सराज उदयन के श्वसुर तथा वासवदत्ता के पिता चण्ड प्रद्योत के समय ई. पू. छठी शती में तथा महाभारत के नायक श्रीकृष्ण की विद्या भूमि के रूप में महाभारत काल में ई. पू. 2000 के आसपास। ई. पू. प्रथम शती में यद्यपि भारत का सम्पर्क यूनानियों से हो गया था, जैसा कि तत्कालीन संस्कृत साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट है, किन्तु उस समय तक उज्जयिनी ज्योतिर्विद्या के केन्द्र के रूप में स्थापित हो चुकी थी। महात्मा गर्ग, पराशर तथा व्यास जैसे ज्योतिर्विद् जो अष्टादश ज्योतिष शास्त्र प्रवर्त्तकों में माने जाते हैं, महाभारत काल में हो चुके थे। गार्गी संहिता में ही यवनाचार्यों के ऋषिवत् पूज्य होने की बात कही गई है-

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदम् स्थितम्।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्देववत् द्विजः॥

पैतामह सिद्धान्त का प्रारम्भिक काल 2 शक बताया गया है तथा प्राचीन वाशिष्ठ सिद्धान्त का सन्दर्भ बिन्दु भी उज्जयिनी है। पौलिश सिद्धान्त में भी उज्जयिनी से यवनपुर तथा काशी का नाड्यन्तर दिया हुआ है। इन दोनों सिद्धान्तों का काल (ग्रन्थों का नहीं) ई. पूर्व लगभग छह हजार वर्ष ठहरता है। इसका आशय यह है कि रामायण काल तथा इसके पूर्व से ही उज्जयिनी का ज्योतिर्वैज्ञानिक महत्त्व रहा है। हमारी सम्पूर्ण परम्परा में उज्जयिनी विश्व का नाभिस्थल मानी जाती रही है तथा यहाँ प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग महाकाल की स्थिति भी किसी सनातन काल-सन्दर्भ का ही संकेत देती है।

आज्ञाचक्रं स्मृता काशी या बाला श्रुतिमूर्धनि
स्वाधिष्ठानं स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका
नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः (वराहपुराण)

ऐसी स्थिति में उज्जयिनी का महत्त्व विक्रमादित्य से प्राचीन है। चण्ड प्रद्योत के समय हिन्दू ज्ञान-विज्ञान या हिन्दू सनातन धर्म के अभ्युदय का समय था इसमें सन्देह है। उस समय बौद्ध धर्म का बोलबाला था तथा स्वयं चण्ड प्रद्योत के पुरोहित थेर काच्यायन (स्थविर कात्यायन) के उपदेश से व्यापक रूप से बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार अवन्ती क्षेत्र में हुआ, यहाँ तक कि स्वयं राजा चण्ड प्रद्योत ने भी बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।[14] अतः उससे पूर्व का महाभारत का काल ही उज्जयिनी को यह महत्त्व दिलाने वाला काल प्रतीत होता है। हमारी उपर्युक्त गणना से भी ई. पू. 2000 का काल ही 24° परम क्रान्ति का काल ठहरता है। यह ध्यान देने योग्य है कि उज्जयिनी महाभारत के महानायक योगेश्वर कृष्ण की न केवल विद्यास्थली रही है, अपितु उनकी ससुराल भी, क्योंकि अवन्ती के तत्कालीन शासक विन्द तथा अनुविन्द की बहन मित्रविन्दा ने श्रीकृष्ण से विवाह किया था।[15] इस प्रकार श्रीकृष्ण के उज्जयिनी के प्रति आग्रह को समझा जा सकता है। महाभारत में अवन्तिका तथा उज्जयिनी एवं उसके शासक विन्द तथा अनुविन्द का प्रचुर मात्रा में उल्लेख है।[16]

14. उज्जयिनी दर्शन : ग्वालियर, गवर्नमेन्ट रीजनल प्रेस 1957 पृ. 17
15. आवन्त्यां राजतनयां मित्रविन्दां मनोहराम्
स्वयंवरे तां जहार भगवान् रुक्मणिं यथा (गर्ग संहिता, द्वारका खण्ड 6/8/16)
16. महाभारत उद्योग पर्व, 99/24, 166. भीष्मपर्व, द्रोणपर्व आदि।

आवन्त्यौ च महीपालौ महाबल सुसवृतौ
अक्षौहिण्या च कौरव्यान्दुर्योधनमुपागतौ (उद्योग पर्व 99/)

कौरव–पाण्डवों के विग्रह से पूर्व पितामह भीष्म तथा अतिरथी पाण्डु के राज्य में भारत के इन कुरुओं की तूती तत्कालीन सम्पूर्ण विश्व में बजती थी। अतः आश्चर्य नहीं कि यहाँ के ज्ञान–विज्ञान को भी उस समय वैश्विक मान्यता प्राप्त हुई हो। अवन्ती उस समय सम्पूर्ण विद्याओं, कलाओं तथा ज्ञान–विज्ञान का केन्द्र थी ही। इसलिए कृष्ण–बलराम काशी–मथुरा छोड़कर उज्जैन पढ़ने आये तथा यहाँ उन्होंने सभी वेद–वेदाङ्ग एवं चौंसठ विद्याओं में निपुणता प्राप्त की।[17]

इस प्रकार ईसा पूर्व 2000 (महाभारत काल) से लेकर ईसा की बारहवीं शती तक उज्जैन में काव्य और शास्त्र की परम्परा के साथ–साथ ज्योतिर्विज्ञान तथा गणित की परम्परा भी यदा–कदा ऐतिहासिक विक्षोभों के साथ अबाध रूप से चलती रही। काव्य एवं शास्त्र के चिरन्तन दीप्तिमान् नक्षत्र भास, भर्तृहरि, शूद्रक, कालिदास, भारवि, सुबन्धु, दण्डी, हर्ष, बाणभट्ट, भवभूति प्रभृति के साथ ही ज्योतिर्विज्ञान के सितारे वराहमिहिर, पृथुयशा कल्याण वर्मा, ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य, भास्कर आदि भी उज्जैन की सांस्कृतिक आकाश–गंगा में दीर्घकाल तक दमकते रहे। इस पुराण प्रसिद्ध नगरी का इतिहास इक्ष्वाकु से लगभग 18वीं पीढ़ी के कार्तवीर्य अर्जुन के उत्तराधिकारियों भोज, अवन्ती, तुण्डिकर, वीर होत्र या वीति होत्र तथा तालजंघों से प्रारम्भ होता है[18] जो सत्ययुग की समाप्ति तथा त्रेता के प्रारम्भ में ईसा से लगभग 8,000 वर्ष पूर्व हुए।

उज्जयिनी की वेधशाला

बारहवीं शताब्दी के अन्त तक यद्यपि ज्योतिर्विज्ञान अपने चरम विकास तक पहुँच गया। सारी ग्रह गतियाँ, तिथि, नक्षत्र, पर्व, संक्रान्तियाँ, ग्रहण, योग, ज्योतिर्गणित के द्वारा निकाले जाने लगे। अनेक प्रकार के करण ग्रन्थ बनने लगे जो पञ्चाङ्ग निर्माण के रैडी रैकनर (Ready Reckoner) जैसे हो गये। किन्तु उससे इस विज्ञान की बहुत बड़ी क्षति भी हुई। अब लोगों ने आकाश–निरीक्षण लगभग बन्द कर दिया और व्रत पर्व वास्तविक आकाशीय घटनाओं पर आधारित न होकर गणितागत निष्कर्षों पर रूढ़ हो गये। अब यह महत्त्वपूर्ण नहीं रहा कि मकर संक्रान्ति को सूर्य का उत्तरायण हो भी रहा है या नहीं। पञ्चाङ्ग में जब मकर में सूर्य आ जायेगा उसी दिन मकर संक्रान्ति मना लेंगे। विषुव दिन को लोग भूल गये। माघ शुक्ल पञ्चमी ही वसन्त पञ्चमी रह गई भले ही वह शीत ऋतु में हो। कालान्तर में गणितागत निष्कर्षों में विचलन हो गया। भचक्रका आदि बिन्दु रेवती का अन्त ही अप्रासंगिक हो गया। यद्यपि कुछ मनीषी ज्योतिर्विदों ने इस ओर विद्वानों तथा सामान्य जनता का ध्यान आकर्षित किया, किन्तु तब तक आकाश निरीक्षण से पञ्चाङ्गों को शुद्ध करने या कि उसके आधार पर व्रत–पर्वों का निर्णय देने की परम्परा प्रायः समाप्त सी हो गई। ज्योतिर्विज्ञान के इसी ह्रास काल में सत्रहवीं सदी में महाराज सवाई जयसिंह (1686 से 1743) का आविर्भाव हुआ। सवाई जयसिंह को 1719 के लगभग दिल्लीश्वर मोहम्मद शाह ने मालवा का सूबेदार बनाया। जयसिंह भारतीय संस्कृति के बड़े अभिमानी थे। उन्हें ज्योतिष शास्त्र के प्रति बाल्यावस्था से ही इतनी रुचि थी कि उन्होंने भारतीय सिद्धान्तादि ग्रन्थों के साथ–साथ तत्कालीन उपलब्ध यूरोपीय व अरबी ज्योतिर्गणित विषयक ग्रन्थों का अध्ययन किया।[19] सौभाग्य से इसी समय जगन्नाथ सम्राट् नामक प्रसिद्ध ज्योतिषी हुए। वे महाराज जयसिंह के सभा पण्डित बने। उन्होंने महाराजा जयसिंह की आज्ञा से अरबी भाषा में लिखित इजास्ती नामक ज्योतिष ग्रन्थ का संस्कृत में अनुवाद किया। इसी प्रकार यूनानी विद्वान् यूक्लिद के रेखागणित का भी अरबी से संस्कृत में अनुवाद किया।[20] उन्होंने सम्राट्

---

17. कृत्वा परां गुरोः सेवां लघुकालेनमाधवौ
    सर्वविद्यां जग्मतुः सर्वविद्याविदांवरौ (गर्ग सं. मथुरा . ix - 23)
18. महाभारत का काल निर्णय : डॉ. मोहन गुप्त : विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 2003 परिशिष्ट 11 हैहय वंशावली पृ. 183.
    उज्जयिनी का सांस्कृतिक इतिहास : डॉ. शोभा कानूनगो प्रेम प्रकाशन इन्दौर 1972, पृ. 3–4.
19. उज्जयिनी दर्शन : ऊपर उद्धृत, पृ. 97.
20. भारतीय ज्योतिष : नेमिचन्द्र शास्त्री : ऊपर उद्धृत, पृ. 110

सिद्धान्त नामक सिद्धान्त ग्रन्थ की भी रचना की। सवाई जयसिंह ने अनुभव किया कि ग्रह-नक्षत्रों की आकाशीय तथा गणितीय स्थितियों में विचलन हो गया है। अतः उन्होंने ज्योतिर्विज्ञान को सही दिशा देने के उद्देश्य से भारत में स्थान-स्थान पर वेध कार्य के लिये वेधशालाएँ बनवाईं। सर्वप्रथम 1719 में उन्होंने उज्जैन में ही वेधशाला बनवाई, इसके बाद जयपुर, मथुरा तथा वाराणसी एवं दिल्ली में। उज्जैन की वेधशाला आज तक क्रियाशील है। इन वेधशालाओं में सम्राट् यन्त्र, भ्रान्तिवृत्त यन्त्र, चक्रयन्त्र, दक्षिणोत्तर वृत्त यन्त्र, दिगंश यन्त्र, उन्नतांश यन्त्र, कपाल यन्त्र, नाड़ी वलय यन्त्र, भित्ति यंत्र, राशिवलय यन्त्र इत्यादि यन्त्र जयसिंह ने अपनी स्वयं की कल्पना से पण्डित जगन्नाथ सम्राट के मार्गदर्शन में बनवाए। उज्जयिनी की वेधशाला में चार यन्त्र हैं-

1. सम्राट् यन्त्र, 2. नाड़ी वलय यन्त्र, 3. दिगंश यन्त्र, तथा 4. भित्ति यन्त्र

पाँचवें शंकु यन्त्र की स्थापना बाद में वेधशाला के अधीक्षक तथा प्रसिद्ध गणितज्ञ जी. एस. आप्टे ने करवाई। उन्होंने 'सर्वानन्दकरण' नामक एक करण ग्रन्थ भी लिखा।

सम्राट् यन्त्र- जहाँ अन्य सभी यन्त्रों का नाम उनकी बनावट या प्रयोजन के आधार पर रखा गया है, सम्राट् यन्त्र का नाम ऐसा लगता है, राजा जयसिंह के सभा पण्डित जगन्नाथ सम्राट् के सम्मान में रखा गया है। यह वेधशाला का प्रमुख यन्त्र है तथा अन्य यन्त्र न हों तो भी इस एकमात्र यन्त्र से सभी महत्त्वपूर्ण वेध लिये जा सकते हैं। जैसे- समय, क्रान्ति, ग्रहों के उन्नतांश, याम्योत्तर रेखा, लंघन का समय आदि।

इसकी ऊँचाई 22 फीट तथा जीने (Stair case) की लम्बाई 47'-6'' है। यह जीना ठीक दक्षिणोत्तर में बना है तथा पृथ्वी से इसका कोण उज्जैन के अक्षांश अर्थात् 23°-11' के बराबर है जिससे ध्रुवतारा ठीक जीने के सामने दिखाई देता है। इस प्रकार जीने की रेखा पृथ्वी की अक्ष के समानान्तर हो जाती है। इसके दोनों ओर दो वृत्त पाद (90° अंश के चौथाई गोल) बनाए गये हैं। उनकी त्रिज्या 6'-1'' है। ये दोनों वलय वस्तुतः पृथ्वी की परिधि के समानान्तर हो जाते हैं। अब परिधि अर्थात् दोनों ओर के गोल वलयों पर सूर्य एवं अन्य ग्रहों की गति नाड़ी वलय या विषुवत् रेखा पर देखी जा सकती है। इन वलयों पर जो निशान बने हैं वे पहिले घड़ी पल के थे। जीर्णोद्धार के बाद सम्भवतः 1923 में घण्टे मिनट के कर दिये गये। इनसे एक मिनट के तीसरे भाग अर्थात् 20 सेकिण्ड तक का स्थानीय समय सूर्य की छाया से जाना जा सकता है। जीने की दीवाल पर जो चिह्न बने हैं, उनसे किसी ग्रह की क्रान्ति निकाली जा सकती है कि कौन ग्रह विषुवत् रेखा से कितना उत्तर या दक्षिण में है।
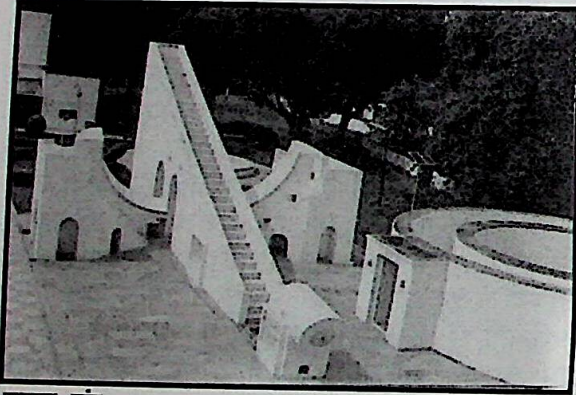
सम्राट यंत्र

इस यन्त्र के पास दिनांक, निर्देश के साथ एक सारिणी लगी हुई है उसमें स्थानीय समय से भारतीय मानक समय का प्रतिदिन का जो अन्तर है वह मिनिट/सेकिण्ड्स में दिया हुआ है। यन्त्र पर प्रकट समय में इसको धन/ऋण करने पर भारतीय मानक समय (IST) निकल आता है।

नाड़ी वलय यन्त्र- जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है यह यन्त्र नाड़ी वलय अर्थात् विषुवत् वृत्त के समानान्तर बनाया हुआ है। सम्राट यन्त्र के दक्षिण की ओर निर्मित यह यन्त्र चार फीट ऊँचे चबूतरे पर बनाया गया है। इसकी लम्बाई 7' है और व्यास 1'-6'' है। इस यन्त्र के उत्तर भाग की परिधि दक्षिण की ओर तथा दक्षिण भाग की परिधि उत्तर की ओर झुकी हुई है। यह झुकाव उज्जैन के अक्षांश के तुल्य है। यन्त्र के दोनों भागों में उत्तर और दक्षिण के सिरों के बीच दोनों ध्रुवों की ओर संकेत करने वाली दो कीलें पृथ्वी के धरातल के समानान्तर लगाई गई हैं। दोनों भागों में घण्टा मिनिट

नाड़ी वलय यन्त्र
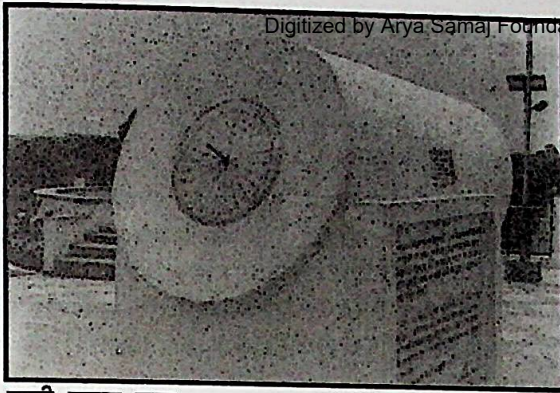
की रेखाएं भी बनी हुई हैं। कील की छाया नाड़ी वलय पर स्थित घड़ी पर पड़ती है जिससे सम्राट यन्त्र की तरह समय का ज्ञान होता है। इस यन्त्र का मुख्य कार्य यह देखना है कि कोई ग्रह या नक्षत्र उत्तरी गोलार्द्ध में है या दक्षिणी गोलार्द्ध में। इसके छोर पर आँख लगाकर देखने से विपरीत गोलार्द्ध का ग्रह उधर दिखाई नहीं देगा। सूर्य जब उत्तरी गोलार्द्ध में रहता है, तो दक्षिणी गोलार्द्ध प्रकाशित नहीं होता। इसी प्रकार सूर्य जब दक्षिणी गोलार्द्ध में (22 सित. से 21 मार्च) रहता है, तो उत्तरी गोलार्द्ध प्रकाशित नहीं होता। विषवुत् दिनों में (21 मार्च तथा 22 सितम्बर) को यन्त्र के दोनों भागों पर कीलों की छाया लुप्त हो जाती है। इन दिनों सूर्य विषुवत् वृत्त पर रहता है।

दिगंश यन्त्र- दो समकेन्द्रीय दीवालों पर बना हुआ यह यन्त्र नाड़ी वलय यन्त्र के पूर्व की ओर स्थित है। बाहर की दीवाल का व्यास 36' 10'' तथा भीतर की दीवाल का व्यास 24' 3'' है। इस यन्त्र द्वारा ग्रह नक्षत्रों के दिगंश (Azimuth) अर्थात् उत्तर के बिन्दु से पूर्व या पश्चिम की दूरी तथा उन्नतांश (Aetitude) अर्थात क्षितिज से उसकी ऊँचाई की गणना की जाती है। भीतर की दीवाल पर पूर्व और पश्चिम दर्शाने वाले दो बिन्दु अंकित हैं। इन दोनों पूर्व और पश्चिम दिग् बिन्दुओं से उत्तर और दक्षिण दोनों ओर शून्य से 90 अंश तक चिह्न अंकित हैं। जयसिंह के समय दीवार पर खुदे हुए अंकों के आधार पर दिंगश के वेध लिये जाते थे। किन्तु अब इसमें बीच में चार फीट ऊँचा तथा चार फीट व्यास का एक गोल चबूतरा है, जो गोलाकार दीवारों के केन्द्र में बनाया गया है। इस चबूतरे पर भी भीतर की दीवार के समान ही दिगंश अंकित किये गये हैं। चबूतरे के केन्द्र में चार फीट ऊँचा एक लोहे का दण्ड लगाया गया है, जिसे शंकु कहते हैं। उस पर एक तुरीय यन्त्र लगा दिया जाता है जिसके द्वारा ग्रह नक्षत्रादि के दिगंश और उन्नतांश के वेध लिये जाते हैं। यन्त्र पर जो परिचयात्मक सूचना लगी है वह इस प्रकार है-

दिगंश यन्त्र
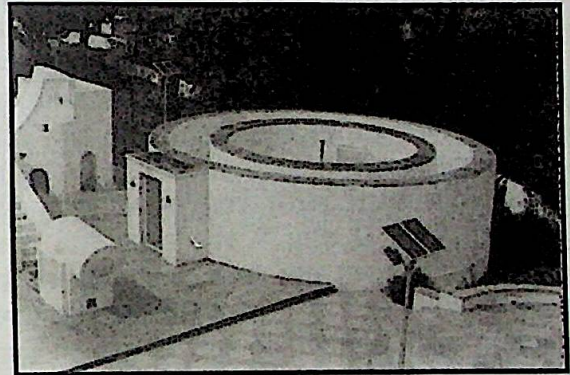
'इस यन्त्र के बीच में गोल चबूतरे पर लगे लोहे के दण्ड में तुरीय यन्त्र लगाने पर ग्रह-नक्षत्रों के उन्नतांश (क्षितिज वृत्त से ऊँचाई) और दिगंश (पूर्व पश्चिम दिशा के बिन्दु के क्षितिज वृत्त से कोणात्मक दूरी) मालूम होते हैं। तुरीय यन्त्र को इस प्रकार स्थिर कीजिये कि उसमें बने दो छेद तथा ग्रह अथवा नक्षत्र का केन्द्र अपनी आँख से सीध में हो। दण्ड के सिरे पर लगे चक्राकार तुरीय यन्त्र की घूमने वाली सुई दिगंश बतलाती है। तुरीय यंत्र पर लटकने वाला डोरा यन्त्र के किनारे पर जिस जगह होगा, वहाँ के अंक उन्नतांश होते हैं।[21]

भित्ति चित्र-यह यन्त्र दीवार के रूप में ठीक दक्षिणोत्तर दिशा में बनाया गया है। यह वेधशाला के दक्षिण में शिप्रा तट पर बनाया गया है। यह यन्त्र याम्योत्तर वृत्त (Meridian) पर निर्मित किया गया है। इस दीवाल की लम्बाई 25' है तथा ऊँचाई 33' है। दीवाल के ऊपरी सिरों पर उत्तर और दक्षिण कोण में एक-एक खूँटी लगाई गई है। प्रत्येक खूँटी को केन्द्र मानकर दीवाल के पूर्वी पटल

21. वेधशाला का सन् 2003 का दृश्य ग्रहस्थिति पञ्चाङ्ग, पृष्ठ 98.
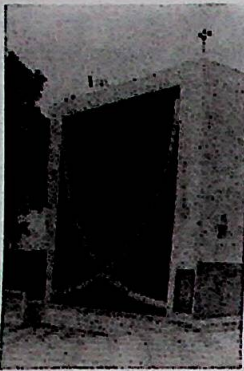
भित्ति यन्त्र

पर एक-दूसरे की त्रिज्या (radius) से एक-एक वृत्तपाद (90^0 का चौथाई गोला) बना हुआ है। जिस पर संगमरमर की पट्टी पर शून्य से 90^0 तक रेखाएँ अंकित हैं। सूर्य जब इस भित्ति पर आता है, तब स्थानीय मध्यान्ह काल होता है। इस समय इस यन्त्र में लगे हुए कीलों में एक डोरी लगाकर सूर्य के याम्योत्तर लंघन के समय कीले की छाया की सहायता से वह डोरी यन्त्रांकित वृत्तपाद में जहाँ स्पर्श करे वह अंक तात्कालिक सूर्य के याम्योत्तर वृत्तीय नतांश दिखलाता है-अर्थात् सूर्य मीरिडियन से कितना उत्तर या दक्षिण में झुका हुआ है। इन नतांशों से स्थानीय अक्षांश, सूर्य की क्रान्ति, वर्षमान आदि कई बातें प्रत्यक्ष उपलब्ध हो सकती हैं। सूर्य की ही तरह प्रत्येक ग्रह का याम्योत्तर लंघन काल तथा नतांश इस यन्त्र से जाना जा सकता है।

शंकु यन्त्र- सम्राट यन्त्र के उत्तर की ओर इस यन्त्र की स्थापना वेधशाला के तत्कालीन अध्यक्ष श्री जी. एस. आप्टे के तत्वावधान में की गई। क्षितिज वृत्त के समानान्तर 16 फीट व्यास का डेढ़ फुट ऊँचा एक गोल चबूतरा बना है। इसकी गोलाई में दिगंश आदि चिह्न लगाए गए हैं। इस शंकु के मूल से उत्तर तथा पश्चिम की ओर लाल पत्थर की दो पट्टियाँ बनाई गई हैं जो दिशाओं का बोध कराती हैं। शंकु के उत्तर की ओर एक सरल लाल रेखा बनाई गई है। इस सरल रेखा के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर अर्द्धवृत्ताकार छोटी-बड़ी तीन-तीन रेखाएँ अंकित हैं। इन लाल रेखाओं पर शंकु की छाया भ्रमण करती है। सबसे लम्बे दिन (21 जून) का परिचय सबसे लम्बी रेखा पर भ्रमण करती शंकु की छाया से होता है और सबसे छोटे दिन (22 दिसम्बर) का ज्ञान सबसे छोटी रेखा पर भ्रमण करती छाया से मिलता है। मध्य की रेखाएँ दिन के घटने-बढ़ने का क्रम दर्शाती है। अन्य यन्त्रों के समान ही इस यन्त्र से भी सूर्य की स्थिति छाया से जानी जाती है। इस यन्त्र के द्वारा भी समय, दिगंश, उन्नतांश और नतकाल आदि सरलता से जाने जा सकते हैं। शंकु की छाया का दीर्घ वृत्ताकार भ्रमण मार्ग देखकर पृथ्वी के दीर्घवृत्ताकार भ्रमण मार्ग का बोध होता है।[22]
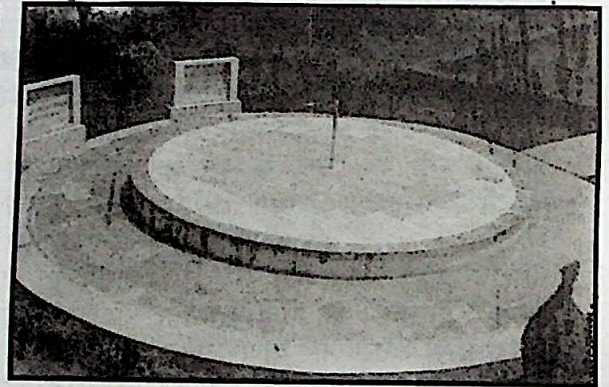
शंकु यन्त्र

यह वेधशाला लगभग दो सौ वर्षों तक उपेक्षित पड़ी रही। वर्ष 1904 में लोकमान्य तिलक के सानिध्य में मुम्बई में हुए अखिल भारतीय ज्योतिष सम्मेलन में उज्जैन के सिद्धान्तवागीश ज्योतिर्विद् नारायण जी महाराज तथा श्री जी. एस. आप्टे पधारे। उनके सुझाव तथा अनुरोध पर ग्वालियर राज्य के तत्कालीन शासक माधवराव शिन्दे ने सन् 1923 में इसका जीर्णोद्धार करवाया और पुनः कार्यक्षम बनाया। श्री आप्टे तथा श्री पुरुषोत्तम शर्मा जो वेधशाला के अध्यक्ष थे के समय तक यहाँ विधिवत् वेध लिया जाता रहा। बाद में यह पुनः उपेक्षित सी हो गई। इस अर्थ में कि इसका सार्थक उपयोग नहीं हो रहा है। अब सिंहस्थ 2004 की दृष्टि से इसकी पुनः साफ-सफाई की गई है तथा परिसर को पक्का तथा बेहतर बनाया जा रहा है। इधर विक्रम विश्वविद्यालय में ज्योतिर्विज्ञान विभाग भी खुल गया है। अतः आशा है कि भविष्य में इसका सार्थक उपयोग न केवल पर्यटकों द्वारा अपितु ज्योतिर्विज्ञान के विद्यार्थियों तथा शोधार्थियों द्वारा भी हो सकेगा ताकि हमारा प्राचीन ज्ञान विस्मृत होने से बच जाय और हम केवल नाटिकल एल्मानैक (Nautical Almanac) के परमुखापेक्षी होकर न रह जाएँ। उज्जैन की समृद्ध ज्योतिर्वैज्ञानिक परम्परा के ऋषिऋण से भी हम तभी मुक्त हो सकते हैं।

22. उज्जैन की वेधशाला : देवस्थान प्रशासन उज्जैन, सिंहस्थ 1980 पृ. 9.

उज्जयिनी की शैवतांत्रिक साधना

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

खण्ड-(क) आगम या तन्त्र :

तंत्र और आगम परस्पर पर्याय बनकर परिभाषित अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। उदाहरण के लिए 'मृगेन्द्रतंत्र-मृगेन्द्रागम, शैवतंत्र-शैवागम, भैरवतंत्र-भैरवागम' इत्यादि प्रयोग लिए जा सकते हैं। 'मालिनी विजयवार्तिक' तथा 'तंत्रालोक' आदि ग्रन्थों में भी शिव के पंचवक्त्र से दश शैवागम, अष्टादश शैवागम तथा चतु:षष्टि भैरवागम के प्रकारों का निरूपण है। इन स्थलों में 'आगम' शब्द से तंत्र का व्यवहार सुस्पष्ट निरूपित हुआ है। फलतः तंत्र के पर्यायवाची 'आगम' की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए कहा गया है-''आङ् उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक गम् धातु से 'ग्रह वृदृनिश्चिगमश्च' इस पाणिनीय सूत्र से कर्म, करण तथा अधिकरण अर्थ में अप् प्रत्यय होने पर 'आगम' शब्द निष्पन्न होता है। इसका विग्रह होगा-

आगम्यते यो, येन, यम् वेति

फलतः गति तथा प्राप्ति उभयविध धात्वर्थ को दृष्टिगत कर इसका अर्थ होगा-सम्यक् प्रगति, सम्यक् साधन तथा सम्यक् ज्ञानाधिकरण। सम्यक् प्रगति का विषय मोक्ष रूप पुरुषार्थ ही है- फलतः अर्थ होगा-मोक्षतत्त्व, दूसरा अर्थ होगा मोक्ष साधन और तीसरा अर्थ होगा आत्मज्ञान या सम्यक् ज्ञान और उसका अधिकरण होगा-आत्मा। फलतः आत्मा ही आगम या तंत्र का मुख्य अर्थ होगा। काशी के सुप्रसिद्ध वैयाकरणाचार्य पं. रामप्रसाद त्रिपाठी ने 'रुद्रयामल' की भूमिका से अपना यह अभिमत रखा है। पर आगम परम्परा कुछ और कहती है। व्युत्पत्ति निमित्त और प्रवृत्ति निमित्त भिन्न-भिन्न होते हैं। व्युत्पत्ति से कुछ और अर्थ मिलता है और एक विशिष्ट परम्परा में उसका प्रयोग कुछ और कोई निमित्त बनाकर किया जाता है।

परम्परा मानती है कि तत्त्वतः वह परमशक्ति ही आगम है जो अभिन्न रूप से अपने पारमेश्वरूप का विमर्शन करती है। शास्त्र उपाय होने के कारण और शब्द सन्दर्भ प्रतिपादक होने के कारण उपचारतः आगम कहे जाते हैं। यह शक्ति ही प्रतिभा है, अतः आगम को प्रतिभात्मक भी कहा गया है। 'आगम' को आप्तोपदेश भी कहा गया है। आप्ति अथवा अधिगति वक्तव्य वस्तु-विषयक जिसमें हो-वह 'आप्त' कहा जाता है। उसका उपदेश भी 'आगम' ही है। यह वक्तव्य विषयक ज्ञान कभी शब्दबद्ध भी होता है और कभी महाजनानुष्ठान रूप से अशब्दबद्ध भी। पर दोनों रूपों में उसकी प्रसिद्धि रहती है। इसलिए लोक में 'प्रसिद्धि' को भी आगम कहा जाता है। व्याकरण के विषय में पाणिनि की ही लोक में प्रसिद्धि है न कि गौतम या कणाद की। जिसकी लोक में प्रसिद्धि है वही उस विषय में आप्त है। आप्त इसलिए आप्त यानी प्राप्त है, क्योंकि वही परम्परा में प्रवहमान तत्त्व को, जो कालवश उच्छिन्न हो गया था, हृदयंगम करके जनजीवन में जगत् के बीच प्रकट करता है।

भगवान् कृष्ण ने विच्छिन्न किन्तु परम्परा में प्रवहमान कर्मयोग को पुनः अर्जुन के लिए प्रकट किया था। वसुगुप्त ने विच्छिन्न शैवागम का प्रस्तर-टंकित शिवसूत्रों से पुनरुद्धार किया था। 'आगम' शब्द के मूल में प्रधानतः परम्परा ख्याति ही है। इस परम्परा की उपनिषद् प्रसिद्धि या निरूढ़ि है। आरम्भ में लोक-प्रसिद्धि ही आगमस्वरूप सद्गुरु के वरण में आधार है। यह प्रसिद्धि ही आगम है-तभी कहा गया है-

प्रसिद्धिरागमो लोके

यह प्रसिद्धि दो रूपों में देखी जाती है- एक तो उसके द्वारा किए गए शब्दबंध में अथवा उससे आचरित अनुष्ठान में। पहले को 'निबद्ध' और दूसरे को 'अनिबद्ध' कहा जाता है। दोनों के मूल में प्रतिभात्मक विमर्श शक्ति ही है- अतएव पराशक्ति को ही तत्त्वतः आगम या तंत्र कहा जाता है। तभी कहा गया है-

'प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम एवेति'

इसलिए 'आगच्छति-इति आगमः' भी कहा गया है, अर्थात् जो अनादि काल से परम्परा से चलता चला आ रहा है। परतत्त्व ही गुरु-शिष्यभावापन्न होकर आगमात्मक ज्ञान का शब्दन करता है, स्वरूप निर्मित करता है-

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्।।

निगम से 'आगम' की ज्ञानमयता की दृष्टि से एकरूपता है परन्तु किसी दृष्टि से भिन्नता भी है। निगम निःशेषेण गमः है पर आगम 'ईषद् उपासनारूपस्यांशस्य गमो यस्मात्' है। निगम में परमार्थोपलब्धि के निमित्त ज्ञान, भक्ति और कर्म सभी मार्गों के संकेत हैं, परन्तु आगम में भक्ति-तत्त्व का अंगीरूप में विशेष प्रतिपादन है। निगममूलक दर्शनों में अंगीस्वरूप चिदाह्लादमयी शक्ति का कहीं भी प्रतिपादन नहीं है। यह आगम ही है, जहाँ इसका सम्यक् प्रतिपादन है। आगम अकर्तृक नहीं है, निगम अकर्तृक है। सर्वविध आगम का विलोप होने पर भी बीजरूप में वह निगम में सुरक्षित रहता है।

डॉ. शशिभूषण दास गुप्त ने अपने Obscure Religious Cults में ठीक ही कहा है कि मानव श्रद्धावान् पुरुष है- अतः रुचिभेद से वह अपनी श्रद्धा का आलम्बन ढूँढता रहता है- किसी अज्ञात आन्तरिक हेतु से किसी के प्रति सश्रद्ध हो उठता है। यह आलम्बन वर्ग भी हो सकता है- व्यक्ति भी हो सकता है। भवभूति ने कहा है-

''व्यतिषजति पदार्थान्तरः कोऽपि हेतुः''

तथा- **''न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते''**

जिन विशेषताओं से या गुणकर्मों से आकृष्ट होता है श्रद्धावान्- उन गुणकर्मों को वह आत्मगत भी करना चाहता है- तदर्थ किया गया आचरण सामान्यतः धार्मिक आचरण कहा जाता है। रुचि-भेद से आलम्बन-भेद और आलम्बन-भेद से धर्म-भेद, सम्प्रदाय-भेद हो जाता है। इस प्रकार अनेक सम्प्रदाय भेद हुए होंगे। परम्परा में प्रवहमान तांत्रिक पद्धतिं को उपयोगी देखकर जिस-जिस सम्प्रदाय या धार्मिक वर्ग ने अपनाया-वह तंत्रवाद से जुड़ता गया।

प्रत्येक व्यक्ति कुछ बनना चाहता है। अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुरूप, पर बनने या होने के लिए शक्ति चाहिए। जब वह स्वयं को अशक्त समझता है तब किसी 'शक्ति-सम्पन्न' से जुड़ता है। सोचिए कि जिससे जुड़कर श्रद्धालु अपने में कुछ होने का अभिमान करता है-फिर 'वही' होकर क्या से क्या हो जाएगा। यही शक्ति आगम है। इसे आयत्त होने की पद्धति तांत्रिक पद्धति है। शक्ति को स्वायत्त कर लेने पर तद्रूप हो जाना एक तांत्रिक की चरम सिद्धि है। रुचि-भेद से आलम्बन-भेद और आलम्बन-भेद से पद्धति भेद होता जाता है। फिर विधाएँ बनती जाती हैं। उत्तर मध्यकालीन उज्जयिनी में इन्हीं विधाओं की खोज करनी है।

प्राणी मानवेतर भी है और मानव भी परन्तु
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः

मानवेतर से मानव को पृथक् करने वाली विशेषता है -धर्म। इससे हीन होने पर मानव अपनी पहचान खो देता है और वह द्विपाद पशु ही माना जाता है। प्राणन क्रिया के साथ जीवनयापन में पशु प्रकृति परिचालित है पर मानव प्रकृति परिचालित होने के साथ कर्तृत्वगत स्वातन्त्र्य और बुद्धिगत विवेक सम्पन्न होने के कारण अर्जित ज्ञान से 'कामाचारपूर्वक' भी जीवनयापन कर सकता है और 'शास्त्राचारपूर्वक' भी। गीता कहती है-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।[1]

शास्त्राचार छोड़कर जो कामचारपूर्वक जीवनयापन करता है। उसकी मानवता अचरितार्थ ही रह जाती है-फलतः वह दुर्गति को प्राप्त करता है। शास्त्र समधिगम्य कर्म ही धर्म है-यह सही कि शास्त्र का मर्म वही समझता है जो प्रज्ञावान् है। कहा गया है-

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलन्तु बहुश्रुतः।
शास्त्रार्थं न विजानाति दर्वी सूपरसं यथा।[2]

जिस मनुष्य के पास अपनी निजी प्रज्ञा नहीं है-केवल वह बहुश्रुत है-वह शास्त्र के मर्म को वैसे ही नहीं समझता जैसे दाल में पड़ी कलछुल दाल का रस नहीं समझती। इसलिए धर्म के विभिन्न स्रोत भी कहे गये हैं-

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।[3]

वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतोषकारी कर्म ही धर्म है। आत्मतोषकारिता ही धर्म को Religion तथा मजहब से व्यापक सिद्ध करती है। उसके निर्णय में संस्था, पवित्र पुस्तक या उपदेष्टा ही सबकुछ नहीं है- उसमें आचरणशील व्यक्ति का भी योगदान है। शास्त्र के प्रवर्त्तक और निवर्त्तक वाक्य ही प्रेरणाप्रद होने के कारण धर्म में प्रमाण माने जाते हैं। मीमांसा दर्शन प्रेरणा को ही धर्म कहता है-

चोदना (प्रेरणा) लक्षणोऽर्थः धर्मः।[4]

सांख्य दर्शन कहता है कि शास्त्र विहित कर्म से उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति ही धर्म है। न्याय और वैशेषिक कहता है कि शास्त्र विहित कर्मों से जीवात्मा में उत्पन्न हुए गुण को धर्म कहा जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि शुभकर्म से उत्पन्न 'अपूर्व' ही धर्म है। जैन दर्शन मानता है कि शुभकर्म से वासित पुद्गल ही धर्म है। बौद्ध मानता है विज्ञान-धारा के पूर्व-विज्ञान से किए गए शुभकर्म से उत्तर विज्ञान में संक्रान्त वासना ही धर्म है। इस प्रकार धर्म की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। जैन दर्शन तो यह भी कहता है-वत्थुसहावो धम्मो-वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है। मानव की स्वगत मानवता ही धर्म है-जो रागाधृत परदुःखकातरता का दूसरा नाम है। इस प्रकार धर्म के सम्बन्ध में विभिन्न विचार मिलते हैं पर व्यवहार में मंगल-विधायक कर्म ही धर्म कहा जाता है। मतलब धर्म हमारा आचार-पक्ष है।[5]

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता।
2. महाभारत।
3. मनुःस्मृति, 2/11.
4. द्वादशलक्षणी, द्वितीय सूत्र।
5. सनातन धर्मोद्धार, प्रथम खण्ड।

दर्शन :

भारत में 'दर्शन' का मुख्य अर्थ है-प्रत्यक्ष या अपरोक्ष अनुभूति। ऐसी अनुभूति जो अन्य निरपेक्ष या साक्षात् हो। उपनिषद् कहती है-

यत् साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म। [6]

व्यापकतम विराट् चिन्मयी सत्ता ही साक्षात् अपरोक्षानुभूति है। हमारा 'दर्शन' फिलॉसफी (विद्यानुराग) नहीं है- विद्या ही है- बोध ही है- तत्त्वबोध ही है। इसलिए यहाँ दर्शन जीवनदर्शन है, जो त्रिकोण है-उसके शीर्ष पर गन्तव्य है और उस तक पहुँचने वाला एक कोण पर आचार तथा दूसरे कोण पर उसके प्रति आस्था के दृढ़ीकरण के लिए अपनाया गया विचार है। दर्शनार्थ होने से विचार भी उपचारतः दर्शन कहा जाता है।

खण्ड-ख :

उत्तर मध्यकाल में हमें जो विरासत मिली है, उसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीन मुख्य धाराएँ हैं। लोकायत का सबने विरोध किया है। रावटी यदि मालवांचल में है, तो सूफीमत भी लिया जा सकता है। ब्राह्मण धारा में अनेक विधाएँ हैं-शैव, शाक्त, वैष्णव आदि। मध्यकाल में इन सभी धर्मों में तांत्रिक पद्धति का समावेश हुआ। तांत्रिक पद्धति की पहचान ऊपर बता दी गई है और वह पहचान है-'शक्ति (चिदाह्लादमयी) का स्वीकार। फिर सभी देवताओं की परिकल्पना 'शक्ति समवेत' रूप में होने लगी।

निम्न तल वाले निमाड़ से उन्नत तल वाला मालवा अपनी सीमा भिन्न रखता है। इसी परिक्षेत्र में उज्जैन मुख्यतः आता है। इस क्षेत्र में प्रचलित तांत्रिक विधाओं में सबसे पहले शैव आते हैं। उज्जयिनी तो ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर का पुनीत तीर्थ है ही। मध्य युग के पूर्व धर्म की धारा जिन चतुर्विध केन्द्रों से प्रभावित हो रही थी, वे हैं-चरण, देवालय, मठ और इतर। भारतीय परम्परा में दर्शन धर्म से अविच्छेद्य रूप से जुड़ा है। चरण परम्परा गुप्तकाल के बाद धीरे-धीरे उच्छिन्न होने लगी थी। साधारणतः मठ परम्परा शैवों से आरम्भ हुई। शैव को मध्यकाल में राज्याश्रय प्राप्त था। पर पूर्व मध्य युग के अन्त में उत्तर भारतीय हिन्दू राजाओं की सत्ता ध्वस्त हो जाने से मठ भी ध्वस्त कर दिए गए। फलतः इनका प्रभाव समाप्त हो गया। ठीक उसी तरह जैसे विहारवासी बौद्ध भिक्षु बख्तियार खिलजी के आक्रमण से प्रभावहीन हो गए थे। सम्भवतः यही कारण हो कि आज मालवांचल में शैव मठों का अस्तित्व कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। महाकाल मन्दिर भी ध्वस्त कर दिया गया, पर आस्तिकों ने उसे जैसे-तैसे बरकरार रखा। निश्चय ही इसमें शैव उपासकों का भी योगदान रहा होगा। सिंहस्थ में शैव संन्यासी रुद्रसागर पर अपना शिविर किसी परम्परा से जुड़कर ही लगाते होंगे। यह सही है कि उज्जयिनी का सिंहस्थ जोरदार ढंग से सिंधिया राज्य में शुरू हुआ। इन सबसे मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि यथाकथञ्चित् शैवी उपासना की परम्परा यहाँ निरन्तर बनी रही। 'षड्दर्शन समुच्चय' में चार प्रकार के शैव सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है-शैव सिद्धान्त, पाशुपत, कालानन और कापालिक। शैव वैशेषिक और पाशुपत नैयायिक थे। कालानन और कापालिक अपनी अधिक उग्र साधनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं।

शैव सिद्धान्त का प्रचार-क्षेत्र यों तो तमिल प्रदेश है, परन्तु धार के भोजराज ने 'तत्त्व प्रकाशिका' (शिवतत्त्व रत्नकलिका) में शैव सिद्धान्त का उपस्थापन किया है। यद्यपि इनकी स्थिति हमारे उपरोक्त काल में नहीं है। इस ग्रन्थ में शिव, शक्ति तथा बिन्दु का विवेचन है। शिव कर्ता हैं, शक्ति करण तथा बिन्दु उपादान कारक के रूप में विवेचित है। पाशुपत का प्रचार-क्षेत्र गुजरात था। कापालिकों ने आचार्य शंकर को परेशान किया था- फलतः सम्भव है इस क्षेत्र में भी उनका संचार रहा हो। कालमुख या कालानन के विषय में कुछ कहना कठिन है।

---

6. वेदान्त परिभाषा में उद्धृत।

उज्जयिनी का शिव से अनादि सम्बन्ध है। इसका नामकरण भी उन्हीं के ऊर्ध्व जयन से सम्बद्ध है। पुराकाल में ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर त्रिपुर नामक महा असुर महा दुर्दान्त और दुर्धर्ष हो उठा था। वह केवल पार्वती ही थी जो इसे ध्वस्त कर सकती थी। अतः देवता और शास्त्रों की रक्षा के लिए स्वयं महादेव को पार्वती-प्रीत्यर्थ तपस्या करनी पड़ी। प्रसन्न देवी के कारण ही उन्हें पाशुपत अस्त्र प्राप्त हुआ। इसी अस्त्र से शिव ने त्रिपुर को तीन खण्डों में ध्वस्त किया। इसी विजय के कारण इस पुरी का नाम उज्जयिनी पड़ा। उज्जयिनी ऊपर की ओर जीतने वाली पुरी है। कहा जाता है कि उज्जयिनी की (नयापुरा स्थित) 64 योगिनियाँ इस पुरी की रक्षा करती हैं। यों तो रक्षाकर्त्ता के रूप में हरसिद्धि का भी नाम लिया जाता है। गढ़ की कालिका कालिदास की और हरसिद्धि विक्रमादित्य की आराध्या कही जाती हैं। सुना यह भी जाता है कि वे दोनों शक्तियाँ अन्तर्हित यंत्र-विशेष पर प्रतिष्ठापित हैं। 'हरसिद्धि' मन्दिर में श्रीयंत्र भी ऊपरी छत पर प्रतिष्ठित है। इससे संकेत मिलता है कि यहाँ शैव और शाक्त उपासकों के बीच श्रीचक्र की उपासना चलती रही होगी। आज भी शंकराचार्य और उनसे दीक्षित शैव संन्यासियों में श्रीविद्या की उपासना प्रचलित है।

परमसत्ता समरस है- शिव और शक्ति मूल अवस्था में समरस हैं। शिवतत्त्व के उपासक शैव और शक्ति तत्त्व के उपासक शाक्त हैं। श्री विद्या ही तांत्रिक विद्या के रूप में प्रचलित है। निम्नलिखित श्लोक से उसका परिचय मिलता है-

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्ममन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च श्रीचक्रराजमुदितं परदेवतायाः।।

महात्रिपुर सुन्दरी की उपासना श्रीचक्र तंत्र से की जाती है। उसे श्रीपुर, श्री चक्र अथवा श्रीयंत्र कहा जाता है। यह नवचक्रमय है। इसमें पाँच अधोमुख शक्ति-चक्र हैं ▽ और चार ऊर्ध्वमुख शिव-चक्र △ कुल नवचक्र हैं।

संहार चक्र	शिव चक्र	शक्ति चक्र
1. बिन्दु	1. बिन्दु	1. त्रिकोण
2. त्रिकोण	2. अष्टदल	2. अष्टकोण
3. अष्टकोण	3. षोडशदल	3. अन्तर्दशार
	4. चतुरस्र (भूपुर)	4. बहिर्दशार
		5. चतुर्दशार

स्थिति चक्र	सृष्टि चक्र
4. अन्तर्दशार	7. अष्टदल पद्म
5. बहिर्दशार	8. षोडशदल पद्म
6. चतुर्दशार	9. चतुरस्र (तीन वृत्त और भूपुर)

बिन्दु से चतुरस्र तक विश्व का विस्तार है।

यंत्र भी देवी का रूप है और मंत्र उनका नाम। यह श्रीमाता का मन्दिर है। यह एक ओर समष्टि अथवा महासमष्टि रूप विश्व है और दूसरी ओर व्यष्टि रूप मानव-देह। यह दोनों के साथ अभिन्न है।

उज्जयिनी मन्दिरों का नगर है। यहाँ एक नाशा (सिंहपुरी), भद्रकाली (चौबीस खम्भा), अवन्तिका (महाकाल में), नवदुर्गा (अब्दालपुरा), चौंसठयोगिनी (नयापुरा), विन्ध्यवासिनी (गढ़ पर), वैष्णवी (सिंहपुरी), कपाली (जोगपुरा), छिन्नमस्ता (अब्दालपुरा), वाराही (कार्तिक चौक), चामुण्डा (सिविल अस्पताल) तथा सन्तोषी माता (हरसिद्धि के पीछे)।

शक्ति तो एक ही है पर वह कार्य-भेद से विभिन्न रूपों एवं नामों से स्मरण की जाती है। तंत्रों की देवी में आठ शक्तियों का नाम आता है, इसलिए वह अष्टभुजी भी कहलाती है। देवी की सहायक सात शक्तियाँ हैं-ब्रह्माणी या ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही तथा ऐन्द्री। ऊपर वैष्णवी तथा वाराही का उल्लेख है।

इसी प्रकार विद्या के दो भेद हैं-क्षुद्रविद्या और महाविद्या। मनीषियों ने महाविद्या के दस भेद कहे हैं। कुछ तांत्रिक विद्वान् महाविद्याओं को साधन की भिन्न अवस्था स्वीकार करते हैं। अब्दालपुरा की छिन्नमस्ता इन्हीं महाविद्याओं में से एक है। महाविद्या दस हैं-काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, मातंगी, बगलामुखी तथा कमला। धूमावती-विधवा है, शेष नौ भिन्न-भिन्न शिवों की शक्तियाँ हैं।

भैरवोपासना भी एक तांत्रिक विद्या है। इस अंचल में अष्टभैरव के मन्दिर भी हैं-जिनकी उपासनाएँ कभी जीवन्त रही होंगी। अष्टमहाभैरव इस प्रकार है- (1) देवप्रयाग के पास -दण्डपाणि। (2) ओखलेश्वर के पास- विक्रान्त भैरव- जिनकी उपासना डबराल बाबा करते हैं। (3) सिंहपुरी में - महाभैरव। (4) सिंहपुरी में क्षेत्रपाल। (5) ब्रह्मपोल में बटुक भैरव। (6) मल्लिकार्जुन पर -आनन्द भैरव। (7) गढ़ पर- गौर भैरव तथा (8) भैरवगढ़ पर - कालभैरव।

अभिनव गुप्त ने 'तंत्रालोक में बृहस्पतिपाद कृत 'शिवतनु शास्त्र' के श्लोकों को उद्धृत कर बताया कि उनमें अन्वर्थ नामों से भगवान भैरव की स्तुति की गई है। श्लोक इस प्रकार है-

भीरूणामभयप्रदो भवभयाक्रन्दस्य हेतुस्ततो,
हृद्धाम्नि प्रथितश्च भीरवरुचामीशोऽन्तकस्यान्तकः।
भीरं वायति यः स्वयोगिनिवहस्तस्य प्रर्भुभैरवो,
विश्वस्मिन् भरणादयं विजयते ईशानरूपः परः।

भैरव को कई कारणों से 'भैरव' कहा जाता है-

1. वह भीरुओं को अभय प्रदान करता है।
2. वह भवभय से रुलाता रहता है।
3. वह विश्व का भरण-पोषण एवं वमन करने वाला है तथा
4. त्राहि-त्राहि करने वालों के हृदय-धाम में रहकर उनका उद्धार करता है।

मतलब निग्रह और अनुग्रह दोनों वही करता है इसलिए वह 'पंचकृत्यकारी' कहा जाता है। वह काल का भी काल है इसलिए 'कालभैरव' कहा जाता है। वह काल कालचक्र योगियों के हृदय में भी समाधि दशा में प्रकट होता है और अज्ञानियों के भी। बाह्य और अन्तःकरण की अधिष्ठात्री शक्तियों (खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी) के रूप में प्रकट होता है। भगवान का यह स्वरूप महाभयानक भी है और सौम्य भी है। भया (भिया) सर्व ख्याति अर्थात् संवित्प्रकाश से जो सर्वविषयक विमर्श करता हो - वह भैरव है। 'भैरव' - पद में चार घटक हैं- 'भा ऐ र व'। अर्थात् ऐकार रूप क्रिया-शक्ति में संयुक्त महेश्वर अपने संवित् प्रकाश रूप स्वभाव से सारे पदार्थों का विमर्श करता है-इसलिए वह 'भैरव' कहलाता है। अष्टभैरवों में 'विक्रान्त भैरव' की उपासना उज्जयिनी में आज भी जीवित है।

नाथों की भी गणना शैव उपासकों में ही होती है। आदिनाथ शिव ही हैं। 'तंत्रालोक' में अभिनव गुप्त ने मच्छंदपाद का स्मरण बड़ी श्रद्धा से किया है-

रागारुणग्रन्थिविलाविकीर्णं यो जालमातानवितानवृत्ति।
कलोम्भितं ब्राह्यपथे चकारस्तान्मे स मच्छन्दविभुः प्रसन्नः॥

भैरव से भैरवी ने (नाथ) योग प्राप्त किया और उससे मीन नामक सिद्ध ने प्राप्त किया। महापीठ कामरूप में मच्छन्द अवस्थित थे। अन्य तांत्रिक क्रियाओं कौल प्रक्रिया प्रधान है। कहा गया है-

कौलात् परतरं न हि।

इसके अवतारक मच्छन्दनाथ ही हैं।

भैरव्या भैरवात्प्राप्तं योगं व्याप्यः ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने॥
कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना॥

मच्छन्दनाथ मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं जो गुरु गोरखनाथ के गुरु थे। इन्होंने योगिनी कौलमत का प्रवर्तन किया था। इस प्रक्रिया में प्रच्युति का खतरा देखकर गोरखनाथ ने इससे अपने को पृथक् कर लिया था और 'योग' मार्ग का सहारा लिया था। पिण्डपद सामरस्य दोनों का लक्ष्य था पर तांत्रिक प्रक्रिया भिन्न थी। एक तरफ उज्जैन में पीर मछन्दर की समाधि है और दूसरी ओर नाथपंथी मामू-भानजे की। ये मामू-भानजे और कोई नहीं, राजा भरथरी और बहन मयनामती के पुत्र हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि पहले यह बौद्ध-विहार रहा होगा, बाद में नाथों ने अपने अधिकार में ले लिया होगा। आज यह नाथपंथी साधुओं की तपःस्थली है। ये लोग ज्ञान से स्वरूप-बोध और योग से प्रारब्ध जाय कर लेते हैं। योग के बल से चिदग्नि जागरण कर उससे सप्त धातुमय शुक्रज शरीर को दग्ध कर चिन्मय पिण्ड की उपलब्धि करते हैं, जो परम पद से समरस हो जाता है। ये अद्वयमार्गी प्रस्थान है।

तंत्र की प्रक्रिया विस्मृत-फलतः अनायत्त शक्ति का स्मरणपूर्वक आयत्तीकरण की है जो अध्यात्म की सर्वोच्च भूमि है। कार्य मात्र शक्ति-साध्य है। कार्यभेद से शक्ति का स्तर-भेद होता है। भौतिक उपलब्धि उसका अधोनयी रूप है जो अन्ततः विनाश की ओर ले जाता है। इसलिए तन्त्र ग्रन्थों में इसकी भरपूर निन्दा की गई है।

अन्य धार्मिक पक्ष :

ऊपर जिस प्रकार शक्ति के विभिन्न रूपों का उल्लेख मिलता है, उसी प्रकार अवन्तिका क्षेत्र में 84 महादेव का भी वर्णन मिलता है-

(1) श्री अगस्त्येश्वर महादेव लिंग (हरसिद्धि मन्दिर के पीछे, सन्तोषी माता के मन्दिर में मंन्दिर है।)

(2) श्री गुह्येश्वर महादेव लिंग (शिप्रा नदी किनारे रामघाट पर बुरन्जा पर पहिला छोटा मन्दिर है।)

(3) श्री ढुण्ढेश्वर महादेव लिंग (शिप्रा नदी पर रामघाट के सामने रामसीढ़ी पर दांये हाथ की बाजू में मन्दिर है।)

(4) श्री डमरुकेश्वर महादेव लिंग (रामघाट के सामने रामसीढ़ी पर ढुण्ढेश्वर मन्दिर के सामने मन्दिर है।)

(5) श्री अनादिकल्पेश्वर महादेव लिंग (महाकाल मन्दिर क्षेत्र में जूना महाकाल के पास मन्दिर है।)

(6) श्री स्वर्ण जालेश्वर महादेव लिंग (रामघाट के सामने रामसीढ़ी पर ढुण्ढेश्वर के बाजू में मन्दिर है।)

(7) श्री त्रिविष्टेश्वर महादेव लिंग (महाकाल मन्दिर से ओंकारेश्वर के पीछे महाकाल सभा मण्डप में उतरने की सीढ़ी के पास है।)

(8) श्री कपालेश्वर महादेव लिंग दानी दरवाजा के पास अनन्त पेठ में बिना नींव की मस्जिद के पीछे मन्दिर है।)

(9) श्री स्वर्गद्वार पालेश्वर महादेव लिंग (नलिया बाखल के बाजू में खंदार मोहल्ले के पीछे मन्दिर है।)

(10) श्री कर्कोटेश्वर महादेव लिंग (हरसिद्धि मन्दिर क्षेत्र में प्रमुख मन्दिर है)

(11) श्री सिद्धेश्वर महादेव लिंग (सिद्धनाथ-भैरवगढ़ क्षेत्र में मुख्य द्वार के पास मन्दिर है।)

(12) श्री लोकपालेश्वर महादेव लिंग (कार्तिक चौक के पास हरसिद्धि दरवाजा चौक में मन्दिर है।)

(13) श्री मनकामनेश्वर महादेव लिंग (क्षिप्रा नदी किनारे गन्धर्व घाट पर उदासी अखाड़े के पास मन्दिर है।)

(14) श्री कुटुम्बेश्वर महादेव लिंग (कार्तिक चौक के पास सिंहपुरी की गली में मंगलनाथ मन्दिर के सामने है।)

(15) श्री इन्द्रप्रद्युम्नेश्वर महादेव लिंग (पटनी बाजार के पास मोदी की गली में खोखा माता मन्दिर में स्थान है।)

(16) श्री ईशानेश्वर महादेव लिंग (मोदी की गली में मोदी जी के मकान के पास मन्दिर है।)

(17) श्री अप्सरेश्वर महादेव लिंग (पटनी बाजार के पास सुगन्धी की गली में मन्दिर है।)

(18) श्री कलकलेश्वर महादेव लिंग (मोदी की गली में मोदी जी के मकान के पीछे मन्दिर है।)

(19) श्री नागचन्द्रेश्वर महादेव लिंग (पटनी बाजार के पास नागनाथ की गली में मन्दिर है।)

(20) श्री प्रतिहारेश्वर महादेव लिंग (नागचन्द्रेश्वर मन्दिर क्षेत्र में स्थान है।)

(21) श्री श्री कुक्कटेश्वर महादेव लिंग (क्षिप्रा नदी के किनारे गंधर्व घाट पर मन कामनेश्वर के पास मन्दरी है।)

(22) श्री कर्कटेश्वर महादेव लिंग (ढाबारोड़ की पीछे की गली में गली के किनारेमन्दिरहै)

(23) श्री मेघनादेश्वर महादेव लिंग (छोटा सराफा में नृसिंह मन्दिर के पीछे दूसरी गली में मन्दिर है।)

(24) श्री महालयेश्वर महादेव लिंग (गोपाल मन्दिर के पीछे खत्रीवाड़ा में भार्गव साहब के मकान के पास मन्दिर है।)

(25) श्री मुक्तेश्वर महादेव लिंग (गोपाल मन्दिर के पीछे खत्रीवाड़ा में महालयेश्वर से पूर्व में मन्दिर है।)

(26) श्री सोमेश्वर महादेव लिंग (दानी दरवाजा के पास अनन्त पेठ में बिना नींव की मस्जिद के पास मन्दिर है।)

(27) श्री अनर्केश्वर महादेव लिंग (इन्दिरा नगर के पूर्व में मकोड़िया आम में मन्दिर है।)

(28) श्री जटेश्वर महादेव लिंग (मकोड़िया आम तथा अंकपात के बीच मार्ग पर मन्दिर के बाहर लिंग स्थान है।)

(29) श्री रामेश्वर महादेव लिंग (सराफा के पास सती दरवाजा के पास रामेश्वर की गली में मन्दिर है।)

(30) श्री च्वनेश्वर महादेव लिंग (अंकपात से इन्दिरा नगर जाने के मार्ग पर ईदगाह के सामने मन्दिर है।)

(31) श्री खण्डेश्वर महादेव लिंग (आगर रोड़ पर मकोड़िया आम से आगे खिलचीपुर गाँव में टीलें पर मन्दिर है।)

(32) श्री पत्तनेश्वर महादेव लिंग (आगर रोड़ पर मकोड़िया आम से आगे पुलिया के पास मन्दिर है।)

(33) श्री आनन्देश्वर महादेव लिंग (क्षिप्रा नदी के किनारे श्मशान के पास विद्युत शवदाह गृह के पास मन्दिर है।)

(34) श्री कन्थड़ेश्वर महादेव लिंग (सिद्धनाथ क्षेत्र के सामने भैरवगढ़ गाँव में मन्दिर है।)

(35) श्री इन्द्रेश्वर महादेव लिंग (बिलोटीपुरा में बड़े पुल के पास बोहरा बाग के पास मन्दिर है।)

(36) श्री मार्केन्डेश्वर महादेव लिंग (अंकपात में राम-लक्ष्मण मन्दिर के पास विष्णु सागर पर मन्दिर है।)

(37) श्री शिवेश्वर महादेव लिंग (अंकपात में राम-लक्ष्मण मन्दिर की सीढ़ी में महादेव का स्थान है।)

(38) श्री कुसुमेश्वर महादेव लिंग (अंकपात में राम-लक्ष्मण मन्दिर क्षेत्र में द्वारकाधीश मन्दिर के नीचे लिंग स्थान है।)

(39) श्री अक्रूरेश्वर महादेव लिंग (अंकपात में राम-लक्ष्मण मन्दिर के पश्चिम द्वार के बाहर स्थान पर मन्दिर है।)

(40) श्री कुण्डेश्वर महादेव लिंग (अंकपात में गोमती कुण्ड क्षेत्र में बैठक जी के पास मन्दिर है।)

(41) श्री लम्पेश्वर महादेव लिंग (भैरवगढ़ में पुल के पास हनुमान मन्दिर के पीछे पुलिस क्वाटर्स में मन्दिर है।)

(42) श्री गंगेश्वर महादेव लिंग (खड़गता संगम) अंकपात में मंगलनाथ क्षेत्र में नदी किनारे पर मन्दिर बना है।

(43) श्री अंगारेश्वर महादेव लिंग (मंगलनाथ क्षेत्र से आगे कमेड़ गाँव के किनारे नदी पर महादेव का खुला स्थान है।)

(44) श्री उत्तरेश्वर महादेव लिंग (अंकपात क्षेत्र में मंगलनाथ मंदिर के पहिले नदी किनारे मंदिर है।)

(45) श्री त्रिलोचनेश्वर महादेव लिंग (नयापुरा के पास नामदारपुरा में लाल इमली की गली में मन्दिर है।)

(46) श्री वीरेश्वर महादेव लिंग (ढाबारोड़ पर सत्यनारायण मन्दिर के पास मन्दिर है।)

(47) श्री नूपुरेश्वर महादेव लिंग (डाबरी पीठा में लकड़ी पीठे के पास गली में गली है, उसमें मन्दिर है।)

(48) श्री अभयेश्वर महादेव लिंग (दानी दरवाजा बिलोटीपुरा की गली के पास गली में मन्दिर है।)

(49) श्री पृथुकेश्वर महादेव लिंग (क्षिप्रा नदी के रपट के पार केदारेश्वर मन्दिर में कोने की मूर्ति है।)

(50) श्री स्थावरेश्वर महादेव लिंग (नईपेठ में बम्बा खाने में शनि मन्दिर में शनि मूर्ति की पूजा करना है।)

(51) श्री सूलेश्वर महादेव लिंग (ढाबारोड़ के पास खटीकवाड़ा की गली में गली है, उसमें मन्दिर है।)

(52) श्री ओंकारेश्वर महादेव लिंग (खटीकवाड़ा में छोटे तेलीवाड़ा के पास गली किनारे मन्दिर है।)

(53) श्री विश्वेश्वर महादेव लिंग (खटीकवाड़ा में दूसरी गली की मोड़ पर मन्दिर है।)

(54) श्री नीलकण्ठेश्वर महादेव लिंग (उर्दूपुरा के पास पिपली नाका पर जाट के कुएँ पर मन्दिर है।)

(55) श्री सिंहेश्वर महादेव लिंग (गढ़कालिका क्षेत्र में गणपति के पास मन्दिर है।)

(56) श्री रेवंतेश्वर महादेव लिंग (कार्तिक चौक में खाती के मन्दिर के आगे नदी मार्ग पर मन्दिर है।)

(57) श्री घण्टेश्वर महादेव लिंग (कार्तिक चौक चौराहे में नदी मार्ग पर मन्दिर है)

(58) श्री प्रयागेश्वर महादेव लिंग (बड़े पुल से पिपली नाका जाने के मार्ग पर तिलकेश्वर के सामने खेत में मन्दिर है।)

(59) श्री सिद्धेश्वर महादेव लिंग (गोपाल मन्दिर के पीछे ढाबारोड़ से मगर मुआ जाने की गली में मन्दिर है।)

(60) श्री मातंगेश्वर महादेव लिंग (टंकी चौराहे के पास पिंजारवाड़ी में मन्दिर है।)

(61) श्री सौभाग्येश्वर महादेव लिंग (पटनी बाजार में सौभाग्येश्वर की गली में मन्दिर है।)

(62) श्री रूपेश्वर महादेव लिंग (सिंहपुरी चौराहे में गली के अन्दर मन्दिर है।)

(63) श्री धनुसहस्त्रेश्वर महादेव लिंग (धनकेश्वर) (नयापुरा के पास वृन्दावनपुरा में तिलकेश्वर के पास मन्दिर है।)

(64) श्री पशुपतेश्वर महादेव लिंग (कालियादेह दरवाजा के पास जानसापुरा में मन्दिर है।)

(65) श्री ब्रह्मेश्वर महादेव लिंग (ढाबारोड़ के पास खटीकवाड़ा के प्रथम चौराहे पर मन्दिर है।)

(66) श्री जलपेश्वर महादेव लिंग (नदी के बड़े पुल से रणजीत हनुमान जाने के मार्ग में किसान के खेत में मन्दिर है।)

(67) श्री केदारेश्वर महादेव लिंग (नदी की रपट के पास नदी किनारे मन्दिर है, पहिले केदारेश्वर दूसरा पृथुकेश्वर लिंग है।)

(68) श्री पिशाचमुक्तेश्वर महादेव लिंग (क्षिप्रा नदी किनारे रामघाट पर रामसीढ़ी के सामने मन्दिर है।)

(69) श्री संगमेश्वर महादेव लिंग (क्षिप्रा नदी किनारे रामसीढ़ी से आगे जाना पाव सीढ़ी के ऊपर मन्दिर है।)

(70) श्री दुर्धरेश्वर महादेव लिंग (क्षिप्रा नदी किनारे गन्धर्व घाट पर मन कामनेश्वर के पास मन्दिर है।)

(71) श्री प्रयागेश्वर महादेव लिंग (कार्तिक चौक के पास हरसिद्धि चौराहे पर मन्दिर है।)

(72) श्री चन्द्रदित्येश्वर महादेव लिंग (महाकाल मन्दिर के पण्डाल में शंकराचार्य मूर्ति के पास मन्दरी में लिंग है।)

(73) श्री करभेश्वर महादेव लिंग (भैरवगढ़ के पास कालभैरव के सामने बगीचे में मूर्ति है।)

(74) श्री राजस्थलेश्वर महादेव लिंग (भागसीपुरा में काँच के घोड़े के पास दो मन्दिर में से एक मन्दिर है।)

(75) श्री बड़लेश्वर महादेव लिंग (भैरवगढ़ में सिद्धनाथ क्षेत्र में सिद्धवट के सामने मन्दिर है।)

(76) श्री अरुणेश्वर महादेव लिंग (क्षिप्रा नदी के किनारे रामघाट पर रामसीढ़ी के पास मन्दिर है।)

(77) श्री पुष्पदन्तेश्वर महादेव लिंग (पानदरीबा में तेली की धर्मशाला के पास गली में ध र्मशाला के पीछे मन्दिर है।)

(78) श्री अभिमुक्तेश्वर महादेव लिंग (कार्तिक चौक के पास मंगलनाथ मन्दिर से आगे, उसी लाइन में बाड़े में मन्दिर है।)

(79) श्री हनुमन्तेश्वर महादेव लिंग (गढ़कालिका क्षेत्र में सिहेश्वर महादेव मन्दिर से आगे मन्दिर है।)

(80) श्री स्वप्नेश्वर महादेव लिंग (महाकाल क्षेत्र में सभा मण्डप द्वार के पास ऊपर मन्दिर है।)

(81) श्री द्वारपालेश्वर महादेव लिंग (पिंगलेश्वर गाँव में मन्दिर है। सिंथेटिक्स मील के पीछे से रास्ता है।)

(82) श्री कायावरोहणेश्वर महादेव लिंग (करोहन गाँव में मन्दिर है, इन्दौर रोड़ पर नाके के सामने से रास्ता है।)

(83) श्री बिल्वेश्वर महादेव लिंग (अम्बोदिया बांध क्षेत्र में मन्दिर है, मुल्लापुरा से रास्ता जाता है।

(84) श्री दर्दुरेश्वर महादेव लिंग (आगर रोड़ पर एक टीले पर जैथल गाँव है, गाँव से नीचे नाले पर मन्दिर है।
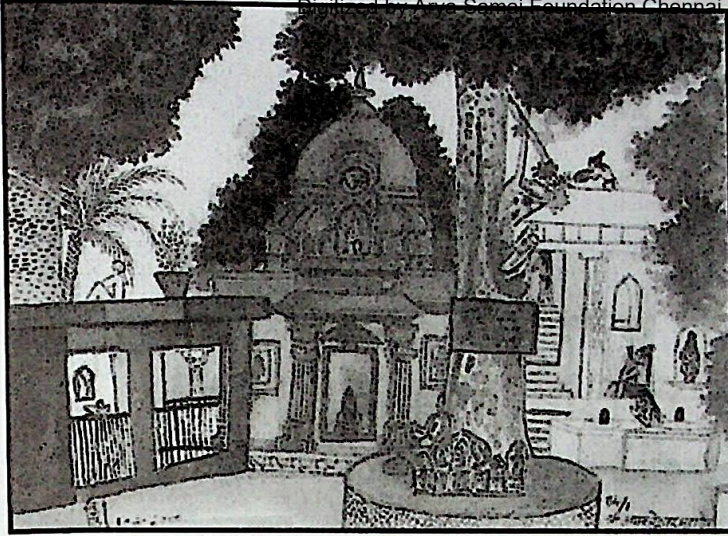
श्री अगस्त्येश्वर महादेव मन्दिर

श्री अगस्त्येश्वर महादेव लिंग

प्रारम्भ में दर्शन के बाद अन्त में भी दर्शन पूजन के बाद यात्रा पूरी होती है।

क्रमांक 79 से 82 तक के चार शिव-स्थान क्षेत्र की चारों दिशाओं के रक्षापाल समझे जाते हैं। ब्राह्मण धर्म में शैव और शाक्त पीठों के अतिरिक्त वैष्णव प्रस्थान के भी पूजास्थल उज्जयिनी में विद्यमान हैं। प्राचीनकाल में उज्जयिनी धार्मिक दृष्टिकोण से तीन भागों में विभाजित थी-ब्रह्मपुरी, शैवपुरी और वैष्णवपुरी। वैष्णवपुरी के अन्तर्गत अंकपात क्षेत्र आता है जो श्रीकृष्ण की शिक्षास्थली है। यहाँ श्रीकृष्ण और श्रीराम के चरण पड़े हैं।

उज्जैन को 'विष्णु का पाद' कहा गया है-

विष्णोः पादः अवन्तिका गुणवती.......

खुदाई में विष्णु की प्रतिमाएँ भी मिली हैं। चौथा कारण यह है कि आज भी वैष्णव उसी क्षेत्र में सिंहस्थ के अवसर पर रुकते हैं। पण्डित सूर्यनारायण व्यास को भी वाराह की दो प्रतिमाएँ मिली थीं। इस प्रकार यह शिवपुरी तो है ही, विष्णुपुरी भी है। डॉ. ए. डी. पुसालकर ने अपने 'उज्जयिनी इन द पुराण' में भी इस तथ्य का उल्लेख किया है। ब्रह्मपुराण में लिखा है-

अवन्ती नाम नगरी सुखदा भुवि विश्रुता।
तामास्ते भगवान् विष्णुः शङ्खचक्रगदाधरः॥

पुष्टिमार्गी वैष्णवों के लिए उज्जयिनी का विशेष महत्त्व है। अंकपात में महर्षि सान्दीपनि का आश्रम है और महाप्रभु की 84 बैठकों में एक बैठक है। गोमती कुण्ड तो है ही। डोंगरे महाराज लिखते हैं- ''श्री क्षेत्र अवन्तिका में उज्जैन स्थित पाँच वैष्णव तीर्थ हैं। विद्याभ्यास के समय श्रीकृष्ण के जिन क्षेत्रों में चरण पड़े थे, वे हैं- (1) शंखद्वारा (2) विश्वरूप (3) गोविन्द (4) चक्रपाणि और (5) अंकपात। ये सब विष्णु-क्षेत्र कहलाते हैं। उनमें से विश्वरूप क्षेत्र सिंहपुरी में चक्रपाणि क्षेत्र क्षिप्रा के उत्तर तीर पर है। शेष तीन अंकपात क्षेत्र में समाविष्ट हैं। सूर्य मन्दिर विष्णु मन्दिर ही है। सूर्य का स्थान पुराणों में विष्णु ही लिखा है। 84 शिवस्थलों की तरह 10 विष्णुस्थल भी प्रसिद्ध हैं- 1. वासुदेव-प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, संकर्षण और वासुदेव-जिनके चार मुख हैं, गढ़कालिका पर कुमार हनुमान के सामने स्थित है। 2. अनन्त- क्षिप्रातट पर अनन्त पेठ में है। 3. बलराम-अंकपात पर है। 4. जनार्दन-बलराम मन्दिर के पास ही अंकपात में है। 5. नारायण-कपिल तीर्थ पर है। 6. ऋषिकेश -अंकपात पर। 7. वराह - पटेलपार वल में कहा जाता है। 8. धरणीधर- नागतलाई पर। 9. वामन 10. शेषशायी- क्षीरसागर। सिक्कों पर भी विष्णु की प्रतिमा मिलती है।

रामानुज, माध्व, बलराम, निम्बार्क तथा रसिक सम्प्रदाय के भी आराधना स्थल यहाँ विद्यमान हैं। शैव, शाक्त, वैष्णवों के अतिरिक्त यहाँ बौद्ध तथा जैनों के भी आराधना केन्द्र हैं। भर्तृहरि गुहा नाथपंथ का केन्द्र है ही। 84 सिद्धों में एक ताँतिया नामक सिद्ध उज्जयिनी का ही था। जैनों के दिगम्बर और श्वेताम्बरों के भी आराधना स्थल विद्यमान हैं।

❑

उज्जयिनी की पंचेशानी (पंचक्रोशी) एवं विभिन्न यात्राएँ

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

भारत के कई तीर्थस्थानों में पंचक्रोशी यात्रा करने की परम्परा है। अवन्ती क्षेत्र की प्रदक्षिणा के रूप में स्कन्द पुराण के अवन्ती खण्ड में पंचेशानी यात्रा का वर्णन है। यह पंचेशानी ही अब पंचक्रोशी यात्रा के नाम से विख्यात है। चारों दिशाओं में चार और मध्य में महाकाल या नागनाथ होने से पाँच ईश या ईशान के क्रमशः दर्शन के कारण यह पंचेशानी यात्रा कहलाती है। यह चार द्वार यात्रा भी कहलाती है। सर्वप्रथम शिप्रा में स्नान कर महाकाल के दर्शन करके (आजकल नागनाथ के भी दर्शन करके) यात्रा प्रारम्भ की जाती है।

पुराण के अनुसार प्रथम दिन महाकाल दर्शन कर पूर्व में स्थित पिंगलेश्वर का दर्शन पूजन कर पुनः उज्जैन लौटकर रात्रि निवास। दूसरे दिन दक्षिण में स्थित कायावरोहणेश्वर की यात्रा कर उज्जैन लौटना। तीसरे दिन पश्चिम में बिल्वकेश के दर्शन कर लौटना। चौथे दिन उत्तर के दुग्धेश्वर या दर्दुरेश्वर के दर्शन कर लौटना। यह आजकल चार द्वार यात्रा कहलाती है, क्योंकि ये चारों दिशाओं में स्थित अवन्ती के चार द्वार स्थान माने गये हैं।

पौराणिक पंचेशानी आजकल पंचक्रोशी यात्रा कहलाती है। यह इसलिए कि स्थूल रूप से महाकाल केन्द्र से पूर्वोक्त सभी स्थान 5 कोस दूर हैं और परस्पर भी इनकी दूरी स्थूल मान से पाँच कोस मानी गई है। आजकल यह 118 किलोमीटर की पूरी यात्रा बताई जाती है। यह यात्रा बड़ी श्रमसाध्य है, जो वैशाख की भीषण तपन में सम्पन्न की जाती है।

प्रतिवर्ष यह यात्रा वैशाख शुक्ल दशमी से आरम्भ होती है और वैशाख की अमावस्या को पूर्ण होती है। इसमें पंचक्रोशी, चार द्वार और अष्टतीर्थी यात्रा भी सम्मिलित रहती है।

पुराण के अनुसार रुद्रसरोवर तथा कोटितीर्थ में स्नान कर श्रद्धापूर्वक महाकाल के दर्शन कर पिंगलेश्वर के दर्शन और वहाँ निवास। परन्तु आज़कल शिप्रा स्नान के पश्चात् तथा महाकाल दर्शन के पश्चात् नागचण्डेश्वर के दर्शन भी करते हैं। वहाँ नारियल चढ़ाते हैं, तब वहाँ से यात्रा का आरम्भ होता है और पूर्व दिशा में विद्यमान पिंगलेश्वर पहुँचते हैं। वहाँ स्नान, दर्शन, भजन, भोजन आदि किया जाता है। रात्रि 8 बजे के बाद अगले पड़ाव के लिए प्रस्थान कर देते हैं। दक्षिण में कायावरोहणेश्वर है जो आजकल करोहन गाँव में स्थित है। वहाँ प्रातः तक पहुँच जाते हैं-एकादशी को। दिनभर यहीं विश्राम कर रात्रि 8 बजे पश्चिम के बिल्वकेश्वर महादेव के दर्शनार्थ प्रस्थान कर देते हैं। द्वादशी को वहाँ भी दिनभर विश्राम कर रात्रि 8 बजे प्रस्थान कर त्रयोदशी को जैथल (जयस्थल) के दर्दुरेश्वर महादेव पहुँच जाते हैं। पुनः रात 8 बजे प्रस्थान कर पिंगलेश्वर चतुर्दशी को

पहुँच जाते हैं। वहाँ भोजन, विश्राम कर विशाल जुलूस के रूप में सन्ध्या के समय हीरा मिल क्षेत्र से उज्जैन में प्रवेश कर शिप्रा के पश्चिमी तट पर पहुँच जाते हैं। वहीं पड़ाव रहता है। मार्ग में स्थान स्थान पर स्वागत होता है। यहाँ से पुनः अष्टतीर्थी यात्रा कर्कराज से आरम्भ होती है। फिर सोमतीर्थ, रणजीत हनुमान, कालभैरव, सिद्धनाथ, कालियादेह होती हुई मंगलनाथ पर अमावस्या के दिन यात्रा पूर्ण होती है।

वास्तव में यह अष्टतीर्थी पूर्ववर्ती अष्टाविंशती यात्रा का संक्षिप्त रूप है। वे अट्ठाईस तीर्थ इस प्रकार परिगणित हैं-रुद्रसरोवर, कर्कराज, नृसिंह, नीलगंगा, पिशाचमुक्त, गन्धवती, केदार, चक्रतीर्थ, सोमतीर्थ, देवप्रयाग, योगीतीर्थ, कपिलाश्रम, घृतकुल्या, मधुकुल्या, ओखर, कालभैरव, द्वादशार्क, दशाश्वमेध, अंगारकतीर्थ, स्वर्गता (खगर्ता) संगम, ऋणमोचन, शक्तिभेद, पापमोचन, व्यासतीर्थ, प्रेतशिला, नवनदी, मन्दाकिनी और पैतामहतीर्थ। इनमें से अब कई तीर्थों का स्थान ज्ञात नहीं होने से संक्षिप्त अष्टतीर्थी यात्रा ही की जाती है।

यह वार्षिक पंचक्रोशी एक बृहत् चलित धार्मिक मेला है, जो सतत पाँच दिन तक गतिशील रहता है। इसमें आबाल वृद्ध, नर-नारी अपनी अपनी आवश्यक सामग्री अपने सिर पर या कन्धे पर उठाकर गर्मी की उष्णता में पसीने से लथपथ यात्रा करते हैं। इसमें बहुधा ग्राम्यजन होते हैं और नगर-कस्बे के लोग भी होते हैं। इस यात्रा में निजी या शासकीय वाहन भी रहते हैं। अतिवृद्ध, चलने में असमर्थ या अस्वस्थ लोग इन वाहनों में भी बैठ जाते हैं। परन्तु श्रद्धालुगण बैठते तभी हैं जब चलने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। कतिपय ऐसे लोग होते हैं जो अरवाणे (बिना जूते पहने) चलते हैं। कुछ दण्डवत करते हुए पूरी यात्रा सम्पन्न करते हैं। कुछ मण्डलियाँ होती हैं, जो अपने साथ झाँझ-मजीरे और ढोलक लाती हैं और भजन करती हुई चलती हैं। कुछ बिना साज के ही भजन करते हैं। कोई अकेला ही भजन करता हुआ चलता है।

जहाँ पड़ाव होता है, वहाँ प्रायः वृक्षों की अमराई होती है। उन वृक्षों की छाया में जनसमूह अपने डेरे लगा लेता है। डेरे पर कण्डे, घासलेट, राशन, दूध, चाय, होटल आदि की व्यवस्था होती है। जल की व्यवस्था भी होती है। समूह का कोई व्यक्ति पानी लाता है, कोई अंगीठी या स्टोव्ह लगाता है, कोई भोजन की तैयारी में लग जाता है, कोई थकान मिटाने के लिए लेट जाता है, कोई बातें ही करता है, कोई देव-कथा कहता है और कुछ लोग सुनते रहते हैं। कोई मण्डली भजन करती है, कोई अकेला ही भजन गाता रहता है। किसी के सुनने या न सुनने की परवाह न करते हुए, कोई-कोई भजन करने में तल्लीन हो नाचने लग जाता है। पूरे वातावरण में धुएँ के बादल छा जाते हैं। मच्छर यदि सरकारी डी.डी.टी. से न भागें तो इस धुएँ से भाग जाते हैं।

शासन इस मेले के लिए अपने प्रत्येक विभाग के अधीन व्यवस्था करता है। सुरक्षा, परिवहन, चिकित्सा, जल, राशन, ईंधन, साफ-सफाई इत्यादि में शासन मुस्तैद रहता है। मार्गवर्ती ग्राम पंचायतें अपनी सीमा में क्षमतानुसार व्यवस्था करती हैं। ग्राम्यजन एकल या समूह में इन यात्रियों के स्वागत के लिए तत्पर रहते हैं। जगह जगह प्याऊ होती हैं। वे जल, दूध, चाय, नाश्ता (कलेवा) आदि की यथासम्भव व्यवस्था करते हैं। प्रवचन के लिए साधु-महात्मा भी होते हैं। पड़ाव पर वे प्रवचन देते हैं। सरकारी प्रचार-तंत्र भी इस जनसमूह की भावना को प्रभावित करने की इच्छा से सक्रिय रहता है। पोस्टर लगते हैं, फिल्में चलती हैं। पूरा वातावरण एक चल मेले का होता है, धार्मिक मेले का। इस अवसर पर जननेता, धननेता भी अपनी अपनी आस्थानुसार सक्रिय हो जाते हैं-कुछ सेवाभाव से और कुछ लोक में आत्मप्रदर्शन के लिए भी। शासकीय कर्मचारी मजबूरी में या कर्त्तव्य भाव से उपस्थिति देते हैं। कुछ यात्री ऐसे भी होते हैं, जो कई-कई बार यात्रा कर चुके हैं। कुछ समाजसेवी भी प्रतिवर्ष निष्ठा से यात्रा और जनसेवा करते हैं।

अवन्ती क्षेत्र में कई प्रकार की यात्राएँ की जाती रही हैं और की जाती हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

नित्य यात्रा, महाकाल यात्रा, मानसहृदय यात्रा, त्रिदेवी यात्रा, चतुर्वापी यात्रा, चतुर्नदी यात्रा, चतुर्हनुमान यात्रा, पंचविष्णु यात्रा, पंचनगरी प्रदक्षिणा, पंचक्षेत्र यात्रा, षड्गुह्य यात्रा, षड्विनायक यात्रा, सप्तसागर यात्रा, सप्तदेव यात्रा, अष्टभैरव यात्रा, अष्टमातृका यात्रा, नवग्रह यात्रा, दशविष्णु यात्रा (प्रथम), दशविष्णु यात्रा (द्वितीय), दशसरोवर यात्रा, एकादश रुद्र यात्रा, द्वादशादित्य यात्रा, चतुर्दशकुण्ड यात्रा, चतुर्दशदेव यात्रा, एकोनविंशदेव यात्रा, चतुर्विंशति देवी यात्रा, अष्टाविंशति तीर्थयात्रा, अष्टत्रिंशत्तीर्थात्मक अन्तर्गृही यात्रा, षट्चत्वारिंशत् तीर्थयात्रा और चतुरशीति अथवा चौरासी महादेव यात्रा। स्कन्द पुराण के अवन्ती खण्ड में चतुरशीति महादेव में से प्रत्येक महादेव की एक-एक कथा दी गई है। इस प्रकार 84 अध्यायों में विभिन्न 84 शिवलिंगों का माहात्म्य अभिवर्णित है। ये महादेव बहुधा महाकाल के आसपास के क्षेत्र में हैं। परन्तु अनेक दूर-दूर भी हैं। इनमें चार महादेव पूर्वोक्त वे भी हैं जिनका उल्लेख पंचक्रोशी यात्रा में किया जा चुका है। श्रद्धालुगण बहुधा श्रावण मास में इन 84 महादेवों की यात्रा, पूजा-पाठ करते हैं।

इस प्रकार धर्मप्राण जनता इन विभिन्न यात्राओं के द्वारा, यात्राओं में पूजा-पाठ के द्वारा पुण्यार्जन करती रहती है।

❑
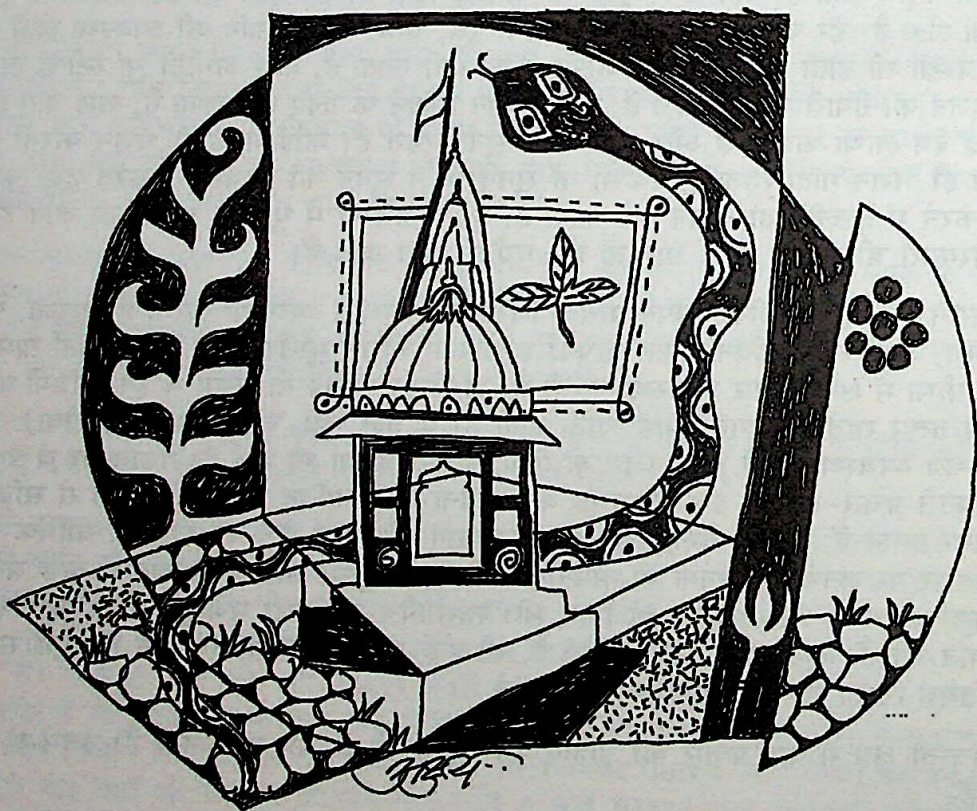
उज्जयिनी में शक्ति-उपासना और शाक्त-स्थल

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

'शक्ति' के सम्बन्ध में भारतीय चिन्तन और व्यवहार में विभिन्न धारणाएँ मिलती हैं। हलायुध कोश के अनुसार 'शक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'शक्' धातु और 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से हुई है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर इसका अर्थ किया गया-कार्यजनन सामर्थ्य, सामर्थ्यमात्र, बल, शौर्य और पराक्रम। ऋग्वेद से लेकर व्याकरण दर्शन तक और मध्यकालीन दार्शनिक सम्प्रदायों में 'शक्ति' को विविध रूपों में परिभाषित-विश्लेषित करने के प्रयास हुए हैं। वस्तुतः कारण वस्तु में कार्य के उत्पादन में उपयोगी जो अपृथक्सिद्ध धर्मविशेष है, उसी को 'शक्ति' कहते हैं। न्याय एवं वैशेषिक की मुख्य धाराओं को छोड़कर मीमांसा, वेदान्त आदि सहित अधिकांश भारतीय दर्शनों में सृष्टि के मूल तत्त्वों के बीच शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत की गई है। कार्यों की अनन्तता से शक्ति की अनन्तता को भी भारतीय दर्शन में स्वीकृति मिली है।

'शक्ति' शब्द का प्रयोग पालन, प्रलय आदि सामर्थ्य से युक्त अधिष्ठात्री देवी तथा दुर्गा, लक्ष्मी, गौरी आदि देवियों के लिए बहुप्रचलित है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यही तात्पर्य लेना समीचीन होगा। एक ही प्रकाश रूप चिति शक्ति परमेश्वर की शक्ति होकर अनन्त कार्यशक्तियों की विविधता ग्रहण करती है। उसकी सर्वव्यापकता और सर्वोपरिता को शाक्त दर्शन से लेकर लोक परम्परा तक स्वीकार्यता मिली है। व्यवहार जगत् में विविध कार्यों की अधिष्ठात्री एक ही मूलशक्ति की कार्य एवं स्वभाव भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में उपासना की जाती है। तत्त्वतः उनमे कुछ भी भेद नहीं है, केवल उपासकों के दृष्टि-भेद से ही उनके नाम तथा रूपों में भेद माना जाता है।

समूची भारतीय परम्परा में सर्वव्यापी शक्ति विविधायामी गान निरन्तर उपलब्ध होता है। इस महिमा गान में अखिल ब्रह्माण्ड के रचयिता ब्रह्मा से लेकर पंचमुखी शंकर, षडानन कार्तिकेय और सहस्रमुख वाले शेष भी स्वयं को असमर्थ पाते हैं और वहीं शक्ति का वैशिष्ट्य है कि इन सभी को अविरल रूप में ऐसी ऊर्जा प्रदान करती हैं, जो कभी समाप्त नहीं होती। यही कारण है कि मत-मतान्तरों की अगणनीय उपस्थिति के बावजूद भारत में आदिम काल से लेकर आज तक शक्ति की उपासना का सातत्य बना हुआ है। शक्तिपूजा के विविधतापूर्ण रूपों और सृष्टि के साथ शक्ति के सम्बन्धों की अनेक व्याख्याओं के बीच से गुजरते हुए हम पाते हैं कि शास्त्र और लोक दोनों ने एक समान स्वर में 'शक्ति' की लौकिक एवं अलौकिक महिमा को गाया है। यही नहीं बिना उसकी कृपा के परमात्मा का मोक्षदान भी कार्यरूप में परिणत नहीं हो पाता है। नाना रूप और संज्ञाओं में चर्चित शक्ति को सनातन धर्म में जहाँ एक ओर निष्काम भाव से पूजा जाता रहा है, वहीं सकाम भाव से; जहाँ स्वर्गेच्छा से उपासना की जाती है, वहीं लौकिक सुख के लिए भी; दिव्य

सिद्धियों के लिए सात्विक पदार्थों से उनकी पूजा का विधान मिलता है, तो वहीं आसुरी सिद्धियों के लिए जटिल साधना का भी। वस्तुतः शक्ति की यह वैविध्यपूर्ण उपासना बृहत् भारतीय समाज में उनकी सर्वव्याप्ति का जीवंत प्रमाण है।

अनादि उज्जयिनी भारत में विकसित अनेक मतों की प्रमुख केन्द्र रही है। खास तौर पर शैव और शाक्त मतों की दृष्टि से इसका स्थान समूचे भारत के चुनिंदा तीर्थों में सर्वोपरि है। पुराणोक्त द्वादश ज्योतिर्लिंगों तथा इक्यावन शक्तिपीठों में से एक-एक उज्जैन में ही अवस्थित हैं। ऐसा संयोग वाराणसी, वैद्यनाथ जैसे कतिपय तीर्थों के अतिरिक्त दुर्लभ है। उज्जैन में शक्ति पूजा की परम्परा के सूत्र पुराण-काल के पूर्व भी उपलब्ध होते हैं। गढ़कालिका उत्खनन से प्राप्त मृण्मूर्ति पर अंकित बालक लिए माँ से स्पष्ट होता है कि यहाँ मातृदेवी के रूप में शक्ति की उपासना का प्रचलन कम से कम 2200 वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया था। उज्जयिनी की मुद्रा में अंकित दो स्त्री आकृति सहित अनेक पुरातत्त्वीय प्रमाण भी सिद्ध करते हैं कि किसी-न-किसी रूप में देवी की पूजा यहाँ प्रचलित थी। यही मातृ-पूजा गुप्त तथा परमार काल तक आते-आते नए रूपों में आकार लेती दिखाई देती है और उज्जयिनी अपने एक नाम अवन्तीपुरी को सार्थक सिद्ध कर देती है-

देवतीर्थौषधिबीजभूतानां चैव पालनम्।
कल्पे कल्पे च यस्यां वै तेनावन्ती पुरी स्मृता।

(स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड, 43:41-42)

अर्थात् जहाँ प्रत्येक कल्प में देवता, तीर्थ और औषधि की बीज रूप (आदि रूप) वस्तुओं का पालन होता है। यह पुरी सबका संरक्षण करने में समर्थ है। इसलिए इसका नाम 'अवन्ती पुरी' कहा गया।

उज्जयिनी के अद्वितीय शाक्त केन्द्र के रूप में विकसित होने के पार्श्व में यहाँ की विशिष्ट स्थिति रही है। प्रथमतः स्वयं शिव यहाँ के उस पवित्र महाकाल वन में वास करते हैं, जिसमें श्मशान, उसर, पीठ, क्षेत्र और वन ये पाँचों तत्त्व समाहित हैं। इनमें से एक 'पीठ' तो मातृकाओं का ही निवास-स्थान है। इसलिए शिव के साथ शक्ति पूजा का प्रसार यहाँ सहज ही संभव हुआ। पुराण काल में यहाँ शक्ति-उपासना के विस्तार से जुड़े अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। उज्जयिनी के तद्युगीन भूगोल, इतिहास और समाज को रूपायित करने वाले स्कन्द पुराण में अवन्ती क्षेत्र के प्रमुख देव शिव के साथ-साथ महाकाल वन में चतुर्विंशति मातृकाओं की स्थिति निरूपित की गई है। इनमें से प्रमुख मातृकाएँ हैं-महामाया, कपालमातृका, अम्बिका, अम्बा, शीतला, अम्बालिका, अष्टसिद्धिदा, ब्राह्मणी, पार्वती, योगिनी, कौमारी, भगवती, कृतिका, कर्पट मातृका, सरस्वती, महालक्ष्मी, भद्रकाली, चामुण्डा, वाराही, ब्रह्मचारिणी, वैष्णवी और विंध्यवासिनी। इन्हें धन, धान्य, ऐश्वर्य और सिद्धिप्रदा कहा गया है। इसी प्रकार उज्जयिनी में नवदुर्गा की स्थिति की चर्चा भी पुराणकार ने की है, जो इस प्रकार है- शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमातृका, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी तथा सिद्धिदात्री। अन्य मातृदेवियों में उमा, चण्डी, ईश्वरी, हरसिद्धि, वरयक्षिणी, वीरभद्रा, ऐन्द्री, दुरितहारिणी, एकनंशा, महादुर्गा, तैलमातृका आदि के स्थान भी अवन्ती नगरी में रहे हैं।

समूचे भारत में शक्ति पूजा के प्रचार के दौर में उज्जयिनी को प्रमुख शाक्त स्थल के रूप में मान्यता मिली और यहाँ स्थान-स्थान से आकर साधक और भक्तगण यज्ञ, साधना, पाठ, व्रत आदि करने लगे। यही कारण है कि अनेक पुराणों तथा तांत्रिक वाङ्मय में शक्ति-पीठों की संख्या को लेकर वैमत्य होने के बाद भी शक्ति उपासना के लिए उज्जयिनी के महत्त्व को एक स्वर से सभी ने मान्य किया है। 'देवीभागवत' में वर्णित एक सौ आठ पीठ, 'शिवचरित्र' में इक्यावन पीठ, 'अष्टदशपीठ' में चर्चित अठारह पीठ, 'तंत्रचूड़ामणि' में निहित इक्यावन पीठ, 'त्रिपुरा रहस्य' में मान्य प्रमुख अठारह देवीविग्रह आदि सहित अनेक ग्रन्थों में वर्णित शक्तिपीठों में उज्जयिनी के शक्तिपीठ की विशिष्ट स्थिति को रेखांकित किया गया है। 'मन्त्र महोदधि' के अनुसार वाराणसी, अवन्ती, मायापुरी, मथुरा, अयोध्या और कांचीपुरी ये छह स्थान तारादेवी (दुर्गा नारायणी) के अंगों

को इष्टदात्री न्यास-स्थानों में, शिरों से अवन्ती का सम्बन्ध ... तथा दोनों नयनों से बताया गया है। इसी प्रकार बृहद्धर्म पुराण में दुर्गा के अनेक इष्ट नामों में अवन्ती सहित सातों मोक्षदायिनी नगरियों के नाम भी परिगणित किए गए हैं।

उज्जैन के विभिन्न नामों में से कुछ ऐसे भी हैं, जिनके पार्श्व में शक्ति विषयक आख्यान जुड़े हुए हैं। 'अवन्ती' नामकरण के सम्बन्ध में स्कन्दपुराण की पुराकथा कुछ इस प्रकार है-'पूर्व काल में देवताओं और दैत्यों का युद्ध हुआ। इस युद्ध में देवता पराजित हो गए। तब पराजित देवों ने मेरु पर्वत पर जाकर विष्णु के समीप आश्रय लिया। विष्णु ने उन्हें शक्ति और अक्षय पुण्य प्राप्त करने के लिए कुशस्थली (उज्जयिनी का एक नाम, जिसका आशय है-कुशों से आच्छादित स्थान) में जाकर रहने को कहा और तब सबके रक्षण के गुण के कारण इसका नाम 'अवन्ती' हुआ। 'अवन्तिका' का आशय है - 'रक्षा करने में समर्थ', जो इसके शक्ति-स्थल होने की ओर इंगित करता है। इसी प्रकार इसके 'उज्जयिनी' नामकरण की पृष्ठभूमि में त्रिपुरासुर पर शक्तियुत शिव की विजय का आख्यान रहा है। 'उज्जयिनी' का अर्थ ही है - 'उत्कृष्ट विजय।' इसके एक अन्य नाम 'पद्मावती' का सम्बन्ध देवताओं द्वारा समुद्र मंथन से प्राप्त विभिन्न रत्नों के वितरण से है। देवतागण यहीं पर समस्त रत्नों के भोगी हुए, अतः पद्मा अर्थात् लक्ष्मी के स्थायी वास की यह नगरी 'पद्मावती' कहलाई। यह 'अमरावती' भी इसलिए है कि विभिन्न देवी-देवताओं का यहाँ निवास स्थान है। यही कारण है कि प्रत्येक प्रलय में इसका अस्तित्व शेष बना रहता है, अतः यह 'प्रतिकल्पा' भी कहलाई।

विभिन्न पुराणों और तंत्र-साहित्य में उल्लिखित शक्ति सम्बन्धी आख्यानों का उज्जयिनी से गहरा सम्बन्ध मिलता है। शक्ति पीठों की उत्पत्ति के पार्श्व में निहित पौराणिक आख्यान के अनुसार दक्ष प्रजापति ने अपने जामाता शिव से रुष्ट होकर कनखल में बृहस्पति नामक यज्ञ करते समय समस्त देवी-देवताओं को तो आमंत्रित किया, किन्तु अपनी पुत्री सती और शिव को निमंत्रण नहीं दिया, फिर भी सती ने शिव से आग्रह कर यज्ञ में जाने की अनुमति प्राप्त की। अनुचरों सहित सती पिता के घर पहुँची, जहाँ दक्ष ने उनका आदर नहीं किया और वे क्रोधित होकर शिव की निन्दा करने लगे। शिव की असहनीय निन्दा से व्यथित सती यज्ञकुण्ड में कूद पड़ीं। शिव और वीरभद्र आदि अनुचरों ने यज्ञ-विध्वंस कर दिया तथा दक्ष के प्राण ले लिए। शिव सती के शव को कन्धे पर रखकर चारों दिशाओं में घूमकर प्रलयंकारी नृत्य करने लगे। यह देख विष्णु ने अपने चक्र से सती के अंग-प्रत्यंग काट डाले, जो अलग-अलग स्थानों पर गिरकर पवित्र शक्तिपीठों के कारण बने। देवीभागवत के अनुसार ऐसे सिद्ध पीठों की संख्या एक सौ आठ है, जिनमें एक महाकाल वन में स्थित है और जहाँ देवी 'माहेश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। 'तंत्रचूड़ामणि' में ऐसे शक्तिपीठों की संख्या इक्यावन निर्धारित की गई है। इस ग्रंथ के अनुसार-'उज्जयिन्यां कूर्परं च माङ्गल्यकपिलाम्बरः। भैरव सिद्धिदः साक्षाद्देवी मङ्गलचण्डिका।' अर्थात् उज्जयिनी में सती के कूर्पर (कुहनी) का पात हुआ। यहाँ की सिद्धिदात्री देवी मङ्गलचण्डिका तथा भैरव कपिलाम्बर है। इस प्रकार संज्ञा और संख्यागत अन्तर के बावजूद सभी पुराण एवं तांत्रिक ग्रंथ शक्तिपीठ की स्थिति उज्जयिनी में स्वीकार करते हैं।

पुराण काल से ही उज्जयिनी में वासन्ती तथा शारदीय नवरात्रि के समय बड़ी संख्या में शाक्त-उपासक व्रत एवं अनुष्ठान करते रहे हैं। पुराणों में तिथि की ह्रास-वृद्धि के बाद भी नवरात्रियों तक यह व्रत करना आवश्यक माना गया है, तभी व्रत पूर्ण होता है। इस व्रत को पुराणोक्त विधि-विधानपूर्वक करने की परम्परा रही है। इसमें महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के पूजन तथा सप्तशती के पाठ को प्रमुख स्थान दिया गया है। दुर्गा सप्तशती के पाठ एक, तीन, पाँच आदि विषम संख्या में ही किये जाने का नियम रहा है। उसके साथ ही व्रतारंभ के दिन प्रातःकाल आवाहन एवं स्थापन, शुभस्थान की मृत्तिका से बनी वेदी पर जौ, गेहूँ बोने, कलश की स्थापना, मूर्ति की प्रतिष्ठा, गणपति आदि देवों एवं मातृका पूजन, स्वस्ति वाचन, अभीष्ट देव की वेद अथवा अपने साम्प्रदायिक विधान से पूजन, सप्तशती पाठ, कुमारी पूजन, विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के दान, नवमी को महापूजा, दशमी को दशांश हवन, नीराजन, व्रत के विसर्जन आदि का स्पष्ट विधान देवीभागवत,

स्कन्द, विष्णुधर्मोत्तर आदि पुराणों में मिलता है। उज्जयिनी में शक्ति उपासना से जुड़े साधक पुराण काल से लेकर अद्यावधि पर्यन्त इसी परम्परा का भक्तिपूर्वक निर्वाह करते रहे हैं। देवी पूजा राजसी, तामसी और सात्विकी-तीन प्रकार की होती है, जिनमें से सात्विकी का ही यहाँ अधिक प्रचार रहा है। कुछ किंवदन्तियों एवं ग्रंथों में यहाँ राजसी और तामसी पूजा के प्रचलन के भी उदाहरण मिलते हैं।

पुराण काल के अनन्तर प्रद्योत युगीन उज्जयिनी में भी शक्ति-पूजा का प्रसार हुआ। छठी शताब्दी ई. पू. में अवन्ती को राजा प्रद्योत ने अपने अधिकार में ले लिया था। कथासरित्सागर के अनुसार वह जयसेन का पुत्र तथा महेन्द्र वर्मा का नाती था। उसका मूल नाम महासेन था। प्रद्योत चण्डी का अनन्य भक्त था। उसने साधना के माध्यम से असीम शक्ति प्राप्त की। देवी ने उसे एक खड्ग और नलगिरि हाथी भी दिया। देवी ने उससे कहा कि तूने तप का जो चण्ड कर्म किया है उससे तू चण्ड महासेन के नाम से प्रसिद्ध होगा। कथासरित्सागर में उज्जयिनी में शक्ति उपासना के तत्कालीन परिदृश्य पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए देवी की उपासना निराहार रहकर की जाती थी। देवी-देवताओं के कई मन्दिर उज्जयिनी में थे। चण्डिका देवी की आराधना के साथ ही विद्या प्राप्ति के लिए सरस्वती की उपासना की जाती थी। सरस्वती का देवायतन महाकाल श्मशान में स्थित था। मातृदेवियों की नित्य पूजा की जाती थी।

मौर्ययुग (ई. पू. 350 से ई. पू. 180 में) उज्जयिनी मगध साम्राज्य का प्रान्त बना दी गई, फिर भी इसका महत्त्वपूर्ण स्थान बना रहा। यद्यपि इस दौर में बौद्ध और जैन धर्म का प्राबल्य था, किन्तु उज्जयिनी में इनके साथ-साथ ब्राह्मण धर्म के प्रसार के भी प्रमाण मिलते हैं। मौर्य युग में भी शैव एवं शाक्त मन्दिरों में पूजन, यज्ञ, पाठ आदि प्रचलित थे। यज्ञों में बलिदान तथा मन्त्र-तन्त्र विद्या के प्रति मौर्ययुगीन उज्जयिनी के लोगों में विश्वास था।

180 ई. पू. के आसपास मौर्यवंश की शक्ति क्षीण पड़ने लगी। तत्पश्चात् क्रमशः शुंग, शक, विक्रमादित्य तथा सातवाहन राजाओं का आधिपत्य उज्जयिनी में रहा। इस दौर में वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा हुई। यज्ञ आदि धार्मिक कार्यों के प्रति गहरी रुचि दिखाई देने लगी। खास तौर पर विक्रमादित्य के समय में उज्जयिनी ने देश के प्रमुख शैव एवं शाक्त केन्द्र के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की। विक्रमादित्य देवी के परम उपासक थे। उनकी इष्ट देवी हरसिद्धि थी, जिनसे जुड़ी अनेक किंवदंतियाँ आज भी मालवांचल के लोकमानस में रची-बसी हैं। इसी दौर में महाकवि कालिदास जैसे महान् रचनाकार ने भी कालिका की साधना से वाक्सिद्धि पाई, जो अनुश्रुति के रूप में प्रसिद्ध है।

गुप्त और हर्षवर्द्धन युग में उज्जयिनी में भागवत धर्म का प्रसार तेजी से बढ़ा। अनेक लोग भागवत धर्म के अनुयायी हुए और विष्णु को प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठा मिली। इसके बाद भी उज्जयिनी में शक्ति-पूजा की परम्परा जीवंत बनी रही। देवियों में प्रमुख स्थान दुर्गा या भगवती के साथ लक्ष्मी को भी प्राप्त था। देवी के विभिन्न रूपों काली, उमा, अन्नपूर्णा, चण्डी, हरसिद्धि आदि की शास्त्रोक्त विधि-विधान से पूजा-अर्चना की जाती थी।

प्रतिहार एवं परमारकाल तक आते-आते उज्जयिनी शाक्त मत के प्रमुख केन्द्र के रूप में विकसित हो गई थी तथा मात्र यहीं नहीं, समूचे मालवा क्षेत्र में शक्ति उपासना के लिए भव्य मन्दिरों का निर्माण होने लगा। इन मन्दिरों में तंत्र एवं पुराणोक्त देवियों के विग्रह स्थापित किए गए, जिनमें उन्हें समस्त आयुध तथा अलंकारों से सुसज्जित दर्शाया जाता था। विक्रम विश्वविद्यालय के पुरातत्व संग्रहालय में सँजोयी गई ऐसी अनेक शाक्त एवं सप्तमातृका प्रतिमाएँ परमारकालीन कला का साक्षात् अनुभव देती हैं, जो उज्जैन के विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं। इन प्रतिमाओं में महिषासुरमर्दिनी, वैष्णवी, पार्वती, चामुण्डा, सप्तमातृका आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार की अनेक देवी प्रतिमाएँ समूचे मालवांचल के अनेक प्राचीन नगर और ग्रामों में अवस्थित हैं, जो परमारकाल में शक्ति पूजा के व्यापक प्रचार का साक्ष्य देती हैं।

परमारकालीन प्रतिमाओं के अतिरिक्त तद्युगीन अभिलेख तथा साहित्य भी यहाँ शाक्त उपासना के विस्तार को रेखांकित करते हैं। एक अभिलेख के अनुसार वाक्पतिराज ने उज्जयिनी की देवी भट्टेश्वरी भट्टारिका के धार्मिक पूजन तथा मन्दिर के संरक्षण के लिए दान दिया था। भट्टारिका 'दुर्गा' की ही वाचक है। वस्तुतः गुप्त युग में प्रचलित विभिन्न हिन्दू देवी-देवताओं की उपासना को प्रतिहार एवं परमार राजाओं ने पर्वोत्सव एवं मन्दिरों के प्रसार तथा संरक्षण द्वारा अधिक सुदृढ़ता दी। प्रतिहार शासक नागभट्ट प्रथम, मिहिरसेन तथा महेन्द्रपाल प्रथम देवी भगवती के उपासक थे। परमार शासक भोज एवं मुंज सरस्वती के उपासक थे, किन्तु उन्होंने माहेश्वर धर्म को भी प्रोत्साहन दिया। नवसाहसांकचरित में जहाँ महाकाल मन्दिर के वैभव और महिमा का चित्र उपस्थित किया गया है, वहीं दुर्गा देवी के विशाल मन्दिर में सुशोभित सिंहवाहिनी दुर्गा की प्रतिमा का उल्लेख भी मिलता है। परमार राजाओं द्वारा शिव और पार्वती के मन्दिरों के निर्माण के साथ ही स्तुतिपरक अभिलेख तथा ग्रन्थ रचे गये। इसी काल में तांत्रिक पद्धति से शक्ति पूजा को नया विस्तार मिला और योगिनी-पूजन, महिषासुरमर्दिनी की पूजा की जाने लगी। परमारों के संरक्षण में दुर्गापूजा तथा दशहरा जैसे शाक्त पर्व मनाये जाते थे। देवी की प्रतिमा के समक्ष बलि का उल्लेख भी तद्युगीन ग्रन्थों में मिलता है।

मध्य युग में विदेशी आक्रान्ताओं के उत्थान तथा परमारों की पराभव का दुष्प्रभाव उज्जयिनी के शैव एवं शाक्त-स्थलों को भी झेलना पड़ा। यहाँ के अनेक वैभवशाली मन्दिर ध्वस्त कर दिए गए और प्रतिमाएँ या तो खण्डित कर दी गईं या उन्हें अन्यत्र ले जाया गया। अब शक्ति पूजा के सामूहिक अनुष्ठानों की जगह घरेलू मन्दिरों में पूजा-पाठ, यज्ञ, घट-स्थापना ने ले ली, जिनका प्रयोग आज भी लोकाचार के विभिन्न सन्दर्भों में देखा जा सकता है।

मराठा काल में राणोजी शिन्दे के दीवान रामचन्द्र बाबा सुखटनकर (या शेणवी) ने उज्जयिनी में धार्मिक पुनर्जागरण किया। उन्होंने 1732 ई. में प्रत्येक बारह वर्ष पश्चात् होने वाले सिंहस्थ मेले की शासकीय व्यवस्था प्रारम्भ की। महाकाल के वर्तमान मन्दिर, रामघाट, पिशाचमुक्तेश्वर घाट आदि का निर्माण उन्होंने ही करवाया था। इसी प्रकार पुराणोक्त चौरासी महादेव तथा अनेक शाक्त एवं शैव स्थलों के पुनर्निर्माण तथा नवीन प्राण-प्रतिष्ठा का कार्य भी मराठा काल में सम्भव हुआ। शाक्त केन्द्र के रूप में विख्यात हरसिद्धि तथा गढ़कालिका मन्दिर का वर्तमान स्वरूप भी इसी दौर में बना। इस प्रकार के निर्माण कार्यों से उज्जयिनी पुनः अपने अतीत के स्वर्णिम दिनों को तो नहीं पा सकी, किन्तु शाक्त एवं शैव अनुष्ठान, यात्रा और पर्वोत्सव के दिन लौटने लगे। उज्जयिनी ने फिर से 'अवन्ती' की संज्ञा को सिद्ध किया। पौराणिक तथा लोक-परम्परा से जुड़ी अनेक धार्मिक यात्राओं में उज्जयिनी ही नहीं, वरन् दूर-दूर से आने वाले श्रद्धालुजन जुटने लगे। अद्भुत बात यह है कि शिक्षा, परिवहन और संचार के अभाव के दिनों से प्रारम्भ ये यात्राएँ बिना किसी के आह्वान और नेतृत्वकर्त्ता के सतत रूप से आज भी जारी हैं। इन यात्राओं में से अधिकांश शैव एवं शाक्त स्थलों से जुड़ी हुई हैं। कुछ यात्राओं का सम्बन्ध विष्णु, आदित्य, नवग्रह तथा उज्जयिनी के पवित्र सरोवर, कुण्ड, वापी, क्षेत्र आदि से हैं। नित्य यात्रा में दो प्रमुख शाक्त स्थलों-अवन्तीदेवी तथा हरसिद्धि को स्थान दिया गया है। इस यात्रा के क्रमशः स्थान हैं-क्षिप्रा स्नान, नागचन्द्रेश्वर, कोटेश्वर, महाकाल, अवन्तीदेवी, हरसिद्धि तथा अगस्त्येश्वर महादेव। त्रिदेवी यात्रा में एकानंशा, भद्रकाली और अवन्तिका को स्थान दिया गया है, वहीं शाक्त परम्परा में महत्त्वपूर्ण अष्ट-मातृका यात्रा में उमा, चण्डी, ईश्वरी, गौरी, हरसिद्धि, वटयक्षिणी, वीरभद्रा तथा रौद्री के पूजन-अर्चन को पुण्यदायी माना गया है। चतुर्विंशतिदेवी यात्रा में स्कन्दपुराणोक्त चौबीस मातृकाओं का पूजन किया जाता था। यह अवश्य है कि इनमें से अनेक यात्राएँ मूल स्थानों के अभाव में अब अवरुद्ध हो गई हैं, किन्तु आज भी पंचक्रोशी या पंचेशानी यात्रा, चौरासी महादेव यात्रा आदि में भक्तगण बड़ी संख्या में सम्मिलित होते हैं। उज्जैन के प्रमुख शक्ति-स्थलों पर आज भी नवरात्रि के दिनों में जत्रा (यात्रा) भरती है।

उज्जयिनी के सदृश यहाँ के शाक्त-स्थलों ने भी समय के प्रवाह में उत्थान-पतन के कई दौर देखे-झेले हैं, इसके बावजूद जनमानस में शक्ति की उपासना का पवित्र बिम्ब शाश्वत रूप में स्थित

है। यही कारण है कि कतिपय पुरातन शाक्त-स्थल यदि विस्मृत-से हो गये, तो अनेक नए सिरे से प्रतिष्ठित भी कर दिए गए। आज भी देवी मन्दिरों के निर्माण का सिलसिला जारी है, जो शक्ति-पूजा के प्रति श्रद्धालुओं की चिरसंचित भावधारा का द्योतक है। यहाँ उज्जयिनी के प्रमुख शक्ति-स्थलों का विविध आयामी वृत्तान्त प्रस्तुत है।

हरसिद्धि देवी :

महाकाल मन्दिर के समीप स्थित रुद्रसागर के तट पर हरसिद्धि का प्राचीन मन्दिर है, जिसे उज्जैन के प्रधान एवं सिद्ध शक्तिपीठ के रूप में मान्यता मिली हुई है। पुराणों से लेकर लोकाभिव्यक्तियों तक हरसिद्धि की महिमा का भावपूर्ण गान मिलता है। स्कन्दपुराण में इन्हें हरप्रिया कहा गया है तथा महानवमी पर इनके पूजन को सुफलदायी माना गया है-

नरो महानवम्यां यो हरसिद्धिं प्रपूजयेत्
महिषं च बलिं दद्यात्स भवेत् भूपतिर्भुवि।।
नवम्यां पूजिता देवी हरसिद्धिर्हरप्रिया
तुष्टा नृणां सदा व्यास ददात्यनवर्म फलम्।। स्कन्दपुराण 5/19

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यहाँ कभी महिष की बलि दी जाती थी, जिसकी अनुगूँज मालवी लोक साहित्य में भी सुनाई देती है-

तेल सिन्दुर देवी पूजा चढ़े भैंसा का माँगे भोग।
सूरज का चक्कर चलता तो रे झूठ बोलता उनका झड़े सीस।

पुराण, तंत्र-ग्रंथों और लोक-अनुश्रुतियों में इस शक्ति पीठ से जुड़े अनेक आख्यान एवं प्रसंग मिलते हैं। दक्ष-यज्ञ को भंग करने के पश्चात् शिव सती के शव को लेकर चहूँ ओर नृत्य करते हुए परिभ्रमण कर रहे थे, तब सती की कुहनी (कूर्पर) यहीं पर गिरी थी। यह आख्यान शिवपुराण, तंत्रचूड़ामणि, योगिनीहृदय, ज्ञानार्णव आदि अनेक पुराणों एवं तांत्रिक ग्रंथों में चित्रित है। तंत्र-ग्रंथ इस स्थान को सिद्धपीठ-स्थल घोषित करते हैं।

स्कन्द पुराण का एक आख्यान 'हरसिद्धि' के नामकरण के निहितार्थ को स्पष्ट करता है। इस आख्यान के अनुसार प्राचीन काल में चण्ड और प्रचण्ड नामक असुरों ने अपने पराक्रम से समूचे संसार को भयाक्रांत कर दिया था। अहंकार से मदोन्मत्त दोनों एक बार कैलाश पर्वत पर गए, जहाँ नन्दीगण द्वारा उन्हें रोके जाने पर दोनों ने नन्दीगण को घायल कर दिया। शिव ने यह देख चण्डी का स्मरण किया। चण्डी ने तत्काल प्रकट होकर शिव की आज्ञानुसार उन आततातियों का वध कर दिया। तब शिव ने प्रसन्न होकर कहा-

हरस्तामाह हे चण्डि संहतौ दुष्टदानवौ।
हरसिद्धिरतो लोके नाम्ना ख्यातिं गमिष्यसि।।

अर्थात् 'हे चण्डी! तुमने इन दुष्ट दानवों का वध किया है। अतः समस्त लोकों में तुम्हारा 'हरसिद्धि' नाम प्रख्यात रहेगा।'

हरसिद्धि की महाकाल वन में स्थिति की चर्चा भी पुराणों में मिलती है। लोकश्रुति के अनुसार हरसिद्धि न्यायप्रिय राजा विक्रमादित्य की आराध्या थी, जिनकी कृपा से वे यशस्वी सम्राट सिद्ध हुए। विक्रमादित्य देवी की पूजा में अपना सिर काटकर अर्पित कर देते थे, जो पुनः धड़ से जुड़ जाता था।

'शिवपुराण' के अनुसार यहाँ 'श्रीयंत्र' की पूजा होती थी। आज भी मन्दिर के गर्भगृह में श्रीयंत्र अंकित है। यही हरसिद्धि देवी है, किन्तु परवर्ती काल में यहाँ हरसिद्धि देवी की प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा हुई, जो वर्तमान मन्दिर में पूजी जाती है। गर्भ-गृह में अन्नपूर्णा, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती और महामाया की प्रतिमाएँ भी हैं।

शाक्त-साधना में इस श्रीयंत्र का सर्वोपरि महत्त्व है, जिसे यंत्रराज भी कहते हैं। यह यंत्र मानव शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक की उत्पत्ति एवं विकास को अभिव्यक्त करता है। इस यंत्र के भीतरी

वृत्त के केन्द्रस्थ बिन्दु के चारों ओर नौ त्रिकोण हैं, जिनमें से पाँच ऊर्ध्वमुखी तथा चार अधोमुखी हैं। ऊर्ध्वमुखी पाँच त्रिकोण शक्ति के द्योतक हैं और चार शिव के। इन त्रिकोणों से सृष्टि-प्रक्रिया से जुड़े विभिन्न तत्वों की अभिव्यक्ति होती है। इस यंत्र में स्थित नौ चक्रों का अधिष्ठान पृथक्-पृथक् शक्तियाँ करती हैं। श्रीचक्र के दर्शन, भावना और पूजा को अनन्तफलदायी माना जाता है। उज्जयिनी के हरसिद्धि और गढ़कालिका पीठों में शाक्त-पूजा के इस महिमावान यंत्र की स्थिति इन स्थलों के प्रभाव को बहुगुणित कर देती है।

हरसिद्धि पीठ ने समय के कई झंझावत सहे हैं। मुगल आक्रमण के दौर में महाकाल से लेकर हरसिद्धि तक का समूचा क्षेत्र उजाड़ दिया गया था, पन्द्रहवीं शती में जिसके आंशिक पुनरुद्धार के प्रमाण परिसर में स्थित बावड़ी तट पर लगे शिलालेख से मिलते हैं। मराठा राज्य के दीवान रामचन्द्र बाबा शेणवी ने अठारहवीं शती में इस मन्दिर का पुनर्निर्माण करवाया था, जिसमें एक मराठा सामंत दाभोलकर का भी योगदान रहा।

हरसिद्धि मन्दिर चारों ओर से मजबूत परकोटे से घिरा हुआ है जिसमें चारों ओर एक-एक द्वार हैं। परिसर में मन्दिर के सामने दो विशाल द्वीप स्तम्भ हैं, जहाँ नवरात्रि को दीपमाला प्रज्ज्वलित की जाती है। उस समय दूर-दूर से दिखाई देने वाले ये ज्योति-स्तम्भ देवी की आरती के विराट दीपों के रूप में श्रद्धालुजनों को मंत्रमुग्ध कर देते हैं। मन्दिर परिसर में ही गुफानुमा निर्माण है, जहाँ अखण्ड ज्योति जलती है। यहीं महाकाली और महामाया की प्रतिमाएँ हैं। मन्दिर के एक ओर कर्कोटकेश्वर महादेव का मन्दिर भी है।

इस प्राचीन परिसर का वैभव आश्विन तथा चैत्रमास की नवरात्रि के दौरान देखते ही बनता है, जबकि दूर-दूर से बड़ी संख्या में आने वाले श्रद्धालुजन अपनी मनोकामना पूर्ति के लिए भावपूरित हो देवी के दर्शन-अनुष्ठान करते हैं। इन दिनों में हरसिद्धि भक्त मण्डल भी अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयोजनों से वातावरण को नई ऊर्जा, नई दीप्ति सहज ही दे देता है।

गढ़कालिका :

उज्जैन नगर से लगभग पाँच कि. मी. की दूरी पर पुरातन उज्जयिनी के भू-भाग में स्थित गढ़कालिका मन्दिर भी प्रमुख शक्ति-पीठ के रूप में जाना जाता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस मन्दिर का सम्बन्ध प्राचीन दुर्ग (गढ़) से रहा है। यह तांत्रिकों का साधना स्थल रहा है। 'शक्तिसङ्गमतंत्र' में इनके सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है- 'अवन्तीसंज्ञके देशे कालिका यत्र तिष्ठति।' इसी प्रकार स्कन्द पुराण में वर्णित उज्जयिनी की चौबीस मातृकाओं में भी इनकी चर्चा मिलती है। त्रिपुरा रहस्य में देश भर के बारह प्रधान देवी विग्रहों का निरूपण किया गया है, जिनमें से कालिका की स्थिति मालवा में दर्शायी गई है तथा इनके दर्शन को समस्त पापों से मुक्तिदायी बताया गया है।

लिङ्गपुराण में इनसे सम्बन्धित एक आख्यान मिलता है, जिसके अनुसार लंकाविजय के पश्चात् राम अयोध्या लौट रहे थे, तब वे उज्जयिनी स्थित रुद्रसागर के समीप ठहरे। उसी रात्रि को कालिका भक्ष्य की खोज में निकलीं। उन्होंने हनुमान को पकड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु हनुमान के रौद्र रूप से भयभीत हो वे स्वयं भागने लगीं। भागते समय उनका अंग जहाँ गिरा, वही स्थान कालिका का है।

लोक किंवदन्ती के अनुसार गढ़कालिका को महाकवि कालिदास की इष्ट देवी माना जाता है, जिनकी कृपा से उन्हें वाक्सिद्धि मिली थी। यह मन्दिर उज्जयिनी के इतिहास की कई परतों पर खड़ा है। इसकी नींव से शुंगकाल (ई. पू. प्रथम शताब्दी), गुप्तकाल (चौथी शताब्दी ई.) तथा परमारकाल (दसवीं से बारहवीं शताब्दी ई.) के पुरावशेष तथा प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इसका जीर्णोद्धार ई. सन् 606 में सम्राट श्री हर्ष ने करवाया था। तदनन्तर परमारकाल में दसवीं शताब्दी में भी इस मन्दिर के जीर्णोद्धार के प्रमाण मिलते हैं। विक्रम संवत् 2009 में भी पुनः जीर्णोद्धार करवाया गया।

मन्दिर में कालिका की भव्य और विशाल प्रतिमा है, जो सिन्दूर से चर्चित है। रौद्र मुख पर चाँदी के अलंकरण, मुकुट एवं छत्र से देवी का विग्रह चित्ताकर्षक रूप ले लेता है। गर्भगृह में महालक्ष्मी

और महासरस्वती की भी प्रतिमाएँ हैं। मुख्य प्रवेशद्वार के आगे सिंह की प्रतिमा है। मन्दिर परिसर में ही विशाल दीप स्तम्भ है, जिस पर आश्विन एवं चैत्र मास की नवरात्रियों के अवसर पर दीपमाला प्रज्ज्वलित की जाती है। मन्दिर में हनुमान और विष्णु की भी प्रतिमाएँ हैं।

काली के विविध रूपों में से गढ़कालिका का स्थान 'दक्षिण कालिका' का माना जाता है, जिनकी उपासना दक्षिणाचार से होती है। प्राचीनकाल से यहाँ ऐसे साधकों का आवागमन निरन्तर होता रहा है, जिन्होंने अपने-अपने मार्ग से साधना कर सिद्धि पाई है। कालिदास ऐसे ही साधकों में एक थे। स्कन्द पुराण के अनुसार महाकाल वन में जब अन्धकासुर से शिव का युद्ध हुआ था, तब काली और महाकाली ने उनका सहयोग किया था।

गढ़कालिका मन्दिर में नित्य पूजा और आरती के साथ ही दुर्गा सप्तशती के पाठ तथा नवरात्रि पर विशेष अनुष्ठानों की परम्परा है, जिनमें बड़ी संख्या में भक्त एवं साधकगण सम्मिलित होते हैं।

नगरकोट की रानी :

प्राचीन उज्जयिनी के दक्षिण-पश्चिम कोने में गोवर्द्धन सागर के तट पर देवी का प्राचीन मन्दिर है। यहाँ पुरातत्त्वीय महत्त्व के अनेक निर्माण दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें से यहाँ स्थित कुण्ड और कार्तिकेय की प्रतिमा क्रमशः परमारकाल और गुप्तकाल की कला के सुन्दर उदाहरण हैं। इन्हें नगर के परकोटे की सुरक्षा की देवी के रूप में जाना जाता है। सम्राट विक्रमादित्य तथा योगीराज भर्तृहरि से सम्बन्धित अनेक कथाएँ इस स्थान के बारे में प्रचलित हैं। यह स्थान नाथ सम्प्रदाय की परम्परा से भी जुड़ा हुआ है। डॉ.भगवतीलाल राजपुरोहित यहाँ स्थित देवी प्रतिमा का सम्बन्ध स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड में वर्णित नवमातृकाओं में से एक 'कोटरी देवी' से मानते हैं। उनके मतानुसार-"यह दक्षिण-भारत में कोट्टवै, महिष सवारी करने पर जैन साहित्य की कोट्ट-क्रिया, वाराणसी की कोटमाई तथा हर्षचरित की कोट्टवी है। उत्तर भारत के पश्चिम प्रदशों में नगरकोट या कोट-काँगड़ा देवी का उत्सव नवरात्रि में मनाया जाता है। हिमाचल में काँगड़ा और चामुण्डाजी के बीच नगरकोट ग्राम भी है।" उनकी यह भी मान्यता है कि चर्चिका हिंगुलाज प्रदेश की देवी है, जो 'कोटर या कोट्टवी' कहलाती है। उज्जैन की नगरकोट की रानी देवी कोट्टवी है तथा पौराणिक भाषा में इन्हें 'चर्चिका' भी कहा जा सकता है।

नगरकोट की रानी की मुखमुद्रा सौम्य और आकर्षक है। कहा जाता है कि प्रत्येक प्रहर में देवी का मुख अलग-अलग भाव प्रदर्शित करता है। यहाँ की आश्विन एवं चैत्र मास की नवरात्रियों के दौरान विशिष्ट अनुष्ठान, पाठ आदि किए जाते हैं और बड़ी संख्या में श्रद्धालु जुटते हैं।

चौंसठ योगिनी :

तांत्रिक परम्परा से सम्बद्ध यह मन्दिर प्राचीन बस्ती नयापुरा में स्थित है। चौंसठ योगिनी के अनेक मन्दिर मध्यप्रदेश में स्थित हैं, जिनमें से एक जबलपुर के पास स्थित प्रसिद्ध पर्यटन स्थल भेड़ाघाट की एक पहाड़ी पर है। उस मन्दिर में मध्य में स्थित शिव मन्दिर के चारों ओर वृत्ताकार दीर्घा में विभिन्न योगिनियों की मनुष्याकार कलात्मक प्रतिमाएँ हैं। उज्जैन स्थित चौंसठ योगिनी मन्दिर में योगिनियों की छोटी-छोटी प्रतिमाएँ हैं, जिन पर सिंदूर का लेपन किया जाता है। इनसे सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। इनमें से एक किंवदन्ती का वर्णन मालवा के लोकनाट्य माच के गुरु चुन्नीलाल जी ने माच के खेल 'राजा विक्रमादित्य' में किया है। इस लोक कथा के अनुसार सम्राट बनने के पूर्व विक्रम काम की तलाश में भटकते हुए उज्जैन आये, जहाँ वे एक कुम्हार के यहाँ नौकरी करने लगे। तब उज्जैन में चौंसठ योगिनियों का राज्य था, जो प्रतिदिन नगर के एक व्यक्ति को दिन में राज्य करने का अवसर देती थीं, किन्तु रात्रि में उसकी बलि ले लेती थीं। कुम्हार के बेटे की बारी आने पर वीर विक्रमादित्य स्वयं आगे आ गये। उन्होंने अपने भक्ति भाव तथा चातुर्य से देवियों को प्रसन्न कर दिया। तब चौंसठ योगिनियों ने वरदानस्वरूप विक्रम को उज्जयिनी का राज्य दे दिया और वे स्वयं विक्रम के कहे अनुसार सुदूर अटक पार चली गईं। सिर्फ एक भूखी माता को

अवश्य यहाँ छोड़ गईं, जो क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित एक लघु मन्दिर में विराजमान है। इस जनश्रुति से यह स्पष्ट है कि चौंसठ योगिनी का यह पीठ प्राचीनकाल से यहाँ स्थित है तथा कभी यहाँ बलि की प्रथा प्रचलित थी। यह मन्दिर भी अन्य शाक्त स्थलों के समान परवर्ती काल में पुनर्निर्मित हुआ है। दोनों नवरात्रियों में यहाँ अनुष्ठान एवं उत्सव होते हैं।

चौबीस खम्बा :

महाकालेश्वर मन्दिर के पास एक पुरातन द्वार 'चौबीस खम्बा' है, जिसका निर्माण परमारकाल में हुआ था। यह महाकाल वन का प्रवेश द्वार रहा है। समीप ही कोट मोहल्ला बसा होने से यह अनुमान भी लगाया जाता है कि यह विशाल कोट (दुर्ग) का द्वार रहा होगा। 11वीं-12वीं शती का शिलालेख भी यहाँ से प्राप्त हुआ है। इस द्वार के दोनों ओर महामाया और महालया देवियों की प्रतिमाएँ हैं। स्कन्दपुराण में वर्णित चौबीस मातृकाओं की स्थिति महाकाल वन में मानी गई है, जिनमें से प्रथम महामाया ही है। चौबीस खम्बा द्वार पर स्थित दोनों मन्दिर आधुनिक काल में पुनर्निर्मित किए गए हैं। यहाँ भी प्रतिवर्ष नवरात्रियों में शाक्त परम्परानुसार अनुष्ठान होते हैं।

अन्य शाक्त स्थल :

प्राचीन और आधुनिक उज्जयिनी में शक्ति स्थलों के निर्माण-पुनर्निर्माण का सिलसिला निरन्तर बना हुआ है। मंगलनाथ परिसर में स्थित पृथ्वी देवी, गढ़ क्षेत्र में विराजित विंध्यवासिनी का मन्दिर, कामदारपुरा में स्थित लोकदेवी लालबाई-फूलबाई मन्दिर, सिंहपुरी का बीजासनी मन्दिर, अस्पताल चौराहे पर स्थित छत्रेश्वरी चामुण्डा माता मन्दिर, महाकालेश्वर मन्दिर के प्रांगण में स्थित स्थान देवता अवन्ती देवी का मन्दिर, हरसिद्धि के पार्श्व में स्थित वरसिद्धि एवं संतोषी माता मन्दिर, सतीगेट पर स्थित सतीमाता, जलप्रदाय कार्यालय के समीप बीजासनी एवं सावन-भादवा माता मन्दिर, उर्दूपुरा का गायत्री मन्दिर नगर के विभिन्न भागों में स्थित शीतलामाता के मन्दिर एवं चबूतरे, अंकपात स्थित गायत्री शक्ति पीठ आदि प्राचीन एवं नवीन शक्ति केन्द्र उज्जैन की शक्ति-उपासना की अविरल परम्परा के प्रमाण हैं। इन सभी स्थानों पर नित्य एवं नैमेत्तिक पूजा के साथ ही नवरात्रियों में विशेष अनुष्ठान तथा उल्लासपूर्ण उत्सव होते हैं।

नवरात्रि के दौरान मालवा में स्थान-स्थान पर देवी से जुड़े लोक-नृत्य गरबे की धूम हो जाती है। शास्त्रोक्त पाठ एवं अनुष्ठानों के साथ-साथ लोक-कंठ से भी शक्ति के आह्वान के गीत निःसृत होने लगते हैं। ऐसे ही एक लोक-गीत में उज्जैन के प्रमुख शक्ति स्थलों की अधिष्ठात्री देवियों गढ़कालिका, हरसिद्धि, योगमाया, चौबीस खम्बा की माता, बीजासन, नगरकोट की रानी और चौंसठ योगिनी से गरबा खेलने के लिए शीघ्र पधारने का निवेदन किया गया है-

माता गड़की महाकाली माता वीनवुँ वो
जी माता हरसिद्धि था ने विनवुँ वो
माजी गरबा रमवा ने बेगा आवजो
जोगमाया गरबे रमे वो।
देवी गरबे रमें ने ताली पड़े वो
पछवाड़े पड़े पछगँवो जोग माया गरबे रमेवो
चौबीस खम्बा बीजासन था ने वीनवुँ वो
नगरकोट ने चौसठ माता थाने विनवुँ वो
देवी गरबे रमवाने बेगा आवजो।

यहाँ आकर शास्त्र और लोक की कृत्रिम दीवार टूटती नजर आती है। वस्तुतः शक्ति के स्वरूप और उनके पूजन-अर्चन-अनुष्ठान का जो विराट बिम्ब बना है, वह शास्त्र और लोक के परस्पर साहचर्य के बिना संभव न था। उज्जयिनी युगों-युगों से इस समरसता की साक्ष्य-भूमि रही है और यहाँ की शक्ति-उपासना एवं शक्ति-स्थल भी। यहाँ सृष्टि की आद्य शक्ति या माँ की उपासना में निमग्न भक्तगण लौकिक विषमता से ऊपर उठकर अखण्ड भावभूमि का अनुभव करते हैं। □

अवन्ती-मालवा क्षेत्र का संत-काव्य और दर्शन

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

भारत का हृदयस्थल मालवा प्राचीन काल से ही प्राकृतिक रमणीयतां से सम्पन्न रहा है। यहाँ की धरती उपजाऊ तथा धन-धान्य से भरपूर है, एक लोक किंवदंती के अनुसार जिसे देख निर्गुण मत के प्रवर्तक संत कबीर ने कहा था, 'देस मालवा गहन गंभीर, डग-डग रोटी पग-पग नीर।' इसका बाह्य रूप जितना मनोरम है, उतना ही सुंदर, आत्मीय एवं आभामय है, इसका अंतरंग। युगों-युगों से यह धरती भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों के संवर्द्धन-सम्पोषण के लिए बहुमान्य रही है। लौकिक दृष्टि से विविध ज्ञान एवं कलानुशासनों के विकास की संभावनाएँ यहाँ मूर्तिमंत होती रही हैं, तो आध्यात्मिक संदर्भों में भी अनेकानेक दार्शनिकों, साधकों तथा संतों ने यहाँ अपने-अपने ढंग से सिद्धि प्राप्त की है। एक ओर चम्बल दूसरी ओर बेतवा तथा दक्षिण दिशा में नर्मदा से घिरा मालवा प्राकृतिक, राजनैतिक या आर्थिक आपदाओं से प्रायः सुरक्षित रहा है। निसर्गतः विचारप्रधान होने के कारण यहाँ के निवासियों ने युगों-युगों से भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति की परम्परा को समृद्ध किया है। मध्ययुगीन एवं आधुनिक मालवा तथा निमाड़ के सन्त काव्य का वैशिष्ट्य समूची भारतीय चिन्तनधारा के परिप्रेक्ष्य के साथ जुड़ने के साथ ही उसे लोक-व्याप्ति एवं विस्तार देने में भी दिखाई देता है। यहाँ के सन्तों पर अनेक तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों, पंथों तथा मत-मतान्तरों का प्रभाव नजर आता है। 10वीं शताब्दी के आसपास मालवा पर नाथपंथियों का गहरा प्रभाव व्याप्त हो गया था। तदनन्तर 16वीं सदी से महाराष्ट्र के नामदेव, गुजरात के नरसी मेहता, राजस्थान की मीरा तथा उत्तर भारत के कबीर, दादू, रैदास, नानकदेव आदि संतों के प्रेरणा सूत्र यहाँ के संतों को दिशा-बोध देने लगे, जिनके स्वयं के गीत या उनकी छाप वाले गीत आज भी यहाँ बहुप्रचलित हैं। यहाँ के लोक-जीवन में निर्गुणी दर्शन की पैठ इतनी गहरी है कि आज यहाँ का सामान्य से सामान्य असाक्षर व्यक्ति भी दर्शन के गूढ़ तत्वों का निरूपण कर सकता है।

मालवा एवं निमाड़ के सन्तों का साहित्य दो कोटियों में रखा जा सकता है-पंथी और भजनी। इनमें पंथी साहित्य निर्गुणी है, तो भजनी साहित्य सगुणी। पंथी साहित्य को भी रचित एवं लोक प्रचलित दो वर्गों में रखा जा सकता है। मालवा-निमाड़ के निर्गुणी संत मूलतः दार्शनिक नहीं हैं। वे साधक हैं, संतकवि हैं। उनके ज्ञान का आधार गुरु परम्परा एवं अनुभव है, पोथी नहीं। साधना तथा सिद्धि के दौरान उन्हें जो रहस्यात्मक अनुभूति हुई है, उसे ही उन्होंने अपने काव्य एवं उपदेशों में उतारा है। उनकी वाणियों में परम्परा से अनायास ही ऐसे अनेक तत्व आ गये हैं, जिनके प्रभावसूत्त विभिन्न भारतीय दर्शनों में खोजे जा सकते हैं। अद्वैत वेदान्त हो या योग दर्शन, आगमिक चिन्तन हो या सिद्ध एवं नाथ पंथी दर्शन, मालवा-निमाड़ के निर्गुण संतों के दर्शन में उनका न्यूनाधिक प्रभाव दिखाई देता है। उनकी रचनाओं के साक्ष्य पर व्यवस्थित दार्शनिकता अवश्य देखी जा सकती है, भले

ही उनमें से अधिकांश संतों का रुझान किसी प्रकार की सचेत दार्शनिक अवधारणा को प्रस्तुत करने में न रहा हो। उनकी वाणियों में अनेक दार्शनिक तथ्य सहज ही छलकते दिखाई देते हैं, जिन्हें समग्रता में रखकर हम मालवा-निमाड़ की निर्गुण भक्तिपरक दार्शनिक प्रवृत्तियों के वैशिष्ट्य का अनुभव पा सकते हैं।

10वीं सदी के आसपास से प्रारम्भ हुए मालवा के निर्गुण सम्प्रदाय पर शुरूआत में नाथपंथियों का गहरा प्रभाव रहा है। फिर 15वीं-16वीं शताब्दी से यह धारा अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाती हुई दिखाई देती है। मालवा के निर्गुण संत-कवियों में मल्लीनाथ जी (15वीं शती) संत जदरूप (16वीं शती), संत बाबालाल (वि. संवत 1599-1662), संत जग्गाजी (वि. सं. 1715), बाबा हरिदास (18वीं शती), संत पूरणदास (वि.सं. 1838), संत हीरादास, संत गंगादास, संत अहिदान जी, संत वक्शीराम जी, संत टेकचन्ददास, संत दीनानाथ जी (सभी 19वीं शती), संत शीलनाथ जी, गुप्तानंद जी, केशवानन्द जी, नित्यानन्द जी, श्रुपदास जी, संत छोटे साहब, सीतलदास जी, लक्ष्मणदास जी, अमरदास जी, हीरादास जी, जयराम जी (सभी 19वीं शती) आदि प्रमुख हैं। इनमें से अधिकांश संतों की विकीर्ण रचनाएँ मिलती हैं। कुछ सन्तों की स्वतंत्र कृतियाँ हस्तलिखित या मुद्रित रूप में उपलब्ध होती हैं, जिनमें से प्रमुख हैं-चौदह रत्न, गुप्तसागर, गुप्तज्ञान गुटका (गुप्तानंद जी), तत्त्वज्ञान गुटका (केशवानन्द जी), गुरुगीता, प्रश्नोत्तरी, नित्यानन्द विलास, स्तोत्राष्टक, श्रीराम विनोद, कक्काक्षरी, वेदान्त रत्नजननी सुत उपदेश, बापजी का उपदेश (नित्यानंद जी) आदि। इनके अतिरिक्त श्रुपदास जी, शीलनाथ जी, संत दीनानाथ जी, छोटे साहब आदि के पद-संग्रह एवं अन्य कृतियाँ भी प्रकाशित-अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं।[1] मालवा की विविध लोकाभिव्यक्तियों में भी निर्गुणी दर्शन का प्रतिफलन हुआ है। खासतौर पर मृत्यु के अवसर पर गाए जाने वाले मसाण्या गीतों में इनका सहज रूपायन हुआ है। इसके साथ ही मालवा में प्रचलित अनेक लोकोक्तियों, मुहावरों तथा आपसी वार्तालाप में भी अनायास ही ऐसे दार्शनिक तथ्य प्रकट होते हैं, जिनके पार्श्व में निर्गुणी दर्शन का गहरा प्रभाव नजर आता है। यहाँ के गाँव-गाँव में ऐसी अनेक भजन-मण्डलियाँ तथा लोक गायक सक्रिय हैं, जो निर्गुणी बानियों के सस्वर गायन के साथ उनमें अन्तर्निहित गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक तथ्यों का खुलासा करने में सुदक्ष हैं। वस्तुत: निर्गुणी दर्शन का उद्देश्य व्यावहारिक है, जो मालवा के जन-जीवन में गहराई तक उतरा है। यहाँ विभिन्न संतों के परिप्रेक्ष्य में मालवा के निर्गुणी दर्शन की विवेचना प्रस्तुत है।

ब्रह्म विचार :

मालवा के निर्गुण संतों ने ब्रह्म की अद्वैतता का विविध प्रकार से निरूपण किया है। उनकी दृष्टि में वही सृष्टिकर्त्ता है और वही संसार के कण-कण में व्याप्त है। सत्त्व, तम और रज तीनों गुण उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में समा जाते हैं। एक मात्र उसी की सत्ता है। इन संतों के यहाँ द्वैत के लिए कोई स्थान नहीं है। संत केशवानन्द जी लिखते हैं-

जग मृगतृष्णा जान, एक ब्रह्म हृदय मान,
द्वैत को निवारि, दिल ब्रह्म में बसाइये।
काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा से आदि लेके,
जारी ज्ञान आगि कर नाम रूप नसाइये।[2]

सन्त नित्यानन्द इस संसार को उसी का पसारा मानते हैं।

जन ब्रह्म को विचवारों, नाहिं ब्रह्म तो से न्यारो ।।टेक।।
घृत दूध ज्यों मिल्या, तू इस विश्व रूप में है।
उसके विराट तन को संसार यह पसारो।[3]

इन संतों ने ब्रह्म को परम्परानुसार ज्योति के रूप में भी अभिव्यक्त किया है, जिसका साक्षात्कार करने के लिए इधर-उधर भटकना व्यर्थ है। केशवानन्दजी का कहना है-

1. डॉ. हजारीप्रसाद वर्मा : मालवी भक्ति काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय, पृ. 83-91
2. वही, परिशिष्ट 2, पृ. 176
3. संत नित्यानन्द : नित्यानन्द विलास, पृ. 77

घटहिं में ढूँढ ले प्यारे, ये बाहर क्यों भटकता है।
अखण्ड है ज्योति जिस मणि की, हमेशा वो दमकता है ॥ टेक ॥

इसीलिए वे एकमेव ब्रह्म के ध्यान पर बल देते हैं, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है–

एक ही ब्रह्म को छोड़ दूज को न ध्याऊँगा,
आज मैं दूजा को न ध्याऊँगा ॥ टेक ॥
भीतर बाहर एक रस है रूप रंग से न्यारा,
अस्ति भाँति रूप ताही में, मन को न लगाऊँगा ॥
कोई मानता देह प्राणी को, कोई इंद्रिय गणतारा,
कोई सूक्ष्म कारण स्थूल को, ये सब झूठ लखाऊँगा॥
सबके मालिक सबसे प्रेरक सब के साक्षी धारा,
ऐसे सत चित् आनन्द छोड़ के केशवानन्द नहिं अटकाऊँगा॥[4]

सर्वव्यापी ब्रह्म को मनुष्य-बुद्धि से परिभाषित करना संभव नहीं है। इसीलिए वेद भी 'नेति नेति' कहकर मौन हो जाते हैं। उसका लक्षण अनिर्वचनीय है, क्योंकि क्षणभंगुर संसार की कोई भी वस्तु उस एकमात्र सत्ता के समान कैसे हो सकती है? संत छोटे साहब इसी तथ्य को रेखांकित करते हैं–

खोजु, कहाँ-कहाँ तू पावे जो जूँ तो मैं जग भरमावे ॥ टेक ॥
कहाँ-कहाँ उपमा कहि न जावे कहुँ तो आपहि आप कहावे॥
पाँच तत्व न निरगुन देखे, ना निर्गुण ना सगुण कहावे॥
रंग कहूँ तो रंग ना दिसे, उपमा कहूँ तो उपमा नहिं आवे॥
मन चित्त बुद्धि काम नहिं आवे, ना इड़ा न पिंगला जावे॥
नानक साहेब सेन लखावे, छोटे साहेब छोटे दिखावे॥[5]

मालवा के निर्गुणी संतों ने कबीर के समान राम को निर्गुण ब्रह्म के रूप में ही आत्मसात किया है। उनके राम भी देहधारी राम नहीं हैं। वे तो सबमे रमे हुए हैं। ब्रह्म तो अखण्ड, अगम, अगोचर, अग्रणी और सर्वव्यापक हैं, फिर साहिब और सेवक में द्वैत कैसा? स्वामी रामदास अपनी वाणी में कहते हैं–

राम रसायन पीजै, जासे बहुर जन्म नहिं लीजै ॥ टेक ॥
राम राम संसार कहत है, देहधारी राम न होई।
एक रमइया रम रहो सबमें, दशहु दिशा में सोई ॥
अखण्ड ब्रह्म है अगम अगोचर, सबके आगे सोई।
बाहर भीतर देखूँ चहूँ दिश, और दूजा नहिं कोई ॥
साहिब सेवक संग रहत हैं, निश दिन ब्रह्म विचारे।
जिन्ने रामदास पर कृपा कीन्हीं, राख लिये रघुराया।[6]

ब्रह्म की अद्वैत-सिद्धि :

मालवा के निर्गुणी सन्तों की दृष्टि में आत्मा ही ब्रह्म का रूप है जैसे बिखरे हुए काँच के टुकड़ों में एक ही छबि दिखाई देती है, उसी प्रकार समस्त आत्माओं में एक ही ब्रह्म समाहित है। गुप्तानन्द जी लिखते हैं–

बाहर अन्तर में ब्रह्म आतमा एक।
जैसे फूटे काँच के, टूक-टूक में देख॥

गुप्तानन्दजी यह भी मानते हैं कि गुरु कृपा से ही सत्य का साक्षात्कार होता है। जैसे-दूध में स्थित घृत बिना मंथन के नहीं निकलता, वैसे ही घट-घट में व्याप्त आत्म-ज्योति की पहचान गुरु के बिना संभव नहीं।

---

4. संत केशवानन्द : तत्त्वज्ञान गुटका, पृ. 466 एवं पृ. 501
5. संत छोटे साहब : सत्नाम अनुभव, भाग 1, पद 65
6. डॉ. हजारीलाल वर्मा : पूर्वोक्त ग्रंथ, परिशिष्ट 3, पृ. 186

आतम ज्योति सब घट माहीं, बिन सतगुरु वह सजत नाहिं।
जैसे दूध में घृत रहता, बिन मंथन सो निकसत नाहिं।[7]

इस अद्वैतावस्था को गुप्तानन्दजी ने बड़े ही मनोहारी ढंग से अभिव्यक्ति दी है, जिसमें 'अजी एजी' जैसे मालवी शब्द-युग्म का प्रयोग हुआ है-

करो वृत्ति ब्रह्माकार मजा कुछ जब पावे ।।टेक।।
अजी एजी उठत बैठत ब्रह्म, ब्रह्म चलि कर जावे।
सोवत जागत ब्रह्म, ब्रह्म पीवत खावे।।
अजी एजी लेत देत है, ब्रह्म ब्रह्म झगड़ा ठावे।
देखत ठनत ब्रह्म है, ब्रह्म नाचै गावै।।
x x x
अजी एजी उपजन हारो ब्रह्म, ब्रह्म ही उपजावे।
पालन करता ब्रह्म ब्रह्म ही खापी जावे।।
अजी एजी त्यागी रागी ब्रह्म ब्रह्म सब करवावे।।
जीव ईश सब ब्रह्म, ब्रह्म ही भुगतावे।।
अजी एजी गुप्तरु परघट ब्रह्म, ब्रह्म जहँ मन जावे।
यो अभ्यासत जो ब्रह्म, ब्रह्म ही हो जावे।।[8]

मालवा के निर्गुणी गीतों में ब्रह्म एवं आत्मा के अद्वैत का कई प्रकार से अंकन हुआ है। निर्गुणी संतों की दृष्टि में जब आत्मा और परमात्मा पृथक् नहीं है, तो मृत्यु भी उल्लास का पर्याय हो जाती है। मृत्यु परब्रह्म के आमंत्रण का पर्व बन जाती है। यहाँ आत्मा दुल्हन की भूमिका में है, जिसे परब्रह्म रूपी दूल्हे के घर जाना है। एक मसाण्या गीत में आत्मा मृत्यु के आध्यात्मिक अर्थ को लौकिक शब्दावली से कुछ इस प्रकार खोलती है-

आणो आयो रे परिब्रह्म को अरे सासरिया को जाणो रे।
चालो म्हारा सात की सई होण अरे अपणा न्हावण जाँव
अरे कँई देवा मन्दर सिदाराँ, आणो आयो रे.........

यहाँ उल्लेखनीय है कि विवाह के पश्चात् ससुराल में वधू को ले आने की प्रथा को मालवी में 'आणा' कहा जाता है। चूँकि मृत्यु के माध्यम से आत्म-रूप दुल्हन प्रिय से शाश्वत मिलन के लिए गमन करती है, तो शृंगार भी जरूरी हो जाता है-

चालो म्हारी साँत की सई होण अरे अपण माथो गूँथावाँ
कई गूँथ्या कई गूँथनों मोतियन माँग पुरावाँ, आणो आयो रे[9]......

संत अहिदान जी का कहना है कि सद्गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने से आत्मा में ही ब्रह्म का अभिज्ञान हो जाता है-

'ब्रह्म खोज दीदार देखले आपा में ओलखाया।'

एक बार स्वयं प्रकाश की पहचान होने पर ध्यान-साधना, कंठी-माला की आवश्यकता नहीं रह जाती है। सब ओर एक ही की छाया नजर आने लगती है। जन्म और मृत्यु से परे का बोध प्राप्त हो जाता है। गुप्तानन्द जी इस स्थिति को समग्रता में अंकित करते हैं-

तू सदा स्वयं परकाश है, फिर किसका ध्यान धरे है ।। टेक ।।
क्या है ब्रह्म कहाँ है माया, कैसे तिनको जगत उपाया।
ईश्वर जीव कहाँ से आया, तू जपै कौन का जाप है।।
जन्मे अरु कौन मरे है।

---

7. संत गुप्तानन्द : चौदह रत्न सागर गुटका, पृ. 268 एवं पृ. 378
8. संत गुप्तानन्द : गुप्तज्ञान, पृ. 374
9. संकलनकर्त्ता भावसार बा : मालवी लोक गीत, पृ. 708

ब्रह्म नपुंसक जड़ है माया, कहाँ जगत स्थान बनाया।
जीव ईश सब तेरी छाया, तू परकाशन का परकाश है।
कभी जन्मे नहीं मरे है।
गुरु वेद का पटको कपड़ा, कहाँ से लाया झूठा झगड़ा।
बिना पंथ की बाट है दगड़ा, जहाँ नहीं धरणी आकाश।
डूबे अरु कौन तरे है।
गुप्त मते का पंथ निराला, जहाँ नहीं कोई कंठी माला।
बंध मोक्ष का तोड़ो ताला, तू सबका स्वासन का स्वास है।
कछू मूल से नहीं पर है ।।[10]

जीव :

मालवा के निर्गुणी संत परम्परानुसार ब्रह्म के साथ जीव के अभेदत्व को स्वीकार करते हैं। यदि ब्रह्म समुद्र है, तो जीव उसकी एक बूँद है। वही सच्चिदानन्द स्वरूप है। गुप्तानन्दजी लिखते हैं-

जीव अरू ब्रह्म का भेद कहुँ है नहीं सिन्धु के माहि जब बूँद सानी।
कहे गुप्तानन्द सत्‌चित आनन्द तू गूरु और वेद से हम जानी।
(चौदह रत्न गुटका 207 पृ.)

उन्होंने जीव एवं ब्रह्म के संवाद के माध्यम से जीव के भटकाव का भी निरूपण किया है। ब्रह्म उसे समझाते हैं- 'वह जन्ममरण के बंधनों से दूर हो जावे' इस पर जीव तर्क प्रस्तुत करता है, "जहाँ तक माया का विस्तार है, वहाँ तक मैं अज्ञानी हूँ, और माया का विस्तार करने वाला ब्रह्म ही है।" ब्रह्म कहता है, 'तेरी मायाजाल से मुक्ति मिलना अत्यन्त कठिन है।' अन्ततोगत्वा जीव शरीर में आकर दुःख उठाता है।[11] इसी बात को संत छोटे साहब ने इस प्रकार कहा है, 'जिन्दगी डूब रहीं बिन पानी में/बालपनों में खेला करते, देह आइ तरुण जवानी में लोभ मोह माया बस होके, रस लायो नाहिं जिरवा में नरदेही कंचन-सी पाकर पटक दई ये धुल धानी में।'[12]

मालवी निर्गुणी गीतों में जीव को कबीर आदि सन्तों कीशृंखला में प्रायः हंस के रूप में ही उपमित किया गया है, जो अपने मूल स्वरूप में स्वच्छ एवं निर्मल होता है। शरीर तो क्षणस्थायी होता है, किन्तु जीव परमात्मा से अपृथक् होने के कारण शाश्वत है। एक मसाण्या गीत में जीव को हंस तथा काया को वाटिका से उपमित किया गया है। यहाँ परमात्मा में विलय के लिये अग्रसर जीव से काया कहती है कि तुम काया की वाटिका यहीं छोड़कर मत जाओ-

अरे म्हारा हंसों रे लोभी जीवड़ा रे काया री बाड़ी मेली मती जाओ
हंसा तू ने अपुण आया दोई जणा, अब अंत एकला जाय रे म्हारा हंसा।[13]

माया तथा विषय वासनाओं में लिप्त जीव शरीर को ही सब कुछ समझता है। नित्यानन्दजी ने शरीर की सारहीनता को इस प्रकार व्यक्त किया है-

रे मन! मूरख बावरे, किस पर करत गुमान।
हाड़ चाम का पूतला होयगा राख समान।
होयगा राख समान, प्रीत इसकी जब त्यागो।
इसमें नहिं कछु सार, ईश सुमिरन में लागो।
ये कहे निज नित्यानन्द जगत में रहे न कोई।
आना उसका धन्य गुप्त पद खौजे सोई।

वस्तुतः आत्मा तो अखण्ड है, किन्तु वह विषयासक्ति के कारण दिन-रात बेचैन रहती है। स्वरूप ज्ञान के अभाव में मनुष्य चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है। भवानीसिंह जी लिखते हैं-

10. डॉ. हजारीलाल वर्मा : पूर्वोक्त ग्रंथ, परिशिष्ट 2, पृ. 175
11. वही, पृ. 77
12. संत छोटे साहब : सत्‌नाम अनुभव, भाग 1, पृ. 16, पद 33
13. सं. भावसार बा : मालवी लोकगीत, पृ. 706

अखण्ड मेरी आत्मा। विषयों में लिपट गई रे ॥ टेक ॥
सुसंदेश अंदेश या मन की। काँटे सो खटक गयो रे॥
दिन नहिं चैन रैन नहिं स्थिरता। चित चौरासी भटक रह्यो रे॥
विश्वास धरे भवानीसिंह बोले। सुरता यासे हर गई रे॥[14]

जगत विचार :

मालवा के निर्गुण संत अद्वैतवासियों के समान 'जगन्मिथ्यात्व' सिद्धान्त को मान्य करते हैं। उनकी दृष्टि में जगत् स्वप्नवत् है। मोह निद्रा को त्यागते ही इसकी वास्तविकता का पता चलता है। चूँकि जगत् मिथ्या है, तो उससे जुड़े रिश्ते-नाते भी जाल-जंजाल हैं। नित्यानन्द जी कहते हैं-

जगत् जैसे रेन सपना, जामें नाही कोई अपना,
मोह के जाल-जंजाल में न फँसना,
पुनि मात, तात, सुत, नारी धन धाम प्रीति प्यारी।
देख मिथ्या सब सारी ये कहत नित्यानन्द।[15]

संत छोटे साहब (19वीं शती) भी संसार को हाट के समान क्षणभंगुर मानते हैं। उनके यहाँ भी संसार की स्थिति स्वप्नवत् है-

"ये संसार हाट का मेला, बिछड़त लागे ना बाट।
माता पिता भ्राता सुत नारी, ये सपने का संसार॥"

इसीलिए उनका कहना है कि इस जग में किसी की भी इच्छा पूर्ण नहीं हुई है-

दुब्ध्या दूर कर परी ॥
या जग में कई पचपच हारे। गरज कोई की ना सरी।[16]

गुप्तानन्द जी ने जगत् को एक बंगले के रूप में उपमित कर उसके कर्त्ता के रूप में निज मायाधारी ईश्वर की चर्चा की है। उनकी दृष्टि में वह सर्वज्ञ सत्ता स्वयं गुप्त रूप से इस जगत् में विराजित है। वे लिखते हैं-

बंगला खूब समारया है, चतुर कारीगर करतारा ॥ टेक ॥
निज माया का कोट रच्या, नारा रंग अपारा।
घाट वाट चौगट्टे गलियाँ, बिच में लगे बजारा॥
तीन लोक बंगले के अंदर, नाना जगत् अपारा।
गुप्त रूप से आप बिराजे, सबका जानन हारा॥[17]

संत श्रुपदास जी ने भी जगत् को भ्रमपूर्ण कहा है। जो वस्तुएँ यहाँ ऊपर से मीठी दिखाई देती हैं, वे खाने पर खट्टी प्रतीत होती हैं फिर उन्हें सत्य मानने का प्रश्न ही नहीं है-

यह पैठ अजब है दुनिया की ह्याँ क्या-क्या चीज यकट्ठी है।
यहाँ माल कि सूफा मीठा है और चीज कीज सूफी खट्टी है।[18]

केशवानन्द जी (19वीं शती) ने भी जगत् को जाल बताया है, जिसमें काल सबको फँसा लेता है। इससे बचने का एक ही उपाय है-अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान। वे लिखते हैं-

जाल-जाल मेरे प्यारे क्यों है, फँसा जग जाल ॥ टेक ॥
जगत् की जाल बहुत ही झीनी तामे फसावै काल॥
लाल केशवानन्द एकई उपाय है, एकाई ब्रह्म समाल।[19]

---

14. डॉ. हजारीप्रसाद वर्मा : पूर्वोक्त ग्रंथ, परिशिष्ट 2, पृ. 177 एवं पृ. 181
15. संत नित्यानन्द : नित्यानन्द विलास, पृ. 67
16. संत छोटे साहब : सत्नाम अनुभव, भाग 1, पृ. 55 एवं पृ. 95
17. संत गुप्तानन्द : गुप्तज्ञान गुटका, पृ. 224
18. संत श्रुपदास : रूढ़ि अंध परम्परा, ह. लि. पद 38
19. संत केशवानन्द : तत्त्व ज्ञान गुटका, पृ. 477

एक मालवी लोकगीत में संसार की असारता को देशज शब्दावली में कुछ इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली है-

मटिया रे खोदो मेहेल बँदालो हंसा तो केगां घर मेरा नी
राम।
नई घर तेरा, नई घर मेरा काँकड़ वेगा डेरा हो राम।।
मटिया रे खोदो......।

और फिर माया जाल में डूबे मनुष्य को अन्ततः इस संसार से अदराते (लड़खड़ाते) हुए ही जान पड़ता है-

माया जाल में ऐसी उलझी कदीएनी हरी ने सुमर्‌या हो राम।
रामजी का घर का तेड़ा हो आया उठी चल्या अदेराते हो राम।
मटिया रे खोदो-मेहेल बँदालो।[20]

संत टेकचन्ददास जी ने भी संसार की असारता का कुछ इस प्रकार निरूपण किया है-

यह संसार झार और झाकर उलझ कर।
देखत कागज की पुड़िया टेकचन्द छुअत पड़े धूल।।

माया :

मालवा के निर्गुणी संतों ने कबीर एवं अन्य संत कवियों की परम्परा में माया को कई रूपों में अभिव्यक्ति दी है। उनकी दृष्टि में माया के कारण जीव अपने सत्य तात्त्विक स्वरूप से विस्मृत रहता है, मेरा-तेरा करता रहता है। इस प्रकार माया ही दुःखों का कारण बन जाती है। केशवानन्द जी लिखते हैं-

पड़ा था मोह के वश में गुरु ने आ सँभारा है ।। टेक ।।
माया से रात दिन कहता, ये मेरा है ।।
नहीं कोई मेरा वो तेरा, सभी भवजाल सारा है।।
यही भव दुःख है भारी, करे क्यों समय की सवारी।
अन्त में नहीं कोई थारी, ये सब मिथ्या पसारा है।
लगाया लक्ष्य में ये ध्यान, केशवानन्द काम जारा है।।

केशवानन्दजी ने माया को एक स्थान पर पारधी के रूप में भी चित्रित किया है, जो जीव रूपी मैना को अपने फंदे में फाँस लेती है। इससे मुक्ति रामनाम ही दिलवा सकता है और वह भी बिना गुरु की कृपा के संभव नहीं है।

राम नाम कह मैना, तू जो लख गुरु मुख की सेना ।।
टेक ।।
माया पारधी फंद लगायो, ला ला फल धरेना।
लालच के बस तू जाइ बैठी, फँस गये दोऊ डैना।।
बँधे-बँधे में मैना बोले, अब गुरु मोहि छोड़ेना।
अब की बेर छुड़ा मोहि देना, मानूँगी आप कहेना।।
रामनाम से फंद छुड़ाये, ज्ञान विराग दोऊ देना।
उड़ी फंद से शरण में आई, गुरुजी के चरण गहेना।[21]

संत शीलनाथ ने 'योग और प्रकार' शीर्षक ग्रंथ में गद्य-पद्यात्मक ढंग से माया का निरूपण किया है। उनकी दृष्टि में माया के कई रूप हैं और उससे मिलने वाले आनन्द को त्यागकर ही ब्रह्मानन्द की प्रतीति संभव है। वे लिखते हैं- ''माया विषय स्त्री-पुत्र घर-द्वार उसकी मोटी माया में गिनती है। झीनी माया कुछ और है और वह है मन। मन ही माया उस झीनी माया है। जो माया में

20. सं. हीरासिंह बोरलिया : मालवा के भजन, पृ. 12
21. सन्त केशवानन्द : तत्त्व ज्ञान गुटका, पृ. 511 एवं पृ. 483

उलझ गया, उसी के साथ यह बहता रहा है। वो काहे की यादगिरी? माया को हरावै बिगर-वो नजर नहीं पड़ता है। माया के सब आनन्द त्यागो, तब ब्रह्मानन्द खड़ा होता है। पहिले मोह काटो। विषया सब सरीखी है। उसमें छोटी-मोटी का कुछ भेद नहीं है। माया बड़ी है रे।

वहै कल्पना दुख दोहा वहै, विषय विकार अरु काल।
झीनी माया है वहै जब मन जावै चाल।[22]

गुरु :

भारतीय दर्शन परम्परा में ब्रह्मवेत्ता गुरु की उत्कट महिमा का मुक्त कंठ से गान हुआ है, जो आत्मा के मूल स्वरूप के अभिज्ञान से लेकर परमात्म-सिद्धि तक सहायक होते हैं। गुरु के प्रति यह स्वीकार भाव भक्तिकालीन हिन्दी कविता की सभी धारा-उपधाराओं में मिलता है। मध्यकालीन एवं आधुनिक मालवा के निर्गुण संत काव्य और लोकाभिव्यक्तियों में गुरु की महत्ता का एकस्वर से गान हुआ है। गुरु को गोविन्द से बड़ा बताने वाले कबीर के स्वर में स्वर मिलाकर मालवा के संत शीतलदास अपने जीवन में गुरु मंजीराम की भूमिका को रेखांकित करते हुए कहते हैं-

गुरु सरीका देव मेरे मन भाया। गुरु काटे करम की जाल, परम पद पाया ॥टेक॥
एक अखण्डी राम चराचर थाया, ब्रह्म सकल के बीच वेद यूँ गाया॥
इड़ा, पिंगला, सोद, सुखमण लाया, उड़ा उड़द के बीच मन ठहराया॥
मंजीराम मिल्या गुरु पूरा, भरम ने उड़ाया॥
शीतल शरण माय रहा, सदा सुख रस बरसाया॥

गुरु कर्म के जाल को ही नहीं काटते हैं, मन के भ्रम को ही नहीं उड़ाते हैं, अणु को विभु का रूप दे देते हैं। सन्त नित्यानन्द जी महाराज (19वीं शती) गुरु की इसी अपार महिमा का गान करते हुए लिखते हैं-

गुरु की महिमा अपरम्पार।
जावै कृपा करे तब जो वो जन पावे रूप अपार ॥ टेक ॥
पार अपार नहीं कोउ जाको, अर्ध उर्ध विस्तार।
ऐसे रूप लख्यो नित्यानन्द, गुरुजी मिले दिलदार।[23]

शिष्य के लिए सद्‌गुरु सेव्य तो है ही, तात्विक दृष्टि से दोनों में अभेद की भी सिद्धि होती है। संत लक्ष्मणदास इस अभेदत्व को कुछ इस प्रकार निरूपित करते हैं-

सद्‌गुरु तुम और नहीं मैं भी और नहीं।
दिखते हैं प्रभु सेवक से जग में दोनों ही ॥ टेक ॥
तुम हो वस्तु मैं हूँ रूप, तुम प्रकाश मैं हूँ दीप।
तुम सुगंध मैं हूँ पुष्प, एक दोनों ही॥
मैं हूँ वेद तुम वेदान्त, तुम ईश्वर मैं हूँ भक्त।
तुम उदय तो मैं हूँ अस्त। दोनों एक ही।[24]

सद्‌गुरु के बिना जीव की वही दशा होती है, जो रास्ते से भटके हुए राहगीर की। संत हीरादास लिखते हैं-

अब हम घर पाया मेरे सतगुरु भेद बताया ॥ टेक ॥
बाट घाँट की खबर न पाई, फिर फिर भटका खाया
सतगुरु भेदी मिलिया गाँव का, निर्भय पथ बताया।[25]

---

22. डॉ. हजारीलाल वर्मा : पूर्वोक्त ग्रंथ, परिशिष्ट 3, पृ. 182
23. वही, पृ. 185 एवं पृ. 177
24. संत लक्ष्मणदास : सत्नाम अनुभव, भाग 2, पृ. 153
25. डॉ. हजारीलाल वर्मा : पूर्वोक्त ग्रंथ, परिशिष्ट 3, पृ. 184

सद्गुरु के बिना मनुष्य जन्म-जन्मांतर के चक्र में फँसा रहता है, किन्तु उसकी सच्ची तड़फ से सौभाग्य का क्षण भी आता है और तब गुरु की सेवा कर शिष्य कृतार्थ हो जाता है-

पंखा लेके गुरु जी मैं तो हाजर खड़ी ॥ टेक ॥
लाख चौरासी ढूँढ थकी गुरु, अब चरनन में आय पड़ी।
देख दया की अबे दृष्टि से, सुमर रही मैं तो घड़ी जी घड़ी।।[26]

साधना का मार्ग इतना जटिल है कि उसमें बिना गुरु से प्राप्त ज्ञान के कदम रखने वाले को निराशा ही हाथ लगती है। संत केशवानन्द का कहना है कि चाहे शिष्य कठोर योग साधना से अपने शरीर को पिंजर बना ले, गुरु के बिना मुक्ति लाभ संभव नहीं है-

बिन गुरु ज्ञान मुक्ति नहिं होई, लाख उपाय करो नर कोई ॥ टेक ॥
तन सुखाय के पिंजरा कियो है, नख शिख जटा बँधाई।।[27]

संसार को पार करने के कई उपाय शास्त्र एवं लोक में प्रचलित हैं, किन्तु उन उपायों से भटकाव ही हाथ लगता है। तब संत लक्ष्मणदास जैसे एक आदर्श शिष्य ने अपने गुरु के चरण-शरण होने की बात कही है, जिन्होंने उनके सारे भ्रम दूर कर दिए-

किस विध उतरूँ भव पार।
छोटे साहब को मैं हूँ शरन। दृढ़ पकड़े मैंने ये चरन।
अनन्त बार ये जीवन मरण । कर दिया भ्रम सब दूर-दूर।।[28]

भक्ति निरूपण :

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार, समस्त मध्यकालीन साधना तांत्रिक दृष्टि से परिचालित है। उनकी दृष्टि में तंत्र एक ऐसा जीवन-दर्शन देता है, जो सार्ववर्णिक है। इसमें 'याग' की जगह 'राग' और 'खास' की जगह 'आम' ने ले ली। साथ ही इसमें मूल तत्त्व द्वयात्मक होकर द्वयातीय या अद्वय है। यह धारा शंकर धारा की तरह राग के दमन में नहीं 'राग' के शोधन और समुन्नयन में विश्वास रखती है। निर्गुण धारा का साध्य 'सूरत-शब्द' का योग है, जिसका माध्यम 'राग' है।[29] मालवा के निर्गुणी सन्तों का साधना मार्ग भी योग एवं भक्तिपरक है। यह भक्ति रागमूलक होने के कारण ज्ञान और कर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इसमें अपरिमेय संभावनाएँ हैं। नित्यानन्द जी इसकी महिमा का गान करते हुए लिखते हैं-

भक्ति मन प्रेम से कीजै, तबहि भगवान अति रिझै। ॥ टेक ॥
भक्ति की महिमा है भारी, छाड़ उर वासना सारी।
फिर क्यों नारी व्यभिचारी, नित्यानन्द और मन दीजै।।
(नित्यानन्द विलास, पृ. 108)

भक्ति के कई भेदों की चर्चा गुप्तानंद जी ने की है। 'नौधा, प्रेमा, अरु परा, यों कहते शास्त्र अरुवेद', लेकिन दैन्य भाव की भक्ति को ही मालवा के अधिकांश सन्तों ने प्रमुखता दी है। सन्त छोटे साहब के यहाँ इस भावना का निरूपण दृष्टव्य है-

चरण चित वेरा रे म्हारा राज ॥ टेक ॥
चरण प्रताप वाला छोड़ संताप, त्रिगुन ताप सब गेली।
भूल्या था हम पेहला रे म्हारा राज।। (सत्नाम प्रकाश, पृ. 168)

इसी प्रकार सन्त दलुदास जी ने दैन्य की तीव्र अनुभूति को मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त किया है-

---

26. संत नित्यानन्द : नित्यानन्द विलास, पृ. 116
27. संत केशवानन्द : तत्त्व ज्ञान गुटका, पृ. 481
28. संत लक्ष्मणदास : सत्नाम अनुभव, भाग 2, पृ. 178
29. आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी : 'मालवी भक्ति काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय' की पातनिकी, पृ. 4-5

दया कीजे, हो म्हारा नाथ हऊरे, गरीब जन एकलो ।। टेक ।।
अन्न हो चुनगरा पंची बण्या, चुगे पंख पसार। जामे हंसा एक है।
मोती चुग-चुग खाय, हँऊरे गरीब जन एकलो।

x x x

चार खण्ड चवरासी में सब घट रह्यो समाय। दास दलुजी विनती म्हारी
सुणजों पुकार हऊँरे गरीब जन एक लो।।[30]

भक्ति मार्ग पर चलने वाला मनुष्य स्वयं को अकिंचन के रूप में व्यक्त करने के साथ ही खुद को गुनहगार सिद्ध करने में भी पीछे नहीं रहता है-

तुम हो भक्ति के दाता भिकारी हूँ मैं तुम हो पापी के त्राता गुनेगार हूँ मैं।
तुम पूछो क्यों मुझको कहूँ क्या तुम्हें मैं बनाया तुम्हीं ने वैसा बना मैं।

भक्त की सच्ची पुकार और आत्म समर्पण के पश्चात् ईश्वर ही जीव को खोजकर अपना लेता है और साक्षात्कार के क्षणों में भक्त परम पद पा लेता है-

तुम ही रखोगे तो रहेगी लाज हमारी।
मेरे भक्त, केह के बनाई जो तुमने। जायेगी नहीं रखोगे तो तुम्हारी ।। टेक ।।
तुमही ने ढूँढा अपना कर लिया, दरस दिखा के कर दिया साक्षात्कार।
भक्ति दृढ़ता श्रद्धा रूप है सारी। आधीन तुमरे श्रद्धा मेरी।।[31]

योग निरूपण :

मालवा के निर्गुण सन्तों ने साधना प्रक्रिया में भक्ति के साथ योग की भी महत्ता प्रतिपादित की है। उनकी एतद्विषयक अवधारणाओं पर महर्षि पतंजलि से लेकर नाथपंथियों तथा कबीर की वाणियों का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। सन्त शीलनाथ ने योग की सरलतम परिभाषा इस प्रकार दी है-

काटत जिय की वासना, सोहीं कहियत जोग।
शीलनाथ सत्गुरु कहत, आन जोग जग भोग।।

उन्होंने योग के दो ही भेद माने हैं- ''प्रथम भेद हठयोग है, दूसरा राज बखान। सकल सन्त मिली इमि कहियो, दो ही भेद प्रधान।'' उनकी दृष्टि में हठयोग शरीर प्रधान है, तो राजयोग में मानव तत्त्व की प्रधानता है। इन दोनों में से वे राजयोग को सर्वोपरि मानते हैं, जिससे कर्मों का नाश होता है और जीवन का आवागमन समाप्त हो जाता है। ''कर्मकटत जा जोग में, राजयोग पहचान। सब जोगन में श्रेष्ठ यह सत्गुरु कियो बखान।'' उन्होंने इस योग के अंग और प्रक्रिया पर भी सविस्तार विचार प्रकट किये हैं। सन्त शीलनाथ ने हठयोग को स्वरोदय नाम से अभिहित किया है और इसकी प्रक्रिया का भी निरूपण किया है। इस साधना की पूर्णता पर अनहद की मधुर-मधुर झंकार सुनाई देती है। अनेक सिद्धियों का उदय होता है तथा अन्ततः जीव आवागमन के बंधन से मुक्त हो जाता है। वे लिखते हैं-

करम सहित हठयोग है, सत्गुरु दियो लखाय।
याहि याहि स्वरोदयरु अनहद आनन्दपाय।।
हठयोगान्तर स्वर उदय नीके दियो बताय।
पुरुषार्थ करियत गहं, आवागमन बिलाय।।

संत शीलनाथ ने नादानुसंधान की प्रक्रिया और फल पर भी प्रकाश डाला है-

बैठे शान्त एकान्त हो, दहिन श्रवण मन देय।
विषय कटे मनथिर भवै सहज युक्ति लख लेय।।
अनहद धुनि की सुगम विधि सत्गुरु दई बताय।
करिहौ सब फल पाइ हौ बिन करनी किमि पाय।।[32]

---

30. सं. डॉ. परमेश्वरदत्त शर्मा : मालवा के लोकगीत, ईश प्रार्थना, पृ. 10
31. सत्नाम अनुभव, भाग 2, पृ. 220 एवं पृ. 224
32. संत शीलनाथ : योग और प्रकार (हस्तलिखित प्रति), पृ. 2 से 8, पृ. 21, पृ. 36 एवं पृ. 62

नाम-साधना :

मालवा के निर्गुणी सन्तों ने नाम-साधना पर विशेष बल दिया है। उनकी दृष्टि में इसके बिना मनुष्य का उद्धार नहीं है। सन्त दलूदास इसे अविचल भक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं-'अविचल भक्ति नाम की महिमा कोउ न सकत मिटाई।' योगीराज शीलनाथ नाम की शरण को अनिवार्य बताते हैं। उनकी दृष्टि में राम नाम का ही निरन्तर स्मरण करना चाहिए, शेष सभी शब्द भ्रम हैं-

'सुमरन मन को देखियो और न सुमरन कोय।
यहै सखि सद्‌गुरु कहै, सुनमत भूली कोय।।
रामनाम मन नाम अरु सोह हू मन सोय।
शीलनाथ सब शब्द भ्रम, सुन भूलो मत कोय।[33]

मुक्ति का स्वरूप :

मालवा के सन्त-कवियों ने मुक्ति में बाधक तत्त्वों की चर्चा के साथ ही उसके सहज ग्राह्य स्वरूप का निरूपण किया है, जो अत्यन्त व्यावहारिक और सुसाध्य है। जीव माया के वशीभूत होने के कारण ब्रह्म से विमुख रहता है, किन्तु उससे मुक्ति और परब्रह्म के साक्षात्कार के बाद काल का ताना-बाना टूट जाता है। इस दिशा में जगत् तो रहता है, लेकिन जीव उसमें नहीं डूबता है। केशवानन्द के एक पदांश में देखिए-

राम नाम कह मैना तू तो लख गुरु मुख की सेना ।। टेक ।।
निरभय होके ब्रह्म पिछाना, मिटि गये काल के ताना।
केशवानन्द आनन्द कन्द मिल जग में अब ना बहेना।।

(तत्त्व ज्ञान गुटका, पृ. 483)

वासना मुक्ति में बाधक है। कोई कितना भी ध्यान करें, यदि विषय-वासना नहीं मरती है, तो मुक्ति सम्भव नहीं है। सन्त बाबादास लिखते हैं-

आशा विषय विकार की, बाँध्या जग संसार।
लख चौरासी फेर में, भरमत बारम्बार।।
देहा भीतर श्वास है, श्वासा भीतर जीव।
जीवे भीतर वासना, किस विधि पाइये जीव।
जाके अन्तर वासना, बाहर घोर ध्यान।
तिह को गोविन्द ना मिले, अंत होते हैं हान ।।[34]

अद्वैत वेदान्त के सदृश मालवा के निर्गुणी सन्तों की दृष्टि में जीव स्वभाव से मुक्त है। आत्मा तो ब्रह्म स्वरूप ही है। आत्मा सदैव एकरस रहती है, बस उसका भ्रम मिट जाये, वही ध्येय होना चाहिए। गुप्तानन्द जी लिखते हैं-

आत्मा तो ब्रह्म स्वरूप है, पर की उपाधि को धरै।
इस हेतु से यह डूबता, तजकर उपाधि को तरै।
गुप्त आत्मा में भरम करके, अन्तर वो बाहर भासता।
एक रस रहता सदा, आप-हि-आप उजासता।

(गुप्त ज्ञान गुटका, पृ. 180)

अद्वैत वेदान्त में मुक्ति के दो प्रकार बताए गए हैं-जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति। जीवन्मुक्त वह है, जो इसी जीवन में जीते जी दुःखों से मुक्ति पा ले। ऐसा व्यक्ति संसार के प्रपंच में नहीं पड़ा रहता। उसे न मोह सताता है और न शोक। गुरु के उपदेश से उसका भ्रम दूर हो जाता है, विवेक उत्पन्न

---

33. वही, पृष्ठ 95 एवं पृ. 97
34. कल्याण, सन्तवाणी अंक, संवत, 2014, पृ. 4231

होता है। इसीलिए नित्यानन्द जी ब्रह्मज्ञान अपरोक्ष के लिए गुरु को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं, क्योंकि गुरु में ही वह क्षमता है, जिससे क्षणभर में मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता हैं-

सत्य असत्य होत जै कहिये, अद्वय यथारथा ज्ञान।
शिष्य गुरु को खोज शिष्य गुरु तब पावै पाद निर्वाण।
ब्रह्मज्ञान अपरोक्ष बिना गुरु, करा सके नहिं आन।
जीवन्मुक्त करे गुरु छिन में धर हृदये गुरु पद को ध्यान।। (गुरुगीता)

विदेह मुक्ति की दशा में जीव के स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर का अन्त हो जाता है। तब वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। 'वेदान्त-रत्न जननी-सुत उपदेश' में नित्यानन्द जी ने इसी अवधारणा को माता-पुत्र के संवाद के माध्यम से पिरोया है-

प्रसन्न करके प्रभु को, स्वरूप को प्राप्त होवाँ।
तब है बेटा जन्म मरण रूपी चक्कर से आपा छुटाँगा।।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मालवांचल के निर्गुणी दर्शन में विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों पर परम्परा एवं निजी अनुभव के गुणित से सुस्पष्ट विचार हुआ है। अनेक निर्गुण सन्तों ने अपने पंथ से जुड़ी पूर्ववर्ती मान्यताओं को एक ओर नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, वहीं उनमें सम्प्रेषणीयता लाने के लिए क्षेत्रीय बोली 'मालवी' तथा उससे जुड़े सहज प्रतीकों, उपमानों एवं लोक धुनों का भी समावेश किया है। सभी सन्त ब्रह्म, जीव, जगत्, गुरु-महात्म्य आदि बिन्दुओं पर परस्पर अत्यधिक समीप दिखाई देते हैं, भले ही उनके बीच पंथों की हल्की-सी विभाजक रेखा मौजूद हों। अधिकांश मालवावासी भी पंथों के बीच की दीवारों से परे इनके उपदेशों को समान भाव से जीवन में अंगीकार करते रहे हैं। आज भी मालवा के गाँव-गाँव में ऐसी अनेक भजन-मण्डलियाँ और लोक गायक हैं, जो निर्गुणी दर्शन के जटिल तथ्यों को लोक भाषा में स्पष्ट कर सकते हैं, निर्गुणी गीतों का दैनन्दिन और सामयिक सत्संग के सस्वर गायन करते हैं। मालवा के निर्गुणी दर्शन का लोक-जीवन में इतना गहरा प्रभावं है कि उसके अनेक तथ्य पारस्परिक वार्तालाप से लेकर उत्सवी एवं संस्कार गीतों तक अनायास ही प्रतिबिम्बित होते नजर आते हैं। यहाँ आकर शास्त्र और लोक का भेद निस्तेज हो जाता है।

❑
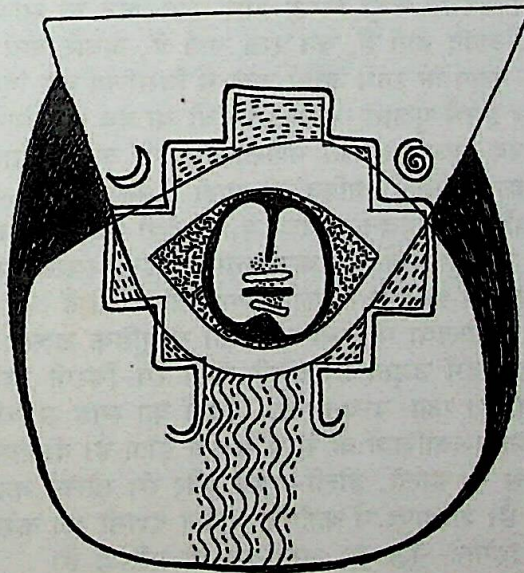
त्यौहार और पर्व

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

''त्यौहार पर्वोत्सव है। पर्व गाँठ या जोड़ को कहते हैं।''

एक बार परीक्षण के लिए दण्डी से किसी राजा ने पूछा- 'पर्व में क्या है?' और तत्काल उसने उत्तर दिया- 'सारः पर्वणि पर्वणि' - 'पर्व पर्व में सार है।' पुण्य का सार पर्व में है। महाभारत का सार पर्व में है। ईख का सार (रस) पर्व में है। पर्व वाला होने से पर्वत नाम सार्थक होता है।

चन्द्रमा के चार परिवर्तन पर्व माने गये हैं-दोनों पक्षों की अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा। चन्द्र-परिवर्तन काल में अनुष्ठित यज्ञ भी पर्व है। सूर्य या चन्द्र का ग्रहण भी पर्व है। सूर्य के उत्तरायण का दिन 'मकर संक्रान्ति' भी पर्व कहा जाता है।

अवन्ती क्षेत्र में अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण, मकर संक्रान्ति आदि का आम जनता को सदा स्मरण रहता है और उस अवसर पर वे यथाशक्ति स्नान, दान, व्रत आदि सम्पन्न करते हैं। शनि या सोमवती अमावस्या, माघी, वैशाखी, श्रावणी, शारदी, कार्तिकी पूर्णिमा, देवोत्थानी एकादशी, शिवरात्रि आदि के साथ ही रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी आदि को भी पर्व एवं उत्सव आयोजित होते हैं। इनमें से कुछ पर्व हैं, कुछ व्रत हैं और कुछ व्रतोत्सव। अधिकमास, कार्तिक, माघ या वैशाख भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और पुण्यप्रद माना जाता है।

आश्विन और चैत्र को नवरात्र बड़ी निष्ठा और पूजा-पाठ के साथ आयोजित होते हैं। देवी मन्दिरों में दर्शन, अनुष्ठान आदि होते हैं, व्रत रखे जाते हैं, जवारे बोये जाते हैं। नवमी तक यह आराधना होती है तब माता-पूजन के साथ जवारे जल में विसर्जित कर दिए जाते हैं। थानक से वाड़ी भी जहाँ-तहाँ निकलती है। इसमें पुजारी-भोपा को देवी या देव का आवेश होता है। बाल गंगाधर तिलक द्वारा प्रवर्तित भाद्रपद शुक्लपक्ष का गणेशोत्सव भी बड़े उत्साह से आयोजित होता है। स्थान-स्थान पर पार्थिव गणेश प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं और धार्मिक-सांस्कृतिक विभिन्न मनोहर आयोजन होते हैं। कुछ वर्षों से आश्विन नवरात्र में भी देवी की पार्थिव प्रतिमा बंगाल के समान मालवा में भी स्थापित कर उत्सव आयोजित करने लगे हैं। इन अवसरों पर बस्तियों में बड़ा उत्साह देखा जाता है। मकर संक्रान्ति पर ग्रामों में गिल्ली-डण्डे खेले जाते हैं और नगरों में पतंगें उड़ाई जाती हैं। मकर संक्रान्ति वास्तव में मालवा में सभी धर्मों का सामूहिक उत्सव है। इस अवसर पर सभी धर्म के बाल-युवा सोत्साह पतंगें उड़ाते हैं। छोटी-बड़ी रंग-बिरंगी विविध प्रकार की पतंगों से आकाश भरा भरा सा लगता है। रक्षा-बन्धन भाई-बहनों का स्नेह संवर्धक त्यौहार है। दशहरे पर रावण-दहन का कार्यक्रम आतिशबाजियों के साथ सम्पन्न होता है। दीपावली, दीपमाला और पटाखे फोड़ने का महत्त्वपूर्ण उत्सव है। होली, होली-दहन और रंग खेलने का उत्सव है। यह होली से रंगपंचमी तक चलता रहता है। शाजापुर में कार्तिक शुक्ल दशमी को कंस-वधोत्सव भी आयोजित होता है। गौतमपुरा के पास हिंगोट-युद्ध का आयोजन भी प्रसिद्ध है।

श्रावण मास में प्रति सोमवार महाकाल की सवारी शासकीय स्तर पर निकाली जाती है। इसमें जनता भी सोत्साह भाग लेती है।

चैत्र कृष्णपक्ष में प्रतिदिन बड़े उत्साह के साथ भिन्न भिन्न मोहल्लों की गेर निकलती है। इसमें आगे निशान होते हैं, अखाड़े चलते हैं, झाँकियाँ निकलती हैं। गाजे-बाजे के साथ में कार्यक्रम सम्पन्न होते हैं। महाकाल, भागसीपुरा, सिंहपुरी आदि की गेर अधिक प्रसिद्ध हैं। देवझूलनी एकादशी को भी झाँकियाँ निकाली जाती हैं।

श्राद्धपक्ष में पूर्वजों का श्राद्ध किया जाता है। परन्तु सन्ध्या के समय कुँआरी कन्याएँ साँझी या संजा बनाती हैं। प्रतिदिन गाय के गोबर से दीवार पर विभिन्न आकृतियाँ बनाकर वे फूल की पंखुड़ियों से रंग-बिरंगी सजाई जाती हैं। फिर सामूहिक रूप से गीत गाती हुई बालिकाएँ संजा की पूजा करती हैं। इसी प्रकार बालिकाएँ चैत्र मास में फूलपाती निकालती हैं। एक बालिका दूल्हा बनती है, दूसरी दुल्हन। सज-धजकर जुलूस के रूप में वे जलाशय तक ढोल-ढमाके के साथ गीत गाती हुई जाती हैं। यह उनका आनन्दोत्सव है।

विभिन्न समुदाय अपने अपने आराध्य के उत्सव भी आयोजित करते हैं। भील गोहरी का आयोजन करते हैं। इसी प्रकार शंकराचार्य जयन्ती, रामानुज, वल्लभाचार्य, रामदेवजी, देवनारायणजी, गोगाजी आदि के भी स्मरणोत्सव आयोजित किए जाते हैं।

उज्जैन में कुछ नए उत्सव भी आरम्भ हुए हैं। शासन के द्वारा ऐसा सर्व महत्त्वपूर्ण कालिदास महोत्सव है। इसमें विद्वानों, कवियों, चित्रकारों, मूर्तिकारों, अभिनेताओं, नर्तकों, गायकों, वादकों -सबका योगदान होता है। ऐसे अन्य उत्सव भी अशासकीय स्तर पर आयोजित होते रहते हैं। उनमें भर्तृहरि उत्सव, सान्दीपनि उत्सव आदि भी हैं।

15 अगस्त को स्वतन्त्रता दिवस और 26 जनवरी को गणतंत्र महोत्सव जैसे राष्ट्रीय पर्व भी शासन एवं जनता द्वारा सोत्साह आयोजित किए जाते हैं।

विक्रमादित्य तथा वराहमिहिर के उत्सवों के साथ ही वीर दुर्गादास, मत्स्येन्द्रनाथ आदि के महोत्सव भी आयोजित होते रहते हैं। रामदेवजी, तेजाबाबजी, गोगाबाबजी की छड़ी भी निकाली जाती है।

अपनी अपनी श्रद्धा व विश्वास के अनुसार विभिन्न वारों एवं त्यौहारों पर व्रत भी रखे जाते हैं। व्रत एकाशना या निराहार होते हैं। निराहार व्रत के दिन फलाहार भरपेट किया जाता है। विभिन्न तिथियों के व्रत भी होते हैं। ये तिथि-व्रत या तो निरन्तर होते हैं या किसी मास विशेष के। कुछ सोलह सोमवार आदि गिनती के व्रत भी होते हैं। सन्तोषी माता का जो प्रचार पर्याप्त हो गया था, अब वह क्षीण हो गया और वैभव लक्ष्मी का प्रचार बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार समय समय पर कुछ का लोप और उद्भव होता जाता है।

कुछ उत्सवों या पर्वों पर भीड़ अधिक एकत्र हो जाने पर मेले जुट जाते हैं। कार्तिक पूर्णिमा पर दीपदान और तीर्थ स्नान के लिए इतनी जनता पवित्र स्थानों पर पहुँच जाती है कि स्थान-स्थान पर मेले जुट जाते हैं। गंगा दशहरा पर भी इसी प्रकार शिप्रा आदि पवित्र नदियों के तट पर मेले जुट जाते हैं।

❑

आधुनिक उज्जयिनी का सामाजार्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश

डॉ. श्यामसुन्दर निगम

आधुनिक उज्जयिनी को विरासत में प्राचीन, मध्य एवं मराठाकालीन संस्कृति की वह अविच्छिन्न विरासत प्राप्त हुई है जिसे एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का ही प्रतिरूप माना जा सकता है। यह दूसरी बात है कि क्षेत्र एवं समय की सांस्कृतिक विधाओं एवं सामाजार्थिक परिवर्तनों ने उस पर पर्याप्त प्रभाव डाला है और उसका अपने ढंग से आत्मसातीकरण किया है।

मध्यकाल में इस्लामी आक्रमणकारियों की धर्मांधता के परिणामस्वरूप उज्जयिनी का प्राचीन गौरव लगभग विनष्ट ही हो गया था। यहाँ की जनता पर भारी मात्रा में सामाजिक एवं धार्मिक अत्याचार हुए, महाकाल मन्दिर सहित अनेक प्राचीन मन्दिरों एवं स्मारकों को ध्वस्त कर दिया गया, प्रचलित पूजा-उपासना पद्धति पर भारी अंकुश लगाये गये, सांस्कृतिक स्वतन्त्रता को कुचला गया तथा कई धार्मिक यात्राएँ प्रतिबंधित कर दी गईं। प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराएँ कुछ परिवारों एवं गृह-मन्दिरों तक ही सिमटकर रह गईं। माण्डव के प्रारम्भिक सुलतानों के शासन को थोड़ा-बहुत अपवाद मान ले तो यह स्थिति समूचे सल्तनत एवं मुगल काल में विद्यमान रही। अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक उज्जयिनी पर यह सांस्कृतिक संकट मण्डराता रहा, परम्परागत संस्कृति विनष्ट तो नहीं हुई, पर विक्षुब्ध एवं विस्मृत अवश्य हो गई। इस जड़ता को उज्जयिनी के मराठा शासकों ने बहुत बड़ी सीमा तक भंग ही नहीं किया, प्राचीन सांस्कृतिक गरिमा को लौटा लाने का भरपूर प्रयास भी किया।

अठारहवीं सदी में प्रथम सिंधिया शासक राणोजी के शासन-काल में उज्जैन के सांस्कृतिक अतीत को पुनर्जीवन मिलना प्रारम्भ हुआ। उसके धनी एवं धर्मप्रेमी सहायक एवं दीवान रामचन्द्र बाबा शेणवी ने इल्तमश द्वारा विर्ध्वंसित महाकाल के ज्योतिर्लिंग की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। आज का महाकालेश्वर का विशाल मन्दिर इन्हीं की देन है। इसी के साथ कई प्राचीन मन्दिरों मठों और घाटों का जीर्णोद्धार एवं पुनर्निर्माण करवाया गया। रामघाट तथा नरसिंह घाट का जीर्णोद्धार इसी समय हुआ।

सिंहस्थ मेले की राजकीय व्यवस्था भी इसी समय से प्रारम्भ हुई। फलस्वरूप सिंहस्थ मेले की विशालता में पर्याप्त परिवृद्धि हुई। इस राजकीय व्यवस्था की परम्परा आज तक विद्यमान है।

सिंधिया शासक दौलतराव की धार्मिक भार्या राजमाता बायजा बाई को उज्जैन के सुप्रसिद्ध द्वारकाधीश (गोपाल) मन्दिर के निर्माण का श्रेय जाता है।

दौलतराव के उपरान्त जनकोजी राव सन् 1827 ई. से 1843 ई. तक, जयाजीराव 1844 ई. से 1885 ई. तक एवं उपरान्त माधवराव शिन्दे शासक रहे। उन्नीसवीं सदी के अंत में माधवराव ग्वालियर राज्य के महाराजा पद पर आसीन थे। इन शासकों ने उज्जैन के सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व की ओर विशेष ध्यान दिया। जयाजीराव के समय एक न्यास की स्थापना की गई जिसके माध्यम से सिंहस्थ पर्व, पर्वों पर स्नान, धार्मिक उत्सवों, मेले-ठेलों, पंचक्रोशी आदि यात्राओं, घाटों और मन्दिरों की व्यवस्था की जाने लगी। अनेक प्राचीन परम्पराओं को पुनर्जीवित किया गया। 84 ईश्वरों के स्थलों को पुनः प्रतिष्ठा दी जाने लगी।

स्वतन्त्रता के पूर्व जो राजनीतिक जागरण भारत के साथ-साथ उज्जयिनी में भी परिलक्षित हुआ, उसने नगर की राष्ट्रीय, साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक चेतना को पर्याप्त गति प्रदान की। बीसवीं सदी के आरम्भ में उज्जैन, ग्वालियर राज्य का एक हिस्सा था और राज्य के महाराजा माधवराव शिन्दे थे जिनका लोकप्रिय नाम 'मोतीसर महाराज' था। उज्जैन उन्हें बहुत प्रिय था और वे उसके विकास में पर्याप्त रुचि लेते थे। वे भगवान् महाकालेश्वर के बड़े भक्त एवं प्रजावत्सल थे। उज्जैन का विशाल कोठीमहल उन्होंने ही निर्मित करवाया था। कालियादेह महल परिसर को सुसज्जित करने एवं उसके विकसित करने का प्रयास भी उनके राज्यकाल में हुआ। गोघाट पर जल यंत्रालय एवं माधव महाविद्यालय उन्हीं की देन है। उज्जैन में उन्होंने थोक व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए प्रशुल्क-मुक्त फ्रींगंज को मूर्त किया था। यह क्षेत्र आजकल माधवनगर कहलाता है। उज्जैन में सड़कों व रेलों का योजनाबद्ध विकास भी इसी समय हुआ। सन् 1889 ई. में वस्त्र उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिये उज्जैन में नजरअली सूती वस्त्र मिल की स्थापना हुई। श्री सोहराबजी द्वारा जिस क्षिप्रा मिल्स की स्थापना की गई थी, वह सन् 1935 ई. में फर्म विनोदीराम बालचन्द द्वारा क्रय किया गया। उसका नवीन नाम दीपचन्द मिल्स हुआ। सन् 1915 ई. में विनोद मिल्स की स्थापना की गई।

सन् 1925 ई. से 1948 ई. तक जीवाजीराव शिन्दे ग्वालियर राज्य के शासक रहे। उन्होंने भी उज्जैन के विकास का पूरा ध्यान रखकर अपने स्वर्गीय पिता की परम्परा को आगे बढ़ाया। विक्रम विश्वविद्यालय उन्हीं के उदार सहयोग का प्रतिफल है। विविध संस्थाओं, धार्मिक क्रिया-कलापों, जन-कल्याण आदि में उन्होंने उज्जैन को कभी उपेक्षा से नहीं देखा। उनके राजत्व काल में उज्जैन का उत्तम औद्योगिक विकास हुआ तथा यातायात एवं संचार साधनों की प्रगति हुई।

भारत स्वतन्त्र होने पर ग्वालियर राज्य मध्यभारत में विलीन हो गया। किन्तु महाराजा जीवाजीराव ने ग्वालियर नरेश के रूप में राजप्रमुख पद स्वीकारा तथा सफलतापूर्वक अपने कार्यकाल का निर्वहन किया। सन् 1956 ई. में हीरा मिल्स की स्थापना हुई। अनेक जिनिंग व प्रेसिंग फैक्टरियों, तेल मिल आदि ने भी उज्जैन के औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश किया। सिंहस्थ मेले के लिये शासकीय व्यवस्था का युग प्रारम्भ हुआ। धर्मस्थलों की देखरेख भी शासकीय दायित्व बन गया। नगर पालिका को अधिक अधिकार देकर उसे एकीकृत बनाया गया। जल व विद्युत प्रदाय संसाधनों में वृद्धि की गई।

स्वतंत्रता आन्दोलन में भी उज्जैन पीछे नहीं रहा। देश के अन्य स्थानों की भाँति राजनैतिक जागृति उज्जैन में भी आई। बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते ही उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग राजनैतिक मामलों में अधिक दिलचस्पी लेने लगा। उज्जैन पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की विचारधारा का भारी प्रभाव पड़ा। महाराष्ट्र की भाँति यहाँ भी राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना को जगाने वाले सार्वजनिक गणेशोत्सव मनाये जाने लगे। देश के कतिपय नेतागण भी यहाँ पधारे। इन सब परिस्थितियों के बीच सन् 1905 ई. में माधव महाविद्यालय कुछ समय के लिये बंद कर दिया गया। सन् 1908 ई. में लोकमान्य तिलक को कारावास प्रदान किये जाने के विरोध में उज्जैन के विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी। सन् 1911 ई. में स्व. त्र्यम्बक दामोदर पुस्तके ने राजनीति में प्रवेश किया। पुस्तकेजी का जीवन राजनीति एवं समाज-सेवा का एक प्रेरक अध्याय है। उन्होंने सन् 1912 ई. में बार एसोसिएशन की स्थापना की। इसी संघ के तत्वावधान में सन् 1927 ई. में ग्वालियर राजस प्लीडर्स कान्फ्रेंस की

स्थापना हुई। इसी प्रकार श्री पुस्तके को युवराज सार्वजनिक वाचनालय, सेवा समिति, युवराज व्यायामशाला आदि को अस्तित्व में लाने का श्रेय प्राप्त है। इन कार्यों में उन्हें स्व. प्रभुदयाल गौड़, स्व. वामनराव निगुड़कर, बाबू पूनमचन्द गर्ग, बाबू बंशीधर, श्री शिवशंकर रावल, श्री नारायणराव सात्विक, श्री गोविन्द हिरवे, श्री आगरकर, स्व. अम्बाप्रसाद तिवारी आदि का यथेष्ट सहयोग प्राप्त हुआ। पं. सूर्यनारायण व्यास, सूर्यप्रसाद जैन, केशरीमल श्रीमाल आदि महानुभावों के सामूहिक प्रयत्नों के परिणामस्वरूप राष्ट्र शृंगार मित्र-मण्डल, आनन्दी मित्र-मण्डल आदि संस्थानों का प्रादुर्भाव हुआ। सार्वजनिक गणेशोत्सव एवं अन्य गतिविधियों के द्वारा इन संस्थाओं ने राजनैतिक एवं सामाजिक चेतना जगाने का उत्तम कार्य किया। इधर ग्वालियर राज्य वकील परिषद् ने भी राजनैतिक एवं सामाजिक सुधारों के लिये अपनी माँग प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत की। ग्वालियर राज्य के प्रमुख नेता इन संगठनों में सोत्साह एवं गंभीरतापूर्वक भाग लेते थे। इन संस्थाओं के साथ-साथ सन् 1917 ई. में स्थापित सार्वजनिक सभा ने बड़े कारगर ढंग से राजनीति में प्रवेश किया। संस्था हरिजनोद्धार, खादी प्रचार, ग्रामोद्योग प्रोत्साहन आदि कार्यक्रमों के साथ गाँधीजी के संदेश को उज्जयिनी के कार्यरूप में परिणित कर रही थी। प्रजा-मण्डल की स्थापना की अनुमति न मिलने से सार्वजनिक सभा ने सन् 1937 ई. में ग्वालियर राज्य का राजनैतिक दायित्व अपने कंधों पर उठा लिया। राज्य के विभिन्न भागों में इसकी कई शाखाएँ खुल गयीं। परिणामस्वरूप दमन किया गया और कार्यकर्त्ता बन्दी बना लिये गये। श्री त्र्यम्बक सदाशिव गोखले ने इस संगठन में अच्छी भूमिका अदा की। 'सार्वजनिक गणेशोत्सव' नामक संस्था ने भी अस्पृश्यता-निवारण एवं राष्ट्रीय चेतना हेतु अच्छा कार्य किया। अनन्तर राष्ट्र-शृंगार मित्र मण्डल द्वारा गणेशोत्सव के माध्यम से स्वदेशी प्रचार, राजनैतिक जागरण, अस्पृश्यता-निवारण आदि गतिविधियों को संचालित किया गया। सन् 1928 ई. में ग्वालियर राज्य खादी संघ की स्थापना उज्जैन में की गई। कालान्तर में उसका विकसित रूप सन् 1949 ई. में गठित मध्यभारत खादी संघ के रूप में सामने आया। दोनों ही संस्थाओं के प्रथम अध्यक्ष श्री पुस्तके रहे थे। सन् 1925 से 1938 ई. तक नूतन मराठी विद्यालय ने श्री हरिभाऊ मसूरकर आदि के तत्वावधान में शिक्षा-जगत में राष्ट्रीय जागरण का अच्छा कार्य किया। स्वामी रामानंदजी की बलाई महासभा गणेशोत्सवों के माध्यम से अस्पृश्यता-निवारण के क्षेत्र में सवर्णों का उत्तम सहयोग पा रही थी। सन् 1932 ई. में श्री पुस्तके एवं श्री दाते ने ग्वालियर राज्य हरिजन सेवक संघ की स्थापना की जिसका पुनर्गठन 1940 ई. में मध्यभारत हरिजन सेवक संघ के रूप में हुआ।

इस प्रकार इन संस्थाओं द्वारा उज्जैन को केन्द्र में रखकर सम्पूर्ण ग्वालियर राज्य एवं मध्यभारत क्षेत्र में राष्ट्रीय सामाजिक एवं राजनैतिक जागरण का पुनीत कार्य किया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्देश्यों और आदेशों का इस भाँति क्रियान्वयन उज्जयिनी में हुआ।

सर्वश्री पुस्तके, त्र्य. स. गोखले, दाते सा. सात्विक, शिवशंकर रावल, मोरेश्वर दीक्षित शास्त्री आदि को उनके इस पुनीत कार्य में सर्वश्री हरिभाऊ उपाध्याय, आगरकर, कन्हैयालाल वैद्य, सूर्यनारायण व्यास, सूर्यप्रसाद सेठ, केशरीमंल श्रीमाल, जमनालाल ओझा, सेठ मदनमोहन जैन, अम्बाप्रसाद तिवारी, सरदारसिंह मूणत, गो. प. हिरवे आदि का प्रभावकारी सहयोग प्राप्त हुआ। 1930 ई. में अजमेर में पं. सूर्यनारायण व्यास के नेतृत्व में यहाँ से युवकों ने जाकर सत्याग्रह में भाग लिया था।

'भारत छोड़ो आन्दोलन' की प्रेरणा पाकर कई नवयुवकों ने भी राष्ट्रीय एवं राजनैतिक आन्दोलन के क्षेत्र में प्रवेश किया। सर्वश्री कन्हैयालाल मनाना, डॉ. हरिराम चौबे, राधेलाल व्यास, वि. वा. अयाचित, अनन्तराज जैन एवं उसके कुछ काल बाद सर्वश्री प्रकाशचन्द्र सेठी, अवन्तिलाल जैन, गजानन वर्मा, डॉ. कृष्णचन्द्र पिंडावाला, सत्यनारायण जोशी आदि युवा पीढ़ी का नेतृत्व ग्रहण कर पाये। डॉ. हरिराम चौबे, का. रामसिंह, श्यामलाल गौड़, श्रीमती देवीबाई चौबे, का. जुग्गनखाँ, गिरधारी लाल ठक्कर, मौलाना मसूद अहमद, रामरतन शर्मा, का. काशीराम, गणेशप्रसाद सक्सेना, लच्छु भैया आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत रहे। सर्वश्री ज्वालाप्रसाद शर्मा, गोपीकृष्ण विजयवर्गीय, बम

गुरु, प्रहलाद पाण्डे 'शशि', यशवंतसिंह कुशवाह आदि ने भी उज्जैन में पर्याप्त राजनीतिक जागरण किया।

स्वतन्त्रता पूर्व की उज्जयिनी के जिन कुछ विशिष्ट नामों का उल्लेख आवश्यक है उनमें सर्वश्री पं. नारायणजी व्यास, पं. सूर्यनारायण व्यास, पं. संकर्षण व्यास, पं. गोपीकृष्ण शास्त्री, डॉ. सदाशिव कात्रे, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', पं. दीनानाथ व्यास, प्राचार्य दलायाजी, प्रो. रमाशंकर शुक्ल 'हृदय', प्रो. माधवप्रसाद शास्त्री, प्रो. बद्रीनारायण अग्रवाल, प्रो. टी. पी. वाजपेयी, प्रो. रेवाड़ीकर, श्री डांगे, श्रीधर वाकणकर, तातू भैया, नाना सा. आष्टेवाले, मुकुन्द सखाराम भाण्ड, बन्देअली खाँ, केशवराव आप्टे, त्र्यम्बक बुआ हरिदास, बिहारीलाल पंड्या, विनायकराव बुआ काले, बालू भैया आप्टे, भूरेखाँ, फिदा हुसैन, खण्डेपारकर, सखाराम बुआ कानिटकर, भेरूलाल गुरु, बालमुकुन्द गुरु, कालूराम उस्ताद, लालचंद सेठी, जाल सा., प्रभुदयाल गौड़, चांदनारायण राजदान, रामप्रसाद भार्गव, शंकरप्रसाद भार्गव, शादीलाल गौड़, पं. वासुदेव शास्त्री, पं. दुर्गाशंकर नागर, महेश शरण जौहरी 'ललित', बांकेबिहारी पाण्डे, वासुदेवराव लोखण्डे, डकारे मा. सा., मंगलीप्रसाद 'आजाद', गोपाल चौऋषिया, का. जोगलेकर, हरिसिंह हाड़ा, डॉ. कमलसिंह, डॉ. खिरवड़कर आदि हैं।

सन् 1948 में मध्यभारत राज्य के निर्माण के साथ ही ग्वालियर राज्य का समूचा क्षेत्र इस नवीन राज्य का अंग बन गया। शिन्दे राज्य में एक जिला रहे उज्जैन को एक जिले के रूप में पुनः परिभाषित किया गया। ग्वालियर राज्य की उज्जैन, बड़नगर एवं खाचरोद तहसीलें तथा होलकर राज्य के महिद्पुर व तराना परगने उज्जैन जिले के अंग बन गये। सन् 1956 में राज्यों के पुनर्गठन के कारण मध्यभारत के नवीन मध्यप्रदेश में विलीन होने पर भी इस जिले की यही स्थिति रही। इतना अवश्य हुआ कि श्री प्रकाशचन्द्र सेठी के मुख्यमंत्रित्व काल में उज्जैन को एक संभाग मुख्यालय बनने का अवसर भी प्राप्त हुआ।

आधुनिक उज्जैन नगर के विकास-क्रम को 25-25 वर्षों के दो सोपानों में विभक्त किया जा सकता है- प्रथम, सन् 1947 से 1972 ई. तक तथा द्वितीय सन् 1972 से आज तक। जहाँ तक प्रथम सोपान का प्रश्न है, मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमन्त्री डॉ. कैलाशनाथजी काटजू का चित्र आँखों के सामने उभर आता है। इस सुधी पुरुष का उज्जैन के प्रति अपार ममत्व था। सन् 1956 का सिंहस्थ उनकी उदार चेतना का एक व्यावहारिक रूप था। अनेक घाटों का पुनर्निर्माण, कई गलियों और सड़कों को पक्का बनाया जाना, टिमटिमाते बिजली के लट्टुओं की जगह सारे नगर एवं मेला-क्षेत्र में मरक्यूरियों का लगाया जाना, सिलारखेड़ी के ताल से उज्जैन के लिये अतिरिक्त जल की व्यवस्था की जाना, मन्दिरों, धर्मस्थलों एवं सड़कों की मरम्मत आदि उनके समय की उपलब्धियाँ हैं। उनके मानस में उज्जयिनी में सांदीपनि आश्रम की जो वृहद् योजना थी, वह आज तक पूर्ण नहीं हो पाई है। सिंहस्थ की योजनाबद्ध व्यवस्था का जो क्रम उस समय प्रारम्भ हुआ था, वह अब पर्याप्त परिपक्व रूप ले चुका है।

इस अवधि में उज्जैन को अनेक सौगातें मिलीं। बोन मिल खुला, स्पन पाइप फेक्ट्री अस्तित्व में आई, पोलीटेकनिक व औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान स्थापित हुए, सिंथेटिक्स रेयन उद्योग (आज का श्री सिंथेटिक्स) अपने शैशव के झूले झूला, क्षय रोग चिकित्सालय व कुष्ट धाम निर्मित हुए, उज्जैन के योजनाबद्ध विकास की चर्चा होने लगी, कालिदास समारोह को अखिल भारतीय स्तर पर मनाये जाने की पं. सूर्यनारायणजी व्यास की अभीप्सा में सार्वजनिक गरमाहट आई। पटनी बाजार का मार्ग बांकड़िया बड़ की कीमत पर विस्तृत हो गया, ढाबा रोड़ को तेलीवाड़ा से मिर्जा नईम बेग मार्ग द्वारा जोड़ दिया गया, कई अन्य निर्माण कार्य सम्पन्न हुए। उज्जैन में इण्डस्ट्रियल इस्टेट बनाये जाने की चर्चा चल निकली।

पर्याप्त संघर्ष एवं प्रतीक्षा के अंततः उज्जैन में सन् 1957 ई. में विक्रम विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। सन् 1959 ई. में विश्वविद्यालय ने अपनी ओर से उपाधि प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया।

विश्वविद्यालय की स्थापना ने शैक्षणिक विकास को गति दी। सन् 1966–67 में सांदीपनि महाविद्यालय, शासकीय इंजीनियरिंग महाविद्यालय, शिक्षा महाविद्यालय प्रारम्भ हुए। इसी सत्र से विक्रम विश्वविद्यालय परिक्षेत्र में अध्ययनशालाओं की स्थापना का क्रम चल पड़ा। सन् 1969 ई. में माधव विज्ञान महाविद्यालय, माधव महाविद्यालय से पृथक् हो अस्तित्व में आया। विक्रम स्मृति मन्दिर की नींव पड़ी।

किन्तु सब कुछ ठीक-ठाक था, ऐसा नहीं था। सूती वस्त्र मिलों की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल होने लगी थी। पचास के दशक में जहाँ शिप्रा स्वच्छ व सतत प्रवाहमान थी, अब पानी की कमी दिखाई देने लगी थी, जल प्रदूषित होने लगा था। काम के अवसर कम होने लगे थे। युवाओं के सिर पर बेरोजगारी का खतरा मंडराने लगा था। मक्सी और आगर मार्ग पर बस व ट्रक यातायात बढ़ गया था। नेरो गेज रेल लाईन ने अपनी बिदाई की तैयारी कर ली थी।

सन् 1972 ई. के बाद के विकास के चरण भी रोचक व उल्लेखनीय हैं। नगर के फैलाव के फलस्वरूप क्षीरसागर, बुधवारिया क्षेत्र व दशहरा मैदान में नवीन कॉलोनियों का निर्माण हो चुका था। किन्तु नगर पर जनसंख्या दर में वृद्धि तथा बाहर के लोगों के भारी मात्रा में नगर में आ बसने के कारण जनसंख्या का दबाव बढ़ने लगा था। सन् 1961 ई. में उज्जैन की जनसंख्या लगभग 1,44,000 थी। वह सन् 1971 ई. में बढ़कर 2,00,000 से अधिक हो गई थी। उसके बाद प्रतिवर्ष 7 से 10 प्रतिशत वृद्धि उज्जैन की जनसंख्या में होने लगी।

जनसंख्या की वृद्धि के परिणामस्वरूप तथा सिंहस्थ क्षेत्रों में आवास न बनाये जाने की विवशता ने मूल उज्जैन क्षेत्र में भूमि के मूल्यों में आशातीत वृद्धि हुई। कई लोगों ने अवसर व परिस्थितियों का लाभ उठाकर अवैध झुग्गी-झोंपड़ी निर्माण की होड़ भरी प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। बाध्य होकर नगर को पूर्वी और दक्षिणी दिशा में फैलने को उद्यत होना पड़ा। परिणामस्वरूप चिमनगंज मण्डी, पटेल नगर, अरविन्द नगर, सुदामा नगर, ऋषि नगर, सेठी नगर, संत नगर, मुनि नगर, विद्या नगर, वेद नगर, महाश्वेता नगर, महानन्दा नगर, विवेकानन्द नगर आदि विशाल कॉलोनियों का जाल बिछ गया। सिंधी कॉलोनी से लगे गोवर्धनधाम नगर, साकेत नगर आदि अस्तित्व में आये। सन् 1992 के सिंहस्थ के बाद नानाखेड़ा में नवीन बस स्टैण्ड निर्मित हुआ। इससे नगर का फैलाव और भी पूर्व और दक्षिणवर्ती होने लगा। यह प्रक्रिया आज भी इन्दौर व देवास मार्ग के मध्य विद्यमान है। एक नवीन और आधुनिक उज्जैन की स्थापना इन दो मार्गों के मध्य लगभग हो चुकी है। इन्दौर मार्ग पर इंजीनियरिंग कॉलेज के सामने व देवास मार्ग पर अभिलाषा नगर तक के क्षेत्र में नवीन कॉलोनियों का निर्माण प्रारम्भ हो चुका है। अब उज्जैन 1947 ई. का उज्जैन कतई नहीं रहा। पुरानी उज्जैन फिर भी आज अपना साहित्यिक धार्मिक और सांस्कृतिक दामन बचाये रख रही है।

जल की दिन-प्रतिदिन बढ़ती माँग, नदी जल का सिंचाई के लिये उपयोग और अनेक नवीन उद्योगों की स्थापना के परिणामस्वरूप शिप्रा नदी वर्षा के अलावा सूखी-सूखी सी लगने लगी है। जो भी जल दिखाई देता है, वह अत्यल्प व प्रदूषित है। उसकी सहायिकाएँ अब लगभग लुप्त प्रायः हैं।

उज्जैन के सागर नगर के विवेकहीन फैलाव की चपेट में आकर अपने अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाने को बाध्य हैं। साहिबखेड़ी बाँध और गंभीर जल परियोजना ने वस्तुतः इस नगर की जल-आपूर्ति को आश्वस्ति तो दी है, किन्तु खान नदी द्वारा शिप्रा में छोड़े गये प्रदूषित एवं अस्वास्थ्यकर जल को नगर के एक बड़े भाग को बाध्यतापूर्वक पीना पड़ रहा है और नगर के मीठे पानी के कूप, वे तो कभी के काल के गाल में समा गये। एक अर्ध शताब्दी पूर्व त्रिवेणी, नृसिंह पिशाचमोचन, राम, हरिहर, मल्लिकार्जुन, गंधवती, केदार, चक्र, प्रयागेश्वर, कपिल, ओखर, भैरव, मंदाकिनी व सिद्ध तीर्थ शुद्ध जल से लबालब भरे रहते थे। अब सूखे-सूखे, सूने-सूने से हो गये हैं। इनके घाटों पर सामगान गाते पण्डितों-पुरोहितों, लोक-गीत गाती महिलाओं व पुण्य-सलिला में स्नान

के समुत्सुक यात्रियों की भीड़ बहुत कम हो गई है। शिप्रा के पावन जल की तरह छलछलाने वाली तरल-सरल संस्कृति अब सलीब पर टंग रही है, चकाचौंध भरे विद्युत-उजाले, चीखते ध्वनि विस्तारक, गंदा पानी उछालते फुवारे व आयातित धर्मोपदेशकों के भीड़ भरे सम्बोधन अब धर्म के पर्याय बन गये हैं। अब उत्सव-धर्मिता व तकनीकी संचार-साधनों द्वारा प्रचारित उपभोग-संस्कृति नगर का जीवन-दर्शन बनती जा रही है। ढेर सारी साहित्यिक व सांस्कृतिक संस्थाएँ तो हैं, पर एक-दूसरे को बर्दाश्त कौन करता है। यह ठीक है कि नगर में अनेक निजी शिक्षा संस्थाओं की बाढ़ आ गयी है, किन्तु सबकी सब व्यवसायी व प्रचारवादी हैं, अपवादस्वरूप कुछ को छोड़ दें, यह दूसरी बात है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ प्रभूत मात्रा में कांफ्रेंस, संगोष्ठियाँ और व्याख्यान मालाएँ आयोजित होती हैं, पर नतीजे में युवा शिक्षित भटक रहा है, आजीविका के लिये अहर्निश। यही कारण है नई पीढ़ी अब व्होकेशनल व प्रबंधन संस्थाओं तथा कम्प्यूटर कोर्सेस की ओर तेजी से आमुख हो रही है। तथाकथित आधुनिकीकरण व प्रौद्योगिकी के इस मकड़जाल के बावजूद भी उज्जैन की शैक्षणिक, बौद्धिक व सांस्कृतिक संभावनाएँ खत्म नहीं हुई हैं। कालिदास अकादमी, प्राच्य विद्या अनुसंधान संस्थान, बिरला शोध केन्द्र, वाकणकर न्यास, विक्रम विश्वविद्यालय व जिला संग्रहालय, म. प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, श्री कावेरी शोध संस्थान, म. प्र. दलित साहित्य अकादमी आदि इसके प्रमाण हैं।* साहित्य और काव्य-गोष्ठियाँ तो लगभग प्रतिदिन हुआ ही करती हैं। एक सुखद सूचना यह है कि मंगलनाथ स्थित श्री धन्वन्तरि आयुर्वेद महाविद्यालय अब एक स्नातकोत्तर अध्ययन व शोध-केन्द्र है।

जिनके पेट खाली हैं, उनकी कहानी अभी कही जाना है। विगत दो दशकों से उज्जैन आर्थिक संकट की चपेट में है। एक के बाद एक सूती वस्त्र मिल्स बन्द हो गये या बन्द होने की कगार पर हैं। विकल्प के रूप में उभरे पावरलूमों की हिचकियाँ भी सुनाई देने लगी हैं। इस्को स्टेन्टन फेक्ट्री इतिहास का विषय बन गई प्रतीत होती है। श्री सिंथेटिक्स, जो विगत कुछ दशाब्दियों से कई लोगों को रोजी-रोटी दे रही है, अब हाथ खड़े कर चुकी है। इण्डस्ट्रियल इस्टेट के अनेक उद्योगों की हिचकियाँ भी सुनाई देने लगी है। सार्वजनिक क्षेत्र की संभावनाएँ भी दिन-प्रतिदिन धूमिल होती दिखाई देने लगी हैं। कहीं कोई दूरस्थ संभावनाएँ भी दीख नहीं रही हैं। निकटस्थ घटिया क्षेत्र की अधुनातन औद्योगिक हलचल अवश्य कुछ आश्वस्ति दे रही है। शिक्षित बेरोजगार से लेकर श्रमिकों की बेकारी से ग्रस्त है आज की उज्जयिनी। धार्मिक एवं सांस्कृतिक उत्सवधर्मिता के अतिरेक में तन्मय उज्जैनवासियों ने कभी भी पूरी गंभीरता एवं निष्ठा से नहीं सोचा कि हमें एक ऐसी उज्जयिनी भी चाहिए जिसके दो हाथों को काम, पेट की रोटी और रहने के लिये एक समझौतावादी नहीं, किन्तु सुनियोजित योजना चाहिए।

आज का उज्जैन फैला दिखता है, अभिलाषा नगर से मंगलनाथ तक, श्री सिंथेटिक्स कारखाने से लेकर शिप्रा तट तक। नगर में नव-निर्माणों की बाढ़ है। सड़कों की चमक-दमक बढ़ी हुई है। इलेक्ट्रानिक्स से लेकर वीडियो कैसेट तक की दुकानों की बाढ़ सी आ गई है। पगड़ी चुकाकर दुकानें कबाड़ने वालों में होड़ सी मची है। जगह-जगह भवननुमा मार्केटों और प्लाजाओं का निर्माण हो गया है और होता जा रहा है। पान और पाऊच की गुमटियों से नगर पटता-सा जा रहा है। हर पाँच-पच्चीस दुकानों के बीच होटल और दवाई की दुकानें एक अनिवार्य शर्त हो गई है। कटपीस व रेडीमेड वस्त्रों के व्यापारी थोड़ा बहुत कमा लेते हैं। नगर में धन का फुगावा तो दिखाई देता है लेकिन पूँजी का नहीं। विभिन्न बैंकों की ढेरों शाखाएँ तो हैं, पर स्थानीय स्टॉक और शेयर बाजार नगण्य और बहुत कुछ असंगठित है। श्रीराम, सराफा व विक्रमादित्य क्लाथ के वस्त्र व्यवसायी व पटनी बाजार के धातु व्यवसायी धंधे का मन्दे होने की सतत शिकायत कर रहे हैं। सरकारी विद्यालयों और चिकित्सालयों की अर्थवत्ता दिन-प्रतिदिन समाप्त होती जा रही है। शिक्षा व चिकित्सा तेजी से निजी क्षेत्र में चले जा रहे हैं, जो है बड़ा आडम्बरपूर्ण और खर्चीला। ट्यूशनखोरी व कोचिंग कक्षाएँ भी जाल की तरह फैली हैं इस नगर में।

---

* इसी धारा में भर्तृहरि समारोह तथा मालव लोक संस्कृति प्रतिष्ठान भी उल्लेखनीय है। -सम्पादक

श्री अरविन्द सोसायटी व रामकृष्ण मिशन के उल्लेखनीय केन्द्र उज्जैन में स्थापित होकर सक्रिय है। आज भी थियासोफिकल सोसाइटी, आर्य समाज, राधास्वामी सम्प्रदाय आदि के साप्ताहिक एवं विशिष्ट कार्यक्रम नियमित संचालित होते हैं। गायत्री परिवार व युगनिर्माण मिशन, मुक्तानन्द मिशन, अखण्डाश्रम, सहजयोग मिशन, पुष्टिमार्गी सम्प्रदाय, समन्वय परिवार, ईसाई पंथ, गुरुद्वारा समितियों, विभिन्न इस्लामी संगठनों, कथा-कीर्तनकारों, आगन्तुक प्रवचनकर्त्ताओं, भागवतकारों, मानस एवं गीता समितियों आदि की आस्थावान सांस्कृतिक गतिविधियों से उज्जैन अछूता नहीं है।* इन दिनों साहित्यिक संस्थाओं में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लोक मानस अकादमी, मध्यप्रदेश लेखक संघ, प्रगतिशील लेखक संघ, क्लैसिकी शोध संस्थान, मालव लोक संस्कृति प्रतिष्ठान, राजभाषा संघर्ष समिति, मालव नागरी लिपि अनुसंधान केन्द्र, बज्मे अदब, अभिरुचि, स्वतंत्रता संग्राम सेनानी संघ, पेंशनर्स एसोसिएशन, हरसिद्धि मित्र मण्डल, संस्कृत साहित्य परिषद्, तीर्थ पुरोहित समिति, गुजराती समाज, ब्राह्मण समाज, महाराष्ट्र समाज, अग्रवाल समाज, चित्रांश समाज, बैरवा समाज, नशा-मुक्ति संगठन, सेवा समिति, अवन्तिका देशी चिकित्सक मंडल, जैन सोशल ग्रुप, सत्य साई समिति, बोहरा ट्रस्ट, गाँधी स्वाध्याय मण्डल, अपंग सेवाश्रम, बार एसोसिएशन, प्रेस क्लब, उज्जैन पत्रकार संघ आदि भी सक्रिय एवं गतिशील हैं। श्री अच्युतानन्द गुरु का अखाड़ा एवं युवराज व्यायामशाला, युवराज सार्वजनिक पुस्तकालय, जिला पुस्तकालय आदि नगर की शारीरिक एवं बौद्धिक उपलब्धियाँ हैं। बाबा महाकाल की सवारी, पंचक्रोशी यात्रा, हरिहर मिलन, संजा के त्यौहार, महाशिवरात्रि पर्व, माच, गैर, लोक-देवताओं की कथा-वार्ता, गणेशोत्सव, मोहर्रम, डोल ग्यारस आदि पर्वों पर तो उज्जैन छटा ही निराली हो उठती है। इसी कारण उज्जैन 'सात वार नौ त्यौहार' का नगर माना जाता है। कुंभ पर्व पर तो उज्जयिनी नगरी एक 'मिनी भारत' का रूप ही ले लेती है। कालिदास समारोह एवं विक्रम विश्वविद्यालय के बहुविध कार्यक्रम समूचे भारत के आकर्षण का केन्द्र बने हुए हैं। मौके-बेमौके उज्जैनवासी पीर मत्स्येन्द्र, वराहमिहिर, भर्तृहरि, धन्वन्तरि आदि पर विशिष्ट कार्यक्रम सम्पन्न कर लेते हैं। उज्जैन में विगत दशकों में अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक निर्माण सम्पन्न हुए हैं जो उसके कलात्मक एवं सांस्कृतिक वैभव में अभिवृद्धि कर रहे हैं। उज्जैन में विभिन्न जाति-समाज के सेवाभावी वैभव में अभिवृद्धि कर रहे हैं। उज्जैन में विभिन्न जाति-समाज के सेवाभावी जन द्वारा दसियों मन्दिरों एवं धर्मशालाओं का निर्माण कर एक तरह से उज्जयिनी को मालवा की विभिन्न जातियों की केन्द्रस्थली ही बना दिया है। अवन्तिका निश्चित ही एक अनादि नगरी है जो भारत की सांस्कृतिक राजधानी का गौरव पाने की अधिकारिणी है।

उज्जयिनी को एक बार पुनः प्रतिकल्पा बनाना होगा, चाहे वह कनकशृंगा बने या न बने। आधुनिक प्रौद्योगिकी से उसके औद्योगिक जगत को जोड़ना आवश्यक है। ऐसी शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना करनी होगी जो नई पीढ़ी को स्वावलम्बी व समय की चुनौती का सामना करने वाली बनायें। उज्जैन को शीघ्र ही एक व्यापक पर्यटन केन्द्र के रूप में विकसित करना होगा। नगर के लिये कोई भी योजना बनाते समय इस तथ्य को भी रेखांकित करना होगा कि यह नगर केवल तिथि-त्यौहारों, सवारियों, घाटों, मन्दिरों, धर्मशालाओं व प्रवचनों का ही नगर नहीं है, बेकारों व बेरोजगारों की बस्ती भी है, व्यापारियों, मेहनतकशों, श्रमजीवी पत्रकारों व छोटे कल-कारखानेदारों की स्थली भी है। विगत सिंहस्थ के समय नगर में अनेक सड़कें बनीं, गम्भीर जल-आपूर्ति योजना ने आकार लिया, एक विशाल ओवरब्रिज बना, शिप्रा तट पर घाटों में अभिवृद्धि हुई, उज्जैन को आसपास के कस्बों व नगरों से जोड़ने वाले मार्गों का सुधार हुआ और रेल्वे स्टेशन का भारी भरकम विस्तार तो हुआ, पर यह विस्तार धनाभाव के कारण नगर पालिका निगम, विकास प्राधिकरण व जनकार्य विभागों पर बोझ बन गया। उचित होगा सिंहस्थ की योजना बनाते समय इनकी सलीब पर टंगी गुणवत्ता की ओर ध्यान दिया जाए और नगर को एक बार पुनः परिभाषित कर उसे सर्वांगीण विकास की दिशा प्रदान की जाए। आगामी दशकों में उज्जयिनी को इसी संकल्प के साथ प्रवेश करना होगा। ❑

*** साहित्य, चित्रकला, संगीत एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियों का रेखांकन आवश्यक है जो इस ग्रंथ में विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि इस आलेख में उनके विवरण नहीं आ पाये हैं।**

-लेखक

तृतीय खण्ड

अवन्ती क्षेत्र का साहित्यिक अवदान

सम्पादक
डॉ. शिव चौरसिया

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य

डॉ. शिव चौरसिया

प्राचीन काल :

अवन्ती क्षेत्र की साहित्यिक परम्पराओं के सन्दर्भ में प्राचीन काल का आशय कालिदास के पूर्व की समस्त वैदिक, उत्तर वैदिक, लौकिकी और वैदिकी भाषा के संधियुग की स्थितियों से है। वेद भारत में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संसार में ज्ञान-विज्ञान और साहित्य के सर्वप्रथम ग्रंथ हैं। एक मत वेदों को, ईश्वर द्वारा रचित, अनादि और अपौरुषेय कहता है, तो दूसरा मत उन्हें ऋषिकृत बतलाता है। अस्तु, वैदिक युग में काव्य-रचना करने वाले कवियों को ऋषि की उपाधि से विभूषित किया गया है।[1] उस काल में कवि को नित्य, नूतन ज्ञान-विज्ञान का प्रत्यक्षदर्शी और दर्शपिता माना गया है।[2] कवि के व्यक्तित्व को दिव्यता से परिपूर्ण कहते हुए उसकी प्रतिभा को ब्रह्म कहा जाता था। तत्कालीन मान्यता के अनुसार देवताओं की कृपा से ब्रह्म की प्राप्ति होती थी तथा उत्तम कवि, उत्तम सरोवर के समान प्रतिष्ठित थे।[3]

वैदिक युग के कवियों में से कुछ राजा, सैनिक, वैश्य, स्त्रियाँ और आर्येतर लोग भी थे। इन कवियों ने अपनी व्यावसायिक अनुभूतियों का हृदयग्राही वर्णन सूक्तों में किया है।[4] वेदकाल की मर्यादा के निर्धारण के विषय में इतना अधिक मतभेद है कि उसके रचना काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने इसकी काल मर्यादा 4 लाख वर्ष पूर्व से लेकर 2 हजार ईस्वी पूर्व तक निर्धारित की है।[5] इसके अनंतर उत्तर वैदिक युग भी भारतीय वाङ्मय की रचना की दृष्टि से अनूठी उपलब्धि का काल है। ब्राह्मण ग्रंथों, संहिताओं, आरण्यकों, उपनिषदों और षड्वेदांगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष) की रचना इसी काल में हुई है।[6]

लौकिकी और वैदिकी भाषा का संधियुग संस्कृत के लौकिक साहित्य का प्रादुर्भाव-काल है। इस युग में लिखा गया 'रामायण' संस्कृत का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं का प्रथम महाकाव्य कहा जाता है। विश्व-साहित्य के प्राचीनतम महाकाव्यों से तुलना करने पर इसकी भाषा, भाव, छंद, रस-व्यंजना एवं शिल्प आदि की श्रेष्ठता स्वयं प्रमाणित है।

---

1. डॉ. रामजी उपाध्यायः प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृष्ठ 1 (1966)
2. ऋग्वेद - 1।164।18
3. वही - 10।71।7
4. डॉ. रामजी उपाध्याय : प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृष्ठ 1 (1966)
5. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 110-111
6. वही - पृष्ठ 123-167

रामायण के रचना-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। 1200 ईस्वी पूर्व से लेकर 500 ईस्वी पूर्व तक के मध्य इसका रचना-काल विवादास्पद है, किन्तु यह तो सर्वमान्य है कि 'रामायण' की रचना 'महाभारत' के पूर्व हुई है।[7]

महाभारत एक ऐसा ग्रंथ है, जिसे लक्षणों के आधार पर परिभाषित करना एक दुष्कर कार्य है। इसका कारण यह है कि इसमें भारत के ज्ञानवान् महा-मनस्वियों द्वारा अनुभूत जीवन-तथ्यों की सर्वांगीण और विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कर दी गई है। अतः उसे कोई भी नाम देना सम्भव ही नहीं लगता।.......उसको न तो हम वैदिक ग्रंथ ही कह सकते हैं न पुराण ही, न इतिहास ही, न महाकाव्य ही, न एक धर्मग्रंथ ही और न केवल सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का प्रतिनिधि ग्रंथ ही। वस्तुतः वह एक वृहद् राष्ट्र का ज्ञान सर्वस्व होने के कारण आर्ष ग्रंथ भी है, इतिहास-पुराण भी है और महाकाव्य, धर्मग्रंथ आदि सभी कुछ है।"[8]

इसका रचना-काल भी संदिग्ध ही है। विद्वानों ने इसकी रचनावधि महाभारत युद्ध, जिसका समय श्री सी.वी.वैद्य ने 3101 ईस्वी पूर्व माना है, से ले कर ईस्वी की चौथी शताब्दी तक निरूपित की है।[9] अस्तु, यह बात तो सर्वमान्य-सी ही है कि महाभारत की रचना ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूर्व में हो चुकी थी।[10]

'रामायण' और 'महाभारत' के साथ ही संस्कृत का पुराण-साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध है और सांस्कृतिक तथा साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'पुराण' शब्द अथर्ववेद और ब्राह्मणों में सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में व्यवहृत हुआ है, किन्तु महाभारत में इस शब्द का प्रयोग प्राचीन उपाख्यानों के ज्ञान के अर्थ में होता है।[11] इनके रचना-काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं।[12]

पुराणों की प्राचीनता वेदों के समान ही मानी गई है। विद्वानों का मत है कि वेदों की सूत्रात्मक बातों को ही, पुराणों में विशद एवं व्याख्यात्मक शैली में कहा गया है।[13] यद्यपि ये वैदिक धर्म के ग्रंथ हैं, फिर भी इनमें सामाजिक पक्ष भी प्रमुख रूप से प्राप्त होता है। भौगोलिक ज्ञान की अद्‌भुत बातों और प्राचीन तीर्थों के अप्रामाणिक वर्णनों के होते हुए भी, पुराणों में बहुमूल्य ज्ञान-सामग्री का भण्डार भरा हुआ है। सुप्रसिद्ध विदेशी विद्वान विंटरनित्ज़ ने तो इन्हें साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि में भागवत पुराण, अपनी भाषा, शैली, छंद, कथा और शिल्प के कारण एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है।[14]

'रामायण', 'महाभारत' और पुराणों के उपरान्त कालिदास के युग का साहित्यिक विवरण प्रायः धूमिल-सा ही है। यह माना जाता है कि कालिदास के पूर्व संस्कृत साहित्य में अश्वघोष जैसा महाकवि और महान् नाटककार अपनी बुद्ध चरित और सौन्दरानन्द काव्य कृतियों का प्रणयन कर चुका था। अश्वघोष संस्कृत के महाकवियों की प्रथम पंक्ति में नहीं आता, किन्तु उसके साहित्य का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह इसलिए कि उसका साहित्य, संस्कृत के रससिद्ध कवि कालिदास के साहित्य की पूर्व-पीठिका का निर्माण करता है।[15]

---

7. वही - पृष्ठ 219
8. वही - पृष्ठ 237
9. कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ 68 (1938)
10. डॉ. मीखनलाल आत्रेय : भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 158
11. हंसराज अग्रवाल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 52
12. वही - पृष्ठ 56-63
13. वाचस्पति गैरोलाः संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 287
14. विंटरनित्ज़ ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, (वाल्युम 1), पृष्ठ 556
15. डॉ. भोलाशंकर व्यास : संस्कृत कवि दर्शन, पृष्ठ 70

अश्वघोष के जीवन-क्रम के सम्बन्ध में अधिक विवाद नहीं है, फिर भी उनके सम्बन्ध में फैली हुई जनश्रुतियाँ अनेक नवीन तथ्यों को जन्म देती हैं। उनका जन्म-स्थान सठित माना गया है[16] तथा एक जीवन-चरित्र के आधार पर उसे मध्यभारत का निवासी[17] और पूज्य पार्श्व का शिष्य तथा एक बौद्ध भिक्षु कहा गया है।[18]

अश्वघोष के मध्यभारत का निवासी होने की बात से यह बात अधिक प्रामाणिक लगती है कि उसके इस क्षेत्र में, जो कि वर्तमान मालवा कहलाता है, निवास करने से कालिदास पर, उसकी कृतियों का प्रभाव झलकता है। इस सम्बन्ध में हिलीब्रांट द्वारा कालिदास विषयक मान्यता का अत्यधिक महत्त्व है- ''कालिदास पर अश्वघोष के प्रभाव को न मानना अथवा न्यून मानना एक व्यर्थ का प्रयास है।[19] मालवा क्षेत्र की इतनी समृद्ध, साहित्यिक और सांस्कृतिक भूमि की परम्पराओं के सन्दर्भ में अश्वघोष के मालवा या मध्यभारत निवास का विषय, अनेक नई उद्भावनाओं को उत्पन्न करने की सामर्थ्य से परिपूर्ण है।

कालिदास के युग के पूर्व की साहित्यिक, विशेष रूप से मालवा की काव्य-परम्पराओं के सन्दर्भ में निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि यहाँ अवश्य ही कोई काव्य-परम्परा, चाहे वह लौकिक संस्कृत की हो अथवा लोकभाषा-प्राकृत की रही होगी, जिसकी पीठिका पर कालिदास ने अपनी विलक्षण काव्य-प्रतिभा के बल पर विश्व-विश्रुत काव्य-ग्रंथों का प्रणयन किया। अन्यथा बिना किसी पूर्व परम्परा के अथवा साहित्यिक आधार भूमि के इतनी श्रेष्ठ और रसमयी रचनाओं का लिखा जाना सम्भव नहीं होता।

इस सन्दर्भ में महाकवि सूरदास की रचनाओं को देखा जा सकता है। सूर ब्रजभाषा के अन्यतम महाकवि हैं, किन्तु उनके पूर्व की साहित्यिक परम्परा के सम्बन्ध में साहित्येतिहास प्रायः मौन है। रामचन्द्र शुक्ल का इस सन्दर्भ में मत उल्लेख्य है- ''ध्यान देने की सबसे पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों को उलझन में डालने वाली होगी। सूरसागर किसी पहले से चली आती हुई परम्परा का, चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास-सा जान पड़ता है, चलनेवाली परम्परा का मूल रूप नहीं।[20]

ठीक यही बात हमारे मत से कालिदास पर भी पूर्णतः लागू होती है। स्वयं कालिदास ने अपनी रचनाओं में जिन तीन नाटककारों-भास, सौमिल्ल और कविपुत्र का उल्लेख किया है, उनमें अन्तिम दो की रचनाएँ अद्यावधि अनुपलब्ध हैं।[21]

इसी प्रकार कुछ कवि और भी रहे होंगे, जिनकी रचनाएँ काल के प्रवाह में जाने कहाँ अटक गयी होंगी? जिनके प्रभाव ने-चाहे वह क्वचित ही हो कालिदास के कुमारसंभव में सम्पन्न विविधता, कल्पना की उत्कृष्टता और भावना की आर्द्रता के साथ 'रघुवंश' में शैली और अभिव्यक्ति की प्रायः समान उत्कृष्टता तथा 'मेघदूत' को गीतिकाव्य की अनुपम उच्चता से परिपूर्ण बनाया है।[22]

---

16. डॉ. भोलाशंकर व्यास : संस्कृत कवि दर्शन, पृष्ठ 70
17. हंसराज अग्रवाल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 124
18. वही - पृष्ठ 125
19. ए. बी. कीथ : लौकिक संस्कृत साहित्य, (हिन्दी अनुवाद-चारुचन्द्र शास्त्री) पृष्ठ 27
20. संपादक रामचन्द्र शुक्ल : भ्रमर गीत सार, पृष्ठ 10-11
21. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास और उनका युग, पृष्ठ 37
22. गौरीनाथ शास्त्री : लौकिक संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, (हिन्दी अनुवाद-डॉ. रामकुमार राय), पृष्ठ 91-93 तथा 151-152

हमारे इस मत की पुष्टि रामचन्द्र शुक्ल के उक्त कथन के उपरान्त हुए सूर पूर्व ब्रज भाषा साहित्य के शोध से भी हो जाती है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने अपनी नवीनतम खोज के आधार पर सूरदास के पूर्ववर्ती लगभग 20 कवियों और उनके काव्य का साहित्यिक अनुशीलन प्रस्तुत किया है।[23]

कालिदास की काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध में जितना भी लिखा जाय, कम ही होगा, क्योंकि वे अन्यतम हैं और भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में हम कह सकते हैं कि, ''प्रकृति के वर्णन में, सौंदर्य के निरूपण में, उपमा और प्रसाद में, ध्वनि और काव्य की गेयता में, शब्दों के चयन और शैली की प्रौढ़ता में कालिदास की कहीं समता नहीं।''[24]

अतः निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि कालिदास का पूर्ववर्ती युग साहित्यिक दृष्टि से अनन्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण है।

संस्कृत कालः

संस्कृत भाषा और उसका साहित्य हमारे देश की एक अनमोल निधि है। संस्कृत भारत की अपनी मूल भाषा है। अति प्राचीनकाल से ही हमारे जातीय जीवन पर उसका असीम और अद्भुत प्रभाव पड़ा है। हमारा साहित्य और संस्कृति उससे पूर्णतया अनुप्राणित है। 'देववाणी' पद से विभूषित होकर वह आज भी भारतीय जनता के हृदय में श्रद्धा का संचार करती है।[25] हमारे साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन की समस्त परम्पराएँ संस्कृत भाषा के वाङ्मय में सन्निहित हैं। सृष्टि के आरम्भिक काल से ही वेदों के रहस्यमय ज्ञान से लेकर आयुर्वेदीय स्वास्थ्यवर्द्धक ज्ञान, पंचतंत्र की नीति-कथाएँ और उत्तमोत्तम काव्य, गद्य, नाटक, रूपक आदि के विपुल भण्डार से सम्पन्न संस्कृत का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

संस्कृत की श्रेष्ठता का सबसे बड़ा कारण है, इसकी सर्वाधिक प्राचीनता। न केवल प्राचीनता, अपितु व्यापकता और सौंदर्य की दृष्टि से भी संस्कृत-साहित्य सम्पूर्ण संसार में अन्यतम है। ''यदि इस भूमि-वलय पर कोई भी भाषा सबसे प्राचीन होने की अधिकारिणी है, तो ये हमारी संस्कृत भाषा ही है। आजकल अपनी ऊँची सभ्यता पर गर्व करने वाली जातियाँ जब जंगलों में घूम-घूम कर केवल संकेत मात्र से अपने मनोगत भावों को प्रकट किया करती थीं, उस समय अथवा उससे भी बहुत पहले हमारे पूजनीय पूर्वज आर्य लोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती के किनारे भगवान की विभूतियों की पूजा में रहस्यमयी ऋचाओं का उच्चारण तथा सरस सामो का गायन किया करते थे।[26]

प्राचीनता के साथ ही इसकी व्यापकता भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य में मनुष्य जीवन के चार पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की विविध स्थितियों का सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन हुआ है। अध्यात्म के साथ ही भौतिक जीवन की सामग्रियों का भी इसमें अभाव नहीं है। अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य आदि विषयों के साथ ही जो काव्य-साहित्य संस्कृत में रचा गया है, उसकी श्रेष्ठता विश्वव्यापी ख्याति अर्जित कर चुकी है।

संस्कृत का काव्य-साहित्य अपने स्वरूप की दृष्टि से अन्यतम है। विषय और रचना शैली की दृष्टि से इसे तीन श्रेणियों या वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वाचस्पति गैरोला के अनुसार ''इसमें पहली श्रेणी के काव्य रामायण और महाभारत हैं। ये वैदिक और लौकिक संधिकाल के

---

23. डॉ. शिवप्रसादसिंह : सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ 351-352
24. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास और उनका युग, पृष्ठ 92
25. पं. चंद्रशेखर शास्त्री तथा डॉ. शांतिकुमार नानूराम व्यास : संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ 1.
26. बलदेव उपाध्याय, गौरीशंकर उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 1

काव्य हैं। दूसरे युग का प्रतिनिधित्व अकेले महाकवि कालिदास की कृतियाँ करती हैं और तीसरी श्रेणी में कालिदास के बाद की कृतियों को रखा जा सकता है।''[27]

अवन्ती क्षेत्र की संस्कृत काव्य-परम्परा अत्यन्त उज्ज्वल है। यद्यपि कालिदास के अतिरिक्त भर्तृहरि, मुंज, भोज, भारवि, दण्डी आदि कवियों के नाम इस क्षेत्र से सम्बद्ध हैं, तथापि कालिदास ही एक ऐसे रत्न हैं, जिनकी यशःपताका शताब्दियों से फहरा रही है।

कालिदास संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ महाकवि तथा भारत राष्ट्र के प्रतिनिधि कवि है। ''उनकी कविता में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति ने अपनी पूरी अभिव्यक्ति प्राप्त की है।''[28] उनकी काव्य रचनाओं में ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसंभव और रघुवंश[29] अमर हो गई हैं।

कालिदास का जीवन चरित्र किंवदंतियों से घिरा हुआ है। उनके माता-पिता, जाति, जन्म-काल और निवास-स्थान के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं। ''विद्वानों ने इनके समय को भिन्न-भिन्न कालों में निश्चित कर के कालिदास के समय को छठी शताब्दी ईस्वी से लेकर प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व तक घसीटा है।''[30]

इसी प्रकार उनका जन्म-स्थान भी रहस्यों की परतों में छिपा हुआ है। उनकी जन्मस्थली बंगाल,[31] विदर्भ,[32] कश्मीर,[33] मिथिला[34] तथा मालवा के सन्दर्भों में अद्यावधि विवाद का विषय बनी हुई है।[35] मालवा में भी कुछ विद्वान् उन्हें धारा नगरी का, कुछ उज्जयिनी का और कुछ विदिशा क्षेत्र से उनका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न करते हैं तथापि यह बात तो पूर्णतः सत्य है कि विक्रमादित्य और उनके नाम परस्पर सम्बद्ध हैं[36] और मालव देश में उनका जन्म भले ही न हुआ हो, किन्तु उनके जीवन का अधिकांश भाग यहीं व्यतीत हुआ है, यह बात उनकी रचनाओं में प्राप्त मालव-सुषमा के वर्णनों से स्वयंसिद्ध है। उज्जयिनी के वर्णन में कवि की अनुभूति लौकिकता से परिपूर्ण है। यहाँ के योद्धाओं, सैनिकों और उनके अश्वों के रोचक वर्णन से उसकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का बोध होता है। उज्जयिनी के योद्धाओं की प्रसिद्धि चन्द्र प्रद्योत के युग से ही थी। इस क्षेत्र में हुए उत्खनन कार्यों में प्राप्त सामग्रियों से इस बात की पुष्टि होती है।[37]

उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में भी अनेक दंत-कथाएँ प्रचलित हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि कालिदास जाति से ब्राह्मण और भगवान शिव के परम भक्त थे।[38] उनकी रचनाओं से उनको वेद, उपनिषद्, दर्शन, पुराण, आयुर्वेद, ज्योतिष और खगोल विद्या का ज्ञान प्रकट होता है।[39] सरस्वती की इतनी महत्त्वपूर्ण सेवा करने के साथ ही, अपने जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी न लिखने से, कवि की निराभिमानिता और विनय-प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

कालिदास रचित काव्य-ग्रंथों में कुमारसम्भव और रघुवंश महाकाव्य हैं। कुमारसम्भव कवि द्वारा रचित प्रथम महाकाव्य है। इसमें 17 सर्गों में शिव-पार्वती विवाह, मदन-दहन, कार्तिकेय जन्म आदि घटनाओं का हृदयहारी वर्णन है।[40]

27. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 887
28. बलदेव उपाध्याय : कवि और काव्य, पृष्ठ 68
29. राहुल सांस्कृत्यायन : संस्कृत काव्य धारा, पृष्ठ 280
30. प्रो. बी. पी. भास्कर शास्त्री : मेघदूत महिमा, पृष्ठ 12
31. विक्रम कीर्ति मन्दिर स्मारिका (कालिदास की जन्मभूमि) रामसेवक गर्ग - पृष्ठ 49-50
32. वही
33. वही
34. 'दैनिक आज' वाराणसी, आदित्यनाथ झा, 12 मई 1559
35. डॉ. प्रभाकर नारायण कवठेकर : द विक्रम (वि. सं. 2023) कालिदास विशेषांक, पृष्ठ 55-61
36. एस. एन. झारखड़ी : विक्रम स्मृति ग्रन्थ (मराठी) 'कालिदास व विक्रम', पृष्ठ 91
37. स. का. दीक्षित : उज्जयिनी इतिहास तथा पुरातत्व, पृष्ठ 78-80
38. बी. पी. भास्कर : मेघदूत महिमा, पृष्ठ 12
39. विक्रम व्हाल्युम - कालिदास एज सीन इन हिज वर्क्स, वि. वि. मिरासी व एन. आर. नवलकर, पृष्ठ 318
40. बलदेव उपाध्याय व गौरीशंकर उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 90

रघुवंश केवल कालिदास की कृतियों में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में अन्यतम महाकाव्य है। इसमें 19 सर्गों में सूर्यवंशी नरेशों के प्रताप, धैर्य, गाम्भीर्य, तेज, ओजस्विता और गुणग्राहकता का सजीव, श्रेष्ठ, प्रौढ़ और मनोहारी चित्रण है। [41]

अन्य दो काव्य-रचनाओं में मेघदूत और ऋतुसंहार खण्डकाव्य हैं। मेघदूत तो संस्कृत के गीतिकाव्यों में एक सर्वश्रेष्ठ कृति है। एक विरही यक्ष की मनोव्यथा, मेघ का प्रयाण, मार्ग की रमणीय भौगोलिक और ऐहिक ऐश्वर्यशाली दृश्यावली और विरहिणी यक्षिणी की दारुण दशा का मर्मस्पर्शी अंकन अद्‌भुत और अनुपम है। [42]

ऋतुसंहार,शृंगार शैली का एक सुन्दर गीतिकाव्य है।[43] यह संभवत: कवि की पहली रचना ही है। इसमें काव्य का वह उत्कर्ष प्राप्त नहीं होता, जो कि कालिदास की अन्य प्रौढ़ रचनाओं में है। इसमें ऋतुओं का अत्यन्त मनोहारी वर्णन, क्रमबद्ध रूप में किया गया है। यह 6 सर्गों और मात्र 144 पदों की एक लघु रचना है। इसकी प्रत्येक पंक्ति में यौवन का उद्दाम आवेग और रमणियों के हास-विलास का सजीव चित्रण है।

उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में बहुत अधिक लिखा जा चुका है, वे सर्वथा असाधारण काव्य-प्रतिभा के धनी थे। इसी कारण उनकी यश-पताका आज देश-काल की सीमाओं को लांघ रही है। वे अब तो विश्व कवि की परमोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। उनके भाव सामंजस्य में कहीं भी विरोधी भावनाएँ न आ पाईं। उसमें प्रत्येक आवेग में कोमलता है। उसके प्रेम का आवेश कभी भी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता। वह प्रेमी को सदा ही संयत, ईर्ष्यारहित एवं घृणा विमुक्त रूप में चित्रित करता है। कालिदास की कविता में भारतीय प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप समाविष्ट है।[44]

इसी कारण कालिदास के पात्रों का चरित्र भारतीयों के लिए आदर्शभूत है। "उनका समाज श्रुति-स्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है। वह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है। यश के लिए विजय की कामना रखता है तथा संतान की इच्छा के लिये गृहस्थी जमाता है। वे धर्म के अविरोधी काम के पक्षपाती थे। जो काम हमारे कर्त्तव्यों के साथ संघर्ष मचाता है, वह नितांत हेय है। हमारे लिए कालिदास का एक महान संदेश है, जो तीन तकारादि शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है-त्याग, तपस्या और तपोवन।"[45] इन्हीं कारणों से कालिदास भारतीय कला, सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक बनने के साथ ही कोटि-कोटि जनों के कल-कंठ हार बने हुये हैं।

संस्कृत काव्य-साहित्य में भर्तृहरि का नाम भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। उनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में भी प्राय: किंवदंतियों का आश्रय ही स्वीकार करना पड़ता है। कुछ विद्वान् उन्हें उज्जयिनी के प्रतापी सम्राट विक्रमादित्य का बड़ा भाई मानते हैं, तो कुछ उन्हें महावैयाकरण सिद्ध करते हैं। चीनी यात्री इत्सिंग उन्हें बौद्ध मानता है।[46] लेकिन उनके शतक-त्रय के आधार पर वे वैदिक धर्मावलम्बी ही नहीं, पूरे अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं। उनकी धार्मिक नीति, आचार-विचार पद्धति तथा प्रक्रियाएँ पूर्णत: वैदिक हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार वे 7वीं शताब्दी के आस-पास हुए थे।[47]

अवन्ती क्षेत्र में प्रचलित मान्यताओं के आधार पर भर्तृहरि विक्रमादित्य के बड़े भाई थे[48] तथा विक्रम के पूर्व वे ही सिंहासनासीन थे। अपने राजत्व-काल में अपनी प्राण-प्यारी पत्नी पिंगला के

---

41. राहुल सांस्कृत्यायन : संस्कृत काव्यधारा, पृष्ठ 296-297
42. वी. पी. भास्कर : मेघदूत महिमा, पृष्ठ 15-16
43. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 906
44. ए. ए. मेकडानेल : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 353
45. बलदेव उपाध्याय व गौरीशंकर उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 95-96
46. राहुल सांस्कृत्यायन : संस्कृत काव्यधारा, पृष्ठ 700-701
47. बलदेव उपाध्याय व गौरीशंकर उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 258
48. सूर्यनारायण व्यास : सचित्र उज्जयिनी, पृष्ठ 27-28

विश्वासघात से उनका हृदय टूट गया और वे नाथ-सम्प्रदाय के तत्कालीन प्रभावशाली व्यक्तित्व गोरखनाथ के शिष्य बन गए। योगी चंद्रनाथ के अनुसार भर्तृहरि को राजा चन्द्रगुप्त की पुत्री, जिसका विवाह एक ब्राह्मण से हुआ था, का पुत्र भी माना जाता है।[49] जो भी हो उज्जयिनी में शिप्रा नदी के किनारे गढ़ कालिका के समीप बनी हुई भर्तृहरि की गुफा और योगीराज मत्स्येन्द्रनाथ (गोरखनाथ के गुरु) की समाधि, उपर्युक्त मान्यताओं को पुष्ट करते हुए, भर्तृहरि का मालववासी होना सिद्ध करती है।

भर्तृहरि के शतकत्रय-नीति शतक,शृंगार शतक और वैराग्य शतक संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन शतकों से कवि के लौकिक अनुभवों का मर्म प्रकट होता है। नीति शतक में कवि ने ऐसे उदात्त गुणों को ग्रहण करने के प्रति आग्रह प्रकट किया है, जो मानव मात्र के लिये मंगलकारी हैं। शृंगार शतक में भर्तृहरि ने कामशास्त्र के कुछ अंशों का मनोवैज्ञानिक चित्रण कर डाला है। इसमें नारी हृदय की सूक्ष्म प्रवृत्तियों और कामी पुरुषों की चित्तवृत्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। लेकिन वैराग्यशतक को कवि का जीवन-सार ही कहा जा सकता है। इसमें सांसारिक सुखों के प्रति अनासक्ति और सन्तोष को ही परम सुख माना जाता है। अपनी विशिष्टताओं के कारण भर्तृहरि के ये तीनों शतक अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

मालवा के परमार नरेश मुंज और भोज की वीरता, शौर्य और न्यायप्रियता के साथ ही उनकी विद्वता और साहित्य-सर्जना की भी बहुत प्रसिद्धि है। मुंज, मालवा के परमार वंश के संस्थापक, हर्षदेव सीयक द्वितीय का पालित पुत्र माना जाता है।[50] वह अप्रतिम वीर और योग्य राजा था। उसकी राजधानी उज्जयिनी थी, किन्तु कुछ विद्वान् उसकी राजधानी धारानगरी मानते हैं।[51] मुंज के अनेक युद्धों और पराक्रम की अनेक कथाएँ हैं। तेलप नरेश पर आक्रमण कर के पराजित होने, बंदी रहने और उसकी बहिन से प्रणय सम्बन्ध रखने के कारण मृत्यु प्राप्त करने वाले इस प्रतापी नरेश के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और कवि भी थे।[52] लेकिन उनकी काव्य-रचनाएँ अद्यावधि अनुपलब्ध हैं।

भोज की गिनती मालवा के ही नहीं, अपितु भारत के अत्यधिक सुयोग्य राजाओं में की जाती है। भोज की राजधानी धार थी। उसने भी अपनी वीरता, शौर्य, पराक्रम, न्यायप्रियता, दानशीलता, साहित्य प्रेम, विद्याप्रेम और एक श्रेष्ठ ग्रंथकार के रूप में अपार ख्याति अर्जित की है। भोज द्वारा लिखे गये अलंकार, व्याकरण, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, शिल्पशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वैद्यशास्त्र, पशु चिकित्सा आदि अनेक विषयों के ग्रंथ, संस्कृत साहित्य में अत्यधिक आदर के केन्द्र हैं। यद्यपि उनके काव्य-ग्रंथों की नामावली तो उपलब्ध है, किन्तु उनकी प्रतियाँ आज तक प्राप्त नहीं हो सकी हैं, तथापि यह निश्चित है कि जब भी वे काव्य-कृतियाँ प्राप्त होंगी, उनसे भोज के व्यक्तित्व का एक नया आयाम स्पष्ट होगा तथा उनकी भाव-प्रवणता और काव्य-कौशल रसिक जनों को आप्लावित करेंगे।

भारवि अपने एकमात्र, किन्तु श्रेष्ठ महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' के कारण संस्कृत साहित्य में प्रतिष्ठित स्थान के अधिकारी हैं। 'किरातार्जुनीय' की गणना संस्कृत महाकाव्यों की वृहत्त्रयी के अन्तर्गत की जाती है।[53] कुछ विद्वान् इन्हें कालिदास का समकालीन बतलाते हैं, किन्तु उनकी रचना पर कालिदास के प्रभाव को देख कर स्पष्ट रूप से लगता है कि ये उनके परवर्ती हैं। इनकी रचनाएँ कालिदासोत्तर संस्कृत साहित्य में अन्यतम हैं। इनका समय 500 ईस्वी के आसपास ही माना गया है। यद्यपि इनके जन्म के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाणों का अभाव है, फिर भी इनका महाराष्ट्र में जन्म

49. रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग, पृष्ठ 25
50. प्रबंध चिंतामणि - मु.। प्र.।13,35
51. उज्जयिनी दर्शन, उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ विभूतियाँ, ब्रजकिशोर चतुर्वेदी, पृष्ठ 59
52. वही, पृष्ठ 59
53. बलदेव उपाध्याय व गौरीशंकर उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 104

लेना और वहाँ के राजा पुलकेशी द्वितीय के छोटे भाई विष्णुवर्धन के आश्रित होने की बात प्रामाणिक ही है।[54]

अवन्ती क्षेत्र से भी इनका सम्बन्ध रहा है। राजशेखर ने लिखा है, "भारवि उज्जैन में शिक्षा प्राप्त कर के काव्यकार परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे।"[55] इसके साथ ही उनके काव्य पर कालिदास के प्रभाव से भी यह सिद्ध होता है कि वे मालव-क्षेत्र की साहित्यिक-परम्परा से लाभान्वित हुए हैं।

उनका काव्य अपने अर्थ गौरव के लिए बहुत विख्यात है। 'भारवेर्थगौरवम्' कहकर विद्वत्समाज ने उनकी रचना के प्रति अपनी रसज्ञता प्रदर्शित की है। उनके काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम चित्रण के साथ ही लौकिक अनुभवों का सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन कमनीय, कलात्मक और चमत्कारी शैली में हुआ है।[56]

संस्कृत काव्य-साहित्य के देदीप्यमान नक्षत्रों में दण्डी का प्रकाश भी कम तेजोमय नहीं है। जिस प्रकार कालिदास उपमा में, भारवि अर्थगौरव में श्रेष्ठ माने जाते हैं, उसी प्रकार पद-लालित्य की दृष्टि से दण्डी का स्थान अन्यतम है। इनका जीवन रखाएँ भी धूमिलता के कोहरे से आवृत्त हैं, तथापि इन्हें 580 ई. के आसपास माना गया है। ये महाकवि भारवि के प्रपौत्र थे। किंवदंतियों और भारवि के प्रपौत्र होने के कारण इनकी जन्मभूमि महाराष्ट्र ही ठहरती है।[57]

अपने प्रपितामह भारवि के समान ही इनका मालवा में कुछ समय तक रहना प्रमाणित होता है। श्री माधवाचार्य के 'शंकर दिग्विजय' के अनुसार शंकर द्वारा अवंतिका (मालव-क्षेत्र) में दण्डी को भी शास्त्रार्थ में हराये जाने का उल्लेख है।[58]

दण्डी की लिखी गई तीन रचनाओं-'अवंती सुन्दरी कथा', 'दशकुमार चरित' और 'काव्यादर्श' में प्रथम दो कृतियाँ गद्य-काव्य की तथा अन्तिम कृति अलंकार शास्त्र पर लिखी गई उत्तम रचना है। 'दशकुमार चरित' ही कवि की कीर्ति-पताका को फहराने वाला मेरुदण्ड है। इसका पद-लालित्य कवि को अद्वितीयता प्रदान करता है।[59] शैली की दृष्टि से, दण्डी का काव्य ओजस्विता से परिपूर्ण है।[60]

आर्वतिक नामक एक संस्कृत कवि का उज्जयिनी में निवास करने का उल्लेख और भी प्राप्त होता है, जिसने वीर रस पूर्ण 'शूद्रक विजय' काव्य की रचना की थी। इसका काव्य संभवतः शूद्रक की विजयों पर ही आधारित रहा होगा, ऐसा अनुमान है, किन्तु इसका काव्य उपलब्ध नहीं है।[61]

अवन्ती की इस उज्ज्वल संस्कृत काव्य-परम्परा का साहित्यिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालिदास, भर्तृहरि, भारवि और दण्डी के उत्कृष्ट काव्य का न केवल हिन्दी, अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा है। ये महाकवि अपनी भाव-प्रवणता, भाषा सौन्दर्य, पदलालित्य, अर्थगौरव, लौकिक अनुभव और आकर्षक चमत्कारपूर्ण शैली से आज तक भारतवर्ष के साहित्य-सरोवर को तरंगायित कर रहे हैं। संस्कृत-साहित्य के इस मालवी-चतुष्टय का केवल एक ही कवि कालिदास इतना अधिक प्रभावशाली है कि उसकी एक रचना मेघदूत के प्रभाव से अनेकानेक कृतियों ने जन्म लिया है। कृष्णामाचार्य का 'मेघ संदेश

---

54. राहुल सांस्कृत्यायन : संस्कृत काव्य धारा, पृष्ठ 408
55. उज्जयिनी दर्शन - उज्जयिनी से संबंधित कुछ विभूतियाँ- ब्रजकिशोर चतुर्वेदी, पृष्ठ 56
56. बलदेव उपाध्याय व गौरीशंकर उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 108
57. बलदेव उपाध्याय : कवि और काव्य, पृष्ठ 100
58. उज्जयिनी दर्शन - उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ विभूतियाँ - ब्रजकिशोर चतुर्वेदी, पृष्ठ 56
59. राहुल सांस्कृत्यायन : संस्कृत काव्य धारा, पृष्ठ 504-505
60. बलदेव उपाध्याय : कवि और काव्य, पृष्ठ 112
61. महामहोपाध्याय छज्जूनाथ शास्त्री : विवुध रत्नावली, पृष्ठ 126

विमर्श', कृष्णमूर्ति का 'यक्षोल्लास', रामशास्त्री का 'मेघप्रति संदेश', रामचन्द्र का 'घनवृत्तम्' और मिथिला के कवि परमेश्वर झा का 'यक्षसमागम' आदि काव्य-ग्रंथ मेघदूत के प्रभाव के स्पष्ट प्रमाण हैं।[62] इन प्रमुख काव्य ग्रंथों के अतिरिक्त वाचस्पति गैरोला द्वारा प्रस्तुत 13 दूत काव्यों के सन्दर्भ[63], डॉ. यतीन्द्र विमल द्वारा लिखी गई पुस्तक 'बंगीय दूत कालेतिहास' के अन्तर्गत लगभग 25 दूतकाव्यों का उल्लेख,[64] 'विक्रम स्मृति ग्रंथ' में कन्हैयालाल पोद्दार द्वारा प्रस्तुत 12 दूत काव्यों के सन्दर्भ[65] और हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य में वर्णित 'पवन-दूतिका' प्रसंग आदि कालिदास के व्यापक प्रभाव को प्रकट करते हैं।[66]

प्राकृत-काल :

'प्राकृत' शब्द का निर्माण प्रकृति से हुआ है। 'प्रकृति' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान् एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वान् इसका अर्थ एक मूल तत्त्व भाषा मानते हैं और उनके अनुसार प्राकृत की जन्मदात्री भाषा संस्कृत है। हेमचन्द्र, मार्कण्डेय, धनिक, सिंहदेव गणी आदि वैयाकरणों और आलंकारिकों के अनुसार प्राकृत की प्रकृति संस्कृत ही है।[67]

हेमचन्द्र के अनुसार, ''प्रकृति संस्कृत है, इस संस्कृत से आयी हुई भाषा प्राकृत है। संस्कृत के पश्चात् प्राकृत का अधिकार प्रारम्भ होता है। प्राकृत में जो शब्द संस्कृत के मिश्रित हैं, उनको संस्कृत के समान ही अवगत करना चाहिए।''[68]

अनेक विद्वानों के मतों के अवलोकनोपरांत निष्कर्ष यही है कि प्राकृत भाषा का जन्म संस्कृत से नहीं हुआ, बल्कि ये दोनों सहोदरा हैं। इन दोनों का विकास किसी अन्य स्रोत छान्दस् से हुआ है तथा उच्चारण के अन्तर के कारण इन दोनों में विभिन्नता दिखलाई पड़ती है।

प्राकृत जन साधारण की तथा संस्कृत शिष्ट समाज की भाषा थी।[69] जहाँ तक इसके विकास का प्रश्न है, वह वैदिक या छान्दस् भाषा से माना जाता है, क्योंकि इसकी प्रकृति वैदिक भाषा के समान ही परिलक्षित होती है। छान्दस् एक प्राचीन आर्य भाषा थी, जिसका उपयोग जन-साधारण में होता था। लौकिक संस्कृत अथवा संस्कृत भाषा का विकास भी इसी से हुआ है। डॉ. हरदेव बाहरी तो प्राकृत से ही वेद की साहित्यिक भाषा का विकास मानते हैं- ''प्राकृतों से वेद की साहित्यिक भाषा का विकास हुआ, प्राकृतों से संस्कृत का विकास भी हुआ और प्राकृतों से इनके अपने साहित्यिक रूप भी विकसित हुए।''[70]

अतः कहा जा सकता है कि प्राप्य प्राकृत साहित्य चाहे वैदिक युग-सा प्राचीन भले न हो, किन्तु उस युग में कोई जनभाषा अवश्य ही रही होगी और वही जनभाषा प्राकृत अनेक प्राचीन और मध्यकालीन आर्य भाषाओं की जन्मदात्री रही होगी।[71]

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास क्रम पर दृष्टिपात करने से इसकी तीन स्थूल अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं-

1. आर्यभाषा युग : वैदिक काल से 500 ई. पूर्व तक

---

62. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 902
63. वही, पृष्ठ 904
64. वही, पृष्ठ 904
65. विक्रम स्मृति ग्रंथ - कालिदास का काव्य वैभव, कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ 348
66. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : 'प्रिय प्रवास'
67. डॉ. नेमीचन्द शास्त्री : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 12
68. वही, पृष्ठ 12
69. डॉ. एलफ्रेड सी. वुल्नर : इंट्रोडक्शन टू प्राकृत, पृष्ठ 3-4
70. डॉ. हरदेव बाहरी : प्राकृत भाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ 13
71. डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ.10

2. मध्यकालीन आर्य भाषा युग : 500 ई. पूर्व से 1100 ई. तक
3. आधुनिक आर्य भाषा युग : 1100 ई. से अब तक।[72]

इसके मध्ययुग की सीमा का श्री नरुला ने 600 ई. पूर्व तक विस्तार माना है।[73] लगभग पन्द्रह सौ वर्षों के भाषा-विकास का भी उन्होंने काल-क्रमानुसार विभाजन कर दिया है-

1. पूर्वकालीन प्राकृत (पालि और प्राचीन मागधी) 500 ई. पूर्व से 100 ई. तक
2. मध्यकालीन प्राकृत (शोरसेनी, मागधी और उसके भेद) 100 से 600 ई. तक
3. उत्तरकालीन प्राकृत (अपभ्रंश) 600 ई. से 1100 ई. तक

श्री एस. एम. कतरे साहब ने अपने 'प्राकृत लैंग्वेज एण्ड देयर कंट्रीब्यूशन टु इण्डियन कल्चर' नामक ग्रंथ में प्राकृत भाषाओं को विकास की दृष्टि से सात भागों में विभाजित कर दिया है-

1. धार्मिक प्राकृत, 2. साहित्यिक प्राकृत, 3. नाटकीय प्राकृत,
4. वैयाकरणों की प्राकृत, 5. भारतेतर प्राकृत, 6. शिलालेखों की प्राकृत, और
7. जनप्रिय प्राकृत।[74]

प्राकृत-साहित्य अपने देश की सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक स्थिति, राजनीतिक संगठन, शिक्षा-दीक्षा आदि के यथार्थ ज्ञान से परिपूर्ण है। इसमें जन-साधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक की जीवन-स्थितियों का सूक्ष्म, स्पष्ट और सजीव चित्रण है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, व्यवहारों तथा समस्याओं का इसमें यथावत् अंकन हुआ है।[75]

जहाँ तक प्राकृत की काव्य-परम्परा की बात है, वह अत्यन्त समृद्ध है। जनवादी अथवा मानवतावादी काव्य-रचना के साथ ही प्राकृत में रसमय साहित्य का भी अनुपम और असीम भण्डार है।[76]

प्राकृत भाषा की प्रवृत्ति अत्यधिक कोमल है। इसी कारण से इसमें आरम्भिक काल से काव्य रचना हो रही है। इसके प्रबन्ध काव्यों को महाकाव्य, खण्ड काव्य और चरित काव्यों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्य संस्कृत की शैली पर ही लिखे गये हैं।

प्राकृत में गद्य-पद्य मिश्रित शैली में कुछ ऐसे चरित काव्य भी रचे गये हैं, जो चम्पूकाव्य से कुछ अलग दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे काव्यों की वर्णन शैली अपूर्व है तथा काव्य-सौन्दर्य भी यथास्थान उपलब्ध है। इन काव्यों में किसी महान् व्यक्ति का जीवन चरित काव्यात्मक शैली में संगुम्फित रहता है तथा काव्य, कथा और दर्शन के समुचित मिश्रण के साथ ही उदात्त भावनाओं का प्रभाव स्पष्ट रहता है।[77]

छान्दस् की मुक्तक शैली के आधार पर प्राकृत भाषा में मुक्तकों का भी विकसित रूप प्राप्त होता है। प्राकृत में मुक्तक काव्य का विकास, आगम-साहित्य की प्रवचन-पद्धति से हुआ है। इन मुक्तकों में श्रृंगार के साथ ही वैराग्य, नीति तथा प्रकृति वर्णन की विविधताएँ परिलक्षित होती हैं। इन मुक्तकों में पूर्वापर सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना एक ही पद्य में चमत्कारिता प्राप्त होती है। गीतात्मकता के कारण ये लोकप्रिय भी हुए हैं। प्राकृत साहित्य का 'गाहा सतसई' अथवा 'गाथा सप्तशती' मुक्तक काव्यों की परम्परा में एक अद्वितीय और सर्वोत्तम रचना है।[78]

---

72. भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 11
73. नरुला : हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, पृष्ठ 43
74. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 50
75. डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 16
76. वही, पृष्ठ 260
77. डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 339
78. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 573

प्राकृत की साहित्यिक परम्परा अत्यधिक समृद्ध है। वह विविध स्रोतों में उपलब्ध होती है। इसमें शुद्ध साहित्यिक, धार्मिक तथा लोक-जीवन के विविध रूपों का समावेश है। इसके धार्मिक साहित्य को छोड़कर जो साहित्य शेष रहता है, उसे प्रबन्ध काव्य, मुक्तक काव्य, कथा साहित्य और नाटक आदि चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।[79]

प्राकृत का प्रबन्ध-साहित्य संस्कृत की तुलना में हलका पड़ता है, लेकिन मुक्तक काव्य साहित्य तो अत्यधिक समृद्ध है। वह मुख्यत: दो-उपदेशात्मक और साहित्यिक रूपों में प्राप्त होता है। प्राकृत की शुद्ध मुक्तक परम्परा को गाथा सप्तशती और वज्जालग्ग की गाथाएँ ही आगे बढ़ाती हैं। गाथा सप्तशती की अधिकांश गाथाएँ शृंगार सम्बन्धी ही हैं। इसकी परम्परा लोक-साहित्य तथा शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत प्रवाहित होती रही है।[80] इसका प्रभाव परवर्ती संस्कृत कवियों तथा हिन्दी कवियों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ''गोवर्धन की आर्या सप्तशती पर हाल की गाथा सप्तशती का इतना स्पष्ट प्रभाव है कि यदि उसे हाल की सप्तशती की संस्कृत छाया भी कहा जाय, तो अधिक उत्तम रहेगा।''[81]

प्राकृत के शृंगारी मुक्तक-काव्य की इस परम्परा का प्रभाव हिन्दी के सुप्रसिद्ध मुक्तककारों-बिहारी, मतिराम, रसलीन, पद्माकर आदि की मुक्तक रचनाओं पर भी दृष्टिगोचर होता है।[82]

प्राकृत भाषा के काव्य की मर्मस्पर्शिता और भावाभिव्यंजन-शक्ति का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि संस्कृत के रससिद्ध कवि नाटककार अपनी रचनाओं में यथास्थान इसका प्रयोग करते रहे। अश्वघोष, भास, शूद्रक, भट्टनारायण, भवभूति आदि साहित्य सर्जकों ने प्राकृत की सम्प्रेषण शक्ति के कारण ही उसे अपने ग्रंथों में समाविष्ट किया है। स्वयं कालिदास ने नाटकों में शौरसेनी तथा मागधी का और गीतों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया है।[83]

परमार नरेश मुंज और भोज प्राकृत साहित्य के अनुरागी थे।[84] उनके द्वारा अपभ्रंश और प्राकृत कवियों को विशेष रूप से आश्रय प्रदान किये जाने से, मालवा में प्राकृत काव्य विपुल मात्रा में रचा गया होगा, किन्तु परमारों के पतनोपरान्त यहाँ चार-पाँच शताब्दियों तक बड़ी उथल-पुथल रही। परिणामस्वरूप प्राकृत काव्य अत्यल्प मात्रा में ही उपलब्ध हो सका है।

देवसेन एक ऐसे ही कवि हैं, जिन्होंने संवत 990 के लगभग धारा नगरी (वर्तमान धार) में 'दर्शनसार', 'आराधना सार', 'तत्त्व सार' तथा 'भाव संग्रह' नामक चार प्राकृत ग्रंथ रचे हैं।[85]

कवि के जीवन के सम्बन्ध में केवल इतना ही पता लगता है कि वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का प्रकाण्ड पण्डित और श्रेष्ठ कवि था। उसने संस्कृत और अपभ्रंश में भी काव्य-ग्रंथ लिखे हैं तथा वह दिगम्बर सम्प्रदाय का जैन धर्मावलम्बी था। दर्शन सार के अतिरिक्त उसके अन्य सभी ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।[86]

देवसेन के अतिरिक्त सुल्तान-काल के एक और कवि श्रुतकीर्ति, जो कि गियात शाह के समय में माण्डव में निवास करते थे, प्राकृत काल के सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।[87] उनके 'परमेष्ठि प्रकाश

79. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - (प्रथम भाग) हिन्दी साहित्य की पीठिका -खण्ड 2, अध्याय 2- ले. भोलाशंकर व्यास - पृष्ठ 306
80. वही, पृष्ठ 308
81. वही, पृष्ठ 308
82. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास- (प्रथम भाग) हिन्दी साहित्य की पीठिका- खण्ड 2, अध्याय 2 -भोलाशंकर व्यास-पृ. 299-300
83. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 33
84. डॉ. रामरतन भटनागर : प्राचीन हिन्दी काव्य, पृष्ठ 27
85. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 282-283
86. वही, पृष्ठ 283
87. उपेन्द्रनाथ डे : मेडिवल मालवा, पृष्ठ 368

सार' तथा 'हरिवंश पुराण' नामक अपभ्रंश के ग्रंथ तो प्रसिद्ध हैं ही, किन्तु उनके द्वारा प्राकृत काव्य रचे जाने के सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं।[88] इस विषय में अनुसन्धान आवश्यक है।

अपभ्रंश कालः

'अपभ्रंश' शब्द का अर्थ होता है 'विकृत' या 'बिगड़ा हुआ', किन्तु इसे एक भाषा विशेष के अर्थ में प्रयोग होने के कारण, पारिभाषिक शब्द भी माना गया है। यद्यपि 'अपभ्रंश' शब्द का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य, हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण, भरत मुनि के नाट्यशास्त्र आदि प्राचीन ग्रंथों में भी प्राप्त होता है, लेकिन यह एक भाषा विशेष के रूप में कब से प्रचलित हुआ, इस बारे में आज तक कोई निर्णय नहीं हो सका है।[89] तथापि आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रंथ में अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य के एक विशेष रूप में स्वीकार किया है-

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।।[90]

आचार्य दण्डी ने भी अपभ्रंश को संस्कृत के विकृत अर्थ के रूप में तथा काव्य की आभीरादि बोलियों के रूप में माना है।[91] वह अपभ्रंश को, सम्पूर्ण वाङ्मय के चार भागों में से एक भाग भी मानता है।[92]

भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का प्रयोग वलभी (सौराष्ट्र) के राजा थारसेन द्वितीय के शिलालेख से प्राप्त होता है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में- ''अपभ्रंश नाम पहले पहल वलभी के राजा थारसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है, जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (विक्रम संवत 1650 के पहले) को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश- तीनों का कवि कहा है।''[93]

नवीं शताब्दी के आचार्य रुद्रट ने अपभ्रंश को अन्य साहित्यिक प्राकृतों की तुलना में गरिमावान मानते हुए, उसके देश-भेद से उत्पन्न विविध भेदों का विवेचन किया है[94] तथा उद्योतन सूरि ने अपभ्रंश के काव्य की प्रशंसा करते हुए, उसके प्रति आदर के भाव प्रकट किये हैं।[95]

इसके अनंतर तो दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों में क्रमशः पुष्पदंत, नमि साधु, मम्मट, हेमचन्द्र तथा अमरचन्द्र जैसे कवियों और विद्वानों ने अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत के समान ही साहित्यिक भाषा मानते हुए, मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।[96]

जैसा कि पूर्व में ही कहा जा चुका है, आर्यभाषा के अलग-अलग रूपों के प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। उनका वैयाकरणों द्वारा संस्कारित रूप 'संस्कृत' के नाम से तथा लोक भाषाएँ 'प्राकृत' के नाम से अभिहित हुई हैं। कुछ काल उपरान्त जब प्राकृत में, साहित्यिक भाषा बनी और व्याकरण-सम्मत हो जाने के कारण स्थिर होने लगी, तब भी जन-सामान्य की भाषाओं का प्रवाह निरन्तर चल रहा था। आगे चलकर ये भाषाएँ ही 'अपभ्रंश' की संज्ञा से विभूषित हुईं। क्रमशः अपभ्रंश में भी साहित्य-रचना होने लगी।

यद्यपि पहली शताब्दी ईस्वी में ही अपभ्रंश काव्योपयोगी भाषा के रूप में स्वीकृत थी, किन्तु उस काल का कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। विद्वानों के मत से लगभग 800 से 1400 ईस्वी तक

88. उपेन्द्रनाथ डे : मेडिवल मालवा, पृष्ठ 368
89. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश-साहित्य, पृष्ठ 1-6
90. भामह : काव्यालंकार (संस्कृत), 1।16।28
91. दण्डी : काव्यादर्श (संस्कृत), 1।36
92. वही - 1/32
93. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 7
94. रुद्रट : काव्यालंकार (संस्कृत), 2/11 तथा 2/12
95. लालचंद भगवानदास गाँधी : अपभ्रंश काव्य त्रयी, (भूमिका भाग) पृष्ठ 97-98
96. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 4-5

अपभ्रंश का बहुत प्रचार रहा है। तभी तो रुद्रट जैसे काव्यशास्त्र के आचार्य ने अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत के समान काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार किया है।[98]

साहित्य-रचना की प्रचुरता के कारण जब वैयाकरणों ने अपभ्रंश को भी प्रतिबंधित कर दिया, तो स्वाभाविक प्रतिक्रियास्वरूप, जन-साधारण की भाषा ने अनेक कारणों से अपनी गति अबाध रखी और इससे भारत की अनेक वर्तमान भाषाओं की उन्नति हुई।[99]

अपभ्रंश-काल में सम्पूर्ण भारत संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। मालवा भी परमार-काल के अतिरिक्त अनेक उथल-पुथल और संघर्षों का शिकार रहा। देश की राजनीतिक चेतना प्रायः सुप्त थी। हर्ष के समय में स्थिरता रही, लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात् योग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में वर्धन-साम्राज्य का शीघ्र ही अन्त हो गया[100] तथा देश में अनेक छोटे-बड़े राज्य स्थापित होकर परस्पर लड़ते हुए अपनी शक्ति का ह्रास करते रहे। आठवीं सदी से ही भारत पर मुसलमानों के पैर जमने आरम्भ हो गये थे। इस समय मालवा में प्रतिहार वंश का शासन था। संवत् 1007 के लगभग मालवा में परमार वंश का प्रादुर्भाव हुआ। मुंज और भोज इस वंश के प्रतापी और विद्यानुरागी राजा थे। अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण से परमार वंश का पतन हुआ और मालवा का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया।[101]

इस काल की धार्मिक और सामाजिक स्थितियाँ भी बड़ी विचित्र थीं। बौद्ध धर्म अपनी ही भूलों के कारण पतित हो कर विभिन्न सम्प्रदायों में बँट गया था, लेकिन जैन धर्म की उत्तरोत्तर प्रगति हुई थी। वैष्णव-धर्म भी अपनी सहजता के कारण प्रचलित था। मालवा में भी परमार वंशी नरेशों की उदारता के कारण जैन धर्म का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हुआ।

समाज की दशा भी अच्छी नहीं थी। प्रारम्भ में तो बौद्ध-जैन धर्मों की अहिंसा से प्रभावित होकर सवर्णों ने कृषि-कर्म त्याग दिया था, किन्तु कुछ समय उपरान्त पुनः अपना लिया था।[102] खान-पान में छुआछूत, बाल-विवाह और बहुपत्नीत्व की प्रथाएँ प्रचलित हो गई थी।[103]

स्पष्ट है कि अपभ्रंश-काल अनेक परिवर्तनों और उथल-पुथल से परिपूर्ण है तथापि मालवा की स्थिति केन्द्रीय भाग में होने से अधिक सुरक्षित थी। परमार-वंशी नरेशों की विजयवाहिनी सेना के अश्वों ने सुदूर राज्यों की सरिताओं का पानी पिया था।[104] इसी कारण मालव-क्षेत्र की संस्कृत प्राकृत-परम्परा में अपभ्रंश साहित्य की भी पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है।

विद्वानों का अनुमान है कि अपभ्रंश साहित्य प्रचुर परिमाण में रचा गया है और जो भी अभी तक उपलब्ध हुआ है, वह उसका अंश मात्र ही है, क्योंकि इसमें रचित महाकाव्य, खण्ड-काव्य (धार्मिक और लौकिक) तथा मुक्तक काव्य (जैन धर्म सम्बन्धी, बौद्ध धर्म सम्बन्धी और वैविध्यपूर्ण) तथा रूपक-काव्यों के साथ ही कथा-साहित्य की श्रेष्ठता यही बात प्रमाणित करती है।

स्वयंभू, पुष्पदंत, देवसेन, लखमदेव, नयनंदी, श्रुतकीर्ति, शांतिपा जैसे कवियों, सिद्धों, साधकों की लेखनी से रचित अपभ्रंश-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि वह जन-साधारण का काव्य है। यद्यपि उसमें भी राज्याश्रित-काव्य है तथापि उसमें भी लोक-सम्मत भावना का प्रसार स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इसका अधिकांश भाग तो ऐसे जैन कवियों द्वारा रचा गया है, जो निष्काम थे। अपभ्रंश-काव्यों में जैन धार्मिक भावनाओं की प्रचुरता का कारण यह भी हो सकता है

97. वही - पृष्ठ 8/15
98. रुद्रट : काव्यालंकार (संस्कृत)- 1।26
99. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 17
100. डॉ. ताराचन्द : हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 84
101. विक्रम स्मृति ग्रंथ - मालवा में शासक - भास्कर रामचन्द्र भालेराव - पृष्ठ 550
102. सी. वी. वैद्य : हिस्ट्री ऑफ मिडिवल हिन्दू इंडिया, भाग 2 - पृष्ठ 183
103. वही - पृष्ठ 189
104. डॉ. ताराचंद : हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ 111

कि जैन कवियों द्वारा रचित रचनाएँ तो सुरक्षित रख ली गईं, लेकिन जैनेतर कवियों की रचनाओं की सुरक्षा न हो पाने से उनका परिमाण अल्प ही रहा।[105] उनके प्रभाव से लौकिक काव्य-परम्परा में भी इसी स्वतन्त्र लोक-चेतना के दर्शन होते हैं। इस कारण से अपभ्रंश-काव्य साहित्यिक ही नहीं, अन्य दृष्टियों से भी महत्त्वपूर्ण है। डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा' के अनुसार "अपभ्रंश काव्य का न केवल कलात्मक दृष्टि से, अपितु सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्व है। तत्कालीन परिस्थितियों के ज्ञान के लिए अपभ्रंश काव्य इतिहास का कार्य सम्पादित करता है। तत्कालीन लोकाचार, आमोद-प्रमोद, अपशकुन आदि के उल्लेख इन काव्यों में प्राप्त हुए हैं।[106]

विषय की दृष्टि से अपभ्रंश-काव्य परम्परा, धार्मिकता से ओत-प्रोत दिखाई देती है, लेकिन उसमें लोक-भावना भी पर्याप्त है। वैसे तो सभी रसों का आनन्द अपभ्रंश-काव्यों में उपलब्ध होता है, किन्तु कुछ रसों की प्रमुखता भी स्पष्ट है। "अपभ्रंश काव्यों में शृंगार (वियोग+संयोग), करुण, वीर, भयानक, वीभत्स एवं शान्त रसों का प्रमुख स्थान है।"[107]

अवन्ती क्षेत्र की साहित्यिक परम्परा सभ्यता के आरम्भ से ही गरिमावान रही है। संस्कृत और प्राकृत की समृद्ध धारा के अनुरूप अपभ्रंश काव्य-सरिता भी, इस क्षेत्र में प्रवाहित हुई है। यद्यपि इसका आरम्भ मालवा में कब हुआ, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, लेकिन परमार काल में इसे अत्यधिक राज्याश्रय प्राप्त हुआ।

मुंज और भोज पराक्रमी और कुशल प्रशासक होने के साथ ही स्वयं प्रकाण्ड पण्डित, कवि और साहित्यानुरागी थे। भोज के लिखे हुए अनेक ग्रंथ तो आज भी विद्वानों के कंठहार बने हुए हैं। उनकी दानशीलता और साहित्य-प्रेम की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक विद्वान और कवि उनके दरबार में थे। डॉ. रामरतन भटनागर के शब्दों में, "मुंज और भोज परमार ने अपभ्रंश और प्राकृत कवियों को विशेष रूप से आश्रय दिया[108] तथा डॉ. कोछड़ के मत से "मुंज और भोज प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश के भी प्रेमी थे।"[109]

परिणामस्वरूप मालवा क्षेत्र में अपभ्रंश-साहित्य प्रचुर परिमाण में रचा गया। नयनंदी, लखमदेव (लक्ष्मण देव), देवसेन, शान्तिपा जैसे समर्थ कवि-साधकों ने अपनी अपभ्रंश काव्य-रचनाओं से इस क्षेत्र का नाम गौरवान्वित किया है।

प्राचीन भारतीय साहित्यकारों की लोक-कल्याण भावना इतनी प्रबल है कि उन्होंने महान ग्रंथों को रच कर लोक-अर्पण तो कर दिया, लेकिन भूल से भी स्व-परिचय नहीं दिया। इसके मूल में हमारी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और जीवन दर्शन में व्याप्त "कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" की भावना का प्रसार ही परिलक्षित होता है।[110] यही कारण है कि भारतीय वाङ्मय के अनेकानेक जाज्वल्यमान नक्षत्रों की जीवन रेखाएँ नहीं के समान ही दृष्टिगोचर होती हैं।

अपभ्रंश के उत्कृष्ट कवि एवं 'सुदंसण चरिउ' (सुदर्शन चरित्र) तथा 'सकल विधि निधान' जैसे खण्ड काव्यों के रचयिता नयनंदी के जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। उपर्युक्त ग्रंथों की हस्तलिखित पांडुलिपियाँ आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में सुरक्षित है। कवि के जीवन के सम्बन्ध में बर्हिसाक्ष्य के अभाव के कारण अंतःसाक्ष्य के आधार पर मात्र यही कहा जा सकता है कि ये मालव-नरेश भोज के राज्य काल में जीवित थे तथा अपने ग्रंथ उन्होंने मालवा में ही रचे हैं, क्योंकि काव्य-परम्परानुसार चरित काव्यों में तत्कालीन राजा का वर्णन किया जाता रहा है। 'सुदंसण चरिउ' में वर्णित प्रसंगों से कविवर नयनंदी के राजा भोज के राज्य में निवास करने की बात स्पष्ट होती है-

---

105. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 52
106. डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा' : अपभ्रंश साहित्य - परम्परा और प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 13
107. वही - पृष्ठ 12
108. डॉ. रामरतन भटनागर : प्राचीन हिन्दी काव्य, पृष्ठ 27
109. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 33
110. भगवद्गीता - गीता प्रेस, गोरखपुर - पृष्ठ 55

''आराम गाम पुरवर णिवसे, सुप्रसिद्ध अवंति णाम देसे।
.................................तहिं अत्थि धार णयरी गरिट्ठ।
तिहुयण नारायण सिरि णिकेउ, तहिं णरवर पुंगमु भोयदेउ।।[111]

कवि के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि उसके गुरु का नाम माणिक नंदी था।[112]

नयनंदी रचित 'सुदंसण चरिउ' एक खण्डकाव्य है। इसका रचना-काल 1100 विक्रमी है। यद्यपि इसका नायक संस्कृत काव्य परम्परा के अनुरूप धीरोदात्त गुण सम्पन्न राजा नहीं, बल्कि एक मध्यम वर्गीय साधारण व्यक्ति होने से, इसे लौकिक परम्परा के ही अधिक निकट मानना चाहिए, तथापि उसमें धार्मिकता का अभाव भी नहीं है। भाव, भाषा, शिल्प और मौलिक बिम्ब-विधान की दृष्टि से यह ग्रंथ अनुपम है।[113]

'सकल विधि निधान' भी नयनंदी द्वारा रचा गया एक अप्रकाशित ग्रंथ है। इसका रचनाकाल भी संभवतः 1100 विक्रमी ही है। इसमें अनेक आराधनाओं तथा आध्यात्मिक विधानों का वर्णन हुआ है, फिर भी कवि इसे काव्य के अन्तर्गत ही सम्मिलित करता है। इस ग्रंथ में पुरातन आख्यानकों के आधार पर कवि का धार्मिक जीवन-दर्शन अभिव्यक्त हुआ है। काव्यात्मक दृष्टि से, विशेषकर अत्यधिक छन्द-प्रयोग की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व है। इसमें लगभग 62 मात्रिक और लगभग 20 वर्ण-छंदों के प्रयोग प्राप्त होते हैं।[114]

लखमदेव (लक्ष्मणदेव) भी मालवा के सुप्रसिद्ध अपभ्रंश कवि हैं। इनकी 'णेमिणाह चरिउ' (नेमिनाथ चरित) कृति पाटोदी शाला भण्डार, जयपुर में सुरक्षित है। पांडुलिपि के वर्णनों से प्राप्त जानकारी के आधार पर कवि लखमदेव के पिता का नाम रयण (रत्नदेव) था। वह तत्कालीन मालवा के गोणंद नगर में रहता था तथा उसका परिवार समृद्ध था। कवि स्वयं सुन्दर, सम्पन्न और धार्मिक था। उक्त ग्रंथ की रचना में उसे आठ मास लगे थे। यद्यपि ग्रंथ का रचना-काल ज्ञात नहीं हो सका है तथापि उसकी प्रति जो कि 1510 विक्रमी में लिखी गई है, से यह तो प्रमाणित होता है कि यह इससे पूर्व में ही लिखा गया है।[115]

'णेमिमाह चरिउ' में जैनियों के 22वें तीर्थंकर का जीवन-चरित्र है। यद्यपि यह भी एक धार्मिक खण्ड काव्य है, लेकिन काव्यात्मकता की दृष्टि से भी इसमें पर्याप्त वजन है। अनेक स्थलों पर मार्मिकता परिलक्षित होती है। भावों की उत्तम अभिव्यक्ति तो इसमें है, किन्तु कलापक्ष की कसौटी पर इसे प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं किया जा सकता।[116]

अपभ्रंश में मुक्तक काव्यकार के रूप में देवसेन की भी बहुत ख्याति है।[117] इनकी 'सावयधम्म दोहा' अपभ्रंश मुक्तक काव्य की एक श्रेष्ठ कृति है। इस ग्रंथ की रचना कवि ने इस क्षेत्र की धारा नगरी में संवत 990 विक्रमी के लगभग की थी।[118] इस ग्रंथ में जैन धर्म सम्बन्धी उपदेशों की प्रधानता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। श्रावकों और सद्‌गृहस्थों- दोनों के ही योग्य कर्त्तव्यों का इसमें समुचित निर्देशन उपलब्ध होता है। कवि के संस्कृत और प्राकृत ज्ञान की गरिमा ''सावयधम्म दोहा'' में स्पष्ट रूप से झलकती है। एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो इस ग्रंथ की जातिभेद नकारने की अग्रगामिता है।[119] आज से एक हजार वर्ष पूर्व धर्माचरण को जाति से ऊँचा कहना एक बड़ी बात थी।

---

111. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 157-158
112. वही - पृष्ठ 158
113. वही - पृष्ठ 159-174
114. वही - पृष्ठ 174-180
115. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 232-234
116. वही - पृष्ठ 234
117. कवि की जीवन-सम्बन्धी विवेचना प्राकृत काल के अन्तर्गत हो चुकी है।
118. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 283-287
119. वही - पृष्ठ 286

भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ सफल है। चलती हुई भाषा के माध्यम से, जिसमें कि यदा-कदा पंजाबी और मराठी शब्दों का भी समावेश हो जाता है, कवि ने लोक-मानस को झंकृत करते हुए, अपनी बात सफलतापूर्वक कह डाली है।[120]

शान्तिपा सिद्ध परम्परा के चौरासी सिद्धों में से एक प्रमुख सिद्ध हैं।[121] मालवा की अपभ्रंश काव्य-परम्परा से भी ये जुड़े हुए हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात हो सका है कि सिद्धों की परम्परा में ही प्रकाण्ड पण्डित थे। अपनी विद्वता के कारण ही इन्हें ''कलि काल सर्वज्ञ'' के नाम से अभिहित किया गया है। ये गौड़ नरेश के गुरु एवं विक्रम शिला के प्रधान भी कहे जाते हैं। इनका जीवन-काल 1000 ईस्वी के लगभग अनुमानित है।[122]

ये अपने ज्ञानार्जन और धर्म प्रचार हेतु मालवा भी आये थे।[123] मालवा की शस्य श्यामला धरती, प्राकृतिक वैभव और तत्कालीन उत्तम शासन-व्यवस्था के कारण, ऐसा अनुमान है कि वे यहाँ पर्याप्त काल तक रहे होंगे तथा विपुल मात्रा में काव्य-रचना की होगी।

'चर्यापद' में संग्रहीत उनके पदों में मानव-जीवन की विशिष्ट अनुभूतियों को सांकेतिक अर्थों में प्रकट करने के सफल प्रयत्न परिलक्षित होते हैं। रूपकों के माध्यम से प्रकट की गई मनोभावनाओं का अत्यन्त मार्मिक स्वरूप शान्तिपा के पदों में प्राप्त होता है। काव्यत्व की दृष्टि से इनके पद उच्च कोटि के हैं।[124]

अवन्ती क्षेत्र की यह अपभ्रंश काव्य-परम्परा जो कि कालिदास के नाटकों से ही दिखाई देने लगती है तथा 'विक्रमोर्वशीय' जैसे संस्कृत नाटक में भी अपभ्रंश के सुन्दर प्रयोग से लेकर स्वयं भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' में प्राप्त होती है। डॉ. रामअवध द्विवेदी के शब्दों में, 'विक्रमोर्वशीय' व 'सरस्वती कंठाभरण' आदि ग्रंथों में अपभ्रंश के प्राकृतिक वर्णन बेजोड़ हैं।[125] अपभ्रंश की यह धारा निरंतर प्रवाहित होती ही रही होगी, किन्तु प्रमाणों के अभाव में बहुत लम्बा काल एक शून्य-सा ही लगता है।

संवत 1550 विक्रमी के लगभग इसका प्रवाह पुनः दिखाई देता है। श्रुतकीर्ति इसी काल के कवि हैं। वे मालवा के सुल्तान गियातशाह के समय में, माण्डव में ही निवास करते थे। इनके लिखे दो अपभ्रंश ग्रंथों ''परमेष्ठि प्रकाश सार'' (रचना-काल संवत 1550 वि.) तथा 'हरिवंश पुराण' (रचना-काल 1552 वि.) प्राप्त हुए हैं।[126] इन दोनों ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार में सुरक्षित हैं।[127] 'वीरवाणी' पत्रिका के श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल के लेखानुसार इनकी एक और 'योगशास्त्र' नामक हस्तलिखित कृति का उल्लेख भी प्राप्त होता है। इसकी रचना भी लगभग 1553 विक्रमी में हुई होगी।[128]

'परमेष्ठि प्रकाश सार' कवि की धार्मिक रचना है। सृष्टि की उत्पत्ति तथा जीवादि के भेदों के धार्मिक आधार पर ही इस ग्रंथ का प्रणयन किया गया है। 'योग शास्त्र' में ध्यान, प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं के वर्णनों के साथ ही तत्कालीन श्रावकों में व्याप्त अवगुणों पर भी व्यंग्य किया गया है। 'हरिवंश पुराण' कवि की दृष्टि में एक महाकाव्य है। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। यद्यपि यह ग्रंथ बड़ा भी है तथा इसमें महाकाव्योचित विस्तार भी है तथापि काव्यत्व की दृष्टि से इसे अत्युत्तम की श्रेणी में रखा जाना असंगत ही होगा। लेकिन धार्मिक दृष्टि से इसका अपना महत्त्व तो है ही।

---

120. वही - पृष्ठ 287
121. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ 27-32
122. राहुल सांस्कृत्यायन : हिन्दी काव्य-धारा, (अवतरणिका) पृष्ठ 53
123. वही - पृष्ठ 53
124. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 316-318
125. डॉ. रामअवध द्विवेदी : हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा, पृष्ठ
126. उपेन्द्रनाथ डे : मेडिवल मालवा, पृष्ठ 368
127. डॉ. हरिवंश कोछड़ : अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 127
128. वही - पृष्ठ 373

जहाँ तक अवन्ती की अपभ्रंश काव्य-परम्परा के हिन्दी साहित्य को दिये गये योगदान का प्रश्न है, वह अतुलित ही कहा जाएगा, क्योंकि हिन्दी साहित्य की भिन्न-भिन्न काव्य-पद्धतियाँ, जो कि छंदों पर आधारित हैं, वे सभी जिस अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित हैं, अवन्ती का अपभ्रंश काव्य उसी का एक अंश होने से, स्वत: गौरवान्वित हो गया है।

अवन्ती क्षेत्र की उपर्युक्त साहित्यिक परम्पराओं के विस्तृत विवरण के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि इसकी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक परम्पराओं की भाँति ही साहित्यिक परम्परा भी समृद्ध है। संस्कृत-काल का सर्वश्रेष्ठ महाकवि कालिदास इसकी अपनी अद्वितीय धरोहर है। कालिदास के अतिरिक्त मालवा से सम्बद्ध भर्तृहरि, भोज, भारवि, आर्वंतिक, दण्डी आदि संस्कृत-कवियों का काव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्राकृत काव्य परम्परा के अन्तर्गत देवसेन और श्रुतकीर्ति इसकी यश:पताका को थामे हुए हैं, तो नयनन्दी, लखमदेव, देवसेन, शान्तिपा जैसे समर्थ कवियों ने अपनी अपभ्रंश रचनाओं में मालव-भूमि के रस को प्रवाहित करते हुए, भारतीय अपभ्रंश काव्य-धारा में महत्तम योग दिया है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के इन सभी कवियों की रचनाओं से न केवल हिन्दी, अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य कहीं-न-कहीं प्रभावित हुआ है और यही तथ्य अवंती क्षेत्र की साहित्यिक परम्परा को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करता है।

❑
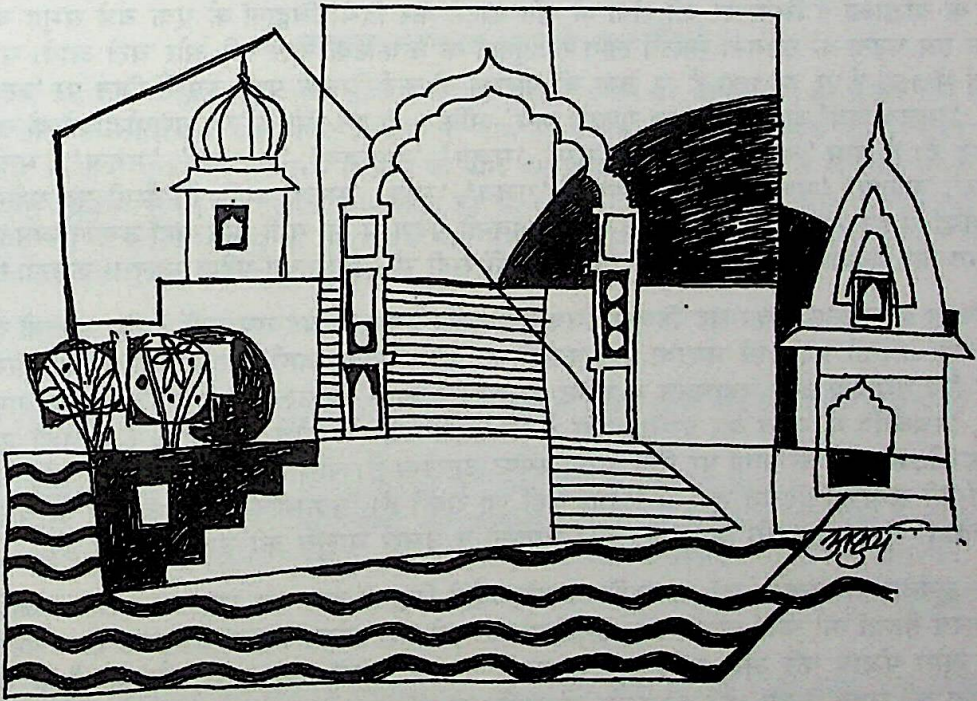
विक्रमादित्य और उसके नवरत्न

डॉ. श्यामसुन्दर निगम

प्रथम सदी ई.पू. में शकों के प्रथम अभियान के परिणामस्वरूप गर्दभिल्ल मारा गया किन्तु उन्हें राजकुमार वीर विक्रमादित्य ने कुछ ही समय में उज्जैन से खदेड़ बाहर किया। विक्रमादित्य की चर्चा के पूर्व मालवगण का उल्लेख आवश्यक है।

मालव गणतंत्रीय पद्धति को अपनाने वाली भारत की सुप्रसिद्ध जाति रही है। मालवों का नाम क्षुद्रकों के साथ आया है जो पंजाब में निवास करते थे। पाणिनि ने इन गणों को आयुधजीवी कहा है। सिकन्दर के साथ आने वाले यूनानी इतिहासकारों ने इन्हें मल्लोई नाम से सम्बोधित किया था। सिकन्दर के आकस्मिक आक्रमण के फलस्वरूप क्षुद्रक-मालवों को पराजित होना पड़ा, परन्तु इन गणों के योद्धाओं ने सिकन्दर की सेना के दाँत खट्टे कर दिये। विद्वानों के एक बड़े समूह का मत है कि इस घटना के उपरान्त मालव लोग राजपूताने के कर्कोटक नगर की ओर चले आये। यहाँ की खुदाई में 150 ई. पू. से 100 ई. पू. तक के मालवों के कई सिक्के प्राप्त हुए हैं जिन पर 'मालवानां जय', 'मालव जय' अथवा 'मालव गणस्य जय' अंकित हैं। इन सिक्कों पर गणयोद्धाओं के नाम भी अंकित हैं। ये नाम 'भपंयन', 'यम या मय', 'मजुप', 'मपोजय', 'मगजश', 'मगज', 'मगोजव', 'गोजर', 'माजप', 'मपक', 'पछ', 'मगछ', 'गजब', 'मख', 'मरज' आदि हैं। ईस्वी पूर्व प्रथम शती के पूर्वार्द्ध में इन मालवों की गर्दभिल्ल शाखा अवन्ती प्रदेश में आ गयी और यहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया। इन्हीं मालवों के नाम से 5वीं सदी से अवन्तिका प्रदेश मालवा कहलाने लगा।

किन्तु इतिहासकारों का यह निष्कर्ष विवादास्पद है। प्रथम तो यह तय नहीं है कि मालवों के नाम से केवल अवन्ती प्रदेश ही मालवा क्यों कहलाया, अन्य प्रदेश, जहाँ वे रहे, क्यों नहीं? दूसरी बात यह है कि रामायण और महाभारत में स्पष्ट ही मालव प्रदेश का उल्लेख है न कि मालव गण का। तीसरे, अथर्ववेद में मल्व का प्रसंग आता है जो हैहयवंशी थे। चौथे, पुराणों में हैहयवंशी शासकों द्वारा कर्कोटक नगर के नागों पर विजय का स्पष्ट उल्लेख है। पाँचवें, यूनानियों के मल्लोई शब्द से मालवों की संगति निश्चित रूप से बिठाई नहीं जा सकी है। विक्रमादित्य की उत्पत्ति के बारे जिस 'माल्यवान' गण का प्रसंग आया है, कुछ विद्वानों ने उससे मालव की उत्पत्ति मानी है।

पं. सूर्यनारायण व्यास, डॉ. राजबलि पाण्डेय जैसे विद्वानों द्वारा यह मत प्रकट किया जाने लगा कि मालव हैहयों की कोई शाखा थी। उन्हीं के नाम से यह प्रदेश मालव कहलाता रहा। यहीं से वे मालव लोग पंजाब की ओर गये। इस शाखा ने पर्याप्त समय तक नन्दों और मौर्यों के आधीन पराधीनता को सहन किया और कालान्तर में उज्जैन में शक्तिशाली होकर गणतंत्र की घोषणा कर दी।

स्थिति चाहे जो हो, हम प्रथम सदी ई.पू. के पूर्वार्द्ध में उज्जैन के सिंहासन पर गर्दभिल्ल को बैठा पाते हैं। वृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर में इसे महेन्द्रादित्य कहा गया है। जैन ग्रंथ इसे गर्दभिल्ल तथा लोक कथाओं एवं भविष्य पुराण में इसे गंधर्वसेन के नाम से पुकारा गया है।

गर्दभिल्ल के मारे जाने के बाद शक अधिक समय तक उज्जयिनी पर शासन न कर पाये। आंध्रों के सहयोग से गर्दभिल्ल पुत्र विक्रमादित्य, जिसे साहसांक एवं विषमशील भी कहा गया है, ने जनयुद्ध का नायकत्व करते हुए तथा मालव-गण का सुयश स्थापित करते हुए उज्जैन के शकों को खदेड़ दिया। गाथा सप्तशती, बेताल पंचविंशति, द्वात्रिंशतपुत्तलिका, वृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर, कालकाचार्य कथा, पट्टावलि, प्रबंधकोश आदि में वर्णित सैकड़ों अभूतपूर्व साहसिक कार्यों के नायक, शकारि तथा दिग्विजयकर्त्ता विक्रमादित्य ने ई.पू. 57 में शासन सूत्र ग्रहण किया। लोक-गाथाओं के महान् नायक विक्रमादित्य ने इस अवसर पर एक संवत् का प्रचलन किया जो आज भी विक्रम संवत् के नाम से पुकारा जाता है।

विक्रमादित्य समस्या :

बड़े दुर्भाग्य का विषय है कि भारत की कोटि-कोटि जनता में शताब्दियों से लोकप्रिय एवं श्रद्धा के पात्र उज्जयिनी के महान् जन-नायक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता संदिग्ध बनाने का प्रयास किया गया। कई देशी-विदेशी विद्वानों ने उन्हें प्रथम सदी ई. पूर्व में न मानकर चौथी-पाँचवीं शती ई. के महान गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से उनका समीकरण किया है। ये विद्वान् साहित्यिक प्रमाणों को महत्त्व न दे, पुरातत्त्वीय प्रमाणों पर ही निर्भर रहना चाहते हैं, जो दुर्भाग्य से विक्रमादित्य के साक्ष्य के रूप में प्राप्त नहीं हो सके हैं, किन्तु साहित्यिक पुष्ट प्रमाणों तथा अनुश्रुतियों की अवहेलना करना उचित नहीं माना जा सकता। प्रथम सदी ई. पू. में विक्रमादित्य को न मानने वाले विक्रम संवत् का उद्धरण देते हैं। तिथिक्रम से विक्रम संवत् 57 ई.पू. प्रारम्भ होता है, किन्तु प्रारम्भ में यह कृत संवत् कहलाया। संवत् 481 तक यह कृत संवत् कहलाता रहा। 461 के मंदसौर अभिलेख में कृत के साथ मालव संवत् नाम भी आया-

श्री मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते

उसके पश्चात् से कृत नाम लुप्त होने लगा और उसके स्थान पर मालव का ही प्रयोग होने लगा। 9वीं शताब्दी के आसपास यह संवत् विक्रम के नाम से संयुक्त होने लगा। सबसे पहले संवत् 898 में धौलपुर में प्राप्त एक अभिलेख में विक्रम के नाम का प्रयोग हुआ और तब से लगाकर आज तक यह संवत् 'विक्रम संवत्' कहलाता है। सहज ही प्रश्न उठता है कि राजा विक्रम के नाम पर यदि यह संवत् था तो उसकी मृत्यु के 900 वर्ष बाद क्यों इस नाम से पुकारा गया तथा प्रारम्भ मे इसे कृत और मालव संवत् क्यों कहा गया?

श्री फर्ग्युसन महोदय ने मत प्रतिपादित किया कि इस संवत् की वास्तविक स्थापना 545 ई. में उज्जैन के राजा हर्ष विक्रमादित्य द्वारा की गई।

श्री कीलहार्न का मत है कि यह संवत् विक्रम प्रदर्शित करने वाले कार्तिक माह में प्रवर्तित हुआ, अतः यह विक्रम संवत कहलाया।

श्री कनिंघम और फ्लीट के अनुसार इसे कनिष्क द्वारा चलाया गया।

सर जॉन मार्शल के मत में इस संवत् का प्रवर्तन शकराज अज प्रथम द्वारा किया गया।

श्री व्ही. गोपाल अय्यर के मत में इसे उज्जयिनी के शक महाक्षत्रप चष्टन ने चलाया।

श्री के. पी. जासवाल का मत है कि आन्ध्र सातवाहन शासक गौतमीपुत्र शातकर्णि ही विक्रमादित्य था और उसने ही विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया।

इन समस्त सिद्धान्तों का खण्डन विद्वानों द्वारा युक्तियुक्त रीति से कर दिया गया। एक सबल मत जिसे विद्वानों का एक बड़ा समूह गंभीरतापूर्वक स्वीकारता है, वह डॉ. भंडारकर द्वारा दिया गया। वे विक्रमादित्य का समीकरण गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से करते हैं, जिसने ई. सन् 375 से

413 तक मगध पर शासन किया, किन्तु उज्जैन के विक्रमादित्य का उल्लेख हाल की गाथासप्तशती में आया है जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पूर्व की रचना है।

एक और भी तर्कयुक्त मत श्री आल्तेकर ने प्रस्तुत किया है। वे यह तो स्वीकारते हैं कि इस संवत् का प्रवर्तन 57 ई. पू. में हुआ, किन्तु वे इसे विक्रम द्वारा प्रवर्तित न मानकर कृत नाम किसी मालव-सेनापति को इसका श्रेय देते हैं। श्री राजबलि पांडेय निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं-

विक्रमादित्य काल्पनिक न होकर ऐतिहासिक पुरुष थे जो मालवगण की गर्दभिल्ल शाखा के गणनायक थे। उन्होंने उज्जैन से शकों को खदेड़ बाहर किया और उस घटना की स्मृति में 57 ई. पू. में एक संवत् का प्रवर्तन किया।

विस्तार में न जाते हुए हम यह कहना चाहेंगे कि विक्रमादित्य मालवगण का गणमुख्य था। उसने अपने पिता के हंता शकों को परास्त कर उज्जयिनी को हस्तगत किया तथा संवत् का प्रवर्तन किया। गणराज्य होने से उसने अपने नाम की अपेक्षा मालव संवत् नाम दिया, किन्तु जनभावना इतनी प्रबल और तीव्र रही कि उन्होंने यह नाम अधिक समय तक स्वीकार नहीं किया और अंत में इसका नाम विक्रम संवत् होकर रहा। कृत नाम या तो स्वयं विक्रम का रहा होगा या कृत्तिका नक्षत्र या कार्तिक मास के आधार पर रखा गया होगा।

पं. सूर्यनारायण व्यास ने 'कृत' की व्याख्या करते हुए यद्यपि कृत्तिका और कार्तिक मास से संवत् प्रचलन के महत्त्व को प्रतिपादित किया है, किन्तु उन्होंने श्री आल्तेकर के मत का परीक्षण करते हुए 'कृत' नामधारी शासक के रूप में हैहय कृतवीर्य तथा कार्तवीर्यार्जुन को प्रस्तुत किया है। वेदों और पुराणों की पर्याप्त समीक्षा के उपरान्त वे यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि हैहयों की विभिन्न शाखाएँ माहिष्मती को केन्द्र में रखकर समस्त वर्तमान मालव प्रदेश एवं विदर्भ में दूर-दूर तक फैली हुई थीं। उनके वीर योद्धा सहस्रार्जुन की लंकापति रावण से अनाक्रमण संधि हुई थी, किन्तु पश्चिम के भार्गवों से उनका संघर्ष हो गया। यह संघर्ष वस्तुतः अतीत से चला आ रहा क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष ही था। सहस्रार्जुन यद्यपि मारा गया, किन्तु हैहयों की मल्व शाखा उसकी कीर्ति को जीवित रखे रही। यह मल्व अर्थात् मालव शाखा धावा मारती हुई कर्कोटक नगर पहुँच गयी और वहाँ के नागराज कर्कोट को कैद कर लायी। पंजाब में उसने अन्य गणों के सहयोग से सिकन्दर से टक्कर ली। जब मालव प्रदेश पर शुंगों के बाद इस गण जाति का पुनः अधिकार हो गया तो उसके नायक विक्रम ने किसी प्राचीन काल गणना पद्धति के आधार पर 57 ई. पू. में कृत संवत् की स्थापना की। इस घटना का सूत्र रूप में सूर्य सिद्धान्त में वर्णन किया गया है। कृत नामकरण पूर्व पुरुष कृतवीर्य अथवा कार्तवीर्य के नाम पर रहा। स्वभावतः इसमें मालवा शब्द कालान्तर में जुड़ गया किन्तु मालवजन के वीरनायक विक्रम को भुलाया न जा सका और शताब्दियों बाद यह संवत् विक्रम के नाम के साथ रूढ़ हो गया।

सम्राट विक्रम के बारे में अनेक चमत्कारिक तथा लोकप्रिय अनुश्रुतियाँ एवं गाथाएँ प्रचलित हैं। उज्जयिनी के साथ उनका नाम युग-युग से संयुक्त रहा है, आज भी है। वे बड़े न्यायी, प्रजावत्सल, वीर, धर्मात्मा तथा विद्वानों के संरक्षक थे। उनके वैभवयुक्त दरबार की धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेताल भट्ट, घटखर्पर, कालिदास, वराहमिहिर एवं वररुचि आदि विश्व प्रसिद्ध विद्वान् शोभावृद्धि करते थे, जो नवरत्न कहलाते रहे हैं-

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शंकुवेतालभट्टघटकर्पर कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।

धन्वन्तरि-धन्वन्तरि एक श्रेष्ठ चिकित्सक थे। भारत में धन्वन्तरि की एक महती परम्परा रही है। हमें कई धन्वन्तरियों के प्रसंग ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। विक्रम के दरबार में इस महान चिकित्सक का होना उनके आयुर्वेद एवं चिकित्सा प्रेम का निर्मल प्रतीक है। धन्वन्तरि के नाम से सृजित कई पूर्ण एवं अपूर्ण ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। अभी यह निर्णय होना शेष है कि धन्वन्तरि द्वारा रचित साहित्य कौन-सा है। उज्जैन से लगभग 30 मील दूर महिदपुर और झार्डा ग्राम के मध्य धन्वन्तरि नामक एक दर्शनीय

स्थान है। वहाँ एक अति प्राचीन मन्दिर है। पास में एक ग्राम है जिसे बैजनाथ (वैद्यनाथ) कहा जाता है। संभवतः इन स्थानों का धन्वन्तरि से कोई सम्बन्ध रहा होगा।

क्षपणक- जैन साधुओं को क्षपणक कहा जाता है। विक्रम का दरबार धर्म-निरपेक्षता का सुन्दर प्रतीक था। विद्वानों का कथन है कि ये जैन साधु सिद्धसेन दिवाकर थे जो महान दार्शनिक एवं अनेक ग्रंथों के रचयिता थे। राजा विक्रम पर इनका बड़ा प्रभाव था, क्योंकि इन्होंने महाकालेश्वर के मन्दिर में चमत्कार बताकर उनके सम्मुख जैन धर्म की महिमा प्रदर्शित की थी।

अमरसिंह-अमरसिंह एक महान कोषकार था। उनके द्वारा सृजित 'अमरकोष' संस्कृत भाषा एवं साहित्य का एक महान् ज्ञानागार है। कालान्तर में अमरकोष पर कई टीकाएँ लिखी गयीं।

शंकु-शंकु एक वैश्य बताये गये हैं। इनके बारे में विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होता। फिर भी कहा जाता है कि ये मंत्र-वादिन्, रसायन मर्मज्ञ एवं ज्योतिषी थे।

वेतालभट्ट- इनके बारे में भी अधिक वर्णन प्राप्त नहीं होता किन्तु 'वेताल पंचविंशतिका' में इन्हें विक्रम का अपूर्व सहयोगी बताया गया है। लगता है ये कोई कापालिक या तांत्रिक थे और इन्हें अपूर्व दैविक शक्तियाँ सिद्ध थीं।

घटखर्पर-ये भी एक बड़े विद्वान् एवं कवि रहे। इनका लिखा एक मनोहारी किन्तु संक्षिप्त काव्य-ग्रंथ प्राप्त हुआ है। इन्हें घटकर्पर भी कहा गया है। खर्पर यशद को भी कहा गया है। संभव है, ये एक वैज्ञानिक भी रहे हों।

कालिदास- महाकवि कालिदास को कौन नहीं जानता? ये एक श्रेष्ठ कवि एवं नाटककार रहे हैं। कवि के रूप में इन्होंने अमर ग्रंथ 'मेघदूत','ऋतुसंहार', 'कुमारसंभव' एवं 'रघुवंश' का सृजन किया। नाटककार के रूप में 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीय' का सृजन कर वे अमर हो गये। कालिदास की उपमा अद्वितीय मानी गयी है। काव्य के चमत्कारिक प्रयोग उन्होंने किये हैं। प्रकृति एवं मानव-सौन्दर्य, मानवीय भावनाओं, प्राणि जगत के मूक व्यवहारों, काव्य के विविध पहलुओं तथा दार्शनिक, कविसुलंभ एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों का अभूतपूर्व गुम्फन अपने काव्य एवं नाटकों में कवि कालिदास ने किया है। वे न केवल भारत अपितु विश्व वाङ्मय की एक महान निधि हैं। उज्जयिनी से कालिदास को विशेष प्रेम था। वे इन नगरी को स्वर्ग का एक खण्ड मानते हैं-

दिवः कान्तिमत खण्डमेकम्

वे भगवान महाकालेश्वर के अनन्य उपासक थे। महाकाल मन्दिर की सांध्य-आरती, उन पर छत्र डुलाने वाली वारांगनाओं, चंचल कटाक्षों वाली नागरिकाओं तथा रात्रि के अंधकार में अभिसार करने वाली प्रेयसियों का अतिसुन्दर चित्रण कालिदास ने किया है। उज्जैन का महान वैभव उनसे छिपा नहीं था। मुक्ताओं के अम्बार उज्जयिनी में थे-

हारांस्तारांतरलगुटिकान्कोटिशः शंखशुक्तिः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्रोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरुचितान् विद्रुमाणां च भंगान्,
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥

- पूर्व मेघ

वराहमिहिर-ये उज्जैन से 10-12 मील दूर कपित्थक (आधुनिक कायथा ग्राम) के निवासी थे। ये एक महान वैज्ञानिक थे। इन्हें भूगोल, खगोल, इन्द्रायुध, भूकंप, उल्कापात, ऋतुपरिवर्तन, व्यापार-चक्र परिवर्तन, गणित तथा ज्योतिष का अगाध ज्ञान था। इनकी 'वृहत-संहिता' से ज्ञात होता है कि ये सुललित कवि, गणितज्ञ, ज्योतिर्विद् होने के साथ-साथ एक कुशल जौहरी, शस्त्र-परीक्षक तथा रसायनाचार्य भी थे। उज्जैन ही नहीं, भारत को ऐसे महान् वैज्ञानिक पर गर्व है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ 'बृहज्जातक', 'पंच सिद्धान्तिका' आदि भारतीय ज्योतिष-शास्त्र की अमूल्य धरोहर हैं।

वररुचि- कथा सरित्सागर में इन्हें कात्यायन भी कहा गया है। संभवत: इन्होंने ही महाराज विक्रम की 'शासन पट्टिका' तथा पाणिनि पर 'वार्तिकाएँ' लिखीं। ऐसा भी कहा गया है कि ये महाराज विक्रम की पुत्री के गुरु थे। कतिपय विद्वानों ने इन्हें बौद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है।

नवरत्नों की दूसरी शृंखला-विक्रम के दरबार में 'नव-रत्नों' की एक दूसरी शृंखला भी 'ज्योतिर्विदाभरण' में प्राप्त होती है। इसके अनुसार शंकु, वररुचि, मणि, अगुदत्त, जिष्णु, त्रिलोचन, हरि, घटकर्पर एवं अमरसिंह उनके नौ प्रमुख दरबारी थे।

कथा सरित्सागर में व्याडि का उल्लेख भी हुआ है जो विक्रम के समय में उज्जैन में निवास करता था। व्याडि एक महान् रसायन-मर्मज्ञ एवं भिषक् था। इसने सपत्नीक क्वाथ पीकर एवं आकाश में उड़कर विक्रम को प्रभावित किया था।

राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्य मीमांसा' में राजा साहसांक के दरबार में पण्डितों की 'काव्य परीक्षा' की चर्चा की है। उन्होंने कई विद्वानों का उल्लेख भी किया है जिन्होंने इस परीक्षा में सफलता अर्जित की थी।

इतिहासकारों में इस विषय में पर्याप्त मतभेद है कि ये समस्त विद्वान् एक साथ हुए अथवा नहीं। साथ ही इनके समय के विषय में भी मतभेद है। इस विषय में विस्तृत चर्चा करना हमारा अभीष्ट नहीं है।

उपरिलिखित नवरत्न उज्जयिनी के सांस्कृतिक इतिहास की अनमोल निधि हैं। विक्रमादित्य से इनकी समकालीनता का प्रश्न चाहे विवादास्पद रहा हो, किन्तु इन महापुरुषों से उज्जयिनी का सम्बन्ध नकारा नहीं जा सकता।

❑
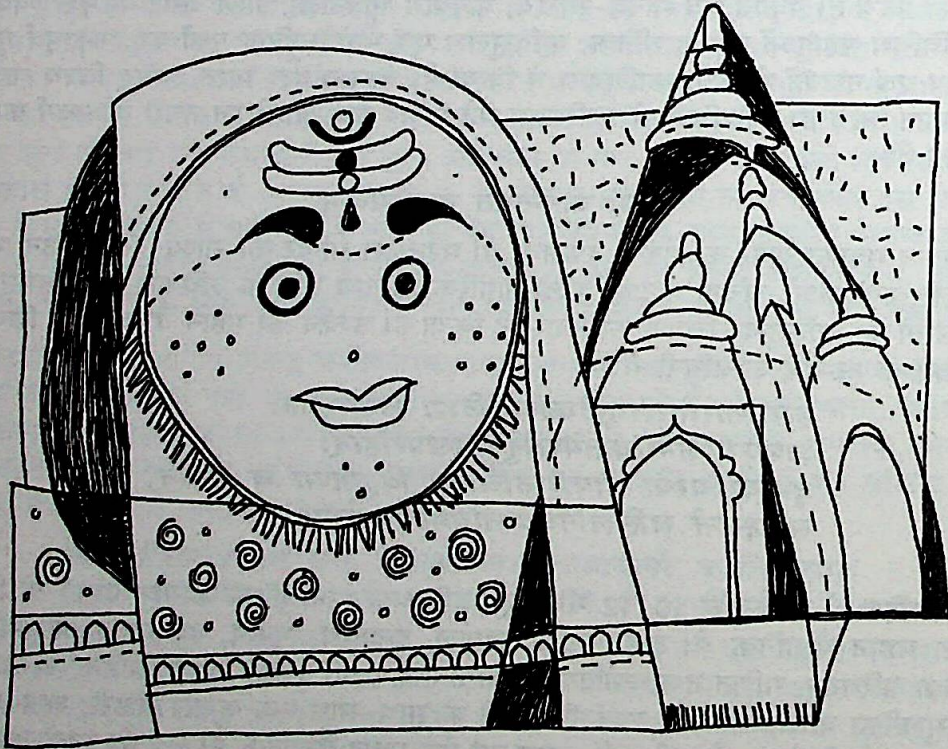
अवन्ती क्षेत्र की संत परम्परा

डॉ. शिव चौरसिया

अवन्ती क्षेत्र की संत परम्परा की जब बात आती है, तो इसका अत्यन्त उज्ज्वल और गौरवपूर्ण स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। अनेक ग्रंथों में इसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस क्षेत्र की प्राचीनता सर्वज्ञात है। द्वापर युग में उज्जयिनी के अंकपात क्षेत्र में महर्षि सान्दीपनि का बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण गुरुकुल था। उसमें शस्त्र और शास्त्र के साथ विविध विद्याओं का अध्यापन होता था। भगवान श्रीकृष्ण और उनके बड़े भाई बलराम अपनी किशोरावस्था में अध्ययन करने यहाँ आये थे। सुदामा से उनकी मित्रता सहपाठी के रूप में यहीं पर हुई थी, जो आगे चलकर मित्रता का अनूठा कीर्तिमान बनी।

भगवान तथागत गौतम बुद्ध के काल में, आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व उज्जयिनी के राजा चण्ड प्रद्योत ने अपने मंत्री महाकात्यायन को गौतम बुद्ध के पास उज्जयिनी आने का निमंत्रण देने भेजा था। महाकात्यायन बुद्ध के पास गए, उनके दर्शन किए और उपदेशों के प्रभाव से वहीं बौद्ध भिक्षु बन गए। गौतम बुद्ध तो उज्जयिनी नहीं आए, किन्तु महाकात्यायन भिक्षु के रूप में उज्जयिनी लौटे और इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनके प्रभाव से इरि दासी नामक स्त्री बौद्ध भिक्षुणी बनी और अपने ज्ञान और सद्कर्मों से विख्यात हुई।

जैन धर्म के उन्नायक चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर उज्जयिनी आये थे। उन्होंने उज्जयिनी के श्मशान में दीर्घावधि तक तपस्या की थी। इसी परम्परा में जैन मुनि कालकाचार्य का नाम महत्त्वपूर्ण है। वे सम्राट विक्रमादित्य के समकालीन माने जाते हैं। वे बड़े विद्वान्, तेजस्वी, प्रभावशाली और जैन धर्म के उन्नायक रहे हैं। उनकी बहन सरस्वती भी जैन साध्वी थी। वे अनिंद्य सुन्दरी थीं। उनके साथ जो घटित हुआ और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप राज्य-क्रांति के प्रसंग प्राचीन ग्रंथों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। इनके कुछ ही पहले मौर्य वंश के सम्राट बिम्बसार के पुत्र राजकुमार अशोक, राज्यपाल के रूप में उज्जयिनी रहे थे। उनकी पत्नी देवी से उत्पन्न पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने यहीं से बौद्ध धर्म ग्रहण कर, भिक्षु-भिक्षुणी के रूप में श्रीलंका में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए प्रस्थान किया था।

संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य के बड़े भाई भर्तृहरि, जो कि विक्रम के पूर्व यहाँ के राजा थे, ने नाथ परम्परा के गुरु गोरखनाथ से दीक्षा प्राप्त कर संन्यास लिया था। इससे यह प्रमाणित होता है कि गुरु गोरखनाथ का इस क्षेत्र से गहरा सम्बन्ध रहा है। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी यहाँ आते रहे हैं। मत्स्येन्द्रनाथ का देहान्त भी यहीं हुआ। उनकी समाधि उज्जयिनी के गढ़कालिका क्षेत्र में आज भी विद्यमान है। वहाँ प्रति वर्ष शरद पूर्णिमा पर समारोह आयोजित होता है। मत्स्येन्द्रनाथ की समाधि से मुस्लिम समाज का भी गहरा लगाव है। वे उन्हें पीर मछन्दर कहते हैं और समाधि स्थल पर उर्स का आयोजन करते हैं। भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति का यह अनूठा उदाहरण है, जहाँ दोनों समुदाय

के लोग अपनी-अपनी आस्था और पूजा-भाव प्रकट करते हैं। उज्जयिनी में ऐसी मिली-जुली आस्था के और भी उदाहरण विद्यमान हैं।

जैन धर्म के प्रख्यात संत सिद्धसेन दिवाकर उज्जयिनी में रहे थे। उनका विक्रमादित्य से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। उन्होंने जैन धर्म के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हरिवंश पुराण की रचना की थी, सिद्धों-नाथों की परम्परा के प्रख्यात संत तांतीपा और सरहपा भी यहाँ धर्म प्रचार करते रहे हैं। नाथ परम्परा के योगीराज भर्तृहरि ने उज्जयिनी में दीर्घकाल तक तपस्या की थी। उनकी तपस्यास्थली भर्तृहरि गुफा के रूप में आज भी विद्यमान है। गुफा क्षेत्र और समीपस्थ स्थलों में नाथ परम्परा के मठ, मन्दिर और साधु आज भी अपना अलख जगा रहे हैं।

दसवीं सदी के आस-पास अवन्ती क्षेत्र में जैन सन्तों की धर्म ध्वजा फहराती रही है। इस काल में मन्दसौर के आचार्य रक्षसूर्य उज्जैन में आ कर रहे थे। बदनावर के संत जिनसेन और मुनि हरिसेन तथा परमार नरेश मुंज के दरबार से जुड़े संत महासेन अच्छे साहित्यकार थे। इस परम्परा में ग्यारहवीं सदी के मुनि अमित गति धार में, 16वीं सदी में आनन्द मुनि माण्डव में, ईश्वर सूरि मन्दसौर एवं देवास में तथा 17वीं सदी में मुनि कृपासागर उज्जैन में जैन धर्म का प्रचार करते रहे हैं। मुनि मल्लीदास, विनयकुल, यशोवर्मन, अमर सागर आदि संतों के नाम भी इस परम्परा में उल्लेखनीय हैं।

कबीर की परम्परा के निर्गुणी संतों का यहाँ व्यापक प्रभाव रहा है। गाँव-गाँव में आज भी निर्गुणी भजनों की लोकप्रियता बनी हुई है। इनमें असंख्य भजन तो कबीर की छाप वाले हैं। यहाँ अनेक सिद्ध संत हुए हैं। उन्होंने अपनी तपस्या, त्याग और आडम्बररहित सहज जीवन शैली से सभी को प्रभावित किया है। ऐसे संतों की एक लम्बी परम्परा यहाँ विद्यमान है। 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सीतामऊ राज्य के शामलखेड़ा गाँव में जन्मे संत जग्गाजी निर्गुणी परम्परा के सुप्रसिद्ध संत हैं। इनका अपने क्षेत्र में अच्छा प्रभाव था। इनके वंशज आज भी उसी गाँव में निवास करते हैं। इनके रचे ग्रंथों में 'रतनसारो' महत्त्वपूर्ण है। महात्मा लालदास का जीवनकाल 16वीं शताब्दी है। आप मालवा की सीमावर्ती पहाड़ियों और जंगलों में रहा करते थे। संत बाबा लाल का जन्म मालवा के खत्री परिवार में हुआ था। आपका समय 16वीं शताब्दी है। उनका मत कबीर एवं दादू से मिलता-जुलता है। आप एकेश्वरवादी थे।

संत हरिदास का जन्म 18वीं सदी में हुआ था। इनका साहित्य उज्जैन की ओरिएण्टल लायब्रेरी में उपलब्ध है। गुप्तानंदजी महाराज मन्दसौर में रहा करते थे। इन्होंने यहीं समाधि ली है। प्रसिद्ध संत केशवानन्द जी महाराज गुप्तानंदजी महाराज के शिष्य थे। आपका कार्यक्षेत्र मन्दसौर और प्रतापगढ़ रहा है। इस क्षेत्र के सर्वाधिक पूज्य नित्यानंदजी महाराज का जन्म मेरठ के पास परीक्षितगढ़ में हुआ था। 18 वर्ष की उम्र में आपको वैराग्य हुआ और इस क्षेत्र में पधारे। धार में आपका विशाल आश्रम नित्यानंद आश्रम के नाम से जाना जाता है। आपकी शिष्य परम्परा बहुत बड़ी संख्या में आज तक विद्यमान है। शीलनाथजी महाराज उज्जैन के त्रिवेणी संगम पर कई वर्षों तक रहे हैं। उनकी धूनी आज भी वहाँ विद्यमान है।

सीतामऊ राज्य के संत श्रूपदासजी महाराज पहुँचे हुए संत थे। वे वहाँ के महाराजकुमार रतनसिंह नटनागर के गुरु थे। इनका काल 19वीं शताब्दी है। संत छोटे साहब का कार्यक्षेत्र ग्राम कानवन रहा है। उनकी गादी आज भी वहाँ विद्यमान है और शिष्य परम्परा निरन्तर बनी हुई है। संत जयनारायणजी का कार्यक्षेत्र आगर रहा है और समाधि स्थान धौंसवास है। आप नित्यानंदजी महाराज के शिष्य रहे हैं। जीवनदासजी महाराज कबीर पंथी संत थे। आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ग्राम बेटमा, जिला इन्दौर में आपका जन्म हुआ और साधु बनने के बाद ग्राम मेहतवाड़ा में अपनी धूनी रमाई। उनकी समाधि वहीं नेवज नदी के किनारे बनी हुई है।

इस क्षेत्र के संत टेकचन्दजी महाराज अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं। उनका जन्म आलरी वेलरी ग्राम, जिला उज्जैन में संवत् 1801 में हुआ था। वे बचपन से ही विलक्षण बुद्धि के थे। 12 वर्ष की अवस्था में ही आप संत बने और उज्जैन से 12 मिल दूर घने जंगल में जाकर तपस्या करने लगे।

धीरे-धीरे आपकी ख्याति फैली और ग्राम कड़छा में निवास किया। वहाँ उनकी समाधि बनी हुई है। प्रतिवर्ष शरद पूर्णिमा पर वहाँ एक बड़ा मेला लगता है। वह स्थान बड़ा दिव्य है, ऐसा इन पंक्तियों के लेखक ने वहाँ अनुभव किया है।

निर्गुण सन्तों की इस परम्परा में राजस्थान से आरम्भ हुई रामस्नेही संतों की एक विशेष धारा इस क्षेत्र में व्यापक प्रभाव स्थापित कर चुकी है। आज से लगभग 300 वर्ष पूर्व राजस्थान के शाहपुरा, रैण, खेड़ापा, सिंहथल आदि चार अलग-अलग स्थानों से चार अलग-अलग आचार्यों द्वारा लगभग थोड़े ही अन्तर से रामस्नेही सम्प्रदाय का उद्‌भव हुआ। इस सम्प्रदाय में निर्गुण राम की उपासना की जाती है। इसका दार्शनिक पक्ष प्रायः कबीरपंथियों के समान है। परब्रह्म 'राम' से स्नेह रखने के कारण ही इसे रामस्नेही कहा गया है। अवन्ती क्षेत्र के नगरों और छोटे-छोटे गाँवों में भी इस सम्प्रदाय के उपासना स्थल रामद्वारे के नाम से बने हुए हैं। इस क्षेत्र में उक्त चार शाखाओं में से केवल प्रथम दो शाखाओं के, जिनके प्रथम आचार्य क्रमशः रामचरणजी महाराज और दरिया साहब मारवाड़ वाले थे, रामद्वारे ही स्थापित हैं। गाँवों में समाज के प्रायः सभी वर्गों में इनका प्रभाव है, तो नगरों में महाजन वर्ग ही इनका अनुयायी है। रामस्नेही सम्प्रदाय के संतों में पूरणदासजी महाराज सबसे पहले इस क्षेत्र में आये। इनका जन्म संवत 1935 में राजस्थान के किसी ग्राम में हुआ था। संवत 1772 में इन्होंने दीक्षा ली और भ्रमण के लिए निकल पड़े। ये ग्राम झोकर, जिला शाजापुर में आये और उसे अपनी साधना स्थली बनाया। आपकी समाधि वहीं विद्यमान है।

पीथोदासजी महाराज भी इसी क्रम में रतलाम के कालका माता क्षेत्र में आकर साधना करते रहे और रामद्वारे की स्थापना की। ईदारामजी महाराज ने गौतमपुरा में अपना साधना केन्द्र बनाया। श्री दुलेरामजी महाराज रामस्नेही संत हैं। इनका जन्म संवत 1813 में हुआ था। ये रामनाम का प्रचार करते हुए सीहोर, इन्दौर आदि क्षेत्रों में आये और रामद्वारे स्थापित किए। वे अनेक वर्षों तक गोराकुण्ड, इन्दौर में साधना करते रहे। रतलाम रामद्वारे में रहकर राम की निर्गुण भक्ति का प्रचार करने वाले श्री कनीरामजी महाराज 19वीं शताब्दी के संत हैं। इनका प्रभाव क्षेत्र मन्दसौर तक रहा है। उज्जैन में निवास करने वाले श्री प्रेमदासजी महाराज का जन्म नाथद्वारा के समीप ग्राम बड़ाराड़ा में हुआ था। इन्होंने क्षिप्रा तट पर जोगीपुरे में अपना साधना केन्द्र बनाया और वाणियों की रचना की। संत गुलाबदासजी महाराज भी रामस्नेही संत थे। उन्होंने धार, इन्दौर आदि स्थानों पर भक्ति भावना का प्रचार किया। हिम्मतरामजी महाराज के जीवन-कार्य 19वीं सदी में होते रहे हैं। इन्होंने देवास, सैलाना आदि स्थानों पर रामद्वारे की स्थापना कर जन-जन में भक्तिभावना का प्रसार किया था। रामस्नेही सम्प्रदाय की नारी संत आभाबाईजी महाराज का जन्म ग्राम डक, जिला नागौर में हुआ था। वे दीक्षा के पश्चात् राजस्थान होते हुए मालवा में आई और भानपुरा में रामद्वारा स्थापित किया। इनकी समाधि वहीं बनी हुई है। वे बड़ी सिद्ध संत थीं और इनकी शिष्य परम्परा बहुत बड़ी रही है।

इस क्षेत्र की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि यहाँ हिन्दू धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदायों और पंथों के संत आते रहे हैं तथा पूजा, उपासना और तपस्या करते रहे हैं। जनश्रुति है कि महात्मा कबीर भी कभी यहाँ आये थे और इस धरती को 'पग-पग रोटी डग-डग नीर' कहा था। इसी प्रकार पुष्टि मार्ग के प्रणेता और श्रीकृष्ण भक्तिधारा को प्रवाहित करने वाले महाप्रभु वल्लभाचार्य धर्म प्रचार हेतु यहाँ आये थे। उन्होंने उज्जयिनी में अपनी बैठक सांदीपनि आश्रम में स्थापित कर समाज को अपना वचनामृत पान कराया था। 'बैठकजी' अभी भी विद्यमान है।

रामभक्ति परम्परा के संत कृपानिवास भी अठारहवीं सदी में लगभग तीस-पैंतीस वर्षों तक यहाँ रहे हैं। उनके द्वारा रचित 'रामरसामृत सिंधु' भक्ति और श्रृंगार रस का एक श्रेष्ठ काव्य ग्रंथ है।

इस्लाम धर्म के सन्तों का भी यह कर्मक्षेत्र रहा है। सुप्रसिद्ध सूफी संत मौलाना रूमी का, जो कि ईरान के रहने वाले थे, 12वीं-13वीं सदी के बीच यहाँ आगमन हुआ था। वे बहुत समय तक यहाँ रहे और उनका देहान्त भी यहीं हुआ। उनकी मजार पर स्थापित रूमी का मकबरा, भर्तृहरि गुफा क्षेत्र में आज भी ईरानी वास्तुकला का एक सुन्दर नमूना बनकर विद्यमान है।

सूफियों के चिश्ती सम्प्रदाय के खलीफा शेख निजामुद्दीन औलिया ने मालवा में अपने कई मुरीदों को खलीफा बनाकर धर्म प्रचार हेतु भेजा था, इनमें शेख गयासुद्दीन चिश्ती और हजरत नूरूद्दीन चिश्ती धार, शेख वजीहुद्दीन यूसुफ चन्देरी और मौलाना वजीहुद्दीन चिश्ती उज्जैन आये थे। मौलाना साहब ने उज्जैन में अपने त्याग, तपस्या और जनसेवा से इस क्षेत्र में गहरा प्रभाव जमा लिया था। मौलाना साहब का जन्म बयाना में हुआ था और उन्हें दिल्ली से यहाँ भेजा गया था। वे माण्डव में भी रहे और बाद में शिप्रा तट पर तपस्या करते रहे। उनका देहान्त भी यहीं हुआ। इनकी मजार आज भी विद्यमान है और समीप का घाट मौलाना घाट कहलाता है। मौलाना साहब के समय में और उनके बाद भी सूफी संतों का आगमन और धर्मप्रचार इस क्षेत्र में होता रहा है। इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

इस्लाम धर्म के बोहरा समुदाय का भी उज्जैन एक महत्वपूर्ण स्थान है। बोहरा समुदाय के धर्मगुरु, जिन्हें दाई या सैयदना कहा जाता है, की गादी भी यहाँ रही है। लगभग 120 वर्ष पहले 39वें दाई इब्राहीम वजीहुद्दीन सा., 40 वे दाई हिबुतुल्ला हिल मो. अय्यदी सा. तथा लगभग 80 वर्ष पूर्व 47वें दाई अब्दुल कादर सा. यहीं गादीनशीन रहे हैं। उनकी पवित्र मजारें यहीं बनी हुई है और अति भव्य और सुंदर रोजा बना हुआ है, जो 'मालवा का ताजमहल' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिदिन यहाँ हजारों यात्री आते हैं।

अवन्ती क्षेत्र में सन्तों की ऐसी विविध और सुदीर्घ परम्परा का होना इस बात का प्रतीक है कि यहाँ के निवासी सहज, सरल और अत्यन्त सहिष्णु हैं तथा सभी धर्मों का आदर करते हैं। प्रति बारहवें वर्ष होने वाला महाकुम्भ, जिसे यहाँ सिंहस्थ कहते हैं, भी यहाँ की संत परम्परा को निरन्तरता प्रदान करता रहा है। प्रत्येक 12वें वर्ष वैशाख मास में होने वाले विशाल सिंहस्थ में उज्जैन में लाखों-लाख श्रद्धालु यात्री और कई-कई हजार हिन्दू धर्म के साधु-सन्तों का आगमन होता है। पूरे मास यहाँ पूजा-पाठ, धर्मचर्चा, प्रवचन और अनुष्ठान होते रहते हैं। सिंहस्थ में शैव, नागा, वैष्णव, उदासीन, विरक्त, सनातनी, कबीरपंथी, सतनामी, आर्य समाजी आदि अनेकानेक सम्प्रदायों और पंथों के साधु-सन्तों से उज्जैन का सम्पूर्ण वातावरण धर्ममय बन जाता है। ऐसी संत परम्परा इस क्षेत्र के लिए गौरव का विषय है।

❑
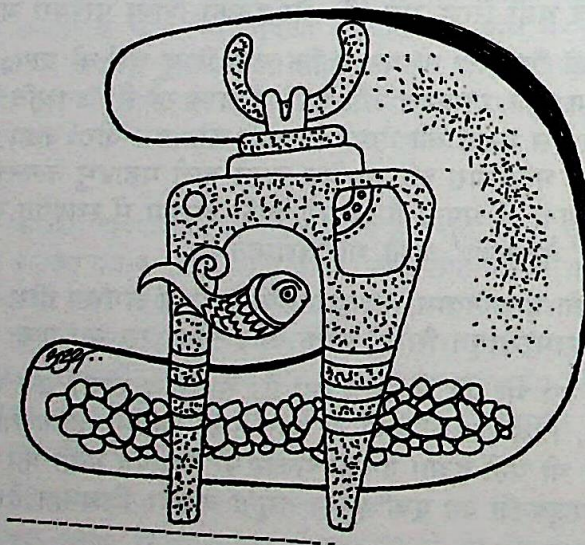
अवन्ती क्षेत्र का हिन्दी साहित्य

डॉ. शिव चौरसिया

अवन्ती क्षेत्र की हिन्दी साहित्य परम्परा अत्यन्त समृद्ध है, क्योंकि इसे कालिदास साहित्य की महान पीठिका प्राप्त हुई है। कालिदास का काव्य और नाटक विश्व साहित्य की अनमोल निधि है। भर्तृहरि की शतकत्रयी भी संस्कृत साहित्य की अन्यतम कृति है। राजशेखर के अनुसार उज्जयिनी में काव्यकारों की परीक्षा होती थी। राजा भोज और उनके आश्रित कवियों की भी एक गौरवमयी परम्परा रही है। स्पष्ट है कि यहाँ साहित्य की रचना, पठन-पाठन और अनुशीलन का श्रेष्ठ वातावरण रहा है। आगे चल कर अपभ्रंशों से विभिन्न भारतीय भाषाओं का उद्भव हुआ और आज से लगभग दस-ग्यारह सौ वर्ष पूर्व हिन्दी भी आकार ग्रहण करने लगी और उसमें साहित्य रचना आरम्भ हुई।

हिन्दी के आदिकाल में 'राउल वेल' नामक गद्य-पद्य के श्रृंगार ग्रंथ के रचयिता रोड या रोड़ा कवि की रचना इसी क्षेत्र में हुई। आचार्य रक्षितसूर्य, सिद्धसेन दिवाकर, मानतुंग, आचार्य महासेन, अमितगति, ईश्वरसूरि, मल्लिदास जैसे प्रख्यात जैन कवि-रचनाकर यहीं काव्यलेखन करते रहे हैं। भक्तिकाल में सूफी संत मंझन, जो कि मधु मालती जैसे श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य के रचयिता रहे हैं, इस क्षेत्र में वर्षों रहे हैं। उनकी मजार आष्टा में आज भी विद्यमान है। उनके द्वारा यहाँ रचित साहित्य की खोज होना अभी शेष है। रीतिकाल में अवन्ती क्षेत्र के धरमत गाँव, जो कि फतेहाबाद के निकट है, में हुए औरंगजेब और तत्कालीन रतलाम नरेश रतनसेन (मुगल शहंशाह शाहजहाँ के प्रतिनिधि) के बीच हुए युद्ध के वर्णन पर रची गई कृति 'वचनिका राठौड़ रतनसिंघ री महेश दासोत री कही खिड़िया जगा री कही' एक अनूठी रचना है। खिड़िया जगा सुप्रसिद्ध चारण कवि थे।

इसी काल में रामस्नेही संत कवियों ने अपनी वाणी से काव्यधारा प्रवाहित की है। ऐसे संतों में प्रेमदासजी, पीथोदासजी, कनीरामजी, हिम्मतरामजी, गुलाबदासजी और आभाभाई महाराज ने अपने निर्गुण पदों-वाणियों से सरस्वती के भण्डार को समृद्ध किया है। निर्गुणी संतों में जग्गाजी महाराज, गुप्तानंदजी, नित्यानंदजी एवं केशवानंदजी के पदों का विशेष महत्त्व है। इनकी रचनाओं में ईश्वर प्रेम, आत्मकल्याण, परस्पर स्नेह और सदाचरण पूर्ण जीवन का पक्ष अभिव्यक्त हुआ है। इसी काल में सीतामऊ के महाराजकुमार रतनसिंह नटनागर रचित ब्रजभाषा के भक्तिकाव्य ग्रंथ की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध है। इसमें राधाकृष्ण के प्रेम का निरूपण हुआ है। सगुण भक्त कवि कृपानिवासजी द्वारा रचित राम साहित्य की श्रृंगार कृति साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है।

आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य में इस क्षेत्र के रचनाकार अत्यधिक रेखांकित हुए हैं। यहाँ साहित्य की पद्य और गद्य दोनों धाराओं में महनीय लेखन हुआ है। काव्यधारा में अपनी ओजस्वी वाणी से क्रान्ति का शंखनाद करते हुए राष्ट्रीय भावधारा के काव्य को उत्कर्ष प्रदान करने वाले एवं कर्म द्वारा भी स्वतंत्रता संग्राम में जूझने वाले पंडित बालकृष्ण शर्मा नवीन हिन्दी के अन्यतम कवि

हैं। प्रगतिवादी, राष्ट्रीय और मानवतावादी धारा के प्रखर कवि डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन उज्जैन में लगभग 50 वर्षों तक निवास करते हुए काव्य सृजन करते रहे हैं। छायावाद और उसके बाद के युग की संधि रेखा पर स्थित कवि रमाशंकर शुक्ल हृदय का वेदना और करुणापूर्ण काव्य यहीं लिखा गया है। गाँधीवादी कवि नटवरलाल स्नेही की काव्यसाधना की चरम परिणिति के हम सब साक्षी हैं। महान राष्ट्रवादी एवं क्रांतिकारी कवि श्रीकृष्ण सरल अनेक महाकाव्यों और स्फुट संग्रहों के रचनाकार के रूप में समादृत हुए हैं। संघर्षशील कवि महेशशरण जौहरी ललित का गीति काव्य हिन्दी की अनमोल धरोहर है। प्रभागचन्द्र शर्मा के काव्य में अनूठी भाव-भंगिमा और अर्थवत्ता है, तो दिनकर सोनवलकर की महीन चुटकियों से मुक्त छंद की कविता समृद्ध हुई है। चन्द्रसेन विराट की हिन्दी गजलें और गीत शृंगार के साथ जीवन के विभिन्न पक्षों को समर्थ रूप से उपस्थित करते हैं।

आधुनिक काल में बहुचर्चित प्रयोगवाद और उसके बाद नई कविता के अनेक काव्य आन्दोलनों के उद्भव और विकास में यहाँ के कवियों की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही है। अज्ञेय के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'तार सप्तक' की रूपरेखा यहीं बनी थी और उसमें यहाँ के गजानन माधव मुक्तिबोध तथा प्रभाकर माचवे की रचनाएँ संग्रहीत हुई हैं।

दूसरा सप्तक के सात कवियों में से दो- श्री नरेश मेहता और हरिनारायण व्यास इसी क्षेत्र के हैं। चौथा सप्तक में भी राजकुमार कुम्भज यहाँ का प्रतिनिधित्व करते हैं। मुक्तिबोध और श्री नरेश मेहता प्रयोगवादी काव्यधारा में उल्लेखनीय कवि हैं। अकविता आन्दोलन के प्रमुख कवि जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार और चन्द्रकान्त देवताले तथा सनातन सूर्योदयी कविता आन्दोलन के प्रवर्तक वीरेन्द्र कुमार जैन के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। समकालीन कविता के महत्त्वपूर्ण कवि प्रमोद त्रिवेदी, हरीश पाठक, कौशल मिश्र, रमेश सोनी, अनीस लिटयानी, राजेन्द्र मिश्र आदि का लेखन निरन्तर जारी है।

पारम्परिक कविता के जिन समर्थ कवियों से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है, उनमें प्रकाश उप्पल, मानसिंह राही, दीनानाथ व्यास, जयकुमार जलज, भगवतशरण जौहरी, छैलबिहारी गुप्त, गजानन वर्मा, शेख मुइनुद्दीन, अमृतलाल अमृत, अनोखेलाल त्रिवेदी मुकुल, उत्सवलाल तिवारी सुमन, अम्बालाल निर्भय, प्राण गुप्त, हरीश प्रधान, बालकवि बैरागी, स्वयंप्रकाश उपाध्याय, शशि भोगलेकर, मोती काका, आनन्दीलाल व्यास नयन, केशवप्रकाश विद्यार्थी, शिवकुमार मिश्र रज्जन, मदनलाल जोशी, मदनकुमार चौबे, मथुरालाल गुप्त, महेश राजा, सरोजकुमार, हरिहर लहरी, बद्रीप्रसाद बिरमाल, दयाल गुरु, रमेश मेहबूब, सत्यनारायण सत्तन, रामकिशन सोमानी, श्यामकुमार श्याम, कृष्णकान्त दुबे, सतीश दुबे, मोहन सोनी, बटुक चतुर्वेदी, राजेन्द्र अनुरागी, दिलजीतसिंह रील, बक्शी नरसिंहगढ़ी, रमेश दवे, बागीश पाण्डे, गणेशदत्त शर्मा इन्द्र, ओमप्रकाश आर्य, दुर्गाप्रसाद झाला, रमेश गुप्ता चातक, रमेश जोशी मृदुल, शिव चौरसिया, चैतन्यगोपाल निर्भय, कलानिधि चंचल, उर्मिला निरखे, पुष्पा चौरसिया, उर्मि शर्मा, उमा वाजपेयी, रामरतन ज्वेल, बालमुकुंद गर्ग, सुनीलरंजन दास, यशपाल भारद्वाज, सुरक्षा भारद्वाज, अरुण वर्मा, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, पवनकुमार मिश्र, द्विजेन्द्रनाथ सैगल, सुनीलरंजन दास, अशोक वक्त, हेमन्त श्रीमाल, अशोक भाटी, ओम व्यास, स्वामीनाथ पाण्डे आदि महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ. ओम जोशी ने अनेकानेक कविताओं के साथ विभिन्न विषयों पर लक्षाधिक दोहों की रचना कर एक कीर्तिमान रचा है। काव्य जगत में पद्मभूषण पं. सूर्यनारायण व्यास महत्त्वपूर्ण हैं। उनका स्वयं कवि होना और लोकभाषा मालवी की नवीन काव्यधारा को प्रवाहमान करना उनका विशेष अवदान है।

इसी प्रकार साहित्य की गद्य धारा भी सम्पन्न है। कथाकारों में श्री नरेश मेहता, वीरेन्द्रकुमार जैन, श्यामू संन्यासी, श्याम शर्मा, श्याम व्यास, नरेन्द्र धीर, श्रीनिवास जोशी, राजेन्द्र अजनबी, श्याम कश्यप, वीरेन्द्र दीपक, बालकवि बैरागी, मंगल मेहता, पूरन सहगल, रामरतन ज्वेल, नरेन्द्र समाधिया, सत्यनारायण नागर, कौशल मिश्र, उदयसिंह भटनागर, भगवन्तशरण जौहरी, प्रमोद त्रिवेदी, संतोष व्यास, प्रेमेन्द्र श्रीवास्तव, राजेन्द्र सिन्हा, भगीरथ बड़ोले निर्मल, रामसिंह यादव, अवधेश सक्सेना,

रघुनाथ तावसे, शरद पगारे, सतीश दुबे, विलास गुप्ते, जीवनसिंह ठाकुर, चन्द्रशेखर दुबे, प्रभु जोशी, कृष्णा अग्निहोत्री, कनुप्रिया, नीहार गीते, जगदीश डल्लारा, श्यामसुन्दर व्यास, कृष्णचन्द्र मुद्‌गल, मन्नू भण्डारी, दामोदर सदन, मालती जोशी, रमेश बक्शी, सूर्यकान्त नागर, मेहरून्निसा परवेज, कमलचन्द वर्मा, चेतना भाटी, कांतिलाल ठाकरे, पन्नालाल नारोलिया, शानी, राजेन्द्र शर्मा, मनमोहन मदारिया, अमिताभ मिश्र, सदाशिव कौतुक आदि की रचनाएँ-कहानी और उपन्यास साहित्य-जगत में प्रतिष्ठित हैं।

यहाँ नाट्य लेखन भी हुआ है। नाटककारों में प्रभातकुमार भट्टाचार्य, भगवतीलाल राजपुरोहित, शिव शर्मा, विजयशंकर मेहता, धीरेन्द्र परमार, सी. वी. शुजालपुरकर, भगीरथ बड़ोले, प्रमोद त्रिवेदी, सतीश दवे, बालचन्द्र कोठारी, अभिमन्यु डिब्बेवाला, उदयसिंह भटनागर, अशोक वक्त, खुर्शीद अजेय, कृष्णकान्त दुबे आदि के नाटक-एकांकी रंगकर्म की दृष्टि से उपादेय सिद्ध हुए हैं। इस विधा में महत्त्वपूर्ण अवदान आना अभी शेष है।

निबन्ध लेखन में महाराजकुमार रघुवीरसिंह के ललित निबन्ध इतिहास और कल्पना के अद्‌भुत मिश्रण से लालित्यपूर्ण बन गए हैं। इसी अनुक्रम में पुरुषोत्तम दुबे, नर्मदाप्रसाद उपाध्याय आदि उल्लेखनीय निबन्धकार हैं। समीक्षात्मक निबन्ध लेखन की दृष्टि से तो अवन्ती क्षेत्र समृद्धि के चरम पर कहा जा सकता है। प्रतिद्ध आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, पं. सूर्यनारायण व्यास जैसे मनीषी यहाँ रहकर सर्जना करते रहे हैं। वर्तमान में डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. शिवसहाय पाठक एवं डॉ. श्यामसुन्दर निगम अपने लेखन से इस क्षेत्र को गौरवान्वित कर रहे हैं। डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, डॉ. विष्णु भटनागर, कैलाशचन्द्र पंत, रमेश दवे, डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, डॉ. पवनकुमार मिश्र, डॉ. हरिमोहन बुधोलिया, डॉ. प्रमोद त्रिवेदी, डॉ. शिव चौरसिया, डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा आदि नाम भी महत्त्वपूर्ण हैं।

आधुनिक साहित्य की अभिनव विधा व्यंग्य की दृष्टि से अवन्ती क्षेत्र का मस्तक ऊँचा हुआ है। शरद जोशी के व्यंग्य अत्यन्त प्रखर और तीखे हैं। व्यवस्था पर चोट करते हुए पाठक को उद्वेलित कर देना उनके लेखन की विशेषता है। डॉ. शिव शर्मा, पिलकेन्द्र अरोरा, हरीशकुमार सिंह, लक्ष्मीकान्त वैष्णव, हरि जोशी, बी. एल. आच्छा, प्रेमचन्द्र द्वितीय, शिवकुमार वत्स, रमेशचन्द्र शर्मा, मुकेश जोशी, शैलेन्द्र पाराशर आदि अग्रणी व्यग्यंकार हैं। यहाँ हिन्दी एवं मालवी के लोक साहित्य पर शोध करने वालो में डॉ. श्याम परमार, डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय, डॉ. प्रहलादचन्द्र जोशी, डॉ. बंशीधर शर्मा, डॉ. सुरेन्द्र कुमार तेनगुरिया, डॉ. बसन्तीलाल बम, ओमप्रकाश ठाकुर अनूप, डॉ. प्यारेलाल श्रीमाल, डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, डॉ. रमेश सोनी, डॉ. शिव चौरसिया, डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा, डॉ. पूरन सहगल आदि के कार्य उपादेय बन पड़े हैं।

स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य जगत में अवन्ती क्षेत्र का अवदान महनीय है। इस पर बहुत अधिक लिखा जा सकता है, किन्तु ग्रन्थ की सीमाओं को दृष्टिपथ में रखते हुए, यहाँ अति संक्षिप्त परिचय ही प्रस्तुत किया गया है।

❑

मालवी लोक-साहित्य

डॉ. शिव चौरसिया

मालवी :

शिप्रा, चम्बल, बेतवा, कालीसिंध और नेवज के पावन जल से सिंचित श्यामल मिट्‌टी का उर्वर मालव क्षेत्र, विन्ध्याचल की उपत्यकाओं और सघन वनों से आच्छादित होने के साथ ही सहज, सरल, भोले और निश्छल किन्तु कर्मठजनों की क्रीड़ाभूमि है। मालवी, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसी सुरम्य अंचल की लोकभाषा है। इसकी प्रवृत्ति अत्यन्त ही सहज, सरल और लोचदार है। माधुर्य और मार्दव इसके अपने विशिष्ट गुण हैं।[1] मालवी का यही माधुर्य उसकी नफासत है और इसी कारण इसमें भाटामार बातों का अभाव तथा महीन चुटकियाँ ही अधिक हैं तथा मालवी पगड़ी के पेंच की तरह ही इसकी प्रवृत्ति में कोमलता परिलक्षित होती है।[2]

इसका कारण है इसकी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति। भारत के हृदय-स्थल मालवा की बोली होने के कारण गुजराती, राजस्थानी और ब्रज जैसी सहज, सरल, ओजमयी तथा मधुर भाषाओं का नैकट्य इसे प्राप्त है तथा इन्हीं की विशेषताओं का प्रभाव इसे आत्मीयता से परिपूर्ण बनाता है। डॉ. राजबली पांडेय के शब्दों में ''.......गुजराती, राजस्थानी, ब्रजभाषा सभी का पुट मालवी में है, जो अपने इन तत्वों को आत्मसात् कर हिन्दी को समृद्ध बनाती है।''[3]

मालवी बोली के नामकरण में प्रदेश-विशेष के आधार को ग्रहण किया गया है। भारतीय परम्परा में पुरातन काल से ही किसी क्षेत्र विशेष के नाम के आधार पर भाषा और साहित्य की प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति को सम्बोधित किया गया है।[4] भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में इसी सन्दर्भ में अनेक क्षेत्रों, प्रदेशों और तत्कालीन जनपदों की भाषाओं को भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से विभूषित किया गया है।[5] इसी परम्परा की विरासत में डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय इस क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा का 'मालवी' नाम सार्थक मानते हैं।[6]

मालवी का क्षेत्र प्राचीन अवन्ती जनपद ही है।[7] इसी आधार पर विद्वानों ने प्राचीन अवन्ती की गरिमामयी संस्कृति और साहित्यिक परम्पराओं के प्रकाश में वर्तमान मालवी के जन्म और विकास

1. माटी की सोरम - (शुभाशंसा भाग) डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन - पृष्ठ 3
2. मालवी मेला (8-9 जून 71) रतलाम में - डॉ. श्यामसुन्दर व्यास के वक्तव्य से
3. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (खण्ड 1, अध्याय 1), डॉ. राजबली पांडेय, पृ. 11
4. राजशेखर : काव्य मीमांसा, अध्याय 69
5. भरतमुनि : नाट्य-शास्त्र 17/48-50
6. डॉ. चिंतामणि उपाध्याय : मालवी : एक भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ 3
7. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (खण्ड 1, अध्याय 1 - ले. राजबली पांडेय), पृ. 32

को समझने का प्रयत्न करते हुए भिन्न-भिन्न मत निरूपित किये हैं। ग्रियर्सन ने सबसे पहले भारतीय भाषाओं पर वैज्ञानिक अध्ययन करते हुए अपने 'लिंगिवस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' नामक ग्रंथ में मालवी को राजस्थानी का एक भेद माना है और उसे भी रांगड़ी, सौंधवाड़ी आदि मुख्य उपभेदों में विभाजित किया है।[8] डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने राजस्थानी को दो भिन्न शाखाओं-पूर्वी शाखा और पश्चिमी शाखा में विभाजित करते हुए कहा है- "सूक्ष्मतर व्याकरण की दृष्टि के कारण राजस्थान मालवा की बोलियों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित करना बेहतर होगा।"[9]

इनके साथ ही पद्मभूषण पं. सूर्यनारायण व्यास मालवी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे प्राचीन 'अवंतिजा' से जो कि यहाँ की भाषा कही गई है, से सम्बन्ध जोड़ते हुए, वर्तमान मालवी को उसी का विकसित रूप मानते हैं।[10] डॉ. श्याम परमार का मत भी व्यासजी के कथन की पुष्टि ही करता है। वे भी मालवी का सम्बन्ध शौरसेनी, प्राकृत और अवन्ती अपभ्रंश से मानते हुए, प्राचीन अवन्ती प्रदेश की भाषा 'अवन्तिजा' से ही मालवी का उद्‌गम स्वीकार करते हैं। जनवाणी के रूप में अवंतिजा प्रवाहित होती रही। अतः आज जो मालवी मालव-प्रदेश में विद्यमान है, वह उसी अवंतिजा की वंशजा सिद्ध होती है।[11]किन्तु इन मतों को प्रामाणिकता के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यह बात तो सर्व-सम्मत रूप से स्वीकृत है कि "मालवी का सम्बन्ध अपभ्रंश के उस रूप से है, जिसमें पश्चिमी भारत के लोक-साहित्य का निर्माण नवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में हो रहा था और उस लोक-साहित्य की रचना के केन्द्र थे, राजस्थान, गुजरात और मालवा।"[12]भाषा-विकास की इस परम्परा के तो पर्याप्त प्रमाण हैं, किन्तु नवीं से चौदहवीं शताब्दि के अपभ्रंश-साहित्य के बाद की कड़ी टूट-सी गई है और इसी कारण उसके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध तक मालवी में लिखा हुआ साहित्य अप्राप्त है। अतः उसके विकास क्रम का विवेचन करना अभी तो असम्भव ही लगता है।"[13] मालवी की उत्पत्ति और विकास पर ही शोध करने वाले डॉ. बंशीधर के शब्दों में, 'अपभ्रंश के प्रभेदों में 'अवन्त्य' और 'मालव' दो नाम आते हैं। इनके सम्बन्ध में यह कहना अधिक सम्भव है कि ये दोनों प्रभेद 'अवन्ती-प्राकृत' से सम्बन्धित हैं और 'अवन्ती-प्राकृत' एवं 'मालवी' के मध्य की कड़ी है। पर यह मान्यता तथ्यहीन होगी, क्योंकि इन दोनों प्रभेदों के लिखित रूप हमारे सामने नहीं हैं। वैयाकरण स्वयं भी इनके भाषा रूप एवं लक्षणों का स्पष्ट निर्देश नहीं कर पाये हैं। अतः जब तक स्पष्ट और असंदिग्ध रूप सामने नहीं आता, तब तक आधुनिक मालवी से उसका सम्बन्ध स्थापित करना अयथार्थ और भ्रमपूर्ण होगा।।[14] इसके अनन्तर उन्होंने अनुमानपूर्वक ही शौरसेनी प्राकृत की परम्परा में शौरसेनी अपभ्रंश अथवा पश्चिमी अपभ्रंश की नागर शाखा से मालवी के उद्‌गम स्रोत को जोड़ने का प्रयत्न किया है।[15] आचार्य विनयमोहन शर्मा के मतानुसार आधुनिक मालवी भाषा तीसरी शताब्दी पूर्व की नहीं हो सकती, क्योंकि इसका जन्म अपभ्रंश से हुआ है और उस काल में अपभ्रंश का ही प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।[16]

उपर्युक्त मतों के आधार पर यह तो कहा जा सकता है कि आधुनिक मालवी के उद्‌गम और विकास से सम्बन्धित अनेक गुत्थियाँ उलझी हुई हैं। इसका कारण आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार यह है कि मालवा की भाषा का इतिहास उलझा हुआ है तथा उसे समझने के साधन उपलब्ध

---

8. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 12
9. डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : राजस्थानी भाषा, पृष्ठ 9-10
10. वीणा - लेख अवन्ति भाषा और पुरातन परम्परा- सूर्यनारायण व्यास - पृ. 13-17 (नवम्बर, 66)
11. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 18-19
12. वीणा (मालवी अंक - पूर्वार्द्ध-सितम्बर-अक्टूबर 71) लेख-मालवी के सन्दर्भ में- डॉ. उदयसिंह भटनागर -पृष्ठ 51
13. डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय : मालवी - एक भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ 22
14. डॉ. बंशीधर : मालवी की उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ 29
15. वही, पृष्ठ 30
16. मालवी मेला (दि. 8-9 जून 71) रतलाम में दिये गये वक्तव्य से

नहीं हैं। जो शोधकार्य हुए हैं, वे सुनियोजित ढंग से नहीं होने के कारण अपेक्षित दिशा-दर्शन करवाने में अक्षम हैं।[17] डॉ. शिवसहाय पाठक के मतानुसार इस दिशा में वैज्ञानिक शोध और तीसरी से लेकर 13वीं शताब्दी तक के अपभ्रंश साहित्य के गहन अध्ययन-अनुशीलन की नितांत आवश्यकता है, तभी मालवी के सूत्रों का पता लग सकता है।[18]

मालवी के सामान्य परिचय के उपरान्त उसकी उप-बोलियों अथवा भेदों पर विचार करना भी उपयुक्त है। मालवी के भेदों के सम्बन्ध में डॉ. ग्रियर्सन ने ही सबसे पहले अपनी कलम चलाई है। उन्होंने इसके रांगड़ी, सौंधवाड़ी, निमाड़ी आदि भेद स्पष्ट किये है।[19] राहुल सांस्कृत्यायन के मतानुसार "निमाड़ी और मालवी में भेद नहीं है। अवन्ती और मालवी काल भेद से एक ही भाषा के दो नाम हैं।"[20] श्री रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' ने भी अपने एक लेख में मालवी के अनेक भेदों पर विचार किया है।[21] आगे चलकर श्याम परमार ने भी मालवी के कुछ भेद, क्षेत्रीय और जाति के आधार पर बनाये हैं।[22] किन्तु डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय ने श्याम परमार के भेदों को अस्वीकार करते हुए, क्षेत्रीय दृष्टि से मालवी के सौंधवाड़ी, रांगड़ी, उमठवाड़ी और निमाड़ी-चार भेद लिये हैं।[23] डॉ. बंशीधर ने भी मालवी की उप-बोलियों के रूप में इन्हीं चारों भेदों को यथावत स्वीकार किया है। मालवा क्षेत्र की बोलियों के निजी सर्वेक्षण के पश्चात् लेखक (डॉ. बंशीधर) डॉ. उपाध्याय के उपर्युक्त मत से सहमत हैं।[24]

डॉ. कृष्णलाल हंस निमाड़ी को मालवी की एक उपबोली के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। वे तर्कों के आधार पर इसे एक स्वतंत्र बोली सिद्ध करते हैं। यद्यपि वे निमाड़ी को मालवी मिश्रित बोली तो मानते हैं,[25] लेकिन उनके मत से निमाड़ी पश्चिमी हिन्दी के जितने निकट है, उतने राजस्थानी के नहीं है। अतः यह डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार राजस्थानी की नहीं, वरन् ब्रज, बुंदेली, खड़ी बोली आदि की तरह पश्चिमी हिन्दी की ही एक बोली है।[26] इसमें कहीं भी वे निमाड़ी का सम्बन्ध मालवी के साथ जोड़ते प्रतीत नहीं होते।

लेखक की दृष्टि में डॉ. ग्रियर्सन, डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या,[27] डॉ. बंशीधर[28] और डॉ. कृष्णलाल हंस की निमाड़ी के सम्बन्ध में मान्यताएँ परस्पर उलझी हुई-सी प्रतीत होती हैं। अतः इस विवाद से परे रहकर मालवी के तीन रांगड़ी, सौंधवाड़ी और उमठवाड़ी भेद स्वीकार करना ही समीचीन लग रहा है।

इस दृष्टि से मालवी की उप-बोलियों के विवेचन के पूर्व, मालवी का मानक रूप किस स्थान की मालवी को माना जाय, यह स्पष्ट करना है। यद्यपि डॉ. श्याम परमार ने उज्जैन की मालवी को ही आदर्श माना है और इसके पक्ष में उन्होंने उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ईसाइयों द्वारा बाइबिल के प्रचारार्थ मालवी रूप में '*उज्जैनी*' को उपयुक्त समझने की बात कही है।[29] डॉ. चिंतामणि उपाध्याय ने शुद्ध मालवी की दृष्टि से उज्जैन, इन्दौर और देवास जिलों की मालवी को ही स्वीकार करने का

---

17. मालवी मेला (दि. 8-9 जून 71) रतलाम में निबंध वाचन के सन्दर्भ में
18. मालवी मेला (दि. 8-9 जून 71) रतलाम में दिये गये वक्तव्य से
19 लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया - खण्ड 1, भाग 1 पृष्ठ 172
20. दैनिक नवभारत, इन्दौर (17 नवम्बर 54) भाषण के अनुसार
21. डॉ. बंशीधर : मालवी की उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ 62
22. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 25-33
23. डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय : मालवी एक भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ 30
24. डॉ. बंशीधर : मालवी की उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ 63
25. डॉ. कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृष्ठ 24
26. वही, पृष्ठ 23
27. डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : राजस्थानी भाषा, पृष्ठ 10
28. डॉ. बंशीधर : मालवी की उत्पत्ति और विकास, पृष्ठ 30
29. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 29

समर्थन किया है।[30] किन्तु लेखक अपने मालव भ्रमण और पर्यवेक्षण के आधार पर डॉ. उपाध्याय की मान्यता में किंचित संशोधन करते हुए मालवी के मानक रूप के लिये उज्जैन (महिदपुर तहसील तथा तराना के उत्तरी भाग को छोड़कर) इन्दौर, देवास और शाजापुर (आगर तथा सुसनेर तहसील को छोड़कर) जिलों की बोली को ही स्वीकार करने के पक्ष में है।

(अ) लोक साहित्य :

'लोक साहित्य' शब्द 'लोक और साहित्य' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'लोक' शब्द संस्कृत की 'लोक् दर्शने' धातु से 'धञ्' प्रत्यय करने पर निर्मित होता है।[31] इस धातु का अर्थ देखना होता है, जिसका लट् लकार में अन्य पुरुष एकवचन का रूप 'लोकते' है। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के मत से 'लोक' शब्द का अर्थ होगा 'देखने वाला।' इस तरह से वह सम्पूर्ण जन-समुदाय जो कि इस कार्य को करता है, 'लोक' कहलाएगा।[32] लोक शब्द अत्यधिक प्राचीन है। ऋग्वेद, उपनिषद्, पाणिनि के अष्टाध्यायी, भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, महाभारत आदि प्राचीन वाङ्मय में भी लोक शब्द के प्रयोग प्राप्त होते हैं।[33]

इसी प्रकार 'साहित्य' शब्द का अर्थ भी आज अपने प्राचीन अर्थ से भिन्न रूप में ग्रहण किया जाता है। प्राचीन काल में इससे 'काव्य शास्त्र' का बोध होता था, लेकिन आज यह अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द का पर्यायवाची बन गया है।[34] इस कारण से आजकल 'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत उत्तम कोटि की साहित्यिक रचना से लेकर सामान्य-सी लिखी-पढ़ी जाने वाली रचनाओं को सम्मिलित कर लिया गया है और इसीलिये मनुष्य की समस्त सार्थक अभिव्यक्ति को, जो कि लिखित या मौखिक रूप में हो तथा व्यावसायिक नहीं हो, को लोक-साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।[35]

अत: लोक-साहित्य शब्द की परिभाषा के लिए डॉ. सत्येन्द्र की विवेचना ही समीचीन मानी जाना चाहिए-

''लोक साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषा अभिव्यक्ति आती है, जिसमें-

(अ) आदिम मानव के अवशेष उपलब्ध हों,

(आ) परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समाई हुई हो।

(इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोक-मानस के सामान्य तत्त्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बन्ध रहते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।[36]

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर लोक-साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक और विशाल हो जाता है। लेकिन इसी सन्दर्भ में निम्नलिखित मतों पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा-

(अ) 'लोक' शब्द का अर्थ 'जानपद' या ग्राम्य नहीं बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।[37]

---

30. डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय : मालवी - एक भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ 52
31. सिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ 417
32. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 10
33. वही, पृष्ठ 10-12
34. डॉ. सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, पृष्ठ 3
35. वही, पृष्ठ 3
36. वही, पृष्ठ 3-4
37. 'जनपद' - डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी वर्ष 1, अंक 1, पृष्ठ 65

(आ) वस्तुतः यह लोक समाज के सभ्य, शिक्षित एवं सुसंस्कृत कहे जाने वाले लोक से सर्वथा भिन्न सभ्यता की चकाचौंध, बाह्य आडम्बर एवं उपचारों से अनभिज्ञ अपने रूढ़गत अर्थ में पूर्णतया सभ्य, शिक्षित एवं सुसंस्कृत होता है।[38]

(इ) लोक गीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है, जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रवाहों से बाहर या कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं।[39]

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोक-जीवन की घनिष्ठता से परिपूर्ण ऐसा साहित्य जो कि लोक-जीवन को प्रकट करता है, लोक-साहित्य के नाम से अभिहित हो सकता है।

अवन्ती क्षेत्र के लोक साहित्य की परम्परा बहुत पुराने काल से ही चली आ रही है। इसे भारतीय लोक-साहित्य की धारा से जो कि वैदिक काल से ही प्रवाहित होने लगती है तथा उत्तर वैदिक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काल को पार करती हुई निरंतर गतिशील है,[40] सम्बद्ध किये बिना समझा ही नहीं जा सकता। तत्कालीन लोक-भाषाओं में समाविष्ट जीवन के अनुभवों और उत्कृष्ट भावनाओं ने ही लोक-साहित्य का सृजन किया होगा। हाल की 'गाहा सतसई' वाल्मीकीय रामायण, कालिदास के 'रघुवंश' तथा तुलसी के 'रामचरितमानस' में भी लोक गीतों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[41] इससे यह बात तो स्वतः प्रमाणित है कि भारत में, मालवा भी इसका एक मध्यवर्ती भू-भाग है, लोक साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन समय से ही चली आ रही है।

"ज्ञान राशि के संचित कोष ही का नाम साहित्य है।[42] इस मत के अनुसार मानव-जीवन के सार तत्त्व को साहित्य कहा जा सकता है या इस कारण से लोक में व्याप्त जीवन अनुभूति की अभिव्यक्ति ही लोक-साहित्य कही जा सकती है।

इसी कारण से इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। सामान्य जनता की अनुभूति जिन-जिन रूपों में प्रकट होती है, उसी के अनुरूप इसका वर्गीकरण किया जा सकता है। लोक-मानस की प्रवृत्तियों के आधार पर विद्वानों ने इसके भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किये हैं।[43] उनके मतों के आधार पर लोक साहित्य के वर्गीकरण की रूपरेखा कुछ इस प्रकार होना ही उचित है-

1. लोक गीत
2. लोक कथा एवं लोक गाथा
3. लोक-नाट्य
4. विविध लोक साहित्य (मुहावरे, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, तुर्रा-किलंगी आदि)

भारतीय परम्परा के अनुरूप ही मालवा का लोक-साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ के सीधे, सहज, भोले, निश्छल और उदार निवासियों के जीवन-दर्शन का प्रभाव, लोक-साहित्य में बिल्कुल साफ-साफ दिखाई देता है। यही नहीं, मालव भूमि की श्यामल मिट्टी के हरे-भरे समतल खेत, लम्बे-चौड़े सुविस्तृत मैदान, ऊँची-नीची पठारी पहाड़ियाँ, मंथर गति से बहती सरिताओं, छिपा-छई के खेल-से करते नालों, आम्र, इमली, नीम और बड़-पीपल के सघन वृक्षों तथा इठलाते खजूर तरुओं की शोभा से परिपूर्ण मालवा का बांकपन बड़ी सादगी और औदात्य के साथ लोक-साहित्य में प्रकट हुआ है। इसका 'परभोगी[44]-मालवो' रूप मौखिक परम्परा के लोक-साहित्य में फूट-सा पड़ा है।

---

38. डॉ. महेन्द्र भानावत : लोक नाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 2
39. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 12-13
40. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 26-31
41. वही, पृष्ठ 26-31
42. महावीरप्रसाद द्विवेदी : विचार और अनुभूति - 'साहित्य की महत्ता', पृष्ठ 28
43. (अ) डॉ. विद्या चौहान : लोकगीतों की संस्कृत - पृष्ठभूमि, पृष्ठ 49
(आ) डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 61
44. परोपकारी (मालवी शब्द)

मालवा का लोक-साहित्य भी अन्य भाषाओं के लोक-साहित्य की भाँति ही अनेक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। डॉ. श्याम परमार ने इसे दो स्थूल भागों में विभाजित किया है- (1) गीत साहित्य (पद्य) और (2) अगीत-साहित्य (गद्य)। उन्होंने गीत भाग के दो प्रमुख भेद-मुक्तक और प्रबन्ध का वर्गीकरण करते हुए, अनेक उपभेदों का भी निरूपण किया है।[45]

इसी आधार पर किंचित परिवर्तन के साथ, मालवी लोक-साहित्य का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार किया जाना अधिक उचित और वैज्ञानिक हो सकता है-

(अ) लोक गीत, (आ) लोक कथा, (इ) लोक नाट्य, (ई) विविध।

लोक गीत :

किसी भी भाषा के लोक गीत उसके प्राण होते हैं, क्योंकि उसमें मानव हृदय के स्पंदनों का सजीव रूप, संगीत के साथ अभिव्यक्त होता है। संगीत एक जादू है, एक शक्ति है, तभी तो भारतीय वाङ्मय में 'नाद' को ब्रह्म की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसकी शक्ति, मधुरता और सम्मोहन से केवल मनुष्य ही नहीं, संसार के अन्य प्राणी भी मुग्ध हो जाते हैं। इसी सम्मोहन-शक्ति ने मनुष्य का मन मोह लिया है और वह स्वभावतः ही संगीत-प्रिय बन गया है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति ने संभवतः गीतों, लोकगीतों को जन्म दिया होगा।

सृष्टि के आरम्भिक युग में तो लोक-गीत नहीं रहे होंगे, लेकिन भाषा की उत्पत्ति के पश्चात्, मनुष्य ने अपने मनोरंजन के लिये उसे पद्य का लययुक्त स्वरूप दिया। इस प्रकार गद्यमय भाषा का जन्म पहले हुआ और इसके पश्चात् पद्य का आविर्भाव हुआ, किन्तु उसकी भाषा का गद्य रूप सुरक्षित न रह सका, पर संगीत के माधुर्य के कारण उसका पद्य एक कंठ से दूसरे कंठ में आता हुआ आज भी जीवित है। यही पद्य हमें आज लोकगीतों के रूप में उपलब्ध है।[46]

लोकगीत प्रायः साहित्यिकता से परिपूर्ण ही होते हैं, फिर भी उनमें और साहित्यिक गीतों में एक अन्तर होता है। साहित्यिक गीतों का निर्माण विशेष रूप से कवि की कल्पना शक्ति के आधार पर होता है, लेकिन लोकगीतों का निर्माण उस सामग्री के आधार पर होता है, जिसे लोककवि प्रत्यक्ष-दर्शन से समझता है।[47] सुप्रसिद्ध विद्वान फिलिप बेरी के मत से लोकगीत 'जातीय पुनर्निर्माण' कहलाते हैं, लेकिन ये किसी जाति द्वारा निर्मित नहीं होते, अपितु किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचे जा कर जाति द्वारा अपना लिये जाते हैं।[48] और इनकी परम्परा मौखिक रूप में प्रवाहित होती रहती है।

संस्कार, समय, परिस्थिति, वय, धर्म, विषय-वस्तु आदि आधार बिन्दुओं पर अनेक विद्वानों ने लोक-गीतों का वर्गीकरण किया है। हमारे मत से मालवी लोकगीतों का विभाजन अग्रलिखित ढंग से होना उचित है-

1. संस्कार गीत
2. ऋतु गीत
3. त्यौहार गीत
4. धार्मिक गीत
5. जीवन की परिस्थितियों से सम्बन्धित गीत
6. बाल गीत
7. कन्याओं के गीत
8. कथा गीत
9. विविध

---

45. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 66-67
46. डॉ. कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृष्ठ 302
47. वही, पृष्ठ 302
48. वही, पृष्ठ 302

उपर्युक्त गीत-विभाजन में कन्याओं के गीतों के अतिरिक्त गीत प्रायः सभी के हैं। इनमें स्त्री या पुरुषों का भेद नहीं है। धार्मिक विषय में ही पंथी-गीतों की प्रवृत्ति पौरुषमयी है। इसके अनन्तर सभी गीतों की प्रवृत्ति स्त्रैण है, क्योंकि वे सभी स्त्रियों से सम्बन्धित हैं।[49]

हिन्दू संस्कृति के अनुसार मनुष्य समाज में सोलह संस्कारों का विधान है और प्रायः इन सभी संस्कारों से सम्बन्धित लोकगीत मालवा में गाये जाते हैं। इन सोलह संस्कारों को मोटे रूप में सोहर, जन्म, उपनयन, विवाह और मृत्यु आदि पाँच भागों में रखा जा सकता है, जिनमें हास्य, करुणा, आनंद, देव-आह्वान, मुहूर्त, बिदा, गाली, दार्शनिकता आदि भावों और विषयों का समावेश रहता है। मृत्यु-गीत जिन्हें डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय 'मसाणिया-गीत' कहते हैं, का प्रभाव क्षण-भंगुरता एवं संसार की असारता का अमिट प्रभाव छोड़ता है।[50]

यहाँ की भूमि प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त सुरम्य है। यहाँ की जलवायु भी समशीतोष्ण है तथा छह ऋतुओं का आनन्द यहाँ प्राप्त होता है। प्राकृतिक परिवर्तन से मनुष्य आनंदित हो उठता है। भीषण गर्मी के बाद वर्षा का और वर्षा की छप-छप के अनन्तर शरद का आगमन मानव हृदय को आन्दोलित कर उठता है। "भारत में प्रकृति-चित्रण की परम्परा बहुत अधिक प्राचीन है।"[51] इसी परम्परा का प्रभाव मालवा के वर्षा गीतों, शरद गीतों में फूट पड़ता है। त्यौहार सदैव से ही मानव-जीवन मे उमंग भरते आए हैं। इनके द्वारा संघर्षों के बीच नई चेतना, नया स्पंदन और नया रस प्राप्त होता है। होली, दीवाली, राखी, गणगौर, तीज आदि त्यौहारों-पर्वों से सम्बन्धित गीतों में हमारी इन्हीं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। वैसे तो सम्पूर्ण भारत ही धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण है, किन्तु मालवा अपनी भौगोलिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित और सुखी रहा है। इसके संस्कार इसे दैवीय कृपा ही मानते हुए, अधिक धर्म भीरू बना देते हैं। भारत की हृदय-स्थली होने के कारण मालवा में प्रायः सभी धर्मों और विचारधाराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है। धार्मिक गीतों में भी प्रायः सभी प्रमुख देवी-देवताओं के साथ इसके कुछ अपने विशिष्ट देवी-देवता भी हैं, जैसे-छींक माता, पाल्या, भेरू आदि। धार्मिक गीतों में इनकी स्तुति और मनौती आदि के साथ ही निर्गुणी धारा के कबीर से प्रभावित गीत भी यहाँ गाये जाते हैं।[52]

यहाँ का जन-जीवन यद्यपि बहुत शान्त और निश्छल है, फिर भी मानवीय निर्बलताओं से जीवन में अनेक उलझनें पैदा हो जाती हैं। माता-पिता की जिम्मेदारी, कन्या का विवाह, विवाहोपरान्त सास-ससुर, नणद-जेठानी का व्यवहार, बंध्यत्व, सौत-समस्या, प्रणय, नणद-भोजाई आदि प्रसंगों की मार्मिकता से भरे हुए लोकगीतों का अपना मार्दव, अपना लोच और अपना आकर्षण है। बालगीतों में बाल-सुलभ कोमलता और सरलता है। इनमें कहीं-कहीं लयबद्धता, कथात्मकता, अर्थहीनता और हास्य-व्यंग्य के छींटे उपलब्ध होते हैं।[53] मालवा की कन्याओं के कुछ अपने गीत हैं, जिनमें उनकी कामनाओं और आनन्दानुभूतियों का चित्रण है। संजा और फूल-पाँती के गीत इसी श्रेणी के हैं। कथा गीतों के अन्तर्गत धार्मिक और ऐतिहासिक या लौकिक कथाओं को गेयता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इनकी विशेषता यही है कि इनमें मानवीय आवेगों की तीव्रता प्रकट होती है।

अन्य लोकगीतों के अंतर्गत लोरी, शिशुगीत, ख्याली, दादरा और सम-सामयिक सन्दर्भों से जुड़ी रचनाओं को सम्मिलित किया जा सकता है। सामाजिक व्यंग्य से सम्बन्धित गीत अथवा आधुनिक फिल्मों से प्रभावित गीतों को इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाना उचित है।

---

49. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 67
50. वीणा (मालवी अंक-पूर्वार्द्ध) - मालवी के मृत्यु गीत- डॉ. चिंतामणि उपाध्याय, पृष्ठ 49-50
51. डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त : साहित्यिक निबंध, पृष्ठ 486
52. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 68
53. वीणा (मालवी अंक-पूर्वार्द्ध) - ले. मालवी लोरिया, शिशुगीत-बालगीत -डॉ. बसंतीलाल बम- पृष्ठ 46

मालवी गीतों के सम्बन्ध में समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि इनमें इस भूमि की सौम्यता, प्राकृतिक सुषमा और हरियाली तथा मनुष्य की शान्त-सन्तोषी और भोली प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। छल, कपट, धूर्तता और रौब-दाब के गर्व से दूर, मालवा की कृषि संस्कृति का वास्तविक जीवन इनमें स्पष्टतः झलकता है, किन्तु इसका आशय यह नहीं कि इनमें समय-वीणा की झंकार को सुनने की सामर्थ्य नहीं है। बीसवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के प्रति भी मालवा के लोकगीत असतर्क नहीं है। डॉ. श्याम परमार के शब्दों में मालवी गीतों का रंग भड़कीला नहीं है। हल्के और सौन्दर्य प्रसाधनात्मक नैसर्गिक रंगों का उल्लेख मालवी गीतों में निखरा है। भावनाओं में सादगी, सरसता तथा रागात्मक तत्त्वों से मालवी गीत परिपूरित हैं। इनमें आदिम प्रवृत्तियों का प्रभाव कम और मध्यकालीन कृषि-सभ्यता का प्रभाव ज्यादा है।[54]

लोक कथाः

भारतीय कथा-साहित्य, रचना-काल की दृष्टि से बहुत प्राचीन है। हमारे अतीत की परम्परा से ही प्राप्त होने वाली आख्यायिकाओं, आख्यानकों, दृष्टांतों, जातक, पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथाओं, किंवदंतियों एवं लोक-कथाओं से भारतीय जन-मानस सदैव मनोरंजन और शिक्षा प्राप्त करता रहा है। देश की हृदय-स्थली होने के कारण मालवा-अंचल भी इसी समृद्धिशाली परम्परा से अभिन्न रूप से सम्पृक्त है।

इस सम्पूर्ण कथा-साहित्य में लोक कथा का अपना विशिष्ट महत्त्व है। सामान्य अर्थ में तो सम्पूर्ण कथा-साहित्य लोक द्वारा निर्मित और लोक के ही निमित्त होने के कारण 'लोक कथा' कहा जा सकता है, तथापि पारिभाषिक रूप में जिसे 'लोक कथा' की संज्ञा प्रदान की गई है, उसकी कुछ अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं। यद्यपि लोक कथाओं में प्रायः नैतिक शिक्षा का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है, किन्तु इसका स्वरूप धार्मिक कथाओं से बिल्कुल अलग होता है। डॉ. कृष्णलाल हंस के शब्दों में "लोक कथा धर्म गाथा और लोक गाथा से सर्वथा भिन्न है। यदि हम कहें कि ऐतिहासिक सत्य धर्म गाथा और लोक गाथा से क्रमशः लुप्त होता हुआ लोक कथा में बिल्कुल लुप्त हो गया, तो हमारा ऐसा कहना अनुचित न होगा। ये जन साधारण में प्रचलित अनैतिहासिक कहानियाँ मात्र हैं, यद्यपि ये कहानियाँ भी उद्देश्यहीन नहीं होती। मनोरंजन उनका प्रधान गुण होता है, पर साथ ही उनसे किसी न किसी प्रकार की शिक्षा भी अवश्य मिलती है।[55] लोक कथा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है, उसका किसी भी अंचल अथवा क्षेत्र विशेष की सभ्यता और संस्कृति का वहीं की भाषा में सांगोपांग वर्णन करने की सामर्थ्य से परिपूर्ण होना। अपनी इसी विशेषता के कारण ही वह लोक कथा कहलाने की अधिकारिणी बनती है। लोक भाषा के माध्यम से सामान्य लोकजीवन में प्रचलित त्रैकालिक विश्वास, आस्था और परम्परा पर आधारित कथाएँ लोक कथा के अन्तर्गत आती हैं।[56]

इन्हीं कारणों से लोक कथा की मार्मिकता गहरी होती है। डॉ. सावित्री सरीन के शब्दों में "लोक-कथा में कथानक एवं भावतत्त्व अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।[57] कथानक की सर्वग्राह्य शक्ति और भाव-तत्त्व की मर्मस्पर्शिता के बल पर लोक-कथा का क्षेत्र, लोक-मानस की गहराई तक पहुँचता है। ये कहीं भी और किसी के द्वारा कभी भी सुनाई जा सकने की क्षमता से परिपूर्ण होती है और इसी कारण इनमें लोक का सम्पूर्ण जीवन तरंगायित होता रहता है। अतः डॉ. उपाध्याय के मत से यह कहा जा सकता है कि "लोक जीवन इन लोक कथाओं द्वारा पूर्ण रूप से अनुस्यूत है।"[58]

---

54. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 68-69
55. डॉ. कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृष्ठ 340
56. विद्या चौहान : लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ 51-52
57. डॉ. सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, (लोककथा के मूलतत्व : विशेषतः अभिप्राय-खण्ड, डॉ. सावित्री सरीन), पृष्ठ 220
58. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 73

अपनी भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थितियों के कारण मालवा में लोककथाओं का विशाल भण्डार है। इनमें यहाँ की सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं नृतत्त्व सम्बन्धी ज्ञान भरा पड़ा है।[59] इन लोककथाओं का अंचल मैदानी होने के कारण, पहाड़ी अथवा मरुस्थलीय क्षेत्रों से इनमें भावगत विभिन्नता के दर्शन भी होते हैं। यहाँ की धरती उर्वरा होने तथा जलवायु की सुखदता के कारण जीवन का संघर्ष मालवा में अधिक नहीं है और इसी कारण यहाँ की लोक कथाओं में कृषि कर्म एवं गोपजीवन की संस्कृति के ही चित्र उपलब्ध होते हैं। इनमें भूत-प्रेतों और परियों के प्रति विश्वास का प्रभाव कम है। मध्यवर्ती भारत के नाथ साधुओं और सिद्धों के प्रभाव को व्यक्त करने वाली कथाएँ उल्लेखनीय हैं।[60] इसके साथ ही आदिवासियों के विश्वासों की झलक और नैतिक मान्यताओं, नीति और अभिप्रायों की दृष्टि से इनमें मध्यकालीन प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।[61]

मालवी लोक कथाएँ कई रूपों और भिन्न-भिन्न विषयों में प्राप्त होती हैं। इनके वर्गीकरण के लिए भिन्न-भिन्न आधारों पर अनेक वर्ग बनाये जा सकते हैं। विद्वानों ने लोक कथाओं के वर्गीकरण के लिए विषय-वस्तु और शैली को ही मुख्य रूप से आधार बनाया है और इनमें विषय की दृष्टि से विभाजन करना अधिक सुगम एवं सरल होने के कारण सर्वाधिक प्रचलित है। अतः इसी आधार पर मालवी लोक-कथाएँ निम्नलिखित वर्गों में रखी जा सकती हैं-

1. धार्मिक लोक कथाएँ
2. सामाजिक लोक कथाएँ
3. पशु-पक्षी सम्बन्धी लोक कथाएँ
4. चमत्कारिक लोक कथाएँ
5. मनोरंजक लोक कथाएँ
6. साधु-फकीरों की लोक कथाएँ
7. वीरता सम्बन्धी लोक कथाएँ
8. बाल लोक कथाएँ
9. कहावत सम्बन्धी लोक कथाएँ
10. नीति सम्बन्धी लोक कथाएँ
11. विविध लोक कथाएँ

भारतीय प्रदेशों की प्रत्येक लोकभाषाओं के लोक साहित्य में धार्मिक कथाएँ प्राप्त होती हैं। मालवा में इनमें पुरुषों और स्त्रियों की अलग-अलग और सम्मिलित कथाएँ भी होती हैं। स्त्रियों की धार्मिक कथाएँ 'वार्ता' कहलाती हैं तथा वे किसी व्रत, अनुष्ठान या लोक देवता से सम्बन्धित होती हैं। सामाजिक कथाओं में क्षेत्र विशेष के जीवन का सजीव चित्रण होता है। यहाँ की लोक कथाओं में भी मालवी सभ्यता और संस्कृति की निश्छलता के दर्शन होते हैं। पशु-पक्षी सदैव से ही मानव को प्रिय रहे हैं। संसार के प्रत्येक भाग में इनसे सम्बन्धित कथाएँ पाई जाती हैं। यहाँ की कथाओं में भी इनके प्रति आत्मीय भाव झलकता है। मालवा में प्रचलित चमत्कारिक कथाओं में जादू आदि अलौकिक चमत्कारों के प्रभाव से आनन्द की सृष्टि करते हुए, भाग्यवाद की महिमा का वर्णन किया गया है। शुद्ध रूप से आनन्द प्रदायक कथाएँ मनोरंजक वर्ग में आती हैं। यहाँ उनका भी अभाव नहीं है। अपनी भौगोलिक सुरक्षा के कारण मालवा में सदैव से सभी धर्मों और सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ता रहा है तथा मध्ययुगीन सिद्धों और साधुओं के अति सम्पर्क के कारण यहाँ अनेक लोक कथाओं की सृष्टि हो गई है। इनमें सन्तों, साधुओं, फकीरों के प्रति सम्मान भावना पाई जाती है। मनुष्य प्रवृत्ति सदैव से वीर पूजक रही है- विशेषतः भारतीय संस्कृति में तो वीर पूजा की प्रधानता ही है। वीर के भी दानवीर, धर्मवीर आदि रूपों के प्रति भारतीय जन-मानस सदैव शीश झुकाता रहा है। मालवी

59. वीणा (मालवी अंक-पूर्वार्द्ध) लेख-मालवा की लोक-कथाएँ- प्रहलादचन्द्र जोशी -पृष्ठ 8
60. वही - पृष्ठ 8
61. डॉ. श्याम परमार : मालवी लोक साहित्य, पृष्ठ 460

लोक कथाओं में भी यही भाव दृष्टिगोचर होते हैं। बाल लोक कथाओं में लयात्मकता, पद्यात्मकता और संक्षिप्तता के गुण होते हैं। यहाँ की बाल कथाएँ इन गुणों से युक्त हैं। इनमें कहावत सम्बन्धी मालवी लोक कथाओं की अपनी मौलिकता है, जिनमें किसी कहावत अथवा लोकोक्ति के निर्माण से सम्बन्धित सटीक कथाएँ प्रचलित हैं तथा नीति सम्बन्धी कथाओं में किसी दृष्टान्त विशेष के माध्यम से अनुभवजन्य निचोड़ जीवन-पथ का पाथेय बनने की क्षमता से परिपूर्ण होता है।

इनके अतिरिक्त विषयों से सम्बन्धित लोककथाओं को विविध के अन्तर्गत रखा जा सकता है। समाज की यौन सम्बन्धी लोक कथाएँ, जो कि पुरुषों और स्त्रियों द्वारा प्राय: समवयस्क और निकटवर्ती मित्रों और सखियों से कही जाती हैं तथा साहित्य के 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्' स्वरूप के कारण प्रकाश में नहीं आ सकती, का समावेश भी इसी वर्गीकरण में किया जा सकता है।

शैली की दृष्टि से मालवी लोक कथाओं में कुछ अंश गेय भी है। इन्हें गेय लोक कथा या लोक गाथा कहा जा सकता है। इनमें संगीत और पद्यात्मकता के साथ ही वर्णन की प्रधानता होती है। इनमें कुछ गेय कथाएँ तो लम्बी भी हैं। विषय की दृष्टि से इनको भी प्रेम, वीरता, नीति, मनोरंजन की श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, लेकिन गद्यात्मक लोक कथाओं की तुलना में इनकी संख्या कम ही है।

मालवी लोक कथाओं का विपुल भण्डार भरा हुआ है, किन्तु इस विषय में अभी अनुसंधान का व्यापक क्षेत्र खुला हुआ है।[62] फिर भी जितनी भी लोक कथाएँ प्रचलित और प्रकाश में आ पाई हैं, उनके आधार पर इनकी कुछ अपनी विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं।

इनमें मानवीय प्रवृत्तियों का स्वाभाविक चित्रण, परोपकार का महत्त्व, उत्तम कार्य का उत्तम और बुरे कार्य का बुरा परिणाम, प्राणीमात्र की कल्याण-कामना, अलौकिक चमत्कारों से पूर्ण घटना, मनुष्यों और मनुष्येतर प्राणियों के सम्बन्ध और जीवन के अनुभवों का निचोड़ प्राप्त होता है। इनकी महती विशेषता यह है कि प्राय: सभी लोक कथाओं का अन्त सुखकर है। इस प्रकार भारतीय सुखांत परम्परा का मालवी लोक कथाओं में पूर्णत: प्रतिपालन होता है। यौन-कथाओं के अतिरिक्त प्राय: समस्त लोक कथाएँ, प्रेम-प्रसंगों के होते हुए भी, अश्लीलता से मुक्त हैं।

लोक-नाट्य :

मालवी के लोक-साहित्य में लोक नाट्य की परम्परा भी पुरातन काल से चली आ रही है। नाटकों के प्रादुर्भाव के प्रमाण तो वैदिक युग से ही प्राप्त होते हैं। नाटक तो पंचम वेद ही माना गया है।[63] 'लोक-नाट्य' शब्द 'लोक' और 'नाट्य' दो शब्दों के सम्मिश्रण से निर्मित हुआ है। 'लोक' शब्द का विवेचन तो पूर्व में ही किया जा चुका है तथा 'नाट्य' एक पुरुष वाचक शब्द है। कोष के अनुसार इसका अर्थ नृत्य, नाटकादि का अभिनय, नृत्यकला, अभिनयकला, अभिनेता की वेशभूषा तथा अभिनेता का द्योतक है।[64] अत: यह कहा जा सकता है कि 'नाट्य' शब्द में नृत्य, वेशभूषा एवं अभिनय तथा तत्सम्बन्धित का समावेश होता है।

इसी प्रकार 'लोक नाट्य' शब्द भी लोक की नाट्य-प्रवृत्तियों का द्योतक है। डॉ. परमार के शब्दों में 'लोक नाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है जिसका सम्बन्ध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्व-साधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जन-समुदाय के मनोरंजन का साधन हो।[65] लगभग इसी का समानान्तर मत डॉ. महेन्द्र भानावत का है। वे कहते हैं, "लोकधर्मी रूढ़ियों की अनुकरणात्मक अभिव्यक्तियों का वह नाट्य रूप, जो अपने-अपने क्षेत्र के लोक-मानस को आह्लादित, उल्लासित एवं अनुप्राणित करता है, लोक नाट्य कहलाता है।[66]

---

62. वीणा (मालवी अंक - पूर्वार्द्ध) लेख - मालवा की लोक कथाएँ - प्रहलादचन्द्र जोशी- पृष्ठ 9
63. नाट्य शास्त्र - भरत मुनि - 1/17-18
64. वृहत् हिन्दी कोष - पृष्ठ 699
65. डॉ. श्याम परमार : लोकधर्मी नाट्य परम्परा, पृष्ठ 30-31
66. डॉ. महेन्द्र भानावत : लोक नाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 3

इसका क्षेत्र देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में प्राप्त होता है। "कुछ केवल किसी जाति विशेष की धरोहर होते हैं, तो कुछ किसी समूह विशेष तक प्रचारित हुए होते हैं। कुछ गाँव की पूरी बस्ती की सम्पदा होते हैं तो कुछ उसके आस-पास के क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं। कुछ जिलों में फैले हुए होते हैं, तो कुछ प्रान्तव्यापी प्रभाव दर्शाते हैं।"[67] इतना होते हुए भी इनका प्रभाव क्षेत्रीय ही होता है। कभी भी ये राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि इनका संगठन मुख्यतः स्थानीय रंगत को व्यक्त करता है।

यद्यपि आज के आधुनिक युग में विज्ञान ने मनोरंजन के अनेक साधन उपलब्ध कर दिये हैं, तथापि ग्रामीण क्षेत्रों में इनका महत्त्व यथावत् बना हुआ है। ये किसी क्षेत्र विशेष की जनता के क्लेशों का निवारण कर, उनके जीवन में नई उमंगों की चेतना भरते हैं। डॉ. विद्या चौहान के मत से, "लोक नाट्य सार्वजनिक मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन होता है। दिन भर की परिश्रमजन्य क्लांति, चिन्ताओं और अवसाद का परिहार मनुष्य इस प्रकार के मनोरंजनों में पाता है। प्रत्येक देश का लोक-जीवन लोक-नाटकों की झंकार से गुंजित है।"[68] यही कारण है कि ग्राम्यजन लोक नाट्यों को देखकर इतनें अधिक प्रसन्न हो जाते हैं कि उनकी इस प्रसन्नता की तुलना अन्य किसी बात से करना संभव नहीं है।[69]

लोकनाट्यों की इस लोकप्रियता और महत्त्व का कारण है उसकी कथावस्तु का लोक सम्पृक्त स्वरूप और संगीतात्मकता। गीत, संगीत और नृत्य रूपी तीन रसधाराओं से युक्त लोकनाट्य सचमुच ही अनुपम और हृदय को आन्दोलित कर देने की क्षमता से परिपूर्ण होते हैं।

प्राचीन काल में तो मालवा नाट्य क्षेत्र में अग्रणी था, इस सम्बन्ध में अनेक विवरण भी प्राप्त हैं, किन्तु मुस्लिम आक्रमणों और मराठों की उथल-पुथल के समय पुरानी परम्पराएँ लुप्त हो गईं। आधुनिक युग में यहाँ लोक नाट्य के रूप में केवल 'माच' प्रतिष्ठित है।

गुजरात का 'गरबा', महाराष्ट्र का 'तमाशा', बंगाल की 'जात्रा', उत्तर प्रदेश की 'नौटंकी' अथवा राजस्थान के 'गवरी' लोक नाट्य के समान ही 'माच' मालवा का प्रतिनिधित्व करता है। 'माच' शब्द 'मंच' से निर्मित हुआ है। वैयाकरणों के मत से यह मंच शब्द का विकृत और भाषा वैज्ञानिकों के मत से विकसित रूप है। डॉ. परमार के अनुसार 'माच', 'मंच' शब्द का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मंच बाँधने और उस पर अभिनीत किये जाने वाले ख्यालों (खेलों) के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[70] इसी के अनुरूप डॉ. महेन्द्र भानावत के शब्दों में, "यह मंच का अपभ्रंश है, जो एक विशेष प्रकार के मंच एवं उस पर अभिनीत होने वाले खेल के अर्थ में रूढ़ बनकर 'माच' कहलाया।"[71]

माच की परम्परा मालवा के ग्रामों में ही नहीं, राजस्थान तक पाई जाती है, किन्तु इसका जन्म यहीं हुआ है। माच के प्रथम प्रवर्त्तक उज्जैन के भागसीपुरा के निवासी गोपाल गुरु है। उनका जन्म संवत् 1830 में हुआ था। वे राजस्थानी और मालवी लोक संस्कृतियों के ज्ञाता थे। उन्होंने उस समय प्रचलित लोकनाट्य शैलियों का समन्वय कर 20 वर्ष की आयु में ही माच खेलना आरंभ किया। उनके रचे खेलों में 'गोपीचंद', 'प्रहलाद चरित्र' और 'हीर-रांझा' बहुत लोकप्रिय हुए। उनकी मृत्यु संवत् 1899 में हुई। उनके बाद उनकी मंडली के रामचन्द्र गुरु ने दो खेलों की रचना की।[72]

लेकिन माच के उन्नयन का निर्विरोध श्रेय उज्जैन निवासी गुरु बालमुकुंदजी को ही प्रदान किया जाता है। ये उज्जैन के जयसिंहपुरा मोहल्ले में निवास करते थे। उनका जन्म संवत 1865 को उज्जैन

67. वही - पृष्ठ 3
68. डॉ. विद्या चौहान : लोकगीतों की परम्परा, पृष्ठ 54
69. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य की भूमिका पृष्ठ 74
70. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य पृष्ठ 38
71. डॉ. महेन्द्र भानावत : लोक नाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ २२६
72. डॉ. शिवकुमार मधुर : मध्यप्रदेश का लोकनाट्य माच, पृष्ठ 58

के जयसिंहपुरे में हुआ। संवत 1920 तक वे प्रसिद्धि पा चुके थे। उन्होंने 16 माच के खेल रचे थे। उनमें से 10 प्रकाशित हुए हैं। लोक प्रचलित मान्यता के अनुसार वे उज्जैन के ही भागसीपुरा नामक स्थान पर होने वाले 'खेल' देखने जाया करते थे। इससे उनके लोक नाट्य प्रेम और रुचि का ज्ञान होता है। एक दिन कुछ कार्यकर्त्ताओं द्वारा अपमानित होने पर, उन्होंने बटुक भैरव की इष्ट साधना की तथा प्रभु कृपा से माच लिखना आरंभ किया[74] तथा जयसिंहपुरे में ही 'माच' के आयोजनों की शृंखला आरंभ की।

यह काल रीतिकालीन व्यवस्था के कारण सामाजिक दृष्टि से पतनोन्मुखी था। सामान्य जनता वैचारिक चिन्तन से प्रायः दूर ही थी। अतः धार्मिक और शृंगारिक प्रवृत्तियों से युक्त रचनाएँ प्रिय लगना, उस समय की स्वाभाविकता थी। गुरु बालमुकुंदजी के माचों (खेलों) की विषय-वस्तु में इन्हीं तत्त्वों का समावेश होने से, उन्हें अपार लोकप्रियता मिली। उनके जीवन-काल में ही 'माचों' का व्यापक प्रचार हुआ तथा समकालीन सिंधिया और होलकर नरेशों ने उन्हें सम्मानित भी किया।[75] वे स्वयं अच्छे अभिनेता थे और अपने खेलों में अभिनय भी करते थे। संवत् 1932 में, माच खेलते समय ही उनकी मृत्यु हो गई। मृत्युपरांत उनका अन्तिम प्रयाण और अग्नि संस्कार माच के गायन के साथ ही सम्पन्न होने से उनकी लोकप्रियता का बोध होता है।[76]

गुरु बालमुकुंदजी के पश्चात् 'माच' की कुछ और परम्पराएँ उज्जैन से चलीं। इनमें एक परम्परा के प्रवर्त्तक उस्ताद कालूरामजी थे। इन्होंने दौलतगंज को अपना आयोजन-स्थल चुना। इनके लिखे हुए माचों की संख्या 20 हैं। कालूराम उस्ताद की एक महती उपलब्धि यह है कि उन्होंने पहली बार बाबाजन नामक एक नारी को माच के अभिनय के लिये तैयार कर लिया। बाबाजन एक सुन्दर गायिका थी। वह अपनी सुस्पष्ट, ऊँची और मधुर आवाज के लिये प्रख्यात रही है।[77] इसके पूर्व मंच पर स्त्री पात्रों का आना वर्जित था और पुरुष ही स्त्री पात्रों की भूमिका निभाया करते थे। बाद में इन दोनों अखाड़ों (दलों) में प्रतिस्पर्द्धा इतनी चली कि वे वैयक्तिक आलोचना-प्रत्यालोचना पर उतर आये।[78]

उज्जैन के बेगमपुरे के गुरु रामकिशनजी ने 8 खेलों की रचना की। उनका जन्म संवत् 1890 में और निधन संवत् 1946 में हुआ। उज्जैन के नयापुरा के निवासी गुरु भैरवलाल ने भी माच के 10 खेल रचे। उनका जन्म संवत् 1899 में हुआ था।

इसके बाद की परम्परा उज्जैन के मालीपुरे की है। इसके प्रवर्त्तक गुरु राधाकिशनजी थे। इन्होंने 6 माच रचे हैं।[79] यद्यपि इनकी ख्याति उपर्युक्त दोनों उस्तादों से कम ही रही, लेकिन इनकी परम्परा में सिद्धेश्वर सेन ने अपनी विशिष्टताओं के कारण बहुत ख्याति अर्जित की है।

इनके अतिरिक्त भी माच परम्परा में मालवा के अनेक स्थानों पर माच लिखे और खेले गये हैं। इनमें नीमच के रामजीलाल बंधु, मुड़वे के रामरतन दरक और उज्जैन के गुर्जर गौड़ों के सामूहिक प्रयास उल्लेखनीय है।[80] और गुरु शिवजीराम बड़नगर के श्यामदास चक्रधारी, ग्राम मगरोला के चुन्नीलाल गुरु तथा उज्जैन के फकीरचंद गुरु द्वारा रचित माच के खेलों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

---

73. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 41
74. वही, पृष्ठ 39
75. वही, पृष्ठ 42
76. वही, पृष्ठ 43
77. वही, पृष्ठ 44
78. वही, पृष्ठ 44
79. वही, पृष्ठ 45
80. वही, पृष्ठ 45

उपर्युक्त सभी माच परम्पराओं में विषय-वस्तु और शैली की दृष्टि से प्रायः समानता है। पौराणिक और धार्मिक गाथाओं तथा लोक प्रचलित मनोरंजक कथाओं के आधार पर श्रृंगारिकता के पुट से युक्त इन रचनाओं में शिल्प आदि की एक ही टेकनीक है। प्रायः सभी 'माच' के खेलों में भिश्ती का आगमन, फर्रासन का कार्य, भैरव की स्तुति आदि बातें पाई जाती हैं।[81] सभी खेलों में एक विदूषक की अवतारणा होती है, जो कि नायक का साथी ही होता है। गुरु बालमुकुंदजी ने इसे शेरमार खाँ और कालूराम उस्ताद ने बेढब नाम से प्रस्तुत किया है।[82]

शिल्प की दृष्टि से 'माच' रंगमंचीय आडम्बरों की अवहेलना करता-सा प्रतीत होता है। किसी भी खुले मंच, तखत या ऊँचे स्थल पर इसे खेला जा सकता है। लेकिन माच के अभिनेता लकड़ी के तख्तों पर अभिनय करना पसंद करते हैं, इससे उन्हें नृत्य अभिनयादि की थापों में सहायता मिलती है।[83] पहले तो स्त्रियों का अभिनय भी पुरुष ही करते थे, लेकिन अब स्त्रियाँ भी माच में अभिनय करने लगी हैं। पुराने समय में तो पात्रों के वस्त्रादि पर ध्यान नहीं दिया जाता था, लेकिन अब उन्हें भी स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा है।

माच का सबसे मुख्य तत्त्व है, उसका संगीत। इसमें ढोलक बजाने की एक विशिष्ट शैली है और अपनी इसी विशिष्टता के कारण माच लोकप्रिय हुआ है। इसके संवाद जिन्हें 'बोल' कहा जाता है, प्रायः कम ही होते हैं तथा अधिकता गीतों की होती है। माच के गीत लोक-धुनों के आधार पर लिखे जाने के कारण मधुर होते हैं। इसमें गेय मौलिक संगीत के साथ-साथ ही लोकधुनों का माधुर्य भी प्रमुख रूप से निहित है। माच की अपनी एक और विशेषता है कि इसमें प्रत्येक पात्र, चाहे वह राजा हो, रानी अथवा सामान्य व्यक्ति हो, अपने संवादों को बोलते अथवा गाते समय अभिनय के साथ ही नाचता भी है। इस दृष्टि से हमारे मतानुसार इसे गीति-नृत्य-नाट्य नाम से पुकारा जाना ही समीचीन लगता है।

आधुनिक युग में बड़ी तीव्रता से संसार में परिवर्तन हो रहे हैं। इसका प्रभाव माच पर भी पड़ा है। पुरानी परम्परा से चले आ रहे माच के खेलों में नवीन पृष्ठ जुड़ गये हैं और इसका श्रेय है उज्जैन के लोकनाट्यकार श्री सिद्धेश्वर सेन को। जैसा कि पूर्व में ही कहा जा चुका है कि श्री सेन राधाकिशन गुरु की परम्परा के माचकार थे। इन्होंने पुरातन परिपाटी का पालन करते हुए, माच के खेलों में नवीन प्रयोग भी कर डाले हैं। इस दृष्टि से इनके माच के खेलों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- पुरातन परिपाटी के माच और नवीन परिपाटी के माच। इन्होंने अनेक माच के खेल रचे हैं। इनमें से 16 खेल तो पुरातन परिपाटी और 9 खेल नई परिपाटी के हैं। पारम्परिक खेलों की कथावस्तु का आधार, पूर्ववर्ती माचकारों की तरह पौराणिक आख्यान, ऐतिहासिक कहानी या लोक प्रचलित कथाओं पर आधारित है। शिल्प की दृष्टि से भी इनमें कोई नवीनता नहीं है लेकिन नये माच नवीनता लिए हुए हैं।

सन् 1956 के पश्चात् रचे गये कुछ खेलों में सेनजी के नये प्रयोग स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इनमें कथावस्तु पूर्वोक्त आधारों के स्थान पर आधुनिक युग की समस्याओं के सन्दर्भ में ली गई है। पात्रों के चरित्र भी अधिक स्वाभाविक हैं तथा उनके चरित्र का विकास भी मनोवैज्ञानिक पद्धति से होता है। संवादों में भी पैनापन, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता और पद्यों की न्यूनता से माच में प्रभावोत्पादकता बढ़ी है। अभिनय की दृष्टि से भी इसके चारों अंगों का कुछ निर्वहन होने लगा है तथा सबसे बड़ी बात है खेल का उद्देश्यपूर्ण होना।

---

81. डॉ. महेन्द्र भानावत : लोकनाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 227
82. लोकनाट्यकार श्री सिद्धेश्वर सेन से वैयक्तिक चर्चा (दि. 1-11-73) के सन्दर्भ में
83. लोकनाट्यकार श्री सिद्धेश्वर सेन से वैयक्तिक चर्चा (दि. 1-11-73) के सन्दर्भ में

इसके साथ ही उन्होंने 'माच' से अश्लीलता को निकालकर, जिसके कारण पहले स्त्रियाँ माच देखने या सुनने नहीं जाती थी, एक बहुत बड़ा काम किया है और इसी कारण 'माच' मालवा की क्षेत्रीय रंगभूमि से थिरकता हुआ दिल्ली तक अपने ढोलक की थाप, 'बोल' की ढब और गीतों की स्वर-लहरी गूंजा आया है। सिद्धेश्वर सेन के कारण 'माच' को देशभर में प्रसिद्धि मिली है। इन्हें अनेक राज्य स्तरीय और राष्ट्रीय सम्मान भी प्राप्त हुए हैं। श्री सेन का निधन सन् 2002 में उज्जैन में ही हुआ।

सिद्धेश्वर सेन के द्वारा रचित धरती को दान, पनिहारी, रण को टीको, ऊगतो सूरज, मेहनत को मोती, भगवान की देन[84] आदि माचों में देश की समसामयिक समस्याओं के समाधान का रुख तो है ही साथ ही इनका तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार महत्त्व भी है, किन्तु इनमें आने वाली नारेबाजी, माच को लोक की हृदय भूमि से दूर कर सकती है, अतः लोक नाट्य के स्वरूप की रक्षा के लिए, इस प्रवृत्ति से बचना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

माच के अतिरिक्त मालवा में गरबा, नौटंकी, समय्या, रामलीला, रासलीला आदि लोकनाट्य भी थोड़ी बहुत मात्रा में प्रचलित हैं, किन्तु इनकी भावभूमि लोक-मानस की भावनाओं से सम्पृक्त होते हुए भी, इस क्षेत्र की लोक-परम्परा के अनुकूल नहीं है। अतः इन्हें मालव भूमि की लोक नाट्य परम्परा के अन्तर्गत समाविष्ट करना समीचीन नहीं लगता है।

विविध लोक-साहित्य :

इसके अन्तर्गत स्फुट साहित्य का समावेश किया जा सकता है। अतः मुहावरे, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ तथा तुर्रा-किलंगी जैसे प्रकीर्ण साहित्य को इसी वर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है।

मुहावरे :

यद्यपि 'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है, तथापि हिन्दी में भी यही शब्द प्रचलित है। हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इसे शब्द की 'लक्षणा' शक्ति के अन्तर्गत स्वीकार किया है, किन्तु 'हिन्दी शब्द सागर' के अनुसार लक्षणा का व्यंजना द्वारा सिद्ध प्रयोग ही मुहावरा कहा जा सकता है।[85]

मुहावरे बोलियों की देन हैं, भाषाओं की नहीं तथा इनका प्रयोग ग्रामों से आरम्भ होकर साहित्यिक भाषाओं में प्रवेश करता है। इनमें जीवन के अनुभवों का निचोड़ है तथा अनुभव की सुदृढ़ आधारशिला के कारण ही प्रायः सभी भाषाओं-बोलियों में इनकी समानता पाई जाती है।[86]

मालवी लोक-साहित्य के अन्तर्गत मुहावरे भी विपुल परिमाण में उपलब्ध हैं, किन्तु इस विषय में अभी व्यापक अनुसंधान कार्य शेष है। लेखक ने अपने भ्रमण और अध्ययन के दौरान अनेक मुहावरों का संग्रहण करते हुए, इसकी विशालता, व्यापकता, विविधता और मार्मिकता को हृदयंगम किया है। इसी सन्दर्भ में मालवी मुहावरों का वर्गीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है-

1. मालवा के मौलिक मुहावरे,
2. अनूदित मुहावरे-

(अ) भारतीय भाषाओं से अनूदित मुहावरे,

(आ) विदेशी भाषाओं से अनूदित मुहावरे,

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त इन्हें जीवन की विविध स्थितियों से सम्बन्धित करते हुए अथवा शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के आधार पर और भी वर्गीकृत किया जा सकता है। मालवी मुहावरों की एकमात्र विशेषता यही है कि इनमें प्रायः अश्लीलता का अभाव है।

---

84. श्री सिद्धेश्वर सेन से भेंट (दि. 1-11-73) के आधार पर
85. डॉ. कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृष्ठ 381
86. वही, पृष्ठ 382

लोकोक्तियाँ :

'लोकोक्ति' शब्द का अर्थ होता है लोक की उक्ति अथवा लोक द्वारा कही हुई बात, किन्तु इस शब्द का अपना पारिभाषिक अर्थ है। लोकोक्ति को कहावत भी कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं और उनके मतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीवन के अनुभवों से प्राप्त कोई तथ्यात्मक बात, जिसे लोक स्वीकार कर ले, लोकोक्ति है।[87]

लोकोक्ति या कहावतों में बड़ी से बड़ी बात संक्षिप्त शब्दावली में सिमटी रहती है। इसी कारण से संक्षिप्तता, सारगर्भिता और वाग्वैदग्ध्य उसकी अनिवार्य विशेषताएँ हैं।

मालवा क्षेत्र ने सदियों से जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। अपनी उर्वर-भूमि की महत्ता और विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण इस क्षेत्र में अनेक उथल-पुथल होती रही है। इन सबके समष्टिगत प्रभाव से यहाँ का लोकोक्ति साहित्य अत्यन्त समृद्ध हुआ है।

मालवा के लोकोक्ति साहित्य को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है-

(अ) भारतीय भाषाओं के साहित्य पर आधारित लोकोक्तियाँ
(आ) भारतीय भाषाओं से अनूदित लोकोक्तियाँ
(इ) हिन्दी की बोलियों की समानांतर लोकोक्तियाँ

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त मालवी लोकोक्तियों को स्वरूप की दृष्टि से तुलनात्मक आधार पर तथा विषय-वस्तु की दृष्टि से धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, कृषि जीवन से सम्बन्धित तथा नीतिपरक आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

इनमें सार्वभौमिक सत्य बड़ी विलक्षणता के साथ प्रकट हुआ है और इसका कारण है मालवी भाषा का समृद्ध स्वरूप, इसकी गंभीरता और भाव-प्रकाशन की पूर्ण क्षमता।[88]

प्रहेलिकाएँ :

प्रहेलिकाएँ लोक साहित्य का एक विशिष्ट अंग हैं, क्योंकि लोक-मनोरंजन का यह प्रमुख साधन है। इसे प्रहेलिका, पहेलियाँ अथवा बुझौवल कहा जाता है।[89] डॉ. हंस प्रहेलिकाओं को हास्यपूर्ण मानते हुए, इसे बालक-बालिकाओं के मनोरंजन का साधन मानते हैं,[90] किन्तु प्रहेलिकाएँ मात्र बच्चों के लिये ही नहीं अपितु स्त्री-पुरुषों के लिये भी समान रूप से मनोरंजन का साधन हैं। मालवा में तो 'पारसी' जो कि पहेलियों का ही एक दूसरा नाम है-पूछने की एक परम्परा-सी ही है। ब्याई-समधी को एक-दूसरे के घर जाने पर महिलाओं द्वारा अपने मेहमानों से पहेलियाँ पूछी जाती हैं तथा पुरुष भी बड़े उत्साहपूर्वक उसमें भाग लेते हुए प्रत्युत्तर देते हैं।[91]

प्रहेलिकाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारत में अति प्राचीन काल से ही प्रमाण उपलब्ध होते हैं तथा ये प्राय: सभी भारतीय भाषाओं और बोलियों में उपलब्ध हैं।[92]

मालवी प्रहेलिकाओं को मुख्य रूप से बालकों और वयस्कों अथवा प्रौढ़ों के वर्ग में विभाजित किया जा सकता है।

---

87. डॉ. श्याम परमार : मालवी लोक साहित्य, पृष्ठ 350
88. वीणा (मालवी अंक-पूर्वार्द्ध)- मालवी कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन- श्रीचंद जैन- पृ. 35
89. डॉ. कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य पृष्ठ 391
90. डॉ. कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृष्ठ 391
91. वीणा (मालवी अंक पूर्वार्द्ध) - मालवी प्रहेलिका साहित्य - रूपलाल चौहान ग्रामीक पृ. 41
92. डॉ. कृष्णलाल हंस : निमाड़ी और उसका साहित्य, पृष्ठ - 392

जहाँ तक इनकी विशेषता का प्रश्न है, मालवी प्रहेलिकाएँ भाषा की दृष्टि से समर्थ, अनुभव प्रधान, बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण, व्यंजक तथा प्राय: पद्यात्मक होती हैं।

तुर्रा-किलंगी :

मालवा के लोक साहित्य के अन्तर्गत तुर्रा-किलंगी साहित्य का भी विशिष्ट स्थान है। यद्यपि इसकी परम्परा राजस्थान और उत्तर प्रदेश तक पाई जाती है और उद्गम स्रोत भी राजस्थान ही है,[93] किन्तु इसका प्रभाव जितना मालवा और निमाड़ में है, उतना राजस्थान में नहीं है। इसके पीछे पुरातन ऐतिहासिक सन्दर्भों और राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी हो सकता है तथा इन क्षेत्रों की सांस्कृतिक एकता की सौजन्यता का मधुर परिणाम भी इसके प्रभाव-वर्धन में सहायक हुआ है।

तुर्रा-किलंगी साहित्य का प्रादुर्भाव गुंसाई तुखनगिरि और फकीर शाहअली नामक महात्माओं की आध्यात्मिक स्पर्धा से मानना चाहिए। इनमें तुखनगिरि शिव (ब्रह्म) और शाहअली शक्ति (माया) के उपासक थे। इनका काल 17वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।[94] शास्त्रार्थ करते हुए उनकी हठ ने विवाद का रूप ले लिया और तत्कालीन शासक के सम्मुख दोनों अपने-अपने ज्ञान और कला का संगीतमय प्रदर्शन करते रहे। अन्त में राजा ने दोनों को सम्मानित करते हुए तुखनगिरि को 'तुर्रा' और शाहअली को 'किलंगी' भेंट स्वरूप प्रदान की। कालान्तर में इन दोनों सन्तों ने अनुयायियों के साथ अपने-अपने दलों का निर्माण कर लिया।[95]

इसमें दोनों पक्ष आमने-सामने बैठकर दंगल (बैठक) करते हुए, गीतों में ही शास्त्रार्थ करते जाते हैं। इसे 'लखणी' या 'लावणी बाजी' भी कहा जाता है। यहाँ 'लावणी' शब्द का गायन पद्धति से भी अर्थ लिया जाता है। इसमें अनेक प्रकार के छन्द-प्रयोग प्राप्त होते हैं। संगीत की दृष्टि से भी तुर्रा-किलंगी साहित्य समृद्ध है। बैठक में वाद्य यंत्र के रूप में चंग ही एकमात्र उपकरण होता है।[96]

तुर्रा-किलंगी साहित्य की विषय-वस्तु का आधार पुराण, इतिहास और लोक प्रचलित नैतिक मान्यताएँ हैं। इसकी लोकप्रियता जो कि आधुनिक युग में क्रमश: घटती जा रही है, इसके संगीत पक्ष की प्रबलता के कारण ही रही है।

उपर्युक्त दोनों महात्माओं की शिष्य परम्परा ने तुर्रा-किलंगी साहित्य को दूर-दूर तक प्रसारित किया है। इनके प्रकाशित साहित्य का प्राय: अभाव ही है। लगभग 30 छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ ही प्रकाशित हो पाई हैं तथा कहीं-कहीं कुछ हस्तलिखित पोथियाँ प्राप्त हुईं हैं, अन्यथा इसे मौखिक परम्परा के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया जाता है। इसमें कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें साहित्य की कसौटी पर कसा जा सकता है, किन्तु इसकी रचना-प्रक्रिया और उद्देश्य का लक्ष्य बिन्दु साहित्येतर होने के कारण, इसे शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट नहीं किया जा सकता।[97]

यह लोक साहित्य ही है। लोक-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में तुर्रा-किलंगी साहित्य का अनुशीलन हिन्दी भाषा और साहित्य के लिये बड़ा महत्त्व रखता है।[98] इसके साथ ही गत तीन-चार शताब्दियों की लोक-प्रवृत्तियों और भावनाओं को जानने की दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता है।[99]

मालवी बोली और लोक-साहित्य में उपयुक्त विवेचन के उपरान्त निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि मालवी, मालवा-अंचल में बोली जाने वाली मर्म-मधुर, सहज, सरल, लोचदार और मार्दव युक्त बोली है। भारत के केन्द्रीय भाग में स्थित होने और गुजराती, राजस्थानी, बुंदेली तथा ब्रज

93. डॉ. महेन्द्र भानावत : लोक नाट्य परम्परा और प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ, 140-160
94. डॉ. धर्मनारायण शर्मा : तुर्रा-किलंगी साहित्य : एक अनुशीलन, (अप्र. शोध प्रबंध) पृष्ठ 37-38
95. डॉ. धर्मनारायण शर्मा : तुर्रा-किलंगी साहित्य : एक अनुशीलन, (अप्र. शोध प्रबंध) पृष्ठ 37-38
96. वही, पृष्ठ 38
97. वही, पृष्ठ 353-368
98. वही, (अपनी बात खण्ड) पृष्ठ 2
99. श्याम परमार : मालवी और उसका साहित्य, पृष्ठ 72.

भाषाओं की निकटता के कारण इसकी प्रवृत्ति आत्मीयता से परिपूर्ण है। यद्यपि इसके उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु यह बात तो निश्चित ही है कि इसका उद्भव अपभ्रंश के उस रूप से है, जिससे नवीं-दशवीं शताब्दी में अनेक भाषाओं का स्वरूप निर्मित हुआ है। क्षेत्रीय दृष्टि से इसके रांगड़ी (रजवाड़ी), सौंधवाड़ी, उमठवाड़ी आदि तीन प्रमुख उपभेद निर्विवाद रूप से किये जा सकते हैं।

अवन्ती क्षेत्र की अपनी मनोरम विशिष्टताओं की भाँति ही इसका लोक-साहित्य भी अत्यन्त मनोहारी, मर्मस्पर्शी और उदात्त है। यहाँ के लोक गीतों में सौन्दर्य प्रधान नैसर्गिक रंग, लोक-कथाओं में आदर्श जीवन के उज्ज्वल संदेश तथा लोक-नाट्यों में लोक-जीवन की वास्तविक झाँकी अपनी सभ्यता और संस्कृति की छाप लेकर प्रकट हुई है। इनके अतिरिक्त मालवी मुहावरे, लोकोक्तियाँ, प्रहेलिका आदि की अनेक विशिष्टताएँ साहित्यिक दृष्टि से भी पर्याप्त वजनदार हैं।

(आ) आधुनिक मालवी साहित्य :

मालवी लोक साहित्य की सम्पन्न परम्परा के अनुक्रम में आज से लगभग 110 वर्ष पूर्व आधुनिक मालवी साहित्य का आरम्भ माना जाता है। अभी तक के ज्ञात रचनाकारों में सर्वप्रथम नाम पं. पन्नालाल 'नायाब' का है। उनका जन्म 6 दिसम्बर, सन् 1885 में हुआ था और सन् 1913 में उनका 'मास्टर साब की अनोखी छटा' नामक मालवी एकांकी सामने आया। इसकी विशेषता यह थी कि इसमें संवाद मालवी पद्य में थे। इसके अतिरिक्त नायाबजी ने अनेक विषयों पर मालवी कविताएँ लिखीं। जैसा कि उस समय का वातावरण था, उनकी कविताओं में समाज सुधार, रूढ़ियों से विद्रोह, नशाबंदी और किसानों-गरीबों के शोषण के विरुद्ध आक्रोश के स्वर प्रकट हुए हैं। नायाबजी के बाद सीधी और सरल मालवी में नरेन्द्रसिंह तोमर ने राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत गीत लिखे और प्रसिद्धि पाई। इस क्रम में जुगलकिशोर द्विवेदी, शिवनारायण उपाध्याय, सिद्धेश्वर सेन, आनन्दराव दुबे आदि कवि जुड़ते गये और कारवाँ बढ़ता गया। लेकिन मालवी साहित्य लेखन का आन्दोलन स्वतंत्रता के बाद ही आरम्भ हुआ।

ज्योतिष और संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान एवं मालव संस्कृति के उद्गाता पद्मभूषण पं. सूर्यनारायण व्यास की प्रेरणा से उज्जैन के कार्तिक मेले में मालवी का सर्वप्रथम कवि सम्मेलन सन् 1952 में आयोजित हुआ। उसमें अनेक नये-पुराने मालवी कवियों ने अपनी कविताओं का पाठ कर जनता को मुग्ध करते हुए प्रशंसा प्राप्त की। ऐसे कवियों में आनंदराव दुबे, गिरवरसिंह भँवर, मदनमोहन व्यास और हरीश निगम मुख्य थे। इसके बाद तो मालवी साहित्य लेखन का आन्दोलन गतिशील हुआ और पद्य तथा गद्य दोनों में ही रचनाकार सक्रिय हुए।

पद्य (कविता) धारा :

मालवी की आधुनिक कविता धारा में सन् 52 के बाद नया उन्मेष आया। बालकवि बैरागी, सुल्तान मामा और नरहरि पटेल जैसे कवियों की कविताएँ सामने आईं। सन् 1960 के बाद मालवी में कवियों की एक नई पीढ़ी का आगमन हुआ। इनमें टीकमचंद भावसार बा, मोहन सोनी, शिव चौरसिया एवं पूनमचंद सोनी की रचनाएँ अधिक समर्थ हैं। जगन्नाथ विश्व, राजेन्द्र आर्य, श्रीमती पुखराज पांडे, प्र. च. जोशी, ओम जोशी, भगवतीलाल राजपुरोहित, ओमप्रकाश पंड्या, शिव राठौर आदि कवियों ने भी मालवा के लोक जीवन के अनेकानेक मर्मस्पर्शी चित्र अपनी रचनाओं में उकेरे हैं। वैसे तो कवि सम्मेलन से प्राप्त होने वाले मानदेय के लोभ में बहुत सारे कवि-कवयित्रियों ने न कुछ जानते हुए भी मालवी में कलम चलाई हैं, लेकिन साहित्यिकता की दृष्टि से उन्हें उल्लेख्य नहीं माना जा सकता। इसके बावजूद गत बीस वर्षों में अनेक नये कवि मालवी में उभरे हैं, उनकी पारम्परिक और मुक्त छन्दात्मक कविताओं ने थोड़ी पहचान बनाना आरम्भ की है। ऐसे रचनाकारों में सतीश दुबे, रमेश सोनी, स्व. कन्हैयालाल गौड़, झलक निगम, अशोक आनन, बंशीधर बंधु, सूर्यकान्त मेहता, चकोर चतुर्वेदी, राकेश शर्मा, कैलाश तरल, राजेन्द्र पुष्प, राजेन्द्र आर्य, सुरेश प्रवासी, लाड़सिंह गुर्जर, ललिता रावल, अशोक नागर, वेद हिमांशु आदि उल्लेख्य हैं।

गद्य धारा :

मालवी गद्य साहित्य का आरम्भ भी सन् 1952 के बाद हुआ। यद्यपि सम्पूर्ण मालवा-क्षेत्र में लोग बातचीत मालवी में ही करते थे और आपस में चिट्ठी-पत्री मालवी में लिखने का भी रिवाज था, किन्तु साहित्य की दृष्टि से गद्य-लेखन का प्रायः अभाव था। बीसवीं सदी के आरम्भिक काल में पन्नालाल नायाब ने मालवी प्रहसन लिखे थे, लेकिन वह धारा उस समय आगे नहीं बढ़ी। मालवी गद्य का सर्वप्रथम श्रेष्ठ स्वरूप सन् 52 के बाद श्रीनिवास जोशी के 'वाह रे पट्ठा भारी करी' नामक एक उपन्यास अंश के रूप में सामने आया। सन् 1960-61 में डॉ. प्र. च. जोशी के 5 मालवी प्रहसन 'ग्राम सुधार' पत्रिका में ग्वालियर से क्रमशः प्रकाशित हुए। आकाशवाणी, इन्दौर केन्द्र से भी अनेक वार्ताओं और रूपकों का प्रसारण होता रहा। सन् 1971 में 'वीणा' पत्रिका के दो मालवी विशेषांक प्रकाशित हुए। उनमें मालवी गद्य के मानक रूप प्रस्तुत हुए। उनमें चन्द्रशेखर दुबे का एकांकी और शिव चौरसिया का लेख उल्लेखनीय रहे। स्व. हरीश निगम ने 'सपना में रानी' और 'गारा की गाड़ी' तथा डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित ने 'सेज को सरोज' नाम से संस्कृत नाटकों का मालवी अनुवाद किया है।

बाद में चन्द्रशेखर दुबे का उपन्यास देशस्थ, कृष्णराव व्यास 'प्रमथेश' का एकांकी संकलन 'टेपिस्तान' तथा ललिता रावल के उपन्यास 'कंई तमारी, कंई हमारी और 'गेरी-गेरी-छाँव' प्रकाशित हुए। मदन मोहन व्यास ने मालवी में कहानियाँ भी लिखीं और प्रकाशित भी हुईं। आज से कुछ वर्ष पूर्व नईदुनिया में मालवी-निमाड़ी का स्तम्भ 'थोड़ी-घणी' नाम से आरम्भ हुआ। इससे मालवी गद्य-लेखन में कुछ गति आई है। उज्जैन के साप्ताहिक ऋषि-मुनि तथा दैनिक 'अग्निपथ' एवं 'अवन्तिका' के मालवी स्तम्भ भी सहायक सिद्ध हुए हैं। इन सभी स्तम्भों के माध्यम से मालवी गीत-कविताओं के साथ ही मालवी गद्य रूप भी प्रकाशित हो रहे हैं। अनेक नये-पुराने रचनाकारों की कलम गतिशील हुई है। मालवी गद्य लेखकों में मदनमोहन व्यास, हरीश निगम, मोहन सोनी, नरहरि पटेल, शिव चौरसिया, संजय पटेल, झलक निगम, अमृतलाल अमृत, वेद हिमांशु, रामप्रताप सुसनेरी, नरेन्द्र श्रीवास्तव, बंशीधर बंधु, गफूर स्नेही, साधना बर्वे, प्रकाश शर्मा, मीनाक्षी कानूनगो, मंगल मेहता, हीरालाल शर्मा, वीरेन्द्रकुमार जोशी, राधेश्याम पद्माकर आदि उल्लेखनीय हैं।

शोध की दृष्टि से मालवी लोक साहित्य पर स्व. डॉ. चिंतामणि उपाध्याय और स्व. डॉ. श्याम परमार के कार्य मील के पत्थर साबित हुए हैं। उनके बाद लोक साहित्य के विभिन्न पक्षों और अधुनातन मालवी साहित्य और रचनाकारों पर समीक्षात्मक लेखन एवं अनुसंधान करने वालों में डॉ. शिवकुमार मधुर, डॉ. प्र. च. जोशी, डॉ. बंशीधर शर्मा, डॉ. बसंतीलाल वर्मा, ओमप्रकाश ठाकुर अनूप, डॉ. सुरेन्द्रकुमार तेनगुरिया, डॉ. धर्मनारायण शर्मा, डॉ. हजारीलाल वर्मा, डॉ. श्यामसुन्दर निगम, डॉ. शिव चौरसिया, डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, डॉ. पूरन सहगल, कुशल पोतदार, हंसा दीप, वीणा बैरागी, प्रो. रमेश गुप्ता चातक, धर्मपाल महेन्द्र जैन, राजी अशोक, ओमेन्द्रसिंह चौहान, शशि निगम आदि के कार्य सराहनीय हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मालवी में आधुनिक पद्य-गद्य लिखा तो जा रहा है, लेकिन अभी वह विकासशील स्थिति में ही है। कविता धारा तो ठीक चल रही है, लेकिन मालवी के नवीन कवि जितने गम्भीर होने चाहिए, उतने नहीं हैं। इसी प्रकार गद्य की स्थिति है। भाषा की दृष्टि से अभी तक इसका मानक रूप नहीं बन पाया है लेखन का परिमाण भी अल्प ही है। जहाँ तक मालवी के लोक-साहित्य और आधुनिक मालवी साहित्य पर शोध की बात आती है, उसे संतोषजनक कहा जा सकता है। मालवा-क्षेत्र के विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर और भोपाल विश्व विद्यालय में अनेक शोधार्थी इस दिशा में अच्छा कार्य कर रहे हैं।

❑

अवन्ती-मालवा क्षेत्र की पत्रकारिता

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

यद्यपि भारत में पत्रकारिता का आगमन पश्चिम की देन है, किन्तु शीघ्र ही यह सैकड़ों वर्षों की निद्रा में सोये भारत की जागृति का माध्यम सिद्ध हुई। विश्वजनीन सूचना-संचार के इस विलक्षण माध्यम ने पिछली दो शताब्दियों में अद्भुत प्रगति की है। वहीं भारतीय परिदृश्य में देखें, तो हमारी जातीय चेतना के अभ्युदय, आधुनिक विश्व के साथ हमकदमी, स्वातंत्र्य की उपलब्धि और राजनैतिक-सामाजिक चेतना के सम्प्रसार में हिन्दी पत्रकारिता की अहम भूमिका रही है। पत्रकारिता और साहित्य की परस्परावलंबी भूमिका और दोनों की समाज के प्रतिबिम्ब के रूप में स्वीकार्यता आधुनिक भारत का अभिलक्षण बन कर उभरी है, तो उसके पीछे जो स्पष्ट कारण नजर आता है, वह है महनीय व्यक्तियों की साहित्य एवं पत्रकारिता के बीच स्वाभाविक चहलकदमी। ऐसे साहित्यिकों की सुदीर्घ परम्परा में अवन्ती-मालवा क्षेत्र के सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र', पद्मभूषण पं. सूर्यनारायण व्यास आदि का नाम अविस्मरणीय है, जिन्होंने देश के हृदय अंचल 'मालवा' से पत्रिकाओं के सम्पादन-प्रकाशन के माध्यम से पत्रकारिता की ऊर्जा को समर्थ ढंग से रेखांकित किया। इन व्यक्तित्वों की पत्रकारिता की उपलब्धि अपने नगर, अंचल और राष्ट्र के पुनर्जागरण और सांस्कृतिक अभ्युदय से लेकर हिन्दी पत्रकारिता को नए तेवर, नई भाषा और नए औजारों से लैस करने में दिखाई देती है, जहाँ पहुँचकर राजनीति, साहित्य, संस्कृति और पत्रकारिता के बीच की भेदक रेखाएँ समाप्त हो गईं।

भारत में पत्रकारिता का सूत्रपात 29 जनवरी, 1780 ई. को कलकत्ता से एक परदेशी जेम्स आगस्टस हिकी ने 'बंगाल गजट और कलकत्ता जनरल एडवरटाइजर' के प्रकाशन से किया था। 'हिकीज गजट' के नाम से प्रसिद्ध यह समाचार-पत्र से 16 मार्च, 1782 तक निकलता रहा। हिन्दी का पहला समाचार-पत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' (साप्ताहिक) 30 मई 1826 को कलकत्ता से ही प्रारम्भ हुआ था, जिसके सम्पादक-संचालक कानपुर में जन्मे पं. युगलकिशोर शुक्ल (1788 ई.) थे। हिन्दी का प्रथम दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' 1854 के जून में कलकत्ता से ही श्यामसुन्दर सेन के सम्पादन में निकला था। भारतीय पत्रकारिता की विकास यात्रा के सन्दर्भ में देखें, तो मालवा में पत्रकारिता की शुरूआत कुछ विलम्ब से हुई, किन्तु कुछ दशकों में ही यह क्षेत्र भारतीय पत्रकारिता के विकास के लिए अत्यन्त उर्वर सिद्ध हुआ। मालवा के पहले अखबार 'मालवा अखबार' का प्रकाशन 6 मार्च, 1849 को पण्डित प्रेमनारायण के सम्पादन में इंदौर से प्रारम्भ हुआ था, जो साप्ताहिक था। आठ पृष्ठ के इस अखबार में प्रत्येक पृष्ठ को बीचोंबीच से बाँटकर आधे पृष्ठ में हिन्दी और आधे पृष्ठ में उर्दू में समाचार दिए जाते थे। यद्यपि मालवा में पत्रकारिता की शुरूआत राज्याश्रय से हुई थी, किन्तु शीघ्र ही वह अपनी युग-चेतना, प्रजा के कष्टों और आकांक्षाओं का संवहन करते हुए संघर्ष की राह पर चल पड़ी। फिर मालवा के प्रारम्भिक अखबारों का लक्ष्य मात्र सूचना-संचार का था, किन्तु धीरे-धीरे वे पत्रकारिता के स्वाभाविक रुझान के अनुरूप अपने समय की हलचलों के गवाह बनने लगे। सन् 1849 से लेकर 1938 तक लगभग 90 वर्षों तक मालवा की पत्रकारिता साप्ताहिक और मासिक समाचार पत्र-पत्रिकाओं पर ही अवलम्बित थी, क्योंकि 1938 ई. में जाकर मेहमूद उल हसन सिद्दीकी और हकीम कमर उल हसन के सम्पादन में भोपाल

से पहले उर्दू दैनिक 'नदीम' तथा 1939 ई. में पुरुषोत्तम विजय एवं हरेन्द्रनाथ शर्मा के सम्पादन में इंदौर से प्रथम हिन्दी दैनिक 'नवजीवन' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था।

दैनिक पत्रों की शुरूआत के पूर्व अवन्ती-मालवा क्षेत्र की हिन्दी पत्रकारिता पहले तो साप्ताहिक समाचार-पत्रों के रूप में पनपी थी, फिर क्रमशः इसने मासिक पत्रिकाओं के माध्यम से उत्कृष्ट साहित्य के प्रकाशन की ओर कदम बढ़ाकर अंचल और राष्ट्र के सांस्कृतिक-उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया था। 'मालवा अखबार' के प्रकाशन के बाद अवन्ती-मालवा क्षेत्र में किसी दूसरे हिन्दी साप्ताहिक के प्रारम्भ होने में लगभग 24 वर्ष लगे थे, जबकि सन् 1873 में इन्दौर से पी.एस. गणपति अय्यर के सम्पादन में मराठी, हिन्दी और अंग्रेजी के साप्ताहिक पत्र 'होल्कर सरकार गजट' तथा धार से जी. पी. शुक्ला के सम्पादन में हिन्दी साप्ताहिक 'वृत्तधारा' का प्रकाशन शुरू हुआ। फिर तो कुछ वर्षों के अंतराल में मालवा में क्रमशः एक-एक कर अखबारों की संख्या बढ़ने लगी। 1877 में खण्डवा से रेल्वे समाचार (सा.) और 1892 में इन्दौर से 'मालवा समाचार (सा.) की शुरूआत हुई। मालवा का प्रथम हिन्दी मासिक 1909 ई. में इन्दौर से 'डाकतार दर्शिका' के नाम से शुरू हुआ था। 1910 ई. में इन्दौर से मासिक 'इन्दु' और फिर अप्रैल 1913 ई. में खण्डवा से पं. माखनलाल चतुर्वेदी के सम्पादन एवं कालूराम गंगराड़े के प्रकाशकत्व में 'प्रभा' (मासिक) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'प्रभा' का ध्येय वाक्य तो जैसे मालवा की पत्रकारिता के निद्रा-त्याग का ही प्रतीक बन गया था, जिसमें देशवासियों से आह्वान किया जाता था कि वे अपनी निद्रा को त्यागकर परिवेश के प्रति अपना दायित्व निभाएँ। इस निर्भीक पत्र के कुछ शुरूआती अंकों में शीर्ष पर सरस्वती का चित्र प्रकाशित किया जाता था, फिर कुछ अंकों के बाद ही 'भारत माता' का चित्र प्रकाशित किया जाने लगा। फरवरी 1918 तक यह पत्रिका खण्डवा से ही प्रकाशित हुई, तदनन्तर 1920 से 1926 तक कानपुर से गणेश शंकर विद्यार्थी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे निर्भीक पत्रकारों के सम्पादन में प्रकाशित होती रही। ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध अपने अग्निगर्भा स्वर तथा जन-चेतना के सम्प्रसार के लिए प्रसिद्ध यह पत्रिका हिन्दी पत्रकारिता की तेजस्विता की प्रतीक बन गई थी। साथ ही इस पत्रिका ने साहित्य के साथ पत्रकारिता के गहरे रिश्ते को भी रेखांकित किया था।

राष्ट्रधर्मा साहित्यकार गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' ने 1914 ई. में आगर से मासिक 'बाल मनोरंजन' प्रारम्भ किया और फिर उसे ही रियासती व्यवधानों के कारण पाँच अंकों के बाद 'हिन्दी सर्वस्व' के नाम से निकालना पड़ा। ग्वालियर राज्य ने इन्द्रजी को 'आलीजाह दरबार प्रेस' से पत्रिका छपाने की शर्त पर उसके प्रकाशन की अनुमति दी थी, किन्तु प्रेस की स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर इन्द्रजी को यह शर्त बर्दाश्त नहीं हुई, फलतः 'हिन्दी सर्वस्व' पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। 'हिन्दी सर्वस्व' के नाम से इसके सात अंक ही प्रकाशित हो सके, किन्तु अल्पावधि में ही इसने हिन्दी की चेतनाशील पत्रकारिता में अपनी विशिष्ट उपस्थिति दर्ज करवा दी थी। 1915 ई. में इन्दौर से हिन्दी मासिक 'नवजीवन' का प्रकाशन शुरू हुआ, जिसके सम्पादक थे-द्वारकाप्रसाद 'सेवक'। पहले यह पत्र 1910 से काशी में केशवदेव शास्त्री के सम्पादन में निकल रहा था, लेकिन आर्थिक संकट के रहते इसे 1914 में बन्द कर देना पड़ा। इन्दौर में इसके पुनर्प्रकाशन के समय एक विज्ञापन छापा गया था, जो उस दौर की पत्रकारिता की प्राथमिकता को रेखांकित करता है-'नवजीवन' -राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रसिद्ध मासिक समाचार-पत्र-क्या आपको मालूम है कि स्वदेश और स्वधर्म के प्रति आपके क्या कर्त्तव्य हैं? क्या आप भारत में एक राष्ट्रीयता के प्रचार के इच्छुक हैं? क्या आप राष्ट्रीय, धार्मिक और सामाजिक उन्नति के उपायों पर देश के सिद्ध महानुभावों के विचार जानना चाहते हैं? यदि हाँ तो, आज ही राष्ट्र सेवक 'नवजीवन' के ग्राहक बन जाइए।'' स्पष्ट है कि भारत में 20वीं शती के प्रारम्भिक दशकों में हिन्दी पत्रकारिता अनेक नए औजारों से लैस हो रही थी और जिनका विस्तार भारत की आजादी के लिए अहम सिद्ध हुआ ही, स्वतंत्र भारत में भी महत्त्वपूर्ण बना हुआ है।

सन् 1917 में सनावद से गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' के सम्पादन में 'चन्द्रप्रभा' मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जो 1918 में बन्द हो गई। सन् 1919 से 1930 की अवधि में मालवा से प्रकाशित प्रमुख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में धार अभ्युदय (मासिक, धार), खंडेलवाल जैन हितेच्छु (मासिक, इन्दौर), कल्पवृक्ष (मासिक, सं. दुर्गाशंकर नागर, उज्जैन), श्री गौड़ (मासिक, सं. शिवनारायण उपाध्याय, उज्जैन), मध्यभारत (साप्ताहिक, सं. सिद्धनाथ माधव आगरकर, खण्डवा), भारतीय आदर्श (साप्ता. सं. द्वारकाप्रसाद सेवक, इन्दौर), विद्यारत्न (मासिक, सं. पं. सूर्यनारायण व्यास,

उज्जैन), हितैषी (मासिक, सं. शिवनारायण उपाध्याय, सारंगपुर), हितैषी (मासिक, सं. सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन), वीणा (मा., सं. अम्बिकाप्रसाद तिवारी, इन्दौर), मार्तण्ड (सा., सं. पूर्णचन्द्र शर्मा, रामचन्द्र दुबे, देवास), विद्या (मासिक, सं. नारायणप्रसाद, राऊ), मालवा साहित्य (त्रै., इन्दौर), वाणी (मासिक, विश्वनाथ सखाराम खोड़े, खण्डवा) आदि प्रमुख थे। इन पत्रिकाओं में से श्री मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर द्वारा मासिक 'वीणा' का प्रकाशन 1926 की एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में दर्ज हुआ, जो आज भी प्रकाशन-पथ पर चलते हुए मालवा की पत्रकारिता और साहित्य के गौरव का चिह्न बनी हुई है। हिन्दी की प्रथम पंक्ति की साहित्यिक पत्रिकाओं में 'वीणा' का नाम आदर के साथ लिया जाता है। समिति के संस्थापक डॉ. सरयूप्रसाद तिवारी 'वीणा' के जन्मदाता थे और इसके आद्य सम्पादक थे-अम्बिकाप्रसाद तिवारी। श्री तिवारी के बाद 1929 से लेकर 1943 तक इसके सम्पादन-दायित्व का निर्वाह साहित्यकार श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' ने किया। उनके बाद वीणा का सम्पादन भार क्रमशः पं. कमलाशंकर मिश्र, शांतिप्रिय द्विवेदी, चन्द्रारानी सिंह, गोपीवल्लभ उपाध्याय, कमलाशंकर मिश्र, रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र', अजीतप्रसाद जैन, भालचन्द्र जोशी, डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन', डॉ. नेमीचन्द्र जैन और मोहनलाल उपाध्याय 'निर्मोही' ने सँभाला। 'वीणा' के वर्तमान सम्पादक साहित्य मनीषी डॉ. श्यामसुन्दर व्यास 1972 ई. से इसका कुशलतापूर्वक सम्पादन कर रहे हैं। 'वीणा' ने अब तक अनेक प्रतिष्ठित रचनाकारों और विद्वानों के साथ असंख्य उदीयमान सर्जकों को अपनी अभिव्यक्ति का मंच दिया है। इसकी यात्रा में पिछली शताब्दी के हिन्दी साहित्य की विकास-यात्रा की पदचापों को स्पष्टतः सुना जा सकता है। 'वीणा' के सामान्य अंकों के अतिरिक्त अब तक प्रकाशित तीस से अधिक विशेषांक हिन्दी पत्रकारिता और साहित्य की अमूल्य धरोहर बने हुए हैं।

1931 ई. में खण्डवा से प्रखर पत्रकार सिद्धनाथ माधव आगरकर ने साप्ताहिक 'स्वराज्य' के प्रकाशन की शुरूआत की। मालवा की तेजस्वी पत्रकारिता के प्रतीक 'स्वराज्य' में विषय-वस्तु और विचार के धरातल पर राष्ट्रीयता का उन्मेष दिखाई देता था। विदेशी सरकार की अनेक प्रताड़नाओं और वित्तीय संकटों के बावजूद श्री आगरकर ने इसे जारी रखा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर भी कुछ समय तक यह पत्र निकलता रहा। तीस के दशक में मालवा क्षेत्र से निकलने वाले प्रमुख पत्रों में मंच (मासिक, इन्दौर), खादी जीवन (मा., उज्जैन), सुमन (मा., भोपाल), विहग (मा., भोपाल), हिन्दी शिक्षण पत्रिका (मा., इन्दौर), प्रजा पुकार (साप्ता., भोपाल), अंकुश (साप्ता., खण्डवा), पंडिताश्रम (मा., उज्जैन), प्रजामित्र (साप्ता., उज्जैन), नवजीवन (दैनिक, इन्दौर) ग्राम सुधार (मा., इन्दौर) आदि प्रमुख थे। इनमें से 'नवजीवन' अवन्ती-मालवा क्षेत्र का प्रथम दैनिक समाचार-पत्र था, जो नवम्बर 1939 से प्रारम्भ हुआ। इसके आद्य सम्पादक श्री पुरुषोत्तम विजय और श्री हरेन्द्रनाथ शर्मा थे। इसके आगमन के पूर्व की अवन्ती-मालवा क्षेत्र की हिन्दी पत्रकारिता के नब्बे साला सफर में साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ ही निकलती रहीं। यद्यपि यह पत्र लगभग एक-डेढ़ वर्ष तक ही प्रकाशित हो सका, किन्तु मालवा की पत्रकारिता को एक नए युग में प्रविष्ट कराने का श्रेय इसी पत्र को जाता है। 1940 से स्वातंत्र्य प्राप्ति तक मालवा में प्रारम्भ हुए पत्रों में प्रमुख हैं-प्रजामण्डल पत्रिका (साप्ता., सं. बैजनाथ महोदय, इन्दौर), किसान (साप्ता., भोपाल), नीरव (साप्ता., सं. अमर नरेन्द्र, उज्जैन), आगामी कल (साप्ता., सं. प्रभागचन्द्र शर्मा, खण्डवा), मजदूर संदेश (साप्ता., सं. लाड़लीप्रसाद सेठी, इन्दौर), विक्रम (मासिक, उज्जैन), अशोक (साप्ता., इन्दौर), नया हिन्द (साप्ता., उज्जैन), मजदूर (साप्ता., खण्डवा), इन्दौर समाचार (दैनिक, इन्दौर), क्रान्ति (दैनिक, सं. कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', इन्दौर), युगप्रवर्त्तक (साप्ता. उज्जैन), प्रकाश (साप्ता., सं. हरिराम चौबे, नागदा), कुमार (मा., मन्दसौर), रामराज्य (मा.,मन्दसौर), जय भारत (दै., सं. भालचन्द्र जोशी), नईदुनिया (दै, कृष्णकांत व्यास, इन्दौर), मालवा (दै., रतलाम), भावसार केसरी (मा., सुसनेर) आदि।

इन पत्र-पत्रिकाओं में अप्रैल 1942 ई. से उज्जैन में प्रारम्भ हुए 'विक्रम' का स्थान अविस्मरणीय है। इसके आद्य संचालक प्रख्यात विद्वान् एवं सुलेखक पं. सूर्यनारायण व्यास थे। पं. व्यासजी प्रखर साहित्यकार पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' को विक्रम के सम्पादन के लिए काशी से लेकर आए थे, जिन्होंने इसके प्रारम्भिक छह अंकों का सम्पादन किया था। तदनन्तर स्वयं पं. व्यासजी ने अपनी तमाम लेखकीय, सामाजिक-सांस्कृतिक, ज्योतिषीय व्यस्तताओं के बावजूद इसके सम्पादन-संचालन का गुरुत्तर दायित्व ग्रहण किया और इसे राष्ट्रीय स्तर की सुरुचिपूर्ण साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिका

के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। 1955 ई. में यद्यपि उन्हें इसे अन्तिम रूप से बन्द करने के लिए बाध्य होना पड़ा, लेकिन 'विक्रम' ने अपने उन्मेषशाली स्वरूप से हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में खास जगह बना ली है।

1940-47 के दौर में प्रारम्भ हुए दैनिक पत्रों में 'नईदुनिया' और 'इन्दौर समाचार' आज भी प्रकाशित हो रहे हैं, जिन्होंने मालवा की हिन्दी पत्रकारिता के नए युग की आधार-शिला रखी थी। विशेषतः 5 जून 1947 को प्रारम्भ हुए दैनिक 'नईदुनिया' ने इन्दौर ही नहीं, समूचे मालवा को हिन्दी पत्रकारिता की गौरव-भूमि सिद्ध किया। इसका प्रकाशन कृष्णकांत व्यास एवं कृष्णचन्द्र मुद्गल के प्रयासों से प्रारम्भ हुआ था। तदनन्तर बाबू लाभचन्द छजलानी ने इसका संचालन दायित्व सँभाला। पिछले तीन-चार दशकों से यह मध्यप्रदेश के अग्रणी समाचार-पत्र के रूप में समादृत है। इसके सम्पादकों की परम्परा में राहुल बारपुते और राजेन्द्र माथुर का नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने हिन्दी पत्रकारिता को नई शैली, नई भाषा दी। वर्तमान में इसके प्रधान सम्पादक बाबू लाभचन्द छजलानी के ज्येष्ठ पुत्र अभय छजलानी हैं, जो नई शताब्दी के साथ इसे हमकदम बनाए हुए हैं। 1950 ई. में जबलपुर से प्रारम्भ हुए दैनिक 'नवभारत' के भोपाल एवं इन्दौर संस्करणों की शुरूआत क्रमशः 1959 और 1960 में हुई, जिसे मालवा में पर्याप्त सम्मान मिला। इसके प्रधान सम्पादक श्री रामगोपाल माहेश्वरी हैं।

अवन्ती-मालवा क्षेत्र की स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी पत्रकारिता विस्तार एवं वैविध्य के साथ गतिशील हुई है। इस क्षेत्र के दैनिक समाचार-पत्र आजादी के बाद नव-निर्माण के सपनों के सहभागी रहे हैं, तो मोहभंग की स्थिति को भी दैनिक पत्रों ने महसूस किया है और उस पर अपनी धारदार टिप्पणियाँ की हैं। मालवा की पत्रकारिता सदैव राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिए समर्पित रही है, किन्तु उसके साथ ही आंचलिक आकांक्षाओं और सांस्कृतिक तत्त्वों का संवहन करने की दिशा में भी गतिशील रही है। मालवी भाषा और साहित्य की श्रीवृद्धि में नईदुनिया के 'थोड़ी घणी' जैसे साप्ताहिक स्तम्भ की महत्ता निर्विवाद है। नईदुनिया की इस पहल को वर्तमान में उज्जैन से प्रकाशित दैनिक अवन्तिका, अग्निपथ, अक्षरविश्व, साप्ता. ऋषिमुनि तथा रतलाम से प्रकाशित चेतना आदि ने भी साप्ताहिक परिशिष्टों में मालवी को स्थान देकर सहमति की मुहर लगा दी है। नईदुनिया सहित इन सभी पत्रों की इस प्रवृत्ति के प्रेरणा-बीज पं. व्यासजी के 'विक्रम' में देखे जा सकते हैं, जिसमें मालवी में प्रणीत गद्य-पद्य तथा अनुवाद को प्रमुखता से प्रकाशित किया जाता था।

1958 ई. में भोपाल से 'दैनिक भास्कर' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिसके संचालक द्वारकाप्रसाद अग्रवाल और सम्पादक श्री अविनाशचन्द्र राय थे। फिर कुछ समय पश्चात् भास्कर का उज्जैन संस्करण ठाकुर शिवप्रतापसिंह के सम्पादन में निकला, जो आठवें दशक में बन्द हो गया। 5 मार्च, 1983 से श्री रमेशचन्द्र अग्रवाल के प्रधान सम्पादन में दैनिक भास्कर के इन्दौर संस्करण के प्रकाशन से हिन्दी पत्रकारिता के एक नए चरण की शुरूआत हुई। भास्कर ने आधुनिक ऑफसेट एवं मोडम प्रणाली के इस्तेमाल और कई संस्करणों के साथ अपनी परिव्याप्ति के समग्र प्रयासों से आज मध्यप्रदेश ही नहीं, समूचे भारत के सर्वाधिक बिक्री वाले दैनिक हिन्दी समाचार-पत्र का स्थान प्राप्त कर लिया है। मालवा का यह अंकुर आज सात राज्यों में पन्द्रह से अधिक संस्करणों के साथ विशाल वट वृक्ष का रूप ले चुका है और विश्व कीर्तिमान बनाने के लिए अग्रसर है। दैनिक भास्कर के उज्जैन संभागीय संस्करणों का मुद्रण भी हाल ही में उज्जैन से होने लगा है। 1988 में इन्दौर से प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. प्रभाकर माचवे के सम्पादन में दैनिक 'चौथा संसार' की शुरूआत हुई, जिसने अल्प अवधि में अपनी विशिष्ट पहचान बना ली है। डॉ. माचवे के बाद वरिष्ठ कवि श्री नरेश मेहता इस पत्र के सम्पादक रहे। मालवा के अन्य उल्लेखनीय दैनिक समाचार-पत्रों में अवन्तिका, अग्निपथ, मध्यांचल (उज्जैन), दैनिक नईदुनिया, जागरण, राज्य की नईदुनिया (भोपाल), स्वदेश (इन्दौर), चेतना, प्रसारण, हमदेश, आलोकन, जनवृत्त (रतलाम), नई विधा, अमृत मंथन (नीमच), दशपुर दर्शन (मन्दसौर) आदि तथा सांध्य दैनिकों में अग्निबाण, प्रभातकिरण, चौथा संसार (इन्दौर), अक्षर विश्व, अमर श्याम (उज्जैन) आदि अनूठी छटा दे रहे हैं। अवन्ती-मालवा क्षेत्र की वरिष्ठ पीढ़ी के पत्रकारों में श्री अवन्तीलाल जैन, गोवर्धनलाल मेहता, ठा. शिवप्रतापसिंह, श्री राम आगार, नगेन्द्र आजाद, रामस्वरूप माहेश्वरी, जवाहरलाल राठौर, बालाराव हंगले, माणिकचंद वाजपेयी, गोपीकृष्ण गुप्ता, श्रवण गर्ग, राजकुमार केसवानी, श्री बंशीधर मेहरवाल, प्रो. शिवकुमार वत्स, प्रो.

प्रेम भटनागर, प्रो. हरीश प्रधान, डॉ. शिव शर्मा, डॉ. रामसिंह यादव, श्री रामचन्द्र श्रीमाल, डॉ. रामरतन ज्वेल आदि का नाम उल्लेखनीय है। नई पीढ़ी के सक्रिय पत्रकारों में अरुण जैन, विजयशंकर मेहता, अनिल मेहता, सुरेन्द्र मेहता, मुस्तफा आरिफ, ललित श्रीमाल, कीर्ति राणा, प्रवीण शर्मा, अनिल चंदेल, शैलेन्द्र कुल्मी, महेश बागी, देवेन्द्र निर्मोही, डॉ. विवेक चौरसिया, अनूप शाह, निरुक्त भार्गव, सुशील शर्मा आदि प्रमुख हैं। इन्दौर के पत्रकारों में विमल झांझरी, जगन्नाथ चौधरी 'इच्छुक', कमल दीक्षित, रमण रावल, प्रकाश पुरोहित, अजित प्रसाद जैन, जयकृष्ण गौड़, गोकुल शर्मा, ईश्वरचंद जैन, पुरुषोत्तम नानेरिया, हीरालाल शर्मा, जयदीप कर्णिक आदि उल्लेखनीय हैं। इंटरनेट के जरिए भी अवन्ती-मालवा क्षेत्र की पत्रकारिता विश्वफलक पर अपनी छाप अंकित कर रही है। इस दृष्टि से नईदुनिया परिवार द्वारा स्थापित वेबदुनिया का नाम सिर्फ मालवा ही नहीं समूचे देश के लिए गौरव का पर्याय बना हुआ है।

अवन्ती-मालवा क्षेत्र साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के लिए भी उर्वर रहा है, किन्तु अपेक्षित संसाधनों के अभाव में यहाँ ये प्रकाशित अनेक पत्रिकाएँ कुछ समय तक अपनी चमक दिखाकर विलुप्ति का शिकार हुई हैं। इन पत्रिकाओं में प्रतिकल्पा (सं. डॉ. महेन्द्र भटनागर, डॉ. शिवकुमार मधुर, डॉ. हरीश प्रधान), कालिदास (सं. डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य), जमीन (सं. डॉ. पवनकुमार मिश्र, डॉ. प्रमोद त्रिवेदी), आकार (सं. डॉ. विष्णु भटनागर), आवेग (सं. प्रसन्न ओझा), कंक (सं. निर्मल कुमार), जरूरत (सं. नईम), थियेटर (सं. सुभाष गौतम,), ओरांग उटांग (सं. उपेन्द्र पंत एवं डॉ. प्रमोद त्रिवेदी), साँझी (प्र. सं. श्री हरीश निगम) कश्मकश एवं पुरुषार्थ प्रताप (सं. अशोक वक्त) आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ पत्रिकाएँ सीमित संसाधनों के रहते आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं, जैसे समान्तर (सं. इसाक अश्क), श्री वल्लभ चिंतन (सं. डॉ. गजानन्द शर्मा), प्रेरणा (सं. अरुण तिवारी), ओलखाण (सं. पूरन सहगल), आश्वस्त (सं. डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी), ऋतुचक्र (सं. विक्रम कुमार), राजभाषा चेतना (सं. डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा), क्षितिज (सं. सतीश राठी), कनकश्रृंगा (सं. आनंदमंगलसिंह कुलश्रेष्ठ), पहचान (सं. श्रीमती संतोष शर्मा) आदि। इन्दौर से प्रकाशित मासिक 'मनस्वी' ने पिछले तीन वर्षों में अपनी खास पहचान बना ली है, जिसके सम्पादक श्री मुरली मोहन हैं। इसी प्रकार भोपाल से प्रकाशित साहित्य सागर (सं. कमलकांत सक्सेना) तथा उज्जैन से प्रकाशित मासिक 'शाश्वत भारती' (संपा. नरेश सोनी) भी अपने विशेषांकों द्वारा अलग पहचान बना रही हैं। वर्तमान में मालवा से प्रकाशित प्रमुख नियमित साहित्यिक पत्रिकाओं में पूर्वग्रह (पूर्व सं. अशोक वाजपेयी, सम्प्रति-श्री मदन सोनी), साक्षात्कार (पूर्व सं. प्रभाकर श्रोत्रिय, सम्प्रति श्री भगवत रावत), अक्षरा (सं. गोविन्द मिश्र), कलावार्ता (सं. कमला प्रसाद), कला समय (सं. विनय उपाध्याय), आंचलिक पत्रकार (सं. विजयदत्त श्रीधर), संकल्प रथ (सं. श्रीराम अधीर) आदि तथा शोध पत्रिकाओं में 'विक्रम (पूर्व सम्पा. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी), शोध साधना (सं. डॉ. रघुवीरसिंह, सम्प्रति-डॉ. मनोहरसिंह राणावत), शोध समवेत (सं. डॉ. श्यामसुन्दर निगम), पूर्वदेवा (सं. डॉ. अवन्तिकाप्रसाद मरमट, डॉ. हरिमोहन धवन), सामाजिक सहयोग (सं. डॉ. चन्द्रशेखर दाभाड़े), तुलसी मानस भारती (सं. अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव), चौमासा (सं. कपिल तिवारी) आदि उल्लेखनीय हैं। मालवा की कला पत्रकारिता की भी विशिष्ट भूमिका रही है। इस दिशा में कार्य करने वाले कला मर्मज्ञों में राहुल बारपुते, डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी, डॉ. पवनकुमार मिश्र, अशोक वक्त, डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, श्रीराम दवे, चरणसिंह अमी, डॉ. विष्णु भटनागर आदि की उल्लेखनीय भूमिका रही है।

स्पष्ट है कि अवन्ती-मालवा क्षेत्र की पत्रकारिता एक साथ कई दिशाओं में क्रियाशील रही है, जहाँ एक ओर साहित्य-संस्कृति को महत्त्व देते हुए पुरानी पीढ़ी के पत्रकार पत्रकारिता को समग्रता में ले रहे थे, वहीं अब यह समसामयिक विषयों, राजनीति, समाज और आँचलिक महत्त्व के विषयों को पूरी शिद्दत से उभार रही है। अवन्ती-मालवा क्षेत्र की पत्रकारिता को देन अनेकमुखी रही है। इस क्षेत्र ने राष्ट्रीय स्तर पर अनेक दिग्गज पत्रकार दिए हैं, जो मालवा के पत्रकारों के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। ऐसे पत्रकारों में राजेन्द्र माथुर, प्रभाष जोशी, डॉ. वेदप्रताप वैदिक, आलोक मेहता, यशवंत व्यास, पंकत पाठक, प्रकाश हिन्दुस्तानी, रवीन्द्र शाह, राजशेखर व्यास आदि का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। अवन्ती-मालवा क्षेत्र से प्रकाशित होने वाले कई पत्र आज राष्ट्रीय फलक पर अपना विशिष्ट स्थान बना चुके हैं। कुल मिलाकर इस क्षेत्र की पत्रकारिता का भविष्य संभावनापूर्ण है। ❑

चतुर्थ खण्ड

अवन्ती क्षेत्र का कलात्मक अवदान एवं सिंहस्थ महापर्व

(क) अवन्ती क्षेत्र का कलात्मक अवदान

(ख) सिंहस्थ महापर्व

सम्पादक
डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

उज्जयिनी का रंगमंच : पृष्ठभूमि, परम्परा और बीसवीं शती

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

बीसवीं शताब्दी को साहित्य में गद्य, राजनीति में लोकतंत्र और जीवन में प्रौद्योगिकी के विस्फोट की शताब्दी के रूप में चिह्नित किया जाता है, लेकिन इन सभी के चौतरफा विकास के बीच भारतीय सन्दर्भ में देखें तो रंगमंच के क्षेत्र में चकित कर देने वाला विस्तार और वैविध्य दिखाई देता है। रंगमंच के इस विस्मयकारी उत्कर्ष में हम जहाँ एक ओर पारम्परिक संस्कृत रंगमंच की ओर लौटे, दूसरी ओर पश्चिम से आने वाली बयार से प्रेरित-प्रभावित होकर कई तरह की शैली-शिल्पगत प्रयोगधर्मिता की ओर उन्मुख हुए। इसी तरह समूचे भारत में फैले विविधवर्णी लोक-नाट्य रूपों के पुनराविष्कार और आधुनिक रंगमंच के साथ उनके समीकरण की प्रवृत्ति तेजी से पनपी। ब्रेश्ट के बहाने ही सही, कई प्रदर्शनकारी और रूपंकर कलाओं के समन्वय से महाकाव्यात्मक रंगमंच की ओर भी रुझान दिखाई दिया। भारत के प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों में एक उज्जैन की बीसवीं शताब्दी इन सभी धारा-अन्तर्धाराओं से मथित रंगकर्म की हमकदम रही है। उज्जैन की पिछली शती के रंगमंचीय सरोकार एक ओर भारतीय रंगमंच की प्रतिनिधिमूलक पहचान को घोषित करते रहे, वहीं संस्कृत रंगमंच के पुनराविष्कार की दिशा में यहाँ की सार्थक पहलकदमी से भारतीय रंगकर्म की विश्वजनीन प्रतिष्ठा की राह खुली। वस्तुतः इस एक शताब्दी में अपने लम्बे और सधे हुए कदमों से उज्जैन के रंगमंच ने एक साथ कई शताब्दियों की यात्रा तय कर ली है। शताब्दी के अंत तक आते-आते रंगकर्म के समक्ष उपस्थित कई चुनौतियों के बावजूद मौलिक नाट्य-सृजन से लेकर रूपान्तर और अनुवाद तक तथा मंच-पार्श्व से लेकर समीक्षा तक उज्जैन रंगमंच की बीसवीं शताब्दी उपलब्धिपूर्ण रही है।

पृष्ठभूमि :

युगयुगीन उज्जयिनी (उज्जैन का एक प्राचीन नाम) शताब्दियों से भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष की साक्षी और सहभागी रही है। धर्म-अध्यात्म और शास्त्र ही नहीं, साहित्य एवं कला के विविध रूपों के विकास में इस नगरी के रचनाकारों का अविस्मरणीय प्रदेय रहा है। विश्वविश्रुत महाकवि एवं नाट्य-सर्जक कालिदास की दिव्य प्रेरणा-भूमि और रंग-स्थली के रूप में उज्जयिनी का नाम निर्विवाद है, भले ही महाकवि की जन्म तिथि और जन्म स्थान को लेकर विद्वानों में मतैक्य न हो। मालवा, जिसकी हृदय स्थली उज्जैन है, में न जाने कितनी शताब्दियों से महाकवि कालिदास, उनके प्रिय सम्राट विक्रमादित्य एवं विक्रम के नवरत्नों से जुड़ी किंवदन्तियाँ लोक-जीवन का अंग बनी हुई हैं। मालव जन इतिहास या पुरातत्त्व के तिथिक्रमों से परे विक्रम और कालिदास की रंग-स्थली के रूप में उज्जयिनी को मान देते आ रहे हैं। उधर महाकवि कालिदास भी मेघदूत जैसी अमर कृति के बहाने उज्जयिनी की समर्चना करने को आतुर दिखाई देते हैं। अपनी समग्रताग्रही नाट्य-दृष्टि के साथ उज्जयिनी के महाकवि ने तीन नाटकों की संर्जना की थी- मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम्। यद्यपि महाकवि ने 'मालविकाग्निमित्रम्' में मालवा और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों जैसे विदर्भ आदि को अपने नाटक की घटनास्थली बनाया था, किन्तु उनके किसी भी नाटक में

सीधे-सीधे उज्जयिनी का सन्दर्भ नहीं आता। शाकुन्तल के कुछ संस्करणों से यह संकेत अवश्य मिलता है कि उज्जैन में उसकी सफल प्रस्तुति हुई थी। संस्कृत के कई महत्त्वपूर्ण नाटकों की कथा-भूमि उज्जैन से जुड़ी है, जिनमें भास प्रणीत प्रतिज्ञायौगंधरायण, स्वप्नवासवदत्ता एवं चारुदत्त, शूद्रक विरचित मृच्छकटिक एवं पद्मप्राभृतक, श्रीहर्ष की रत्नावली एवं प्रियदर्शिका नाटिकाएँ, श्यामिलक का 'पादताडितक' भाण, वीणावासवदत्ता आदि उल्लेखनीय हैं। उज्जयिनी एवं धार की विद्वत्सभाओं में नाटकों का मंचन होता था, खास तौर पर धार की भोजशाला और उज्जयिनी के महाकाल प्रांगण में नाट्य, नृत्य आदि के प्रदर्शन के उल्लेख मिलते हैं। शाकुंतल के प्रास्ताविक में सूत्रधार के कथन से स्पष्ट संकेत मिलता है कि 'रसभाव विशेष दीक्षागुरोः' विक्रम की अभिरूप भूयिष्ठा परिषद् में शाकुंतल का पहली बार मंच-प्रयोग हुआ था, तब निश्चय ही उज्जयिनी में नाट्य शास्त्रानुमोदित रंगशाला रही होगी और उसमें अक्सर नए नाट्य-प्रयोगों की परीक्षा होती होगी। परमार काल (नवीं से बारहवीं शती) के सांस्कृतिक उन्मेष में भी उज्जयिनी एवं धार नाट्य, नृत्य, कला और साहित्य के प्रमुख केन्द्र थे। मुंज के समय में उज्जैन में धनंजय ने दशरूपक रचा था और उन्हीं के भाई धनिक ने भोज के समय में उसकी टीका लिखी थी। तुगलक, खिलजी और मुगल काल में उज्जयिनी यद्यपि आक्रांताओं से त्रस्त रही, किन्तु मराठा काल और फिर स्वतंत्र भारत में इस नगरी ने खोए हुए सांस्कृतिक वैभव को पुनः प्राप्त कर अपनी संज्ञा को सार्थक किया।

लोक नाट्य 'माच' की परम्परा :

मध्ययुगीन संकट के दौर के उतार पर आते-आते मराठा काल में लगभग दो सौ दस वर्ष पहले उज्जयिनी लोक-नाट्य 'माच' के उत्स की भूमि बनी। माच के उद्‌भव और विकास में मालवांचल की अनेक लोकरंजक कला प्रवृत्तियों का योगदान रहा है, जिनमें प्रमुख हैं-गर्बी गीत, तुर्रा-कलंगी, ढारा-ढारी के खेल, नकल-स्वांग, गम्मत, निकटवर्ती राजस्थान से आगत लोक-नाट्य 'ख्याल', हाजरात विद्या आदि। उज्जैन स्थित भागसीपुरा मोहल्ले के गुरु गोपालजी (सन् 1773-1842 ई.) को 'माच' शैली का जनक माना जाता है, जिन्होंने मालवा में राजस्थान के 'ख्याल' जैसे किसी पूर्ण लोक-नाट्य रूप का अभाव देखकर स्थानीय अभिनय, कला एवं संगीत प्रवृत्तियों के समावेश से 'माच' की शुरूआत थी। परिष्कार और परिवर्द्धन से गुजरता हुआ 'माच' आज की शब्दावली में भारतीय संदर्भ में 'टोटल थियेटर' की अवधारणा को मूर्त करता है, जिसमें पाठ, अभिनय, संगीत, नृत्य, आशु अभिव्यक्ति, काव्य-गायन तथा त्वरित हास-परिहास सब मिलकर लोक-शैली की अनौपचारिकता को प्रत्यक्ष करते हैं। माच के प्रवर्त्तक गुरु गोपालजी से लेकर आज तक सृजनरत माचकारों की एक लम्बी फेहरिस्त है, जिन्होंने माच के लगभग डेढ़ सौ खेलों का प्रणयन किया है। बीसवीं शती के शुरूआती दशकों में 'माच' ही उज्जैन का प्रतिनिधि रंगमंच था, जिसके प्रदर्शनों में रात-रात भर सैकड़ों दर्शकों की भीड़ जुटी रहती थी। यद्यपि इस शताब्दी के ढलते-ढलते माच की लोकप्रियता एवं प्रदर्शनों में कुछ कमी आई है, फिर भी इसके संरक्षण, विस्तार और नवाचारी प्रयोगों द्वारा माच गुरुओं ने इसे आज जीवंत बनाए रखा है। गुरु गोपालजी के बाद माच को लोकप्रियता और विकास के सोपानों पर ले जाने का श्रेय उज्जैन स्थित जयसिंहपुरा मोहल्ले के निवासी गुरु बालमुकुन्दजी (1808-1875 ई.) को जाता है, जिन्होंने भागसीपुरा में एक माच-प्रदर्शन के दर्शक के रूप में अपमानित होने पर अपने तांत्रिक साथी सुखराम यती और सेठ मुकुन्दरामजी के साथ माच के खेलों के प्रणयन और नई माच मण्डली के निर्माण का संकल्प लिया था। उन्होंने सुखराम यती के सहयोग से बटुक भैरव की तंत्र-साधना कर सन् 1844 ई. में माच लेखन की शुरूआत की और एक-एक कर सोलह खेलों का प्रणयन किया। उनकी माच-मण्डली की कीर्ति दूर-दूर तक पहुँची, तब ग्वालियर राज्य के शासक भी उन्हें माच-प्रदर्शन के लिए आमंत्रित करने लगे। ऐसा माना जाता है कि उन्हीं के प्रभावस्वरूप ग्वालियर में भी माच परम्परा का सूत्रपात हुआ। गुरु बालमुकुन्दजी की मृत्यु उनके द्वारा प्रणीत 'गेंदापरी' के खेल का प्रदर्शन करते हुए मंच पर ही हुई थी। उनकी मृत्यु के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने 'बनाया मैंने गेंदापरी का खेल' पंक्ति को गाकर जब अपने अहम् को त्यागने के लिए यतिजी के समक्ष किए गए संकल्प को तोड़ दिया था, तब वे बच न सके। मंच से ही उनकी शव-यात्रा माच के गीत-संगीत के साथ श्मशान तक गई थी। भारत के रंग इतिहास में ऐसे प्रसंग विरले ही हैं।

माच के आद्य गुरु गोपाल जी ने सन् 1793 में माच-लेखन की शुरूआत की थी। उनके खेलों में गोपीचन्द, प्रहलाद चरित्र और हीर-राँझा बहुत लोकप्रिय हुए, जिनमें मालवी, मारवाड़ी और उर्दू का अनूठा संगम दिखाई देता है। उनकी परम्परा को क्रमशः जगन्नाथ पटवारी, रामचन्द्र गुरु, फुन्दीलाल बाबू और पं. गणेश शास्त्री ने आगे बढ़ाया। भागसीपुरा की माच-परम्परा के रूप में प्रसिद्ध और अब मृतप्राय इस शाखा में जगन्नाथ पटवारी, ठाकुरलाल वैद्य, किशनलाल दुबे, अम्बाराम उस्ताद, भागीरथ, मोतीराम मालवी, शाँतिराम, मुन्नालाल, पन्नालाल आदि प्रमुख कलाकारों ने समय-समय पर अपनी अभिनय दक्षता को प्रमाणित किया था।

जयसिंहपुरा की माच परम्परा के प्रवर्त्तक गुरु बालमुकुन्द के सोलह खेलों में से राजा हरिश्चन्द्र, नकल गेंदापरी, रामलीला, कुँवर खेमसिंह, नागजी दूदजी, ढोला मारूनी, सेठ-सेठानी, देवर भौजाई, राजा भरथरी और सुदबुद सालंगा प्रकाशित और बहुलोकप्रिय हैं। गुरुजी स्वयं प्रमुख पात्र का अभिनय करते थे। उनके समकालीन कलाकारों में ऊँकार जी शेरमार खाँ की भूमिका में, गोविन्दा और कूकाजी स्त्री-पात्रों के रूप में तथा लछमन और टोडूलाल पुरुष चरित्रों के अभिनय के लिए दूर-दूर तक लोकप्रिय थे। बालमुकुन्द जी की परम्परा को क्रमशः ऊँकार गुरु, सोमेश्वर गुरु, गणेश गुरु, शंकरलाल पटेल और बद्रीलाल चौधरी ने आगे बढ़ाया। इस परम्परा में बीसवीं शती के प्रमुख कलाकार रहे हैं, शंकरलाल पटेल, बद्रीलाल चौधरी, माँगीलाल गुनसेवाले, हेमराज मालीपुरावाला, बद्रीलाल माली, कन्हैया ठाकुर, हेमराज रामी, छोटा बद्री चौधरी, प्रेम माली, रुगनाथ चौधरी आदि। यह मण्डली विभिन्न मेलों और उत्सवों में माच प्रदर्शन करती आ रही है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में उज्जैन स्थित उर्दूपुरा मोहल्ले के भागीरथ पटेल ने उर्दूपुरे वाली माच परम्परा का सूत्रपात किया था, जिसके संवाहकों में क्रमशः पूनमचन्द सांकला, पोखर जी उस्ताद और आनंदबाबू सांकला के नाम उल्लेखनीय हैं। पूनमचन्द जी के प्रमुख समकालीन कलाकारों में कस्तुरचंद पहलवान (मुख्य भूमिका में), केशरीमल धनकुट्टा, माँगीलाल हस्तामाँ (स्त्री भूमिका में) तथा वादकों में हरू पानबिहारवाले (ढोलक) तथा प्रताप अंबालिया (सारंगी) थे। पोखर जी उस्ताद के समय में लक्ष्मीनारायण, जगन्नाथ चौधरी, लक्ष्मीनारायण मारोठिया, ताराचंद देवड़ा, गंगाराम चौहान आदि प्रमुख भूमिकाओं में आते थे। इस मण्डली के वर्तमान मुखिया आनन्द बाबू सांकला स्वयं अच्छे गायक एवं अभिनेता हैं। उनके साथ काम करने वाले कलाकारों में रामप्रताप भाटिया, गिरधारीलाल यादव, रमेशकुमार चौहान आदि उल्लेखनीय हैं। इस मण्डली ने उज्जैन सहित मालवा के कई शहरों और गाँवों में अपनी माच दक्षता की छाप छोड़ी है।

गुरु रामकिशन जी (1833-1889 ई.) ने बेगमपुरा में माच मण्डली बनाई थी। उनके माचों में मधु मालती, पुष्पसेन, गोपीचंद, विक्रमादित्य, भक्त पूरनमल, सिंहासन बत्तीसी आदि खूब खेले जाते रहे हैं। बीसवीं शती में उनकी परम्परा को क्रमशः गुरु विष्णु राम और कन्हैयालाल सालवी ने आगे बढ़ाया, किन्तु आज यह परम्परा मृतप्राय है। नयापुरा की परम्परा के प्रवर्त्तक गुरु भैरवलाल जी (1842-1903 ई.) ने ग्यारह खेलों की रचना की थी, जिनमें बगड़ावत खेल, गोपीचंद, विक्रमादित्य, सीताहरण, हीर राँझा, कुँवर केशरी, लाल सेठ आदि मुख्य हैं। उनकी मृत्यु के बाद इस परम्परा को क्रमशः बिहारीलाल गुरु और हरि पहलवान ने आगे बढ़ाया। बीसवीं शती में इस परम्परा के उल्लेखनीय कलाकार हैं- पीर जी सुनार, लछमन कुम्हार, रघुनाथ माली, बिहारीलाल, गिरधारी दर्जी, रामचन्द्र वकील, ताराचंद माली आदि तथा वादकों में प्रमुख रहे हैं-कन्हैयालाल, भैरवलाल, अम्बालाल, राधारमण मास्टर आदि।

बिलोटीपुरा की माच परम्परा के प्रणेता गुरु राधाकिशनजी (1850-1903 ई.) ने भी कई खेलों का प्रणयन किया था, जिनमें हीर राँझा, गोपीचंद, दरयावसिंह, फूलकुँवर-लीलावती, लालदे और आमलदे-झूमलदे प्रसिद्ध हैं। उनकी मृत्यु के बाद क्रमशः पूनमचन्द उस्ताद, बुद्धेश्वर सुनार और नाथूसिंह उस्ताद ने इस परम्परा को जारी रखा। इस शाखा के चर्चित कलाकार रहे हैं-चंचलपुरी महाराज, कन्हैयालाल लखेरा, हीरालाल खटीक, खुमानसिंह, सत्यनारायण जोशी, रामलाल कुम्हार आदि। बिलोटीपुरा वाली परम्परा को बनाए रखने के लिए मालीपुरा और बहादुरगंज के कलाकारों ने भरपूर प्रयास किए, जिनमें से एक श्री सिद्धेश्वर सेन ने अपनी अलग मण्डली बनाकर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपने माच-सृजन और प्रदर्शनों से राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। गुरु राधाकिशन

जी की मालीपुरा वाली मण्डली के काम को आगे बढ़ाने वालों मे गंगाराम सालवी, रामचन्द्र माली और खलीफा श्री गोवर्द्धन माली के नाम प्रमुख हैं। इस मण्डली के प्रमुख कलाकार रहे हैं- घासीराम ब्राह्मण, नगजीराम माली, राधाकिशन माली, भेरूलाल माली, उमाशंकर परमार, पुरुषोत्तम माली, लालाजी परमार, नन्दूमाली आदि। पिछले कुछ दशकों में इस मण्डली के काम को संचालक श्री गोवर्द्धनलाल बारोड़, हीरालाल परमार और खलीफा रामचन्द्र माली ने नई गति दी है। वर्तमान में इस मण्डली के उल्लेखनीय कलाकार हैं-पुरुषोत्तम परमार, नन्दलाल बारोड़, सोमेश्वर गेहलोत; नरेन्द्र बारोड़, जानकीलाल गेहलोत, उमाशंकर परमार, भगवतीलाल, लीलाधर रामी, सूर्यकान्त, रामप्रसाद परमार, हुकुमचन्द बारोड़ आदि। मालीपुरा में युवाओं की एक नई माच-मण्डली भी पिछले कुछ वर्षों में माच-प्रदर्शन और आयोजनों में सक्रिय हुई है, जिसके कलाकारों में हीरालाल परमार, माँगीलाल आदि उल्लेखनीय हैं।

दौलतगंज की माच परम्परा के प्रणेता उस्ताद कालूराम जी (1857-1927 ई.) ने बीस खेलों की रचना की थी, जिनमें से 12 प्रकाशित हुए हैं- चित्र मुकुट, छोगारतन, मधुमालती, रूपसेन, हरिश्चन्द्र, सूरजकरण चन्द्रकला, राजा रिसालू, जान आलम, इन्द्रसभा, त्रियाचरित्र, प्रताप मुकुट और हीरा-मोती। उनके समकालीन कलाकारों में ऊँकार काका, भेरूसिंह, भगवानसिंह, ज्ञानचन्द बुनकर और मनीराम गुरु के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्हीं के समय में लहरगौर जी महाराज गुसाई नामक महिला ने प्रथम बार मंच पर अभिनय किया था। लहरगौरजी के बाद गोमतीबाई बेरागन को भी मंच पर लाने का श्रेय कालूराम जी को जाता है। इस परम्परा को कालूराम जी के सुपुत्र सालिगराम मास्टर और पौत्र पं. ओमप्रकाश शर्मा ने आगे बढ़ाया। वर्तमान में सक्रिय माच गुरु पं. ओमप्रकाश शर्मा ने राजा विक्रम, राजा भरथरी, गोपीचन्द और जीव खोवई ग्यो (हरिशंकर परसाई की कहानी पर आधारित) जैसे खेलों के प्रणयन के साथ ही समकालीन रंगमंच में माच शैली के अभिनव प्रयोग तथा रंग-संगीत की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। देश के ख्यातिलब्ध निर्देशकों के साथ भी पं. शर्मा संगीत निर्देशन कर चुके हैं, जिनमें प्रमुख हैं-श्री एम. के. रैना (इन्ना की आवाज और अविमारक), ब्रजमोहन शाह (मशरिकी हूर), डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य (मृच्छकटिकम्), डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी (विक्रमोर्वशीयम्), धीरेन्द्रकुमार (सपना में रानी, नेरा वन राम, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मुद्राराक्षस, विक्रमोर्वशीयम्) आदि। पं. शर्मा अनेक माच शिविरों का आयोजन तथा नाट्य समारोहों में माच प्रस्तुतियाँ कर चुके हैं। उनके निर्देशन में माच शैली से अनुप्राणित कई नाटकों का भी मंचन उज्जैन में हुआ है, जिनमें वत्सराज कृत हास्य चूडामणि, उस्ताद कालूराम प्रणीत राजा चित्रमुकुट आदि उल्लेखनीय हैं।

पं. ओमप्रकाश शर्मा द्वारा निर्देशित माच 'राजा विक्रम'

नए माचकारों में सिद्धेश्वर सेन (1921-2002 ई.) का नाम विशेष श्रद्धा के साथ लिया जाता है, जिन्होंने गुरु राधाकिशनजी की परम्परा से जुड़कर और माच में मालवा के लोकरंग की नई महक के समावेश से इस लोक-नाट्य को राष्ट्रीय फलक पर स्थापित कर दिखाया। उन्होंने 19 वर्ष की वय में पहला खेल 'राजा रिसालू' लिखा था और उसके बाद एक-एक कर 24 अन्य माचों की रचना की। उनके कुल 25 माचों में से तीन खेल प्रणवीर तेजाजी, राजा भरथरी और सत्यवादी हरश्चिन्द्र प्रकाशित और मंचित हो चुके हैं तथा शेष अप्रकाशित खेलों में सम्मिलित नल-दमयन्ती, भक्त प्रहलाद, डाकू दयाराम गूजर, बंदीछोड़, कोदरसिंह, सत्यवान सावित्री, शकुन्तला, भक्त पूरणमल, राम वनवास, रामदेवजी, कालिदास, नरसी मेहता, चाँदसिंह गूजर आदि भी बहुत लोकप्रिय हुए। श्री सेन ने नवनिर्माण के माच भी लिखे, जिनमें मेहनत का मोती, धरती को दान, पनिहारिन, उगतो सूरज,

पगड़ी की लाज आदि खेल कई गाँव और शहरों में खेले गये।। 1956 ई. में उन्होंने मालवा लोक-नाट्य माच मण्डल की स्थापना की थी, जो रंगमंच, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि कई माध्यमों पर सैकड़ों माच-प्रदर्शन कर चुकी है। इस मण्डली के अभिनेताओं में खेमराज, रामप्रसाद भाटिया, बाबूलाल, सिद्धनाथ पटेल, चिन्तामन, रुगनाथ, प्रेमकुमार सेन, रतनलाल, नारायण, लालजीराम आदि तथा संगतकारों में भागीरथ (सारंगी), दुलीचन्द (ढोलक) आदि उल्लेखनीय हैं। श्री सेन ने स्त्री-चरित्रों की भूमिका में महिला कलाकारों को मंच पर लाने की भी पहल की थी। दिल्ली में प्रदर्शित उनके 'प्रणवीर तेजाजी' खेल में लोक-गायिका एवं गीतकार पुखराज पाण्डे ने अविस्मरणीय अभिनय किया था। श्री सेन का योगदान मालवा के कई गाँवों में माच-मण्डलियों की तैयारी और प्रशिक्षण के लिए भी यादगार रहेगा। इन मण्डलियों में दरजी कराड़िया, खेमासा, शक्करवासा, साँवेर आदि स्थानों की माच मण्डलियाँ प्रमुख हैं।

अब्दालपुरे के फकीरचन्द गुरु, मंगरोला के चुन्नीलाल गुरु आदि ने भी कई खेलों का प्रणयन कर अपनी-अपनी माच परम्परा का सूत्रपात किया था। गोपीचन्द, चंचलसिंह, कामकंदला, सम्मतसिंह आदि सहित 18 खेलों के रचयिता फकीरचन्द जी की मृत्यु 1903 में हुई थी, जिनकी परम्परा को क्रमशः हीरालाल गुरु और रामचन्द्र शर्मा वकील ने आगे बढ़ाया, किन्तु आज यह परम्परा समाप्त हो चुकी है। चुन्नीलालजी (1817-1867 ई.) ने गुरु बालमुकुन्दजी के समय में ही माच की एक परम्परा का सूत्रपात कर दिया था, जिसे क्रमशः जालमसिंह, नाथूसिंह, नारायणसिंह बैस और भगवानसिंह बैस ने आगे बढ़ाया। चुन्नीलाल जी के सात खेलों में राजा रुकमाचन्द, गोपीचन्द, वीर विक्रमादित्य आदि प्रसिद्ध हैं। इसी परम्परा के एक माचकार मोहनसिंह जी ने सत्यवान-सावित्री, राजा मोरध्वज, नया प्रभात और बढ़ता कदम की रचना की थी। तुर्रा-कलंगी के उस्ताद श्री डूँगाजी ने भी कुछ माचों की रचना की है, जिनमें शैलीगत नवीनता दिखाई देती है।

लोक-नाट्य 'माच' की कई परम्पराओं की जन्म और रंगभूमि उज्जैन में पिछली दो शताब्दियों से माच की धारा अविरल गति से प्रवाहित है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में तो उज्जैन का रंगमंच, माच का ही पर्याय था। जयसिंहपुरा, अब्दालपुरा, मालीपुरा आदि क्षेत्रों में मशाल की रोशनी में रात-रातभर माच के खेले होते थे और बगैर माइक के इनके संवाद मीलों दूर तक सुनाई देते थे। माच के अलावा कभी-कभी बाहर से आने वाली रामलीला, रासलीला और पारसी थियेटर की मण्डलियाँ उज्जैन के दर्शकों को आकर्षित करती थीं, किन्तु वे माच का विकल्प कभी नहीं बन पाईं। हाँ, सिनेमा और दूरदर्शन के संजाल ने अवश्य माच की लोकप्रियता और पहुँच में कमी की है, किन्तु आज भी कई मण्डलियाँ समय-समय पर अपने माच प्रदर्शनों से बड़ी संख्या में रसिकजनों को आकृष्ट कर रही हैं। कई आधुनिक रंग-संस्थाएँ भी पिछले दो-तीन दशकों में अपनी प्रस्तुतियों में माच के तत्त्वों और रंग-संगीत के समावेश तथा माच महोत्सवों के आयोजनों से इसकी नैसर्गिक जीवंतता और शैलीगत विलक्षणता का साक्ष्य उपस्थित करती आ रही हैं। ऐसी संस्थाओं में मध्यप्रदेश नाटक लोक-कला अकादमी, कालिदास अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (नई दिल्ली), शिप्रा संस्कृति संस्थान, अभिनव, अंकुर मंच, लोक मानस अकादेमी (उज्जैन), भारत भवन, मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद् (भोपाल) आदि प्रमुख हैं।

प्राक् स्वातंत्र्य रंगमंच :

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में उज्जैन में 'माच' की वर्चस्वशाली उपस्थिति के अलावा कहीं नाट्य-मंचन के अवसर उपलब्ध थे, तो वे विद्यालयों में आयोजित वार्षिक समारोह थे, जिनमें प्रायः एकांकी या लघु नाटकों का मंचन किया जाता था। फिर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक द्वारा प्रवर्तित सार्वजनिक गणेशोत्सव का मालवा में प्रभाव बढ़ने लगा। गणेशोत्सव के दौरान कुछ मण्डल नाट्य-प्रस्तुति का संयोजन करते थे। दूसरे से चौथे दशक के बीच कभी कभार भ्रमणशील पारसी थियेटर कम्पनियाँ उज्जैन आकर अपना डेरा डालती थीं, जिनके नाट्य-प्रदर्शनों को देखने के लिए दर्शकगण मुग्ध भाव से जुटते थे। चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में एक पारसी थियेटर कम्पनी के प्रभाव से रंगमंच के सम्पर्क में आए वरिष्ठ रंगकर्मी भगवती शर्मा बताते हैं, "लाल मस्जिद की गली में पत्थर का पीठा था, जहाँ पन्द्रह दिनों के लिए एक पारसी थियेट्रिकल कम्पनी ने अपना डेरा जमाया

था। वे अपने प्रचार के लिए प्रतिदिन शहर में जुलूस निकालते थे, जिसमें उसी दिन शाम को होने वाले नाट्य-प्रदर्शन के कलाकार पूरी साज-सज्जा के साथ शामिल होते थे। सड़क पर निकलते लैला-मजनू और शीरी-फरहाद जैसे चरित्र नगरवासियों का ध्यान बरबस आकृष्ट कर लेते थे। उनके 'जयद्रथ-वध' नाटक ने मुझे सर्वाधिक आकर्षित किया था। उसका सेट बहुत खूबसूरत था। उन्होंने गैस बत्ती के विशिष्ट प्रयोग से सूर्य के अदृश्य और पुनः दृश्य होने को बेहतरीन ढंग से दिखाया था। जयद्रथ की गरदन कटने का दृश्य तो वास्तविक जैसा ही था, जिसे देख दर्शक विस्मित हो गये थे।'' पारसी रंगमंच की यह विस्मयकारी उपस्थिति समूचे देश के साथ-साथ उज्जैन के रंगमंच पर भी अविस्मरणीय छाप छोड़ गई थी। बाद के कुछ दशकों में शौकिया रंगकर्म में भी पारसी थियेटर के तत्त्वों का इस्तेमाल होता रहा। श्री भगवती शर्मा इस असर का जिक्र करते हुए बताते हैं, ''पारसी थियेटर के लिपटवाँ परदे उस दौर के रंगकर्मियों का ध्यान आकर्षित करते थे। मैंने स्वयं एक नाटक के लिए पारसी थियेटरनुमा चित्रित परदा पेंट किया था, जिसे ऊपर-नीचे चलाने में शुरूआती तौर पर बहुत दिक्कतें आई थीं।''

बीसवीं शती के आरम्भिक दशकों में उज्जैन की रंग-चेतना को आधार देने में यहाँ रहने वाले नाट्य-प्रेमी मराठी भाषी समुदाय की भी विशिष्ट भूमिका रही है। आजादी के पहले सवा दो सौ वर्षों तक उज्जैन, ग्वालियर राज्य के सिंधिया शासकों के अधीन रहा था। फलतः प्रशासकीय एवं शैक्षणिक तंत्र में बड़ी संख्या में मराठी भाषी कार्यरत थे। सन् 1751 ई. के पूर्व तक उज्जैन सिंधिया शासकों की राजधानी थी, जो बाद में ग्वालियर स्थानान्तरित हो गई। उज्जैन के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक उन्मेष में मराठी भाषियों का विशिष्ट योगदान रहा है, जो रंगमंच में भी प्रतिफलित हुआ। 1891-92 ई. में स्थापित माधव कॉलेज बीसवीं सदी में लम्बे समय तक चेतना-प्रसार और जागरण का केन्द्र रहा, जिसकी स्थापना के पश्चात् आरम्भिक दशकों में कई मराठी भाषी विद्वान् एवं संस्कृति प्रेमी शिक्षकों का नगर के सांस्कृतिक परिदृश्य पर गहरा प्रभाव पड़ा था। लोकमान्य तिलक के शिष्य पं. बापूजी नारायण ठेकणे (1863-1911 ई.) माधव कॉलेज के संस्थापक प्राचार्य थे। ऐसा माना जाता है कि उन्हीं की प्रेरणा से उज्जैन में सार्वजनिक गणेशोत्सव की शुरूआत हुई थी, जो क्रमशः वैचारिक एवं सांस्कृतिक उन्मेष के प्रभावी माध्यम सिद्ध हुए। माधव कॉलेज में 1899 से 1903 ई. तक प्राध्यापक रहे प्रो. परशुराम नारायण पाटणकर की नाटकों में विशेष रुचि थी। जयद्रथ वध पर आधारित उनकी नाट्य-कृति 'वीर धर्म दर्पण' को प्रसिद्धि मिली थी। स्यमंतक मणि की कथा पर आधारित एक मराठी संगीत नाटक का प्रणयन भी उन्होंने किया था। इसके साथ ही उन्होंने कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम्, माघ के शिशुपाल वध तथा भारवि के किरातार्जुनीयम् का व्याख्या सहित अंग्रेजी अनुवाद किया था। इसी महाविद्यालय में सन् 1945 से 1956 तक प्राचार्य रहे प्रोफेसर डी. एन. बोरगाँवकर भी युवाओं को रंगमंच में सक्रियता की प्रेरणा देते थे। माधव कॉलेज एवं नगर में हिन्दी के बाद यदि किसी भाषा में सर्वाधिक नाटक होते थे, तो वह मराठी ही थी। चौथे-पाँचवें दशक से सक्रिय महाराष्ट्र समाज, महाराष्ट्र नाट्य-समाज, महाराष्ट्र युवक मण्डल जैसी संस्थाओं का उज्जैन की रंग-चेतना के प्रसार में विशेष योगदान रहा है। ये संस्थाएँ सार्वजनिक गणेशोत्सव के दौरान विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों के साथ ही नाट्य-प्रदर्शन करती रहीं, जिसमें बड़ी संख्या में नाट्य-रसिक उपस्थित होते थे। महाराष्ट्र समाज के एक समर्पित कार्यकर्ता ह.ल. मसूरकर ने युवक संघ के माध्यम से 1926 ई. में शरद व्याख्यानमाला प्रारम्भ की थी, इसी प्रकार 1935 ई. में नवयुवक संघ ने पण्डित अम्बाप्रसाद तिवारी और प्रो. रमाशंकर शुक्ल हृदय के नेतृत्व में बसंत व्याख्यानमाला प्रारम्भ की थी, जो 1942 ई. तक जारी रही। इस व्याख्यानमाला के अवसर पर प्रेरक भाषणों, काव्य पाठ, मुशायरा आदि के साथ ही नाट्य-प्रदर्शन भी होते थे। इस दौर की प्रेरणादायी नाट्य प्रस्तुतियों में भक्त प्रहलाद, प्रताप-प्रतिज्ञा, पृथ्वीराज चौहान, अमरसिंह राठौर, द्रौपदी चीर-हरण आदि उल्लेखनीय हैं।

1936 में स्थापित राष्ट्र शृंगार मित्र मण्डल द्वारा भी गणेशोत्सव मनाया जाता था, जिसके नेतृत्वकर्त्ताओं में पं. सूर्यनारायण व्यास, केशरीमल श्रीमाल, सूर्यप्रसाद सेठ आदि प्रमुख थे। छोटी-बड़ी सभाओं के साथ ही इस संस्था द्वारा नाटकों का प्रदर्शन भी कराया जाता था। इस संस्था द्वारा पचास के दशक में प्रेमचन्द जयंती के अवसर पर 'कफन' कहानी का नाट्य मंचन करवाया

गया था, जिसके निर्देशक भगवती शर्मा थे। नाटक की मुख्य भूमिकाओं में स्वयं निर्देशक और अब्दुल गयूर कुरैशी ने सशक्त अभिनय किया था। भगवती-गयूर की यह जोड़ी लम्बे समय तक माधव कॉलेज और नगर के रंगमंच पर छाई रही, जो उज्जैन के रंग इतिहास का एक उल्लेखनीय पृष्ठ है। बाद में गयूर कुरैशी ने तो रंगमंच से अलविदा कह दिया, किन्तु भगवती शर्मा ने साढ़े पाँच दशकों तक रंगमंच से अपना अटूट रिश्ता बनाए रखा।

1942-43 ई. में कानपुर में स्थापित जन नाट्य संघ (इप्टा) के देशव्यापी प्रभाव से उज्जैन का रंगमंच भी अछूता न रहा। 1945-46 ई. के आस-पास उज्जैन ही नहीं, सम्पूर्ण मालवा में मजदूर आन्दोलनों में सक्रिय भगवती शर्मा इप्टा की ग्वालियर इकाई के समर्पित नाटककार एवं अभिनेता उद्धवकुमार कौशल के सम्पर्क में आए। उन्हें गीत-संगीत और नाटकों के माध्यम से जन-जागरण की पहल रास आ गई और वे इप्टा से जुड़ गए। श्री शर्मा का रंगमंच के प्रति आकर्षण सन् 1940 के आसपास बनने लगा था, लेकिन इप्टा के साथ जुड़कर उन्हें रंगमंच की विलक्षण शक्ति का बोध हुआ। उन्होंने 1946 ई. को नागदा में आयोजित इप्टा के एक सम्मेलन में शिरकत की थी, वहाँ उद्धवकुमार कौशल और उनके समूह की प्रस्तुतियों ने उन पर अमिट छाप छोड़ी और वे इप्टा के लिए सम्पूर्ण समर्पित हो गए थे। श्री कौशल के समूह का एक गीत वे गुनगुनाते थे-

> ''आज हमारी बारी रे विदेसिया, आज हमारी बारी
> लो लंदन की राह, बोरिया-बिस्तर जल्द सँभालो। हाँ, बिस्तर जल्द सँभालो।
> दो सदियों से परख रहे हैं जालिम तेरे वादे। हाँ, जालिम तेरे वादे।
> खून हमारा पीने को कितने ही कमीशन लादे। हाँ, कितने ही कमीशन लादे।
> अब न चलेगी एक विदेशी घी के दिए बुझा लो। हाँ, बिस्तर जल्द सँभालो।''

स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच :

स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर दिसम्बर, 1947 में अहमदाबाद की इप्टा कांफ्रेस में उज्जैन की ओर से भगवती शर्मा शरीक हुए, वहीं वे बलराज साहनी, नेमिचन्द्र जैन, ख्वाजा अहमद अब्बास आदि के सम्पर्क में आए। देश भर के प्रसिद्ध निर्देशकों के नाटकों तथा लोक कलाकारों के नृत्य-संगीत प्रदर्शन ने उनमें नए जोश का संचार किया। बाद के वर्षों में श्री शर्मा ने इप्टा के कई बहुचर्चित नाटकों को उज्जैन में भी खेला और एक नए ढंग के नाट्य आंदोलन से उज्जैन के कला रसिकों को रूबरू करवाया। उनके द्वारा माधव कॉलेज में ख्वाजा अहमद अब्बास के 'गाँधी और गुण्डा' नाटक की प्रस्तुति यादगार बन गई थी। इसी तरह साम्प्रदायिकता की आग में झुलसते भारत को मूर्त करने वाले नाटक 'और इंसान मर गया' का मंचन भी उज्जैनवासियों के लिए एक नया रंग अनुभव सिद्ध हुआ था। 50 के दशक में इप्टा के नाटकों के अलावा भगवती शर्मा ने माधव महाविद्यालय के अपने साथियों के साथ विविध प्रवृत्तियों के कई नाटक खेले, जिनके माध्यम से युवाओं में नई रंगचेतना का प्रसार होने लगा। ऐसे नाटकों में अश्कजी का परदा उठाओ, परदा गिराओ और श्रीराम डोले का कविता सप्लाय कम्पनी (अनुवाद-श्याम परमार) तथा उस दौर के चर्चित नाटक छठा बेटा, लक्ष्मी का स्वागत, जोंक, जमाना, उलझन, दो कलाकार आदि महत्त्वपूर्ण थे। 1857 के गदर की शताब्दी पर भगवती शर्मा ने रानी लक्ष्मीबाई नाटक का मंचन किया था। उस दौर के प्रमुख अभिनेताओं में भगवती शर्मा, अब्दुल गयूर कुरैशी, ब्रजमोहन शर्मा, महेश पंड्या, एन. जी. आखरे, देवकीनंदन सोनी, वजीर मर्चेन्ट, नाथूलाल जोशी, राजेन्द्र सिन्हा, बाबूलाल शर्मा, माँगूसिंह सिसौदिया, इकबाल अहमद, श्रीमती सोमन, जयमलसिंह सोमन, इन्दिरा जोशी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके बाद शिवसिंह रघुवंशी, गोपालदास मूंदड़ा, ओमप्रकाश अमरनाथ, आलोक मेहता, हरभजनसिंह सभरवाल, पुरु दाधीच आदि जैसे कई कलाकारों ने माधव कॉलेज के साथ-साथ नगर की रंग गतिविधियों में सक्रिय हिस्सेदारी की। 1960 ई. के बाद नई रंग चेतना के प्रसार में कई नए कलाकार जुड़ते चले गये, जिनमें से कई आज भी रंगकर्म, सिनेमा और अन्य माध्यमों में सक्रिय हैं।

बीसवीं शताब्दी में उज्जयिनी के सांस्कृतिक उन्मेष के लिए समर्पित व्यक्तियों में पद्मभूषण पं. सूर्यनारायण व्यास (1902-1976 ई.) का नाम सर्वोपरि है। वे विविधविध क्षेत्रों में समान गति से क्रियाशील थे। ज्योतिष, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व, पत्रकारिता जैसे कई आयाम उनके व्यक्तित्व के

अंग थे। उज्जयिनी, कालिदास और विक्रम की पुनर्प्रतिष्ठा का उनका संकल्प 1928 ई. के आसपास आकार लेने लगा था, जब उन्होंने सर्वप्रथम कालिदास जयंती मनाने की शुरूआत की थी। फिर अखिल भारतीय कालिदास परिषद्, राष्ट्र शृंगार मित्र मण्डल, इतिहास संशोधन मण्डल, मालव लोक-साहित्य परिषद् आदि कई संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने अपने संकल्प को सिद्धि तक पहुँचाया। पं. व्यास जी नाट्य में गहरी रुचि रखते थे, जो उनके विचार और कार्यों से प्रमाणित होता है। यद्यपि 1958 ई. में जाकर कालिदास समारोह को अखिल भारतीय स्वरूप दिलाने का उनका स्वप्न साकार हो सका था, किन्तु उसके पहले ही वे इसे कई आयामों से जोड़ चुके थे, जिनमें से एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था, कालिदासीय एवं अन्य नाटकों का मंचन। उन्हीं की प्रेरणा से 1953 ई. में कालिदास विरचित 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के पंचमांक का मूल संस्कृत में पहली बार रंग प्रदर्शन हुआ था, जिसमें कानिटकर शास्त्री और श्रीमती इन्दुमती कानिटकर ने क्रमशः दुष्यंत और शकुंतला की भूमिका की थी। उसी वर्ष जगदीशचन्द्र माथुर का एकांकी 'भोर का तारा' भी मंचित किया गया था। 1958 ई. में उज्जैन में अखिल भारतीय कालिदास समारोह की शुरूआत से संस्कृत रंगमंच के लिए अनुकूल वातावरण बनने लगा था, आठवें और नवें दशक तक आते-आते उसकी अपनी खास पहचान राष्ट्रीय परिदृश्य में रेखांकित होने लगी। पं. व्यासजी के इस स्वप्न की पूर्णता में साठ के दशक से समूचे भारतीय रंग परिदृश्य में व्याप्त और विस्तारित नई रंग-चेतना की अहम भूमिका रही है, जिसके प्रभावस्वरूप उज्जैन का रंगमंच एक साथ कई स्तरों पर परिवर्तन और प्रयोग के उपकरणों से लैस हुआ।

नाट्य लेखन एवं रूपान्तर :

उज्जैन के स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच का वैशिष्ट्य नाट्य-सृजन, रूपान्तर, निर्देशन, अभिनय, संगीत, मंच-पार्श्व, समीक्षा आदि सभी आयामों में नवोन्मेष और नवाचार के रूप में दिखाई देता है। सबसे पहले बात नाट्य-सृजन, रूपान्तर और अनुवाद की, जो किसी भी देश, भाषा या क्षेत्र के रंगमंच के प्राथमिक आधार होते हैं। पिछली शताब्दी में उज्जैन के कई सृजनधर्मियों ने रंगमंच के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्धों के रहते श्रेष्ठ नाट्य-कृतियों का प्रणयन किया। इनमें से कई नाटककार ऐसे भी हैं, जिन्होंने अपने विद्यार्थी या युवाकाल में गहरे रंग संस्कार अर्जित किए और फिर उन्हीं के आलोक में हिन्दी जगत् को महत्वपूर्ण नाट्यालेख अर्पित किए। एक साथ कई विधाओं में सृजनरत रहे पं. सूर्यनारायण व्यास ने भी चार नाटकों की रचना की थी। ऐतिहासिक कथा पर आधारित उनका नाटक 'मृणालवती प्रणय' बाद में संशोधन के उपरान्त धर्मयुग के 13 मार्च, 1960 के अंक में 'विजय का अंत' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इसके पहले उनका एक त्रिअंकीय नाटक 'शाह के बादशाह' 'मार्तण्ड पत्र' में 16 सितम्बर, 1940 के अंक में प्रकाशित हो चुका था। उनके अन्य नाटक हैं-इन्द्रपुरी का अमीन और पति पवित्रता सप्ताह। व्यास जी के 'मृणालवती प्रणय' नाटक में जहाँ उनका इतिहास-बोध प्रेमिल भावुकता के साथ प्रकट होता है, वहीं उनके अन्य नाटकों में हास्य-व्यंग्य के तेवर दिखाई देते हैं। प्रखर साहित्यकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' को उज्जैन लाने का श्रेय पं. व्यास जी को जाता है, जिन्होंने 1942 के आसपास यहाँ रहकर 'विक्रम' पत्रिका के कुछ अंकों का सम्पादन किया था। उज्जैन आगमन के पूर्व उग्र जी 1922 में 'महात्मा ईसा', 1937 में 'डिक्टेटर' और 'चुम्बन' तथा 1940 में 'गंगा का बेटा' नाटक का प्रणयन कर चुके थे। उज्जैन में रहते हुए 1942 में उन्होंने 'आवारा' और 1943 में 'अन्नदाता माधव महाराज महान्' नाटक लिखा। उनका 'आवारा' बर्नार्ड शॉ की शैली से अनुप्राणित है। 'अन्नदाता माधव महाराज' ग्वालियर नरेश पर लिखा गया ऐतिहासिक चरित्रपरक नाटक है। तब उज्जैन, ग्वालियर राज्य का एक प्रमुख नगर था। इस नाटक की रचना उज्जैन प्रवास के दौरान उग्र जी पर पड़े प्रभावों को प्रत्यक्ष करती है। इस नाटक के मंचन के दौरान प्रसाद के प्रसिद्ध 'आह वेदना मिली विदाई' का प्रयोग किया गया था।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में श्री नरेश मेहता के सुबह के घंटे (1956) एवं खण्डित यात्राएँ (1962) का उल्लेखनीय स्थान है। नरेश मेहता ने अपने विद्यार्थी जीवन के दौरान उज्जैन में रहकर रंगमंच के संस्कार प्राप्त किए थे, जो बाद में इलाहाबाद में उनके सृजनकाल में पाथेय बने थे। उनका 'सुबह के घण्टे' जहाँ व्यक्ति स्वातंत्र्य का समर्थन करता है, वहीं 'खण्डित यात्राएँ' में विघटित होते मूल्यों का प्रतिफलन हुआ है। नरेशजी ने एक काव्य नाटक 'संशय की एक रात' (1962) की भी

रचना की थी, जिसमें युद्धोन्मुख संशयात्मक व्यक्तित्व के जरिये युद्ध की अनिवार्यता, उसके मानव-समाज पर प्रभाव तथा शासन तंत्र से जुड़े प्रश्नों की ओर संकेत किया गया है। प्रख्यात कवि डॉ. शिवमंगलसिंह 'सुमन' बीसवीं शती के अन्तिम चार-पाँच दशकों में उज्जैन के सांस्कृतिक उन्मेष के प्रमुख संवाहक बने रहे। साठ के दशक में उन्होंने महाकवि कालिदास के काव्य सरोकारों पर केन्द्रित नाट्य-रूपक 'प्रकृति-पुरुष कालिदास' का प्रणयन किया था, जिसे 1963 ई. में कालिदास समारोह में माधव कॉलेज के युवा रंगकर्मियों ने डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य के निर्देशन में खेला था। साठोत्तर उज्जैन में नई रंगचेतना का सूत्रपात करने वाले रंग-व्यक्तित्वों में डॉ. भट्टाचार्य का नाम शीर्ष पर आता है, जिन्होंने न सिर्फ निर्देशन और प्रशिक्षण के माध्यम से उज्जैन के रंग आंदोलन को गति दी, वरन् कई मौलिक नाटकों का भी सृजन किया। उनके द्वारा लिखित रोशनी की चार दीवारी, तिजौरी, एक खाली कुर्सी एवं पिछली रात की खामोशी कई युवा उत्सवों और महाविद्यालयीन समारोहों में मंचित हुए। उनके काव्य-नाटक 'काठमहल' (1977), 'प्रेत शताब्दी' (1979) तथा 'आगामी आदमी' (1982) कई नाट्य समारोहों में मंचित हुए। बदलती हुई व्यवस्थाओं के बीच मानवीय मुक्ति की यात्रा के तीन सोपानों के रूप में आए ये काव्य नाटक शैली-शिल्पगत प्रयोगशीलता के आग्रही हैं। डॉ. भट्टाचार्य का विसंगत नाटक 'सतोरिया' भी स्वातंत्र्योत्तर भारत की विडम्बनाओं को प्रत्यक्ष करता है।

समकालीन नाट्य-सर्जकों में उज्जैन के गौरव साहित्यकार डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय का विशिष्ट स्थान है, जिनके तीन नाटक 'इला', 'साँच कहूँ तो' तथा 'फिर से जहाँपनाह' बहुचर्चित और बहुमंचित हैं। इला (1988) में नाटककार ने भागवत के नवम स्कन्ध में निबद्ध इला के आख्यान की युगानुरूप व्याख्या द्वारा स्त्री विमर्श को नया मर्म, नया सन्दर्भ दिया है। यह नाटक भारतीय समाज में नारी की त्रासद स्थिति के विरुद्ध एक तेज आवाज उठाने की कोशिश है, जहाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की पड़ताल के साथ ही आधे-अधूरेपन की त्रासदी को नई रंगभाषा के साथ मूर्त करने में लेखक सफल रहा है। उज्जैन में इसका मंचन 1992 के कालिदास समारोह के दौरान हुआ था, तब इसे रंग समूह, भोपाल के कलाकारों ने अशोक बुलानी के निर्देशन में खेला था। उनका 'साँच कहूँ तो' इतिहाससम्मत मिथकाश्रित नाटक है, जिसमें नरपति नाल्ह के 'बीसलदेव रासो' के कथा-सूत्रों के आधार पर स्त्री-पुरुषों सम्बन्धों को एक नई अर्थवत्ता मिली है। लेखक ने कथा नायिका राजमती के जरिये नारी-मुक्ति और नारी विद्रोह की छटपटाहट को सार्थक ढंग से संकेतित किया है। डॉ. श्रोत्रिय द्वारा प्रणीत 'फिर से जहाँपनाह' व्यवस्था के छल-छिद्रों का खुलासा करने वाली एक उपलब्धिपूर्ण नाट्यकृति है, जिसके कई मंचन हो चुके हैं। वरिष्ठ कवि डॉ. प्रमोद त्रिवेदी ने उज्जैन के रंग आन्दोलन के साहचर्य के परिणामस्वरूप एक काव्यनाटक 'कापुरुष' का प्रणयन किया, जिसमें रावणोत्तर लंका के अधिपति विभीषण के चरित्र-विस्तार के जरिये सत्ता परिवर्तन के बावजूद व्यवस्था के यथावत् बने रहने की विडम्बना को अभिव्यक्ति मिली है।

विख्यात व्यंग्यकार स्व. शरद जोशी अपने विद्यार्थी जीवन में उज्जैन की सांस्कृतिक एवं रंग गतिविधियों में सक्रिय रहे थे। उनके दो राजनैतिक व्यंग्य-नाटक हिन्दी नाट्येतिहास में विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं-अंधों का हाथी (1976) और एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ (1978)। इन दोनों नाटकों में लोकतांत्रिक व्यवस्था के भारतीय सन्दर्भ में विपदाग्रस्त होने की त्रासदी को व्यंग्यात्मक निष्पत्ति मिली है। ये दोनों नाटक बहुमंचित और लोकप्रिय हैं। साठ के दशक से सक्रिय व्यंग्यकार डॉ. शिव शर्मा ने भी कुछ हास्य-व्यंग्यपरक लघु नाटक और एकांकी लिखे, जिनका संग्रह 'थाना आफतगंज' 1985 में प्रकाशित हुआ था। 'थाना आफतगंज' कुछ हास्य प्रसंगों की बुनावट से एक थाने के बहाने ही सही, समाज के चेहरों को उजागर करता है। इसके कई प्रदर्शनों ने लोकप्रियता अर्जित की थी। इसी संग्रह में शामिल अन्य एकांकी अफलातून की अकादमी, टेपा सुल्तानों का परीक्षा केन्द्र, आत्माओं की वापसी, पुराने चावल, थीम की तलाश और रिलीफ फण्ड भी समाज की विद्रूपताओं की हास्य-व्यंग्यी चीर-फाड़ करने में कामयाब रहे। वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. भगीरथ बड़ौले ने अनेक मंचीय और ध्वनि नाटकों का प्रणयन किया, जिनमें से कई मंचित, प्रकाशित, प्रसारित और पुरस्कृत हुए। उनके उल्लेखनीय नाटकों में अँधेरे के विरुद्ध, भेड़िये, सूरज के टुकड़े, अँधेरे से अँधेरे तक, रोशनी का रास्ता, नतीजा आदि प्रमुख हैं। डॉ. बड़ौले ने तीस से अधिक
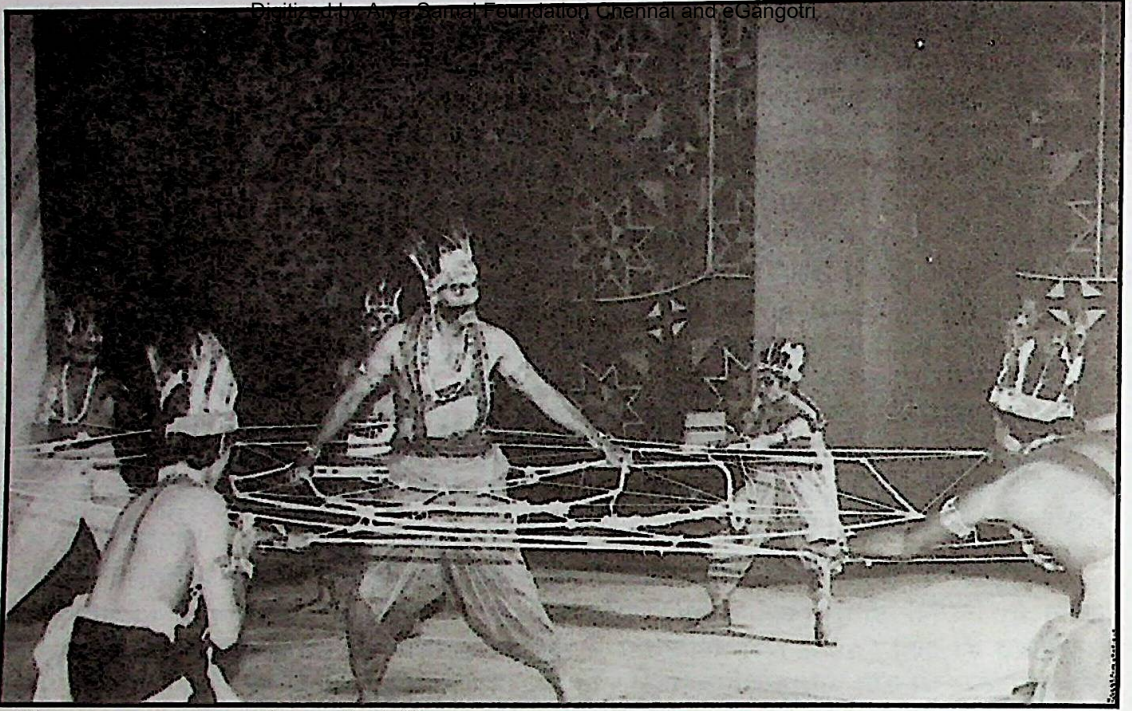
धीरेन्द्र कुमार द्वारा प्रणीत एवं निर्देशित नाटक

एकांकियों की भी रचना की है। अशोक वक्त ने भी कई नाटकों का सृजन किया है, जिनमें रेत सिर्फ रेत, एक और समझौता, कला का अपमान, गुलमोहर के लिए, स्वतंत्रता की वसन्तिका, ममता की छाँव, आजादी के आशिक और धर्मधीर महावीर प्रमुख हैं। वरिष्ठ अध्येता डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित ने प्राचीन आख्यानों की पृष्ठभूमि को लेकर 'शुनः शेप' और 'विदूषक' नाटकों की रचना की। वरिष्ठ मालवी कवि हरीश निगम ने तुलसी की रामकथा को आधार बनाकर एक नाटक 'लोकमानस राम' लिखा, जो कई बार खेला गया।

1970 के बाद उज्जैन के रंग जगत् में कई ऐसे कलाकार और निर्देशक उभरे, जिन्होंने रंगमंच की जरूरतों को देखते हुए श्रेष्ठ नाट्यालेखों की रचना की, इनमें धीरेन्द्रकुमार, सतीश दवे, डॉ. रामराजेश मिश्र, विजयशंकर मेहता आदि प्रमुख हैं। सतीश दवे द्वारा लिखित प्रमुख नाटक हैं–दही चटोकन, मछली प्यास, अलगनी पर टँगी हवा, आपका राहुल और जागो जागो जागो। धीरेन्द्र कुमार के नाटकों में विश्वविजेता और नेरा वन राम सफलतापूर्वक मँचित हुए, वहीं उनका रेडियो नाटक 'महायात्रा' पुरस्कृत हुआ। उन्होंने 'गुनाहों के देवता' उपन्यास पर आधारित एकपात्रीय आलेख 'चन्दर और चन्दर', धर्मवीर भारती की रचनाओं पर आधारित नाट्यालेख 'घाटी में मुनादी' तथा बादल सरकार के 'पगला घोड़ा' पर केन्द्रित आलेख 'कब तक होता रहेगा' की रचना और उनका मंचन भी किया था। कविता के मंचन की दिशा में समर्थ अभिनेता डॉ. रामराजेश मिश्र ने 1977 में सुभाष दशोत्तर की कविताओं पर आधारित आलेख 'कुदालों से खोदा हुआ अँधेरा' की रचना और उसके अभिनय से एक नई जमीन तोड़ी थी। धीरेन्द्रकुमार ने भी अज्ञेय, शमशेर, रघुवीर सहाय और नरेश मेहता की कविताओं का सफल दृश्यीकरण किया था। रंगकर्मी विजयशंकर मेहता द्वारा लिखे गये दो नाटक 'भीष्म' और 'वर्दी वाले' भी मँचित और प्रशंसित हुए। रंगकर्मी डॉ. प्रकाश रघुवंशी ने भी एक नाटक 'फैसला' लिखा।

सतीश दवे के नेतृत्व में सक्रिय 'बाल मंच' की रंग गतिविधियों के अलावा उज्जैन में बाल रंगकर्म प्रायः उपेक्षित रहा है, फिर भी कुछ श्रेष्ठ बाल-नाटकों का सृजन यहाँ के रचनाकारों ने किया

हैं। स्वयं सतीश दवे ने लगभग पचास बाल नाटकों की रचना की है, जिनमें सात जादूगर, छाता कैसे बना, टका पसीना, कंजूसी की सजा, सच की जीत और जादूगर आलूबड़ा प्रमुख हैं। ये सभी नाटक 1986 ई. में आयोजित बाल-नाट्य समारोह में मंचित हुए थे। डॉ. भगीरथ बड़ौले ने भी कई बाल नाटक लिखे हैं, जिनमें बबलू की करामात, चॉकलेट का चमत्कार, मैना रानी, छोटे राजा, नया मोड़ आदि उल्लेखनीय हैं। डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा ने भी कुछ बाल नाटकों की रचना की है, जिनमें स्वर्ग की सैर, सोने का चूहा, लालच बुरी बला और किस्सा ईमानदार का प्रमुख हैं। डॉ. प्रमोद त्रिवेदी के पाँच बाल नाटक 'नया लेसन' शीर्षक संग्रह में प्रकाशित हुए हैं। युवा रंगकर्मी राजीव शुक्ला भी नाट्य-सृजन में सक्रिय हैं।

डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य द्वारा निर्देशित मृच्छकटिकम् का एक दृश्य

पिछली शताब्दी में कई साहित्यकार एवं रंगकर्मियों ने अन्य भाषाओं की रचनाओं के रूपान्तर और अनुवाद में भी सक्रियता दर्शायी। खास तौर पर इस दौर में कई संस्कृत नाटकों के रूपान्तर एवं अनुवाद पहली बार सामने आए। साठ के दशक में वरिष्ठ विद्वान् डॉ. श्यामसुन्दर निगम ने बाबा आफले की एक कहानी को आधार बनाकर 'महाकवि कालिदास' नाटक लिखा था, जो 1967 के कालिदास समारोह में खेला गया था। डॉ. निगम ने कालिदास विरचित मालविकाग्निमित्रम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीयम् का भी हिन्दी रूपान्तर किया, जो भारतीय रंगमंच द्वारा कालिदास समारोह में खेले गए थे। संस्कृत मनीषी प्रो. श्रीनिवास रथ ने सत्तर के दशक में उरुभंग और मुद्राराक्षस का हिन्दी रूपान्तर किया। वरिष्ठ निर्देशक डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य ने कई संस्कृत नाटकों का रूपान्तर और हिन्दी पुनर्रचना की, जिनमें प्रमुख हैं- मृच्छकटिकम्, अविमारक, कर्णभारम्, दूत घटोत्कच, प्रतिमानाटकम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम, उत्तर रामचरितम् आदि। इन सभी का रंग निर्देशन भी डॉ. भट्टाचार्य ने किया था। डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित द्वारा रूपान्तरित कई संस्कृत नाटक पिछले दो दशकों में मंचित हुए हैं, जिनमें वीणावासवदत्ता, मालविकाग्निमित्रम्, सेज को सरोज (पद्मप्राभृतक) आदि प्रमुख हैं। उनके पुत्र शिरीष राजपुरोहित ने भी कुछ विदेशी हास्य नाटकों का रूपान्तर किया है, जिनमें मुंजी (मोलियर) और टापमटाप फत्तू उल्लेखनीय हैं। सतीश दवे ने संस्कृत एवं अन्य भाषाओं के दस से अधिक नाटकों का रूपान्तर और निर्देशन किया, जिनमें खेल गुरु का (हास्य चूड़ामणि), गुल गपाड़ा, नीति मानकीकरण की (कुआ पाओ कुन का थाई नाटक) आदि प्रमुख हैं। मालवी कवि हरीश निगम ने भी दो संस्कृत नाटकों का मालवी रूपान्तर किया-सपना में रानी (स्वप्नवासवदत्ता) और गारा की गाड़ी (मृच्छकटिकम्)। ये दोनों रूपान्तर कई समारोहों में मंचित हुए। डॉ. जगदीश शर्मा ने कावालम् नारायण पणिक्कर के मलयालम नाटक का हिन्दी रूपान्तर (स्थित है सूर्य) किया। डॉ. प्रमोद त्रिवेदी ने विक्रमोर्वशीयम की बच्चों के लिए मंचोपयोगी पुनर्रचना की।

रंग-संस्थाएँ और रंगकर्मी :

1960 ई. के आसपास उज्जैन का रंगमंच नई रंग चेतना के उपकरणों से लैस होने लगा था, जिसकी पहली अभिव्यक्ति अखिल भारतीय कालिदास समारोह में उज्जैन की संस्थाओं के रंग-प्रदर्शनों में हुई। उधर भगवती शर्मा 1958 में सम्पन्न प्रथम कालिदास समारोह से ही उसके मंच निर्माण से जुड़ गये थे। उनके सहयोगी के रूप में क्रमशः यशवंतराव शिन्दे और अब्दुल गफूर का आगमन हुआ, जो पार्श्व मंच कार्य में सिद्धहस्त थे। समारोह के दूसरे वर्ष (1959) में माधव कॉलेज के कलाकारों
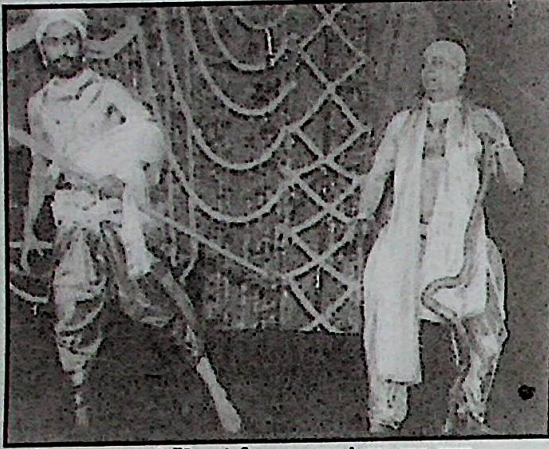
हफीज खान द्वारा निर्देशित 'वीणावासवदत्ता' का एक दृश्य

ने प्रो. व्ही. वेंकटाचलम् के निर्देशन में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' मूल संस्कृत में खेला था। फिर 1961 में भी इसी दल ने संस्कृत में 'विक्रमोर्वशीयम्' खेला। इस बीच अगस्त 1959 में डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य का उज्जैन आगमन रंग उन्मेष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उनके प्रभाव और प्रयासस्वरूप कई कलाकारों ने रंगकर्म को पूर्णकालिक कर्म के रूप में अंगीकार किया, कई नई संस्थाएँ सक्रिय हुईं और यहाँ के कलाकार देश के ख्यातनाम रंगकर्मियों के सम्पर्क में आए। डॉ. भट्टाचार्य के निर्देशन में ही माधव कॉलेज के दल ने कालिदास समारोह 1963 ई. में पहला हिन्दी नाटक 'प्रकृति पुरुष कालिदास' खेला गया था, जिसके नायक राजकुमुद ठोलिया और नायिका इंदु बंसल थी। साठ-सत्तर के दशक में कालिदास समारोह में उज्जैन की दो संस्थाओं-कालिदास रंगम् और भारतीय रंगमंच ने क्रमशः नृत्य-रूपक एवं रंग प्रदर्शन किए। कालिदास रंगम् के नृत्य रूपकों में मेघदूत (1967), ऋतुसंहार और प्रतिकल्पायन (1968), इंदुमती स्वयंवर (1969) एवं ऋतुसंहार (1971) पर्याप्त सराहे गये। भारतीय रंगमंच रंगकर्मी गोविन्द धर्माधिकारी एवं श्रीमती सुमन धर्माधिकारी के नेतृत्व में सक्रिय था, जिसने कालिदास समारोह में क्रमशः महाकवि कालिदास (1967), मालविकाग्निमित्रम् (1968), अभिज्ञानशाकुन्तलम् (1970) तथा आषाढ़ का एक दिन (1973) का मंचन किया। ये सभी प्रस्तुतियाँ हिन्दी में हुई थीं। भारतीय रंगमंच के प्रमुख कलाकारों में धर्माधिकारी दम्पत्ति के साथ ही कुमुद चास्कर, रमेश मेहता आदि सक्रिय थे। धर्माधिकारी दम्पत्ति के बम्बई चले जाने के बाद पत्रकार बंसीधर मेहरवाल ने इस संस्था को कुछ वर्षों तक सक्रिय रखा।

लम्बे समय तक उज्जैन के रंगमंच पर अपनी अभिनय एवं निर्देशन दक्षता से कायल कर देने वाले भगवती शर्मा ने कालिदास समारोह की शुरूआत के साथ अपने को मंच-पार्श्व तक सीमित कर लिया था, किन्तु इस नई भूमिका में भी वे कल्पनाशील मंच निर्माण द्वारा दर्शकों को मुग्ध करने लगे। साठ और सत्तर के दशक में समारोह में मंचित प्रकृति पुरुष कालिदास, मेघदूत, मृच्छकटिकम् तथा मालविकाग्निमित्रम् नाटक में मंच परिकल्पना उन्हीं की थी। अभिनेता एवं निर्देशक के रूप में भी उनकी हिस्सेदारी लम्बे अन्तराल के बाद मालविकाग्निमित्रम् में दिखाई दी। फिर उन्होंने राजेन्द्र गुप्त के निर्देशन में 'आधे-अधूरे' की मुख्य भूमिका (महेन्द्रनाथ) में चमत्कृत कर दिया था। सावित्री की भूमिका में डॉ. विमला शुक्ला मंच पर उतरी थीं। रंग शिविर में तैयार इस नाटक की अन्य भूमिकाओं में डॉ. दीपक तावड़े, प्रो. नवीन डेविड और हफीज खान ने समर्थ अभिनय किया था। 1976 में प्रभातकुमार भट्टाचार्य द्वारा निर्देशित 'मृच्छकटिकम्' में शकार की भूमिका में भगवती शर्मा ने अविस्मरणीय छाप छोड़ी थी। इसके बाद वे दो बार अलग-अलग नाटकों में एक ही भूमिका (चाणक्य) में उतरे, पहले 1978 ई. में 'मुद्राराक्षस' में और फिर 1989 में प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में। इन दोनों नाटकों का निर्देशन उनके प्रिय निर्देशक धीरेन्द्रकुमार ने किया था। समारोह के साथ ही नगर के रंगकर्म में दो नृत्यविदों का जुड़ना भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, ये थे-पुरु दाधीच और राजकुमुद ठोलिया, जिनके नृत्य निर्देशन से कालिदासीय एवं अन्य नाटक स्पन्दित हुए थे। राजकुमुद ठोलिया ने तो लम्बे समय तक एक नर्तक अभिनेता के रूप में अपना विशिष्ट स्थान बनाए रखा। उनकी प्रमुख प्रस्तुतियों में मेघदूतम्, प्रकृति पुरुष कालिदास, विक्रमोर्वशीयम्-चतुर्थ अंक (निर्दे. कमलेशदत्त त्रिपाठी) आदि उल्लेखनीय हैं।

डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य 70 के दशक तक आते-आते उज्जैन के रंगाकाश पर छा चुके थे। युवक समारोहों से लेकर कालिदास समारोह तक, म. प्र. नाटक लोक कला अकादमी की स्थापना

(1976) से लेकर रंग शिविरों एवं रंग-प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम की शुरूआत तक विस्तारित उनकी रंग सक्रियता से उज्जैन रंगमंच पर अनेक नए कलाकार जुड़े, जिनमें से कई बाद में नई रंग चेतना के संवाहक बने। डॉ. भट्टाचार्य द्वारा उस दौर में निर्देशित नाटकों में नीली झील, नदी प्यासी थी, उत्तर प्रियदर्शी, रोशनी की चार दीवारी, पिछली रात की खामोशी, बाकी इतिहास, तिजोरी, एक खाली कुरसी, प्रकृति पुरुष कालिदास, मिट्टी की बारात से लेकर संस्कृत क्लैसिक मृच्छकटिकम्, मुद्राराक्षस, उत्तर रामचरित, अविमारक, दूत घटोत्कच, मालती माधव, अभिज्ञानशाकुन्तलम् आदि उल्लेखनीय हैं। सन् 70 के आसपास रंगकर्मी और कलाकारों की एक-एक कर कई पीढ़ियाँ उज्जैन के रंगमंच पर चहलकदमी करती दिखाई देने लगी। इस फेहरिस्त के कुछ प्रमुख नाम हैं-अब्दुल हफीज खान, प्रकाश रघुवंशी, सुदीप बैनर्जी, हरीश पाठक, धीरेन्द्र कुमार, ज्योति स्वरूप, अशोक वक्त, गुलाबसिंह यादव, आलोक मेहता, दिलीप तावरे, अंसार अहमद कुरैशी, राकेश परमार, ओमप्रकाश खत्री, सुभाष दशोत्तर, प्रो. नवीन डेविड, कल्पना परुलेकर, वीरेन्द्रसिंह, सुभाष खर्देकर, श्याम मलिक आदि। 1974 में डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन के कुलपति काल में विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा पहली नाट्य कार्यशाला का आयोजन किया गया, जिसके निर्देशक के लिए एन. एस. डी. से प्रशिक्षित राजेन्द्र गुप्त उज्जैन आए थे। अधुनातन रंग प्रवृत्तियों से परिचय का यह अवसर उज्जैन के रंगकर्मियों के लिए यादगार सिद्ध हुआ। इस शिविर में 'अंधायुग' की तैयारी की गई, जो 1974 के कालिदास समारोह में खेला गया। इस नाट्य मंच से प्रो. नवीन डेविड श्रेष्ठ अभिनेता के रूप में स्थापित हुए। 1975 में विक्रम विश्वविद्यालय की रंग कार्यशाला का निर्देशन रामगोपाल बजाज ने किया था, उनके निर्देशन में विश्वविद्यालय के दल ने कालिदास समारोह में ध्रुवस्वामिनी का मंचन किया था। राजेन्द्र गौतम ने इन दोनों नाटकों में अभिनय दक्षता प्रमाणित की थी। बाद में श्री गौतम ने 'एक कंठ विषपायी' का भी निर्देशन किया था। उनके भाई सुभाष गौतम भी एक संस्था और थियेटर पत्रिका के साथ सक्रिय रहे। डॉ. भट्टाचार्य ने मध्यप्रदेश नाटक लोक कला अकादमी के माध्यम से भी अनेक रंग शिविरों का आयोजन किया, जो रंगकर्मियों को अपनी रंग विरासत से जोड़ने के साथ ही नई रंग दिशाओं के अन्वेषण के लिए प्रेरक सिद्ध हुए। इन रंग शिविरों में स्थानीय रंग विशेषज्ञों के साथ ही बाहर से आमंत्रित ब्रजमोहन शाह, सुरेश भारद्वाज, बंसी कौल, एम. के. रैना आदि ने रंग प्रशिक्षण दिया तथा मशरिकी हूर, गारा की गाड़ी, अविमारक, तीन अपाहिज, स्वप्नवासवदत्ता, मध्यम व्यायोग, उरुभंग आदि की प्रस्तुति की गई।

1974 का वर्ष राजेन्द्र गुप्त की रंग कार्यशाला के साथ ही एक और कारण से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इस वर्ष कालिदास समारोह के स्वरूप को लेकर एक नई अवधारणा सामने आई, जिसकी अनुशंसा वरिष्ठ रंगकर्मियों और विद्वानों की एक पैनल ने की थी। शास्त्रीय परंम्परा के रचनात्मक पुनराविष्कार की यह पहल अशोक वाजपेयी के प्रयासों का सुफल थी और 1974 का समारोह एक नये स्वरूप में सामने आया। इस वर्ष एक ओर रंगशिल्पी गोवर्द्धन पांचाल द्वारा परिकल्पित तथा नाट्य शास्त्रानुमोदित विकृष्ट मध्यम नाट्य मण्डप निर्मित किया गया था, वहीं देश के शीर्षस्थ रंग-निर्देशकों ने अपनी प्रस्तुति दीं। ये थे-हबीब तनवीर (उत्तररामचरित), इब्राहीम अलकाजी (मृच्छकटिक) तथा शांता गाँधी (विक्रमोर्वशीयम्)। तब से देशभर के स्थापित और नवोदित निर्देशक अपनी शास्त्रीय, लोक और प्रयोगधर्मी प्रस्तुतियों से संस्कृत नाटकों की अनंत रंग संभावनाओं को उजागर करने में सक्रिय रहे हैं। प्रसिद्ध रंग समीक्षक डॉ. नेमिचन्द्र जैन ने इस परिवर्तन को चिह्नित किया है, "इस परिवर्तन के मुख्य उद्देश्य दो थे : एक देश के प्रतिभावान रंगकर्मियों को संस्कृत नाट्य खेलने के लिए प्रेरित करना और उन्हें
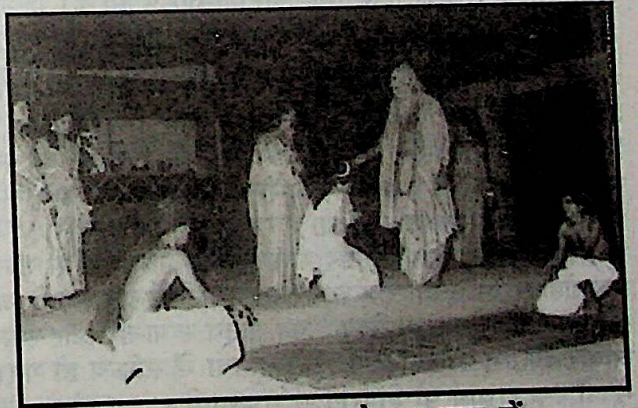
अभिज्ञानशाकुन्तलम् के एक दृश्य में डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी एवं अन्य कलाकार

कालिदास समारोह में प्रदर्शन के लिए बुलाना, जिससे संस्कृत नाटकों की अपनी विशिष्ट सौंदर्य-दृष्टि और रंग-शैली के अनुरूप उनके प्रदर्शन के लिए उपयुक्त कल्पनाशील पद्धतियों की व्यावहारिक खोज की जा सके। दूसरे, समारोह में संस्कृत के साथ-साथ हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में नाटक प्रस्तुत करना, जिससे एक ओर दर्शकों को संस्कृत नाटकों की सुन्दरता और सूक्ष्मता का ज्यादा गहरा एहसास हो और दूसरी ओर भारतीय भाषाओं के समकालीन रंगमंच का संस्कृत नाटक से सम्बन्ध जुड़े।'' (तीसरा पाठ, पृ. 231-32) इन दोनों दिशाओं में कालिदास समारोह की अविरल यात्रा के रहते उज्जैन ने देशव्यापी ख्याति अर्जित कर ली है, वहीं कई विदेशी नाट्य-मण्डलियों की प्रस्तुतियों के साथ ही कालिदास अकादमी अब एशियाई रंगमंच के प्रतिनिधि केन्द्र के रूप में विकासोन्मुख है, जिसकी परिणति अभी भविष्य के गर्भ में ही है।

1978 ई. में स्थापित कालिदास अकादमी अपनी स्थापना से ही संस्कृत रंगमंच के पुनराविष्कार की दिशा में यत्नशील रही है। 1979 में अकादमी ने बाल वर्ष के सन्दर्भ में दो संस्कृत नाटकों को बाल-नाटक की अनुरूपता में खेला था- अभिज्ञानशाकुंतलम् (निर्दे. श्री निवास रथ) एवं बालचरितम् (निर्दे. रवि शर्मा)। अकादमी द्वारा समय-समय पर रंग प्रशिक्षण शिविर आयोजित किए जाते रहे। 1980 में कावालम् नारायण पणिक्कर के निर्देशन में आयोजित शिविर महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ था, जिसकी परिणति के रूप में भास-विरचित 'दूतवाक्यम्' की प्रस्तुति अविस्मरणीय रही। 1981 से 86 तक प्रसिद्ध रंग विशेषज्ञ डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी अकादमी के निदेशक रहे। उनका कार्यकाल विविधायामी सक्रियता का दौर सिद्ध हुआ। उज्जैन का रंगमंच संस्कृत नाट्य के साथ और अधिक निकटता-जीवंतता का अहसास लिये अन्तःसंवाद करने लगा। 1982 में अकादमी ने संस्कृत नाट्य के अनुरूप प्रदर्शन-शैली की तलाश में विशिष्ट प्रयोग किया, जिसके अन्तर्गत 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अंक को तीन निर्देशकों-डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी, कावालम् नारायण पणिक्कर तथा रतन थियम् ने अपनी-अपनी शैली में प्रस्तुत किया। तब से अब तक अकादमी प्रतिष्ठित निर्देशकों के साथ समय-समय पर रंग कार्यशाला तथा रंग-प्रस्तुति करती आ रही है। इन निर्देशकों में डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य, धीरेन्द्रकुमार, बंसी कौल, प्रो. श्रीनिवास रथ, राजेन्द्र अवस्थी, चेतन पण्डित, सूर्यमोहन कुलश्रेष्ठ आदि सम्मिलित हैं। अकादमी का अपना मुक्ताकाशी रंगमंच तथा एक नाट्य मण्डप भी है।
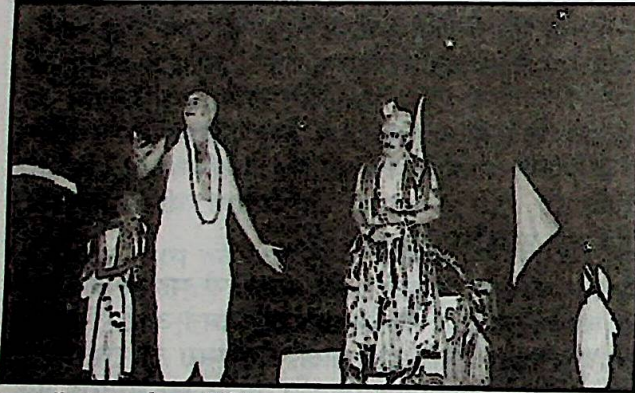
डॉ. भट्टाचार्य द्वारा निर्देशित मुद्राराक्षस में डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी (चाणक्य) एवं श्री धीरेन्द्र कुमार चन्द्रगुप्त

म. प्र. नाटक लोककला अकादमी अपनी स्थापना वर्ष से ही नाट्य समारोहों के संयोजन में सक्रिय रही। इसके स्थापना-वर्ष 1976 में डॉ. शिवमंगलसिंह सुमन षष्टिपूर्ति नाट्य समारोह का आयोजन किया गया। इसमें ब्रजमोहन शाह द्वारा निर्देशित तिरिया चरित्र (गोल्दोनी), धीरेन्द्रकुमार द्वारा निर्देशित अजातघर तथा ज्योतिस्वरूप के निर्देशन में बल्लमपुर की रूपकथा की प्रस्तुति यादगार साबित हुई। इसके बाद अकादमी ने राजकुमुद रजत उत्सव (1979), एन. एस. डी. के सहयोग से भास नाट्य समारोह (1980), यशवंतराव शिन्दे नाट्य समारोह (1981 एवं 1982), बाल नाट्य समारोह (1982,83) आदि सहित कई आयोजनों से उज्जैन रंगमंच को समृद्ध बनाया। सुमन नाट्य समारोह से अभिनेता राकेश परमार और वीरेन्द्रसिंह की जोड़ी स्थापित हुई, जिन्होंने मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' का नाट्य रूपान्तर और सफल मंचन किया था। बाद में ये दोनों बम्बई जाकर फिल्म और दूरदर्शन की दुनिया में सक्रिय हो गए। 1976 में अकादमी ने कालिदास समारोह में डॉ. भट्टाचार्य के निर्देशन में मृच्छकटिक का मंचन किया था, जिसके कलाकारों में भगवती शर्मा के अलावा हिमांशु रथ, सुशीला धर्मदासानी, अजय अवस्थी, संजीव दीक्षित, कृष्णकांत निलोसे आदि प्रमुख थे। बाद के वर्षों में सुशीला धर्मदासानी ने एक श्रेष्ठ अभिनेत्री के रूप में अपनी पहचान बनाई।

वे इन दिनों दिल्ली में सुशीला प्रदीप वेर्णेकर के रूप में नाट्य निर्देशन में सक्रिय हैं। साथ ही वे एवाँगार्द अकादमी, दिल्ली की अध्यक्ष तथा 'रंगमाया और फिल्ममाया' पत्रिका की सह-सम्पादिका हैं। उनके पति प्रदीप वेर्णेकर भी श्रेष्ठ रंग निर्देशक हैं। माच गुरु ओमप्रकाश शर्मा भी लम्बे समय से म. प्र. नाटक लोककला अकादमी, कालिदास अकादमी और शिप्रा संस्कृति संस्थान के साथ रंग-संगीत एवं माच निर्देशन में जुड़े रहे हैं। म. प्र. नाट्य लोककला अकादमी द्वारा संचालित डिप्लोमा इन ड्रामाटर्जी के माध्यम से लगभग दो दशकों तक उज्जैन की रंग प्रतिभाओं में निखार आया, वहीं कई रंगकर्मी राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में गहन प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए दिल्ली गए। एन. एस. डी. से प्रशिक्षित उज्जैन के रंगकर्मियों में धीरेन्द्रकुमार, ज्योति स्वरूप, अश्विनी शास्त्री, जितेन्द्र शास्त्री, सुशीला धर्मदासानी, हफीज खान, संजीव दीक्षित, लोकेन्द्र त्रिवेदी, कन्हैयालाल कैथवास आदि उल्लेखनीय हैं।

सतीश दवे द्वारा निर्देशित 'अभंग गाथा' का एक दृश्य

आठवें और नौवें दशक में धीरेन्द्रकुमार एक धूमकेतु की तरह उज्जैन के रंग पटल पर छा गए थे, किन्तु 1994 में उनकी असामयिक मृत्यु से अपार रंग संभावनाएँ अधूरी ही रह गईं। वे दो दशकों तक एक साथ कई रूपों-अभिनेता, निर्देशक, नाटककार, संगीतकार, गायक आदि से उज्जैन के रंगमंच को वैविध्य और विस्तार देते रहे। 70 के दशक में वे एक गायक के रूप में उभरे थे। साभिनय गायन उनकी विशेषता थी, जिसे देखकर प्रो. नवीन डेविड और अशोक वक्त ने उन्हें अभिनेता के रूप में कार्य करने के लिए प्रेरित किया। डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य ने उन्हें 1972 में मृच्छकटिकम् में संवाहक और 1973 में मेघदूत में दक्ष की भूमिका दी। राजेन्द्र गुप्त ने अंधायुग में उन्हें युयुत्सु की भूमिका दी थी। उसके बाद धीरेन्द्रकुमार ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। 1978 में उन्होंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से डिप्लोमा अर्जित किया। 1972 से लेकर मृत्युपर्यन्त उन्होंने लगभग चालीस नाटकों में अभिनय और लगभग तीस नाटकों का निर्देशन किया। उनके द्वारा निर्देशित नाटकों से एक और समझौता (अशोक वक्त), चन्दर और चन्दर, नदी प्यासी थी, घाटी में मुनादी (धर्मवीर भारती), पगला घोड़ा (बादल सरकार), सुनो जन्मेजय (आद्य रंगाचार्य), आधे-अधूरे (मोहन राकेश), विश्वविजेता, नेरा वन राम (धीरेन्द्र कुमार), चन्द्रगुप्त (प्रसाद), मुद्राराक्षस (विशाखदत्त), अभिज्ञानशाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् (कालिदास) आदि उल्लेखनीय हैं। 1980 में उन्होंने शिप्रा संस्कृति संस्थान की स्थापना की थी, जो आज भी सक्रिय है तथा प्राय: प्रतिवर्ष धीरेन्द्रकुमार की स्मृति में नाट्य समारोह या अन्य आयोजन करती है।

सतीश दवे ने कई वर्षों तक म. प्र. नाटक लोक कला अकादमी के नेमिचन्द्र जैन नाट्य केन्द्र का संचालन करते हुए कई नाटकों का निर्देशन किया। वे लम्बे समय से बाल रंगकर्म के क्षेत्र में सक्रिय रहने वाले एकमात्र रंगकर्मी हैं। बालमंच के संस्थापक के रूप में उनकी देन अविस्मरणीय है। श्री दवे द्वारा अब तक निर्देशित लगभग 30 नाटकों में से प्रमुख हैं-अंधायुग, आषाढ़ का एक दिन, इन्द्रजीत, बड़ी बुआजी, मालविकाग्निमित्रम्, दही चटोकन आदि। डॉ. प्रकाश रघुवंशी ने अभिनेता और निर्देशक के रूप में साठ और सत्तर के दशक में उज्जैन रंगमंच पर अपनी पहचान बनाई थी। डॉ. भट्टाचार्य के सुयोग्य शिष्यों में एक डॉ. रघुवंशी ने उस दौर के कई नाटकों में अभिनय, मंच पार्श्व सहयोग या निर्देशन किया था। इन नाटकों में उत्तर प्रियदर्शी, खाली कुरसी, मृच्छकटिकम्, नीली झील, अंधा युग, थीम की तलाश आदि प्रमुख हैं। 1975 के बाद वे फिल्मों

अभिनव रंगमण्डल की प्रस्तुति 'रावण' का एक दृश्य

बाल मंच की प्रस्तुति 'मध्यमव्यायोग' का एक दृश्य

और टी.वी. में काम के सिलसिले में बम्बई चले गये थे। वहाँ उन्होंने 78-79 के आसपास आर्टिस्ट कंबाइन थियेटर की स्थापना की, जिसके माध्यम से उन्होंने रामानन्द सागर, गुलजार, धर्मवीर भारती, ओम शिवपुरी आदि कई लोगों के साथ रंगकर्म में हिस्सेदारी की। रंगकर्म में प्रशिक्षित राजेन्द्र अवस्थी और वकार फारूकी ने 1981 से 83 तक भारत भवन रंगमंडल में ब. व. कारंत जैसे अनुभवी रंग निर्देशक के साथ काम किया। वकार फारूकी की असामयिक मृत्यु के बाद राजेन्द्र अवस्थी उनकी स्मृति में उज्जैन में नाट्य समारोह करते रहे। श्री अवस्थी ने कालिदास अकादमी, म. प्र. नाटक लोककला अकादमी, रंग समूह आदि के साथ कई नाटकों में अभिनय, निर्देशन एवं मंच पार्श्व कार्य किया है। उनके द्वारा निर्देशित नाटकों में अंधेर नगरी, मध्यम व्यायोग, दूत घटोत्कच, कर्णभार आदि उल्लेखनीय हैं।

पिछले तीन दशकों से रंगमंच से सम्बद्ध डॉ. राजराजेश मिश्र ने एम. के. रैना, ब्रजमोहन शाह, सुधीर कुलकर्णी, शान्ता गाँधी आदि के साथ काम किया है। उन्होंने 1977 में पंकज पाठक एवं राजकुमार मेहता के साथ कला रंजन संस्था बनाई थी, जिसके द्वारा सुभाष दशोत्तर की स्मृति में नाट्य समारोह किए गए। कई नाटकों में अभिनय एवं मंच पार्श्व कार्य के साथ ही डॉ. मिश्र ने सुभाष दशोत्तर की कविताओं पर आधारित नाट्यालेख 'कुदालों से खोदा हुआ अँधेरा' की रचना की और उस पर एकपात्रीय अभिनय कर अपार प्रशंसा अर्जित की थी। 1982 में उन्होंने शरद शर्मा के साथ अभिनव की स्थापना की, जो पिछले दो दशकों से अपनी विस्मयकारी सक्रियता के साथ उज्जैन के रंगमंच पर उपस्थित है।

अभिनव के संस्थापक सचिव शरद शर्मा अभिनेता और निर्देशक के साथ ही रंग संयोजक के रूप में सुविख्यात हैं। उनके प्रयत्नों से अभिनव का एक पूर्णकालिक रंगमंडल कार्य करने लगा है, जिसे केन्द्र एवं राज्य शासन से अनुदान भी मिलता है। पिछले एक दशक में उज्जैन रंगमंच को देश के ख्यातनाम रंगकर्मियों से जोड़ने का सर्वाधिक श्रेय अभिनव को जाता है। अभिनव रंगमंडल ने अब तक हबीब तनवीर, दिनेश खन्ना, लोकेन्द्र त्रिवेदी, शरद शर्मा, चेतन पण्डित, संदीप भट्टाचार्य, भूषण भट्ट, अश्विनी शास्त्री आदि के निर्देशन में अनेक उत्कृष्ट रंग प्रदर्शन किए हैं। रंगमंडल के वर्तमान अध्यक्ष शरद शर्मा द्वारा अभिनीत नाटकों में लहरों के राजहंस, कोर्ट मार्शल, रावण, मालविकाग्निमित्रम् आदि तथा उनके द्वारा निर्देशित नाटकों में थैंक्यू मि. ग्लाड, डेढ़ इंच ऊपर, अप्रासंगिक, धर्मधीर महावीर, देशद्रोही, कोर्ट मार्शल आदि प्रमुख हैं।

अभिनव रंगमण्डल की प्रस्तुति 'तीसवीं शताब्दी' का एक दृश्य

इन दिनों सक्रिय युवा रंग निर्देशकों में एक रफीक खान ने म. प्र. नाटक लोककला अकादमी से 1978 में नाट्य विद्या में पत्रोपाधि अर्जित की थी। अनेक नाटकों में अभिनय एवं निर्देशन कर चुके रफीक खान मुम्बई रंगमंच,

राजेन्द्र अवस्थी द्वारा निर्देशित 'सैंया भये कोतवाल' का एक दृश्य

फिल्म और दूरदर्शन में भी अभिनय, निर्देशन और संगीत निर्देशन कर चुके हैं। वे इन दिनों म. प्र. नाटक लोककला अकादमी के निदेशक हैं। अकादमी से प्रशिक्षित अभिनेता सतीश दवे, शरद शर्मा, रफीक खान आदि सहित कई कलाकार 70 एवं 80 के दशक में सक्रिय हुए थे, जिनमें उल्लेखनीय हैं-हफीज खान, कल्पना परुलेकर, चांदमल गुंदेजा, प्रमथेश बैनर्जी, प्रकाश बाँठिया, अभिलाष भट्टाचार्य, मोना विलियम्स, करुणा श्रीवास्तव, निशा भाँगड़े, लोकेन्द्रसिंह राठौर, राजेन्द्र अवस्थी, गिरिजेश व्यास, मिलिन्द करकरे, जितेन्द्र शास्त्री, विनोद भटनागर आदि। इनमें से कुछ कलाकार अब भी रंगकर्म में सक्रिय हैं। अस्सी के दशक में उत्तरार्द्ध और अन्तिम दशक में कई नए रंगकर्मी जुड़े, कई नई रंग-संस्थाएँ बनीं। म. प्र. नाटक लोककला अकादमी कुछ वर्षों के अन्तराल के बाद पुनः सक्रिय हुई है, वहीं अभिनव रंगमंडल ने अपनी ऊर्जापूर्ण रंग-यात्रा से प्रदेश और देश में ख्याति अर्जित कर रही है। इनके अलावा अंकुर मंच, शिप्रा संस्कृति संस्थान, बाल मंच, रंग समूह, अभिनृत्य सांस्कृतिक संस्थान, लोक मानस अकादमी, अभियान, आस्था आदि की रंग गतिविधियाँ भी आश्वस्त करती रही हैं। कालिदास अकादेमी विभिन्न संस्थाओं के सहयोग से कालिदास समारोह में रंग-प्रस्तुति, रंग शिविर, नाट्य समारोह आदि का आयोजन करती रही है।

शती के आखिरी एक-डेढ़ दशक में रंगकर्मियों की कई पीढ़ियाँ मंच पर और परे अपनी दक्षता प्रकट करती रही। अभिनेताओं में उल्लेखनीय नाम हैं-स्व. धीरेन्द्र कुमार, गुलाबसिंह यादव, गिरिजेश व्यास, प्रमथेश बनर्जी, भगवती शर्मा, शरद शर्मा, राजेन्द्र अवस्थी, रफीक खान, विजयशंकर मेहता, जगरूपसिंह चौहान, राजेश जूनवाल, कमल श्रीवास, वीरेन्द्र नथानियल, राजेन्द्र चावड़ा, पंकज आचार्य, कुमार शिवम्, मिलिन्द करकरे, प्रकाश बाँठिया, रवीन्द्र देवलेकर, अजय मेहता, द्रौपदी केसवानी, संगीता केसवानी, साधना जैन, पल्लवी यादव, कामना मण्डलोई, शैलजा नलवड़े, विश्वास शर्मा, महेश कौशिक, उदय भट्ट, सुन्दर आनन्द, राजीव शुक्ला, कैलाश चौहान, अनन्त वर्मा, प्रज्ञा राठौर, लोकेन्द्रसिंह राठौर, दुर्गेश बाली, राजीव सक्सेना, अनिल परमार, कुमार किशन, दीपक भावसार, शिरीष राजपुरोहित, संगीता खान, एन. डी. लखानी, नीलिमा सक्सेना, स्व. राजा विन्दे,

शंकर कैथवास, संध्या शर्मा, लक्ष्मीनारायण यादव आदि। रंग-संगीत के क्षेत्र में माच गुरु ओमप्रकाश शर्मा, शीतलकुमार माथुर, सुन्दरलाल मालवीय, शांतिलाल जैन, जगदीश उपाध्याय, अजय मेहता आदि तथा नृत्य निर्देशन में पल्लवी यादव, लोकेन्द्रसिंह राठौर आदि सक्रिय रहे। मंच परिकल्पना, प्रकाश आदि मंच पार्श्व कार्य में भगवती शर्मा, राजेन्द्र अवस्थी, सतीश दवे, रवीन्द्र देवलेकर, कमल श्रीवास, दीपक भावसार, कुमार किशन आदि ने सक्रियता दर्शायी।

रंग समीक्षा :

जहाँ तक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उज्जैन के रंगकर्म के दस्तावेजीकरण, समीक्षण और संवर्द्धन का प्रश्न है, बीसवीं शती के अन्तिम दशकों में ही व्यापक प्रयास सामने आये, किन्तु आजादी के पहले इस दिशा में छाए गहरे मौन को तोड़ने का सबसे पहला प्रयास संस्कृति साधक पं. सूर्यनारायण व्यास ने किया था। उन्होंने अप्रैल 1942 में संस्थापित मासिक पत्रिका 'विक्रम' के माध्यम से उज्जैन और मालवा के सांस्कृतिक अतीत को उसके वर्तमान के साथ जोड़ते हुए साहित्य-संस्कृति की नई जमीन तोड़ने का साहस किया था। इस पत्रिका के प्रारम्भिक छह अंकों के सम्पादक प्रखर साहित्यकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' थे, जिन्होंने इसके प्रवेशांक में प्रकाशित अपने सम्पादकीय में पत्रिका के संस्थापक-संचालक पं. व्यासजी की अवधारणा को स्पष्ट कर दिया था- ''विक्रम' अवश्य ही युग-प्रवर्त्तक महाराज विक्रमादित्य और उनके ऐतिहासिक संवत् की स्मृति में निकाला जा रहा है, परन्तु विक्रम का उद्देश्य आदर्श हिन्दी (या हिन्दुस्तानी जो भी आप कहें) द्वारा पहले मालवा और फिर अखिल भारतीय सांस्कृतिक बौद्धिक सेवा करना भी है। अतः विक्रम के बारे में चर्चाएँ तो रहेंगी ही, 'विक्रम' के साथ ही उसका वर्तमान साहित्यिक धरातल भी समुचित उच्च होगा। हमें भय है कुछ मित्र 'विक्रम' को 'अन्वेषण' पत्र समझ लेने की शीघ्रता न कर बैठें। विक्रम सांस्कृतिक-साहित्यिक हिन्दी मासिक पत्र है।'' अक्टूबर 1942 के अंक से उग्र जी के स्थान पर स्वयं पं. व्यास जी ने इसका सम्पादकीय दायित्व भी संभाला और 1955 ई. में इसे अन्तिम रूप से बन्द करने तक लगातार आर्थिक-राजनैतिक संकटों के बावजूद 'विक्रम' के ध्येय को बनाए रखा। 1928 ई. में पं. व्यासजी ने उज्जैन में कालिदास जयंती मनाने की शुरूआत की थी, जिसने 1958 ई. से कालिदास समारोह के रूप में अखिल भारतीय स्वरूप ले लिया। इस त्रिदशकीय यात्रा में 'विक्रम' और व्यासजी की भूमिका अविस्मरणीय है। अपने सम्पादकीय में व्यासजी समय-समय पर कालिदास जयंती एवं विक्रम महोत्सव के स्वरूप पर विचार करते हुए नाट्य, नृत्य, संगीत आदि की प्रस्तुति पर बल देते थे। विक्रम के अप्रैल-मई 1943 (नववर्षांक) में उन्होंने विक्रम द्वि-सहस्राब्दि महोत्सव की आयोजना को लेकर कई सुझाव रखे थे, जिनमें उन्होंने अभिनय, संगीत, कला, चित्र के प्रशस्त प्रदर्शन का भी आह्वान किया था। उनका यह स्वप्न कालिदास महोत्सव को लेकर भी था, जो कालान्तर में उज्जैन की विश्वख्याति का कारण बना।

'विक्रम' के जुलाई'1954 के अंक में पं. व्यासजी ने उस वर्ष के कालिदास स्मृति समारोह का प्रभावी वृत्तान्त प्रस्तुत किया था, जिसमें समाहित शाकुंतल की प्रस्तुति का वृत्त एक तरह से उज्जैन के रंगमच की पहली विधिवत् समीक्षा का प्रादर्श रखता है। संयोग देखिए कि वह आधुनिक उज्जयिनी में मूल संस्कृत में शाकुंतल का पहला मंचन था। इस पर व्यासजी की समीक्षात्मक टिप्पणी छपी थी, ''जनता भाव-विमुग्ध बन महाराजवाड़ा विद्यालय में संस्कृत नाटक शकुन्तला के पंचमांक प्रेक्षण के लिए एकत्रित हो गई। अवश्य ही अवन्ती में यह प्रथम प्रयोग था, परिमित अवधि के रहते हुए भी श्री कानिटकर जी शास्त्री व्याकरणाचार्य एम. ए. (प्रथम) और श्रीमती सौ. इन्दुमती कानिटकर ने स्वयं दुष्यंत और शकुंतला का सफल अभिनय किया, वह भाषा की दुरूहता के रहते हुए भी इतना प्रभावोत्पादक और आकर्षक सिद्ध हुआ कि सभी ने एक स्वर से अभिनय की प्रशंसा की, शकुन्तला ने अपने भाव-प्रदर्शन में वास्तव में कमाल ही दिखलाया, इसी प्रकार श्री रामचन्द्र शास्त्री आदि अभिनेताओं ने स्वल्प समय में भी अपने कौशल से मनोमुग्धकारी अभिनय किया। दर्शक नर-नारी का बहुत बड़ा समूह अचंचल हो बैठा रहा।'' इसी टिप्पणी में व्यासजी ने अगले दिन खेले गये हिन्दी नाटक 'भोर का तारा' की चर्चा की है। साथ ही उन्होंने महाकवि की स्मृति को शासकीय और सार्वदैशिक स्तर पर मनाने, रंगमंच निर्माण, अभिनय आदि के आयोजन, महाकवि की स्मृति में एकेडमी बनाने, अनुसंधान-प्रकाशन आदि का आग्रह किया था, जो बाद के दशकों में मूर्त होते

चले गये। 'विक्रम' के अगस्त-सितम्बर 1954 के अंक में व्यासजी का एक लेख 'कालिदास की स्मृति-पूजा का महत्त्व' प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने कालिदासीय साहित्य, नाटक-रूपक के अभिनय का सुझाव दोहराया था। साथ ही इसमें कालिदास स्मृति के आयोजन की तिथि को लेकर उठे विवाद तथा अन्तिम तौर पर निश्चित की गई तिथि कार्तिक शुक्ल देव प्रबोधिनी एकादशी (देव उठनी ग्यारस) के पार्श्व में निहित कारण मेघदूत के यक्ष के शाप-मोचन की तिथि को रेखांकित किया था, जो सर्वमान्य हुआ। वर्तमान में उज्जैन का सप्तदिवसीय अखिल भारतीय कालिदास समारोह प्रतिवर्ष इसी तिथि से प्रारम्भ होता है। व्यासजी 'विक्रम' के माध्यम से अपने समय के एकांकीकारों को भी प्रोत्साहित करते थे। विक्रम के अंकों में प्रकाशित एकांकियों में रक्त चंदन (विष्णु प्रभाकर), केवल पेट के लिए, कविता सप्लाय एण्ड क. (श्रीराम डोले, अनु. श्याम परमार), मालवानां जय (श्री महेन्द्र), वारे जमानो (सुरेन्द्र व्यास), स्वर्ग में नया रोग (श्याम भटनागर) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से एक एकांकी 'कविता सप्लाय एण्ड क.' के मंचन के लिए स्वयं व्यास जी ने रंगकर्मी भगवती शर्मा को प्रेरित किया था, जिसे माधव कॉलेज में खेला गया था।

'विक्रम' का प्रकाशन बन्द होने के बाद कई वर्षों तक उज्जैन का रंगकर्म पत्र-पत्रिकाओं के दृष्टिपथ से ओझल ही रहा। फिर इन्दौर से प्रकाशित दैनिक पत्र 'नईदुनिया' के सम्पादक राहुल बारपुते ने इस दिशा में रुचि दर्शायी। उधर राष्ट्रीय परिदृश्य में भी कुछ ऐसी पत्रिकाएँ उभरीं, जिनमें विधिवत् रंग समीक्षा और रंग वृत्तान्त का प्रकाशन शुरू हुआ। इन पत्रिकाओं में नटरंग, धर्मयुग, सारिका, दिनमान, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि उल्लेखनीय हैं। इनके साथ ही भोपाल से प्रकाशित कलावार्ता में भी समय-समय पर उज्जैन के रंगकर्म पर लेख एवं टिप्पणियों का प्रकाशन हुआ। इधर दो-तीन दशकों में उज्जैन-इन्दौर के कई समाचार-पत्रों में रंग-प्रदर्शन के विवरण से ऊपर उठकर समीक्षात्मक टिप्पणियों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इन दैनिक पत्रों में नईदुनिया, दैनिक भास्कर, चौथा संसार, नव भारत, स्वदेश, चेतना, अवन्तिका, अग्निपथ, मध्यांचल आदि उल्लेखनीय हैं। रंग-समीक्षा के क्षेत्र में पिछले दो-तीन दशकों में उज्जैन के कई हस्ताक्षर उभरे, जिनकी समीक्षाएँ नियमित या सामयिक तौर पर दैनिक पत्रों और साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। इनमें डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी, डॉ. पवनकुमार मिश्र, अशोक वक्त, डॉ. रामराजेश मिश्र, धीरेन्द्र कुमार, डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा, इसरार मोहम्मद खान, प्रो. शैलेन्द्र पाराशर, डॉ. विष्णु भटनागर, गिरजेश व्यास, जफर मेहमूद, हरीशकुमार सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। बाहर के रंग समीक्षकों में डॉ. नेमिचन्द्र जैन, श्रीमती कमला रत्नम्, मंगलेश डबराल, प्रयाग शुक्ल, डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, कन्हैयालाल नन्दन आदि ने भी कभी-कभार उज्जैन के रंगकर्म पर टिप्पणियाँ लिखी हैं, जो उज्जैन के रंग अवदान को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में रेखांकित करती हैं। उज्जैन की कुछ रंग संस्थाओं ने यदा-कदा स्मारिकाओं, प्रस्तुति-विवरणिकाओं आदि के माध्यम से रंगकर्म के दस्तावेजीकरण के मौके जुटाए हैं, जिनमें कालिदास अकादमी, म. प्र. नाटक लोक-कला अकादमी, रंग प्रभात, शिप्रा संस्कृति संस्थान, अभिनव रंग समूह, बालमंच आदि प्रमुख हैं, किन्तु इस दिशा में अभी और गंभीर प्रयासों की जरूरत है। रंगकर्म को केन्द्र में रखकर उज्जैन से रंग शीर्ष (सम्पादक- डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य), थियेटर (सम्पादक-सुभाष गौतम) कश्मकश (सम्पादक-अशोक वक्त) जैसी पत्रिकाएँ अवश्य निकलीं, किन्तु वे शीघ्र ही बन्द भी हो गईं। इनके अलावा कालिदास (सम्पादक-प्रभातकुमार भट्टाचार्य), साँझी (सम्पादक-हरीश निगम), पुरुषार्थ प्रताप (सम्पादक-अशोक वक्त) आदि में भी यदा-कदा रंगमंच से सम्बद्ध सामग्री का प्रकाशन होता था। कालिदास अकादमी की समाचार पत्रिका 'वृत्तान्त' (सम्पादक-अशोक वक्त) का प्रकाशन अवश्य जारी है, जिसमें संस्कृत रंगमंच पर कुछ विवरणात्मक सामग्री प्रकाशित होती रही है।

कुल मिलाकर उज्जैन रंगमंच की विविधायामी सक्रियता ने बीसवीं शताब्दी को यादगार रंग अनुभवों से समृद्ध किया। यह जरूर है कि शौकिया रंगकर्म की अपनी दिक्कतों के रहते रंग गतिविधियों की निरन्तरता और परिष्कार में बाधाएँ आती रही हैं। यह तय बात है कि रंगकर्म को आधार देने के लिए रंगकर्मियों की निष्ठा के साथ ही निरंतर प्रशिक्षण, अभ्यास और पूर्णकालिकता भी जरूरी है। इस दिशा में उज्जैन रंगमंच नई शताब्दी में प्रवेश के साथ अपनी सक्रियता प्रकट करने लगा है। रंगकर्म के समक्ष अनेक चुनौतियों के रहते यह क्रियाशीलता आश्वस्त तो करती है।

❑

अवन्तिका की संगीत परम्परा

डॉ. प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस पण्डित'

संगीत जिनके डमरु-नाद से उद्भूत माना जाता है, ऐसे नटराज भगवान शंकर महाकाल के रूप में अवन्तिकापुरी में विद्यमान हैं। कलकल करती शिप्रा की लोल लहरें और मन्दिरों में टन-टन करती घण्टियाँ तथा नगाड़ों का उद्घोष पर्यावरण को सतत संगीतमय बनाए हुए है। मनहर मुरलीधर श्रीकृष्ण का सान्दीपनि आश्रम अवन्तिका में ही तो है, जिसकी सुमधुर तान को सुनकर गोपियाँ अपनी सुधबुध खो बैठती थीं। उस मनमोहिनी मुरली का वादन-प्रशिक्षण सान्दीपनि आश्रम में हुआ था।

अवन्तिका अति प्राचीन नगरी है। धर्मपुरी होने के साथ ही वर्षों तक यह मालवा की राजधानी भी रही। अनेक प्रतापी सम्राट हुए, जिनके सान्निध्य में महान् संगीतज्ञों ने यहाँ कला की साधना की।

भगवान गौतम बुद्ध (567-487 ई. पू.) के समकालीन उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत महासेन ने अपनी पुत्री वासवदत्ता के वीणा प्रशिक्षण का भार उदयन को सौंपा था। उदयन अपनी घोषवती वीणा द्वारा मदोन्मत्त गजराज को आसानी से पकड़ लिया करता था। सोमदेव के 'कथा सरित्सागर' में उदयन वासवदत्ता का रोचक वर्णन मिलता है। महासेन के मंत्री गुण शर्मा वेद-विद्या-विशारद तथा कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ ही संगीत कला में भी पारंगत थे। उनकी नृत्यकला देखकर दर्शक आनन्द-विभोर हो जाते थे। वीणा-वादन में भी वे प्रवीण थे। महाश्वेता की वीणा-विनिंदित स्वर-लहरी की तथा वसन्तसेना की मधुर मदस्यन्दिनी स्वर-लहरी की संस्कृत साहित्य में भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। ध्रुवस्वामिनी की गाथाओं का स्वयं इतिहास साक्षी है।

उज्जयिनी के सम्राट समुद्रगुप्त (335-375 ई.) वीणा-वादन में सिद्धहस्त थे। कुछ सिक्के मिले हैं जिनकी एक ओर हाथ में वीणा लिए हुए राजा की मूर्ति है तथा दूसरी ओर बेंत के बने हुए आसन पर बैठी हुई लक्ष्मीदेवी की मूर्ति। प्रयाग की प्रशस्ति पर अंकित है कि सम्राट समुद्रगुप्त ने अपनी प्रखर प्रतिभा से तुम्बरु और नारद को भी लज्जित कर दिया था- ''निशितविदग्धमति गान्धर्वललितैर्वीडित त्रिदशपतिगुरुतुम्बरुनारदादैः।''

समुद्रगुप्त के बाद उनके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 375-413 ई. तक राज्य किया। ये महाराजा विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। कहा जाता है कि ये स्वयं दीपक राग गाने में निष्णात थे। एक बार इन्द्रलोक में रम्भा तथा उर्वशी में प्रतिस्पर्द्धा हो गई (नृत्यकला में)। वहाँ कुशल निर्णायक के अभाव में महाराजा विक्रम को बुलाया गया। इन्होंने अपने सुयोग्य निर्णय से सारी इन्द्रसभा को प्रसन्न कर दिया तब देवराज इन्द्र ने इन्हें उपहारस्वरूप दिव्य सिंहासन भेंट किया, जिसमें बत्तीस पुतलियाँ लगी थीं। इस जनश्रुति से राजा विक्रम के संगीत-ज्ञान का आभास मिलता है। इनके नवरत्नों में एक थे-शंकु, जो संगीतशास्त्र के श्रेष्ठतम पण्डितों में माने जाते थे।

महाकवि कालिदास भी संगीत कला मर्मज्ञ थे। उनके ग्रन्थ 'मेघदूत' में सान्ध्य पूजन, ताण्डव-नर्तन तथा गन्धर्व-यक्ष-किन्नरों के गायन-वादन के साथ पुष्कर, वेणु, वीणा आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। महाकालेश्वर मन्दिर में पटह (नगाड़ा) बजाने का उल्लेख भी 'मेघदूत' में मिलता है-

"कुर्वन सन्ध्यावलिपटहताम् शूलिनः श्लाघनीयाम्"

कालिदास ने भरत के नाट्यशास्त्र के नियमों का पूर्णतः पालन किया है। राजा विक्रम ने अपने राज्य में संगीत तथा साहित्य का विभाग कालिदास को ही सौंप रखा था। ईस्वी आरम्भिक शताब्दियों की संगीत विषयक स्थिति का जितना स्पष्ट चित्रण कालिदास, अश्वघोष आदि की कृतियों में मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। "संगीत साहित्य कलाविहीनः साक्षात् पशुपुच्छ विषाणहीनः" लिखने वाले राजा भर्तृहरि संगीतज्ञ नहीं थे, यह कौन कह सकता है?

इसके बाद से अठारहवीं शताब्दी तक का काल संगीत की दृष्टि से शोध का विषय है। वर्तमान युग के कलाकारों का अवन्तिका की गायन, वादन तथा नृत्य की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

उज्जैन के पानदरीबा मोहल्ले में निवास करने वाले तातू भैया ध्रुपदिये (1857-1917 ई.) को सैकड़ों ध्रुपद कण्ठस्थ थे। ये षट्रस के ध्रुपद गाते थे तथा बाबा हरिदास की परम्परा से सम्बद्ध थे। इनके शिष्यों में सर्वश्री केशवराव आप्टे उज्जैन वाले, केशवराव आप्टे इन्दौर वाले तथा भैयाबुवा हरदास के नाम अग्रणी हैं। भैयाबुवा (1860-1930 ई.) के शिष्य थे- सर्वश्री पंढरीनाथ मामा, बिहारीलाल पण्ड्या तथा विनायक बुवा काळे।

श्री केशवराव सखाराम आप्टे उज्जैन वाले को पाँच सौ ध्रुपद याद थे। आपने उस्ताद बन्देअली खाँ से बीन तथा इन्दौर के श्री हरिभाऊ गड़बोले से ठुमरी सीखी थी। इनके दो पुत्र थे-रामचन्द्र उर्फ बालू भैया तथा गणेश उर्फ घारू भैया। बालू भैया ध्रुपद व प्रबन्ध गाते थे और हारमोनियम बजाते थे तथा घारू भैया तबला बजाते थे। भागसीपुरा की नागनाथ गली में रहने वाले श्री बिहारीलाल पण्ड्या ने विभिन्न नगरों में ध्रुपद के कार्यक्रम दिए। आपको मुम्बई में श्री लोकमान्य तिलक को ध्रुपद सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। संगीत मार्तण्ड पं. ओंकारनाथ ठाकुर उज्जैन आगमन पर मिलने के लिए इनके घर गए थे। शतायुषी होकर 15 जनवरी, 1969 को आपका निधन हुआ। आपके कनिष्ठ पुत्र श्री बालकृष्ण पण्ड्या ध्रुपद के अतिरिक्त तिल्लाना भी अच्छा गाते थे। महाराजा ग्वालियर ने उन्हें पुरस्कृत किया था। होनहार ध्रुपद गायक बालकृष्ण 18 वर्ष की आयु में ही स्वर्गवासी हो गए। श्री विनायक बुवा काळे प्रख्यात कीर्तनकार थे। इनके सुपुत्र श्री जनार्दन काळे भी प्रसिद्ध कीर्तनकार हैं।

वर्तमान युवा पीढ़ी के ध्रुपद गायकों में गुन्देचा बन्धु (उमाकान्त-रमाकान्त) तथा श्री उदय भवालकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये लोग अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि कई देशों में कार्यक्रम दे चुके हैं। श्री भवालकर ने काफी समय तक हालैण्ड में रहकर ध्रुपद का प्रशिक्षण दिया। ध्रुपद की संगत के प्रमुख वाद्य हैं-बीन और पखावज। उज्जैन में एक बीनकार थे-श्री पीर खाँ, जो उस्ताद बाबू खाँ बीनकार के रिश्तेदार थे। पखावजियों में श्री चैन भैया तथा रामदासजी थे जो तातू भैया ध्रुपदिए की संगत करते थे। श्री रामदास जी ने अयोध्या के सन्त पखावजियों से शिक्षा ग्रहण की थी। देश-विदेश में पखांवज-वादन करने वाले वर्तमान में दो युवा पखावजी हैं-श्री प्रवीण आर्य तथा श्री अखिलेश गुन्देचा।

उज्जैन के स्व. कृष्णराव रघुनाथराव आप्टेवाले सितार में मींड काम के लिए संगीत जगत् में प्रसिद्ध थे। उस्ताद बन्देअली खाँ, मुगलू खाँ और उनके पुत्र मुराद खाँ तथा इमदाद खाँ महीनों इनके यहाँ मेहमान बनते थे। कृष्णराव जी के कनिष्ठ पुत्र स्व. विश्वनाथ ने उस्ताद मुराद खाँ से बीन सीखी व बाद में सितार अपनाकर पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर के साथ देश के विभिन्न स्थानों पर अपनी

कला का प्रदर्शन किया। इनके वंशज श्री वासुदेवराव आष्टेवाले, श्री आनंदराव आष्टेवाले तथा प्रकाश आष्टेवाले सितारवादन की परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं। उज्जैन के अन्य वर्तमान सितारवादकों में सर्वश्री भास्करराव फड़के, महादेवप्रसाद यादव, एस. एम. शहजाद तथा सुधीर भट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री योगेश यादव कुशल सिन्थेसाइजर वादक हैं।

उज्जैन के ख्याल गायकों में सर्वोपरि नाम है-स्व. उस्ताद मस्सू खाँ का। ये कव्वाल बच्चों के घराने की शोभा बढ़ाते थे। गायक के साथ वाग्गेयकार (कवि एवं गायक) भी थे। मराठी भावगीत भी बड़ी मधुरता से गाते थे। जन्मभूमि बरसाना से इन्हें बहुत लगाव था। उस्ताद मस्सू खाँ के पूर्व उज्जैन में एक और अप्रतिम गायक हुए-श्री काका पूणेकर, जिनका गायन सुनने के लिए देवास से श्री कुमार गन्धर्व उज्जैन आया करते थे। वर्तमान में सर्वश्री बण्डू पित्रे, अरविन्द पटवर्धन, रमाकान्त दुबे, एकनाथ पाण्डे, गोपाल आप्टे, प्रमोद शास्त्री, श्रीमती मीनाक्षी दास, कु. मीना मोघे, श्रीमती तृप्ति नागर आदि ख्याल गायन की साधना में संलग्न हैं। इस दिशा में श्री सुधाकर देवले उज्जैन का नाम रोशन कर रहे हैं। ये प्रसिद्ध गायक श्री जितेन्द्र अभिषेकी के शिष्य हैं तथा अमेरिका, बेहरीन आदि कई देशों में ख्याल गायन के कार्यक्रम दे चुके हैं।

उज्जैन में ठुमरी के एकमात्र गायक थे-मास्टर रामनारायण जीणा, जो मुख्य रूप से तबलावादक थे। पं. नानूराम आर्य तथा श्री नृसिंहदास महन्त भी उज्जैन के ख्यात तबलावादक थे। वर्तमान में तबलावादन के क्षेत्र में सर्वश्री बालकृष्ण महन्त तथा भरत तिवारी अपना विशिष्ट स्थान बना चुके हैं। तबला और ढोलक बजाने में निष्णात श्री नरेन्द्र कुशवाह नए वाद्यों के आविष्कार में अपनी प्रतिभा का उपयोग कर रहे हैं। काँच का नगाड़ा और ताशा बनाने पर इनका नाम 'लिम्का बुक ऑफ रिकॉर्ड्स' में दर्ज हो चुका है।

भगवान श्रीकृष्ण की शिक्षास्थली होने से यहाँ सर्वाधिक संख्या बाँसुरी वादकों की होना थी, किन्तु शास्त्रीय ढंग से वादन करने वाली एकमात्र कलाकार हैं-कु. स्मिता शेंडे जिनके कई जगह कार्यक्रम हो चुके हैं। इनके पिता श्री रामदास शेंडे स्वयं सिद्धहस्त तबलावादक हैं। बाँसुरी के दूसरे कलाकार हैं-श्री दुर्गाप्रसाद, जो बचपन से बाँसुरी बजाते रहने के कारण बंसीलाल के नाम से ही जाने जाते हैं।

अन्य देवालयों में जैसे देवदासियाँ नृत्य करती रही हैं वैसे ही महाकालेश्वर मन्दिर के प्रांगण में वारमुख्याओं द्वारा नृत्य किया जाता था। इस नृत्य की परम्परा सुदीर्घकाल तक चलती रही, किन्तु बाद में किन्हीं कारणों से अवरुद्ध हो गई। उज्जैन के जाने-माने नर्तक श्री राजकुमुद ठोलिया ने इस परम्परा को पुनर्जीवित करने का बीड़ा उठाया। सन् 1988 में इन्होंने रसराज प्रभात नृत्य संस्थान, उज्जैन का गठन करके उसके माध्यम से अपने संकल्प को मूर्त रूप प्रदान किया। प्रतिवर्ष गंगा दशहरे के अवसर पर नृत्य आराधना का त्रिदिवसीय कार्यक्रम आयोजित किया जाता है, जो तीन दिन तक अनवरत चलता है। इसमें प्रशिक्षित बालक-बालिकाएँ भी भाग लेते हैं। यह अनूठी नृत्य आराधना प्राचीन परम्परा का स्मरण कराती है। उज्जैन में इस समय नृत्य-कला का अच्छा वातावरण है। श्रीमती पूनम व्यास, श्री गोकुलप्रसाद, पं. श्रीधर व्यास जैसे नृत्य प्रशिक्षकों के निर्देशन में कई कलाकार अखिल भारतीय स्तर पर पहुँच चुके हैं। पं. श्रीधर व्यास नृत्य की परनों का निर्माण करने में भी निष्णात हैं। इनके शिष्यों में श्री चन्द्रशेखर व्यास, कु. भावना शाह आदि नृत्य के कई कार्यक्रम दे चुके हैं। इस सन्दर्भ में 'प्रतिकल्पा सांस्कृतिक संस्था' की संचालिका श्रीमती पल्लवी किशन का नाम भी उल्लेखनीय है।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया कि राजा विक्रम के नवरत्नों में शंकु संगीतशास्त्र के पण्डित थे। वर्तमान में कुछ विद्वानों ने संगीत के शास्त्रीय पक्ष में सराहनीय योगदान किया है। भरत के नाट्शास्त्र की 600 पृष्ठीय मूल प्रति की हिन्दी में व्याख्या तीन हजार पृष्ठों में श्री बाबूलाल शुक्ल 'शास्त्री' ने लिखी जो चार भागों में प्रकाशित हुई। आप मूलतः संस्कृत के विद्वान् थे। संगीत के संस्कार आपको अपने ताऊ पं. रामशंकर शुक्ल से मिले थे, जो स्वयं ध्रुपद एवं ठुमरी गाने में कुशल

थे। श्री बाबूलाल शुक्ल को राष्ट्रपति पुरस्कार मिला था। नृत्य सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों के रचयिता डॉ. पुरु दाधीच देशभर में नृत्यशास्त्री के रूप में सम्मानित हैं। उज्जैन के लिए यह गौरव का विषय है। कई जगह आप सम्मानित हो चुके हैं। कुछ शोधार्थियों ने आपके निर्देशन में नृत्य विषय लेकर पी-एच. डी. भी की है। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विभा दाधीच इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ में नृत्य की प्राध्यापिका हैं।

इस आलेख के लेखक (डॉ. प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस पण्डित') की गणना देश के प्रमुख संगीतशास्त्रियों में की जाती है। अनेक अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों में भाषण तथा शोधपत्र वाचन के लिए निमंत्रित किया गया है। सन् 1972 में विश्व आस्तिक सम्मेलन, अरैल (इलाहाबाद) में 'सरस पण्डित' की तथा भोपाल, सागर, मुम्बई आदि स्थानों की विविध संस्थाओं द्वारा 'मालव रत्न', 'कला सेतु', 'शारंगदेव फैलोशिप', 'स्वर साधना रत्न' आदि उपाधियों से विभूषित किया गया। सन् 2001 में ब्रज संगीत विद्यापीठ, मथुरा द्वारा 'संगीत महोपाध्याय' की उपाधि प्रदान की गई। इसके पूर्व केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा सीनियर फैलोशिप प्रदान की गई थी।

मध्यप्रदेश शासन द्वारा प्रकाशित इनके ग्रन्थ 'मध्यप्रदेश के संगीतज्ञ' पर सन् 1975 में उत्तरप्रदेश शासन ने राज्य साहित्यिक पुरस्कार प्रदान किया था। इनके निर्देशन में पाँच शोधार्थियों को संगीत विषय में पी-एच.डी. की उपाधि मिल चुकी है। इन पाँच में डॉ. सन्ध्या महाजन तथा डॉ. इब्राहीम कासिमअली उज्जैन के निवासी हैं। इन्होंने क्रमशः उस्ताद रजब अली खाँ तथा उस्ताद अमीर खाँ के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर शोध प्रबन्ध लिखे। विशेष बात यह है कि डॉ. इब्राहीम प्रज्ञाचक्षु हैं। डॉ. श्रीमाल के अनेक लेख तथा गीत, संगीत, संगीत कला विहार आदि विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

शास्त्रीय संगीत के अतिरिक्त सुगम तथा लोकसंगीत के क्षेत्र में भी कई साधकों ने उज्जैन को गौरवान्वित किया है। सन् 1897 में जन्मे मास्टर शालिग्रामजी गीत-भजन गायक के अलावा कुशल हारमोनियम वादक तथा कवि भी थे। भजन तथा राष्ट्रीय गीतों की रचना करके उनकी धुनें बनाई व स्वयं ने गाकर जनता में राष्ट्रीय भावना जागृत करने का प्रयास किया था। इनके गीत-भजनों के रेकार्ड दिल्ली की एअरफोन रेकार्डिंग कम्पनी ने तथा मुम्बई की यंग इण्डिया कम्पनी ने बनाए थे। इनकी संगीत-साधना से प्रभावित होकर पाटन के संगीत समाज ने सन् 1947 में 'मालव मयूर' की उपाधि तथा अंग्रेस ब्राह्मण महासभा, दिल्ली ने 'कविरत्न' की उपाधि प्रदान की थी। आपके सुपुत्र शिखर सम्मान प्राप्त पं. ओमप्रकाश के गाए गीत, गज़ल और भजन आकाशवाणी, इन्दौर से प्रसारित हो चुके हैं। संगीतमार्तण्ड पं. ओंकारनाथ ठाकुर की शिष्या डॉ. सुशीला पन्त के गीतों का प्रसारण भी आकाशवाणी, इन्दौर से हो चुका है।

झंकार संगीत महाविद्यालय के संस्थापक श्री शीतलकुमार माथुर सुगम संगीत के श्रेष्ठ गायक एवं प्रशिक्षक भी हैं। सितार वादन भी करते हैं। हरसिद्धि संगीत सदन के संस्थापक श्रीरामजी शर्मा के सुपुत्र राजीव एवं संजीव शर्मा की युवा जोड़ी 'शर्मा बन्धु' के नाम से जानी जाती है। इनके गीत-भजन के कई कार्यक्रम आकाशवाणी तथा दूरदर्शन से प्रसारित हो चुके हैं। सर्वश्री कृष्णकान्त शुक्ल, अनिल जोशी, कमलेश राठौर, हरीश मोयल, प्रकाश कड़ोतिया, श्रीमती राजुल जैन, कु. रजनी नागर आदि युवावर्ग के और भी कई आकाशवाणी-दूरदर्शन कलाकार हैं, जो सुगम संगीत की साध ना में संलग्न हैं।

लोकसंगीत के क्षेत्र में माचकार श्री सिद्धेश्वर सेन ने 25 माच की रचना करके मालवा के लोकनाट्य माच को नई दिशा प्रदान की। ये राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त थे तथा मध्यप्रदेश शासन के शिखर सम्मान से सम्मानित थे। 16 जनवरी, 2002 को इनका निधन हुआ। माच विधा में इनके पूरे परिवार का योगदान रहा। सुपुत्री श्रीमती कृष्णा वर्मा को भी शिखर सम्मान मिल चुका है। सुपुत्र श्री प्रेम कुमार सेन और उनके साथी श्री रामप्रसाद भाटिया आदि कुछ कलाकार आज भी सक्रिय हैं।

भवाई नृत्य में श्री कन्हैयालाल गोठवाल तथा श्री हीरालाल जौहरी ने अनेक कार्यक्रम देकर प्रशंसा एवं पुरस्कार प्राप्त किए। लोकगीत गायक श्री हीरासिंह बोरलिया आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के कलाकार हैं। आकाशवाणी, इन्दौर से इनके मालवी लोकगीत का पहला प्रसारण 24 अक्टूबर, 1955 को हुआ था। ये माधव संगीत महाविद्यालय, उज्जैन में शिक्षक पद से सेवानिवृत्त हो चुके हैं। इनके लोकगीतों के कई कैसेट जारी हुए हैं। देश के विभिन्न नगरों में कार्यक्रम दिए। फ्रांस की यात्रा भी कर चुके हैं। इनके सुपुत्र एवं श्री इन्दरसिंह बैस के शिष्य श्री अनूपसिंह बोरलिया ढोलक के सिद्धहस्त कलाकार हैं। वे आजकल मुम्बई में रहकर फिल्मी संगीत में अपना योगदान दे रहे हैं। और भी कई कलाकार हैं जो लोकसंगीत के क्षेत्र में कार्यरत् हैं।

इस प्रकार अवन्तिका की संगीत परम्परा शास्त्रीय, सुगम तथा लोक–तीनों क्षेत्रों में प्रगति–पथ पर अग्रसर है।

❑
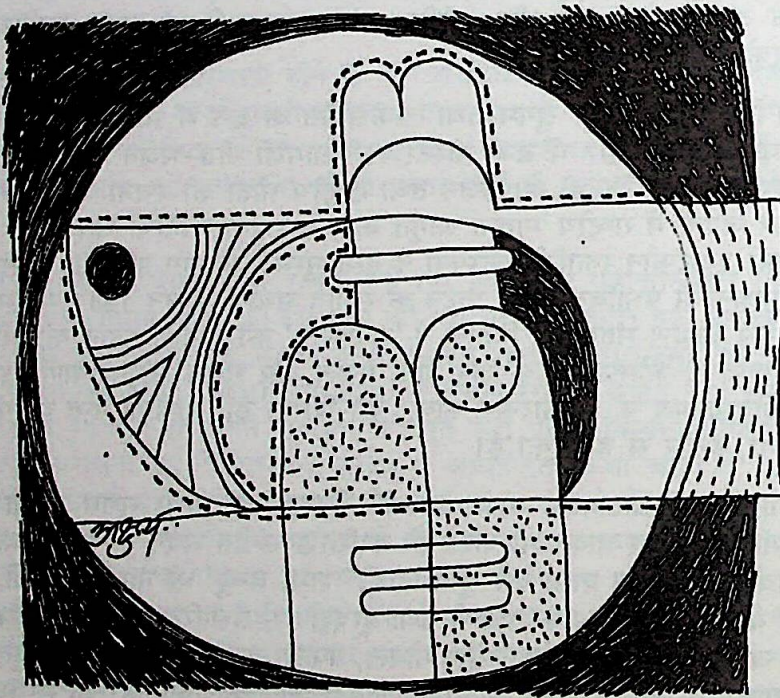
अवन्ती क्षेत्र की नृत्य परम्परा

राजकुमुद ठोलिया

'संगीत' शब्द बहुआयामी है। आचार्य शार्ङ्गदेव ने इसके बारे में लिखा है, 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।' अर्थात् गायन, वादन और नर्तन ये तीनों विधाएँ मिलने पर संगीत कहलाता है। अकेला गायन या वादन या सिर्फ नर्तन संगीत नहीं है। प्राचीन शास्त्रकारों ने यह भी लिखा है कि 'नृत्यमयं जगत्।' ठीक ही तो है कि संसार की हर गतिविधि और हलचल नृत्यमय है, हमारे सारे कार्यकलाप नृत्यमय हैं। प्राचीन विद्वान् तो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि की हलचल को भी नृत्य कहते हैं। सृष्टि के आदिकाल से देवर्षि नारद अपनी वीणा लेकर पूरे त्रैलोक्य में भ्रमण करते रहे हैं। अतः उनसे उज्जयिनी जैसी महान् नगरी छूट जाए, यह सम्भव नहीं लगता। मेरी दृष्टि में मुनि नारद ही निश्चित रूप से पहले संगीतज्ञ होंगे, जिनकी वीणा उज्जैन में पहली बार झंकृत हुई होगी।

अवंती की पृष्ठभूमि से जुड़े प्राचीन नाटकों पर दृष्टिपात करें, तो उनमें हम कई सांगीतिक तथ्य पाते हैं। महाकवि भास का समय चौथी शती ई. पू. माना जाता है। महाकवि अपने नाटक 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में लिखते हैं कि राजा उदयन एक श्रेष्ठ वीणावादक थे। वे वीणा बजाकर मतवाले हाथियों को भी अपने वश में कर लेने की विद्या में सिद्धहस्त थे। यहाँ के राजा प्रद्योत ने उदयन को बंदी बनाकर कारागार में रखा था, तब प्रद्योत की पुत्री राजकुमारी वासवदत्ता बंदी उदयन से वीणा सीखने जाती थी। राजकुमारी की वीणा का नाम घोषवती वीणा था।

दूसरी शताब्दी ई. पू. में महाकवि शूद्रक ने 'मृच्छकटिकम्' नाटक लिखा था। उसके नाटक चारुदत्त का कथन है कि उज्जैन के प्रख्यात गायक रेभिल का गायन सुनकर जब वह घर लौट रहा था, तब वह अनुभव करता है कि गायन के स्वर उसके कानों में, मार्ग में गूँजते रहे। इसी तरह नाटककार कहता है कि वीणा एक ऐसा रत्न है, जो सागर से उत्पन्न नहीं हुआ है। इन बातों से उस काल में संगीत की महत्ता प्रमाणित होती है, साथ ही उज्जयिनी का सांगीतिक गौरव भी। अवन्ती के सम्राट विक्रमादित्य और महाकवि कालिदास की कीर्ति तो दिगंतव्यापी है ही। स्वयं कालिदास ने 'मेघदूत' में उज्जयिनी एवं महाकाल की सांध्य आरती का वर्णन करते हुए यहाँ की नृत्यांगनाओं का बिम्ब उकेरा है। आचार्य श्रीनिवास रथ द्वारा रूपान्तरित यह वर्णन देखिए-

रुनझुन बजाती करधनी
नृत्यमुद्रा में डुलाते ही डुलाते चँवर अविराम
हाथ थके रत्न जटित मूँठ थाम
वर्षा की पहली पहली
बूँद तुमसे पाकर
नख अंकित अंगों पर
सुख अनुभव कर
भ्रमरों की पंक्तिबद्ध सुदूर खिंची रेखा सम
अपने कटाक्ष साध
तुमको निहारेगी नर्तकी वनिताएँ

सातवीं शती ई. में महाकवि वाणभट्ट ने उज्जयिनी वर्णन में नृत्य, गीत, वाद्य के सजीव संदर्भ अंकित किए हैं। ग्यारहवीं शती ई. में परिमल गुप्त ने अपने महाकाव्य 'नवसाहसांकचरित' में उज्जैन का जीवंत वर्णन करते हुए रंगमंच, नाट्यगृह, वाद्य-यंत्रों, नर्तकियों और मुद्राओं का वर्णन किया है। मालवांचल की रानी रूपमती और बाज बहादुर के कथानक को किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है। संगीतकारों में उनका नाम अमर है।

अवन्ती के प्राचीन गौरव गाथा की झलक अर्वाचीन युग में भी दिखाई देती है। 1953 ई. में व्यावर के स्व. पं. दुर्गाप्रसादजी कथक उज्जैन आए थे। वे तबला आचार्य श्री नरसिंहदास महंत के यहाँ ठहरे थे। श्रीनाथ जी के मन्दिर में उनका पहला नृत्य कार्यक्रम हुआ था। उस समय यहाँ की सामान्य जनता कथक से अपरिचित ही थी। तबला संगत के लिए अजमेर से स्व. गिरधारीलाल को विशेष रूप से बुलाया गया था। पं. दुर्गाप्रसाद जी लगभग दो वर्षों तक उज्जैन में रहे थे। इस अवधि में स्व. दिघे, स्व. बोस बाबू, स्व. वसंतराव माने मोतीवाले, स्व. नामदेवराव आखरे आदि ने उनसे प्रशिक्षण पाया था और यहाँ के कला जगत् में यह कथक के बीजारोपण का समय था। इन गुरुजनों ने बाद में अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुरूप नई पीढ़ी को कथक नृत्य प्रशिक्षण दिया।

1960 में पं. दुर्गाप्रसादजी के पटु शिष्य डॉ. पुरुषोत्तम दाधीच माधव संगीत महाविद्यालय, उज्जैन में नृत्य शिक्षक के पद पर आसीन हुए। उनके गुरुभाई श्री सुरेश धर्माधिकारी ने नागदा को अपना कार्यक्षेत्र चुना। वर्तमान में उज्जैन का जो नृत्य परिवार दिखाई दे रहा है, वह नृत्याचार्य डॉ. पुरु दाधीच की लगन, मेहनत और कर्मठता का ही प्रतिफल है। उनके बाद श्री गोकुलप्रसाद, श्री हीरा जौहरी (खाचरौद), श्री राजकुमुद ठोलिया, श्रीमती राजश्री पौराणिक, श्रीमती रंजना ठाकुर आदि की पीढ़ी आई, जिसने नृत्य जगत की बखूबी सेवा की और उसका व्यापक प्रचार-प्रसार किया। कथक की इस सरिता को पं. श्रीधर व्यास, श्रीमती पल्लवी किशन, श्रीमती विद्योत्तमा कुशवाह आदि ने अपनी-अपनी तरह से बल प्रदान किया।

मुम्बई निवासी और सुविख्यात पखावज वादक श्री रामदास शर्मा की पुत्री श्रीमती पूनम व्यास यहाँ आईं, जो बनारसे घराने से ताल्लुक रखती हैं। उन्होंने भी कथक कला-यात्रा को पर्याप्त संबल प्रदान किया। वर्तमान में श्रीमती सीमा डिब्बेवाला, श्रीमती भावना शाह, प्रमोद मेहता, श्रीमती तनुजा महाजन, श्रीमती रजनी (दिसावल) चणियारी, श्रीमती सविता शर्मा आदि भी कथक नृत्य की अर्चना में संलग्न हैं।

इस नृत्य यात्रा का वर्णन अधूरा रहेगा यदि मध्य प्रदेश नाटक लोककला अकादमी के नृत्य प्रशिक्षण तथा मंचीय प्रस्तुतियों, कालिदास अकादमी के संस्कृत नाटकों में नृत्य के समावेश का स्मरण न किया जाए। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी लिखा है कि प्राचीन भारतीय नाटक खेले नहीं नाचे जाते थे। इस प्राचीन धरोहर को यहाँ स्थापित कर भारत में उज्जैन का गौरवपूर्ण स्थान बनाने के लिए श्री राजकुमुद ठोलिया का नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

ऐसा ही एक और कार्य राजकुमुद ठोलिया ने रसराज प्रभात नृत्य संस्थान द्वारा त्रिदिवसीय महाकाल नृत्य आराधना के माध्यम से किया है, जो पिछले डेढ़ दशक से जारी है। भूतभावन भगवान शंकर को समर्पित यह उत्सव महाकाल मन्दिर प्रांगण में नये और पुराने शिष्यों को लेकर नृत्य-संगीत की अर्चना है।

मूलतः उज्जैन निवासी और मधुबन भोपाल के संचालक श्री सुरेश तांतेड़ भी महाकाल मन्दिर में द्वि दिवसीय उत्सव महाकालेश्वर की प्रस्तुति पिछले एक दशक से कर रहे हैं, जिसमें देशभर के प्रतिष्ठित और उदीयमान कलाकार अपनी नृत्य समर्चना करते हैं।

विश्वास है कला-यात्रा की यह सरिता भविष्य में और भी प्रबल धारा का रूप धारण करके बहती रहेगी। उज्जयिनी की यह धारा भी भले ही मन्द गति से बह रही है, पर अपने स्पष्ट चिह्न बना रही है, यह सबसे सुखद स्थिति है। ❑

उज्जैन जिले के परमार देवालयों की वास्तुकला

डॉ. धीरेन्द्र सोलंकी

भारतीय शिल्प-शास्त्र के इतिहास में सामान्यतः यह माना जाता है कि शैलोत्कीर्ण गुफाओं के पश्चात् स्वतंत्र मन्दिरों का निर्माण हुआ। पूर्व मध्य काल में उज्जैन क्षेत्र परमारवंशीय शासकों के संरक्षण में समस्त सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ उपलब्ध देवालय विभिन्न शिल्पशास्त्रों यथा, समरांगण सूत्रधार, अपराजित पृच्छा आदि में वर्णित भूमिज शैली के मन्दिर हैं। इन देवालयों की निर्माण-योजना को उत्सेधविन्यास की शिल्पशास्त्रीय पद्धति से किया गया है। उज्जैन परिक्षेत्र के कुछ मन्दिरों का उल्लेख समीचीन होगा-

गजनीखेड़ी का चामुण्डा माता मन्दिर :

चामुण्डा माता मन्दिर प्राचीन रुनिजा नामक ग्राम क्षेत्र में स्थित है। इसका निर्माण उत्तर-गुप्तकाल के खण्डहरों के समीप एक साधारण जगती पर किया गया था। तलछन्द के अनुसार मन्दिर पंचरथ है, जिसका मुख्य भाग पूर्व दिशा की ओर है तथा मुख मण्डप, गूढ़ मण्डप, अन्तराल तथा गर्भगृह सुरक्षित हैं। जगती का निर्माण एडलर पद्धति से किया गया है।

उर्ध्वछंद के अनुसार वेदिबंध, खुर, कुम्भ, कपोतिका तथा कलश के आकार में अन्तर्पत्रों के साथ निर्मित है। यह किसी भी प्रकार की सजावट से रहित है, किन्तु भद्ररथ में पुष्पों तथा अलंकरणों से अलंकृत आकृतियाँ निर्मित हैं। भद्र-रथ चारों ओर से देव-कुलिकाओं तथा चेत्योद्‌गमों से निर्मित है। मंचिका की सजावट गागरक तथा उसके ऊपर चेत्योद्‌गमों से की गयी है। भद्र को छोड़कर जंघा किसी भी प्रकार के मूर्तिकला से रहित है। भद्रों में महिषमर्दिनी, चामुण्डा तथा भैरव की प्रतिमाएँ स्थापित हैं। परवर्ती निर्माण द्वारा शिखर को परिवर्तित कर दिया गया है। विशाल भद्र-रथ स्तम्भों, जो कि क्षिप्तवितान को आधार प्रदान करते हैं, को छोड़कर मन्दिर के भीतर बहुत अधिक जीर्णोद्धार किया गया है। स्तम्भ-शीर्ष तथा नंदिनी-द्वार को भी अछूता रखा गया है। गंगा तथा यमुना की उनके सहायकों के साथ निर्मित प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। इनके साथ चलते हुए साथियों का अंकन भी सुरक्षित है।

ललाट-बिम्ब में ललित आसन में गणेश की प्रतिमा स्थापित है। गणेश की प्रतिमा के ऊपर पंचाग्नि तापती पार्वती को दर्शाया गया है। ऊर्ध्व भाग में सप्त-मातृका तथा वीरभद्र की मूर्तियों से सजी लघु रथिकाएँ हैं।

नवीनीकरण किये हुए चतुर्भुजीय गर्भगृह का विनिर्गम उत्तर दिशा की ओर है, किन्तु अर्धपट्ट को शायद सुधार-कार्य के दौरान हटा दिया गया है। बच्चे को गोद में लिये सप्त-मातृका की मूर्तियाँ (अब केवल चार शेष है), ललितासन में गणेश की विशाल नागफण के छत्र से सुशोभित प्रतिमा के साथ मन्दिर में स्थापित हैं। कलात्मकता की दृष्टि से संभवतः सप्त-मातृका की मूर्तियाँ मन्दिर

चामुण्डा माता मन्दिर, गजनीखेड़ी

से भी प्राचीन हैं, जिनका समय 7वीं ई. माना जा सकता है। स्थापत्य अर्थात् उसके क्षैतिज तथा शीर्ष प्रारूप योजना के अनुसार सम्पूर्ण मन्दिर में प्रदर्शित मूर्तिकला की झाँकी हमें इसका काल बारहवीं शताब्दी ई. को निर्धारित करने को प्रेरित करती है।

स्थापत्य की कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -
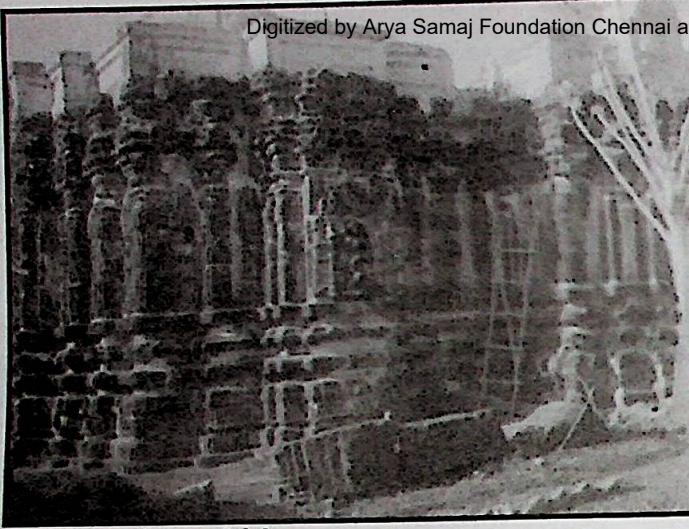
तलछंद, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, यह एक पंचरथ मन्दिर है जो कि लेतिन क्रास प्रकार की योजना पर खड़ा किया गया है। यह लक्षण नागर-प्रासाद शैली में प्रचलित रहा जो कि लिखित साक्ष्यों द्वारा वर्णित भूमिज शैली से भिन्न है; अलबत्ता गर्भगृह तक जाने वाले द्वार भूमिज शैली की हल्की सी झलक देते हैं। ऊर्ध्वछंद (एलिवेशन) कूट-स्तम्भों के स्थान पर जंघा-रथों में विभाजित हैं। इन रथों में लघु रूप में कर्णरथ तथा भद्र-रथ हैं जो कि उत्तर भारत में नागर शैली में पाये जाते हैं।

बाहरी दीवारों को विभाजित करने में भूमिज शैली की परिवर्तन पद्धति नहीं अपनाई गई है। इसके स्थान पर मन्दिर की बाहरी दीवारों को मुख्य दिशाओं की ओर विभाजित किया गया है। यह तत्त्व नागर शैली के मन्दिरों में पाया जाता है। अतः कूट-स्तम्भों तथा ललाटों के अभाव में मन्दिर की भूमिज-शैली के मन्दिरों से समानता नहीं की जा सकती। वेदिबंध भी जो कि खुर, कुंभ, कलश, कपोल तथा अंतर-पत्रों से निर्मित हैं, उत्तर भारत के मन्दिरों में पाये जाते हैं।

ऊपर शिखर से भी उसके भूमि या ललाटों में विभाजन का कोई संकेत नहीं मिलता जो कि भूमिज मन्दिरों का महत्त्वपूर्ण विभाजन (क्षैतिज तथा शीर्ष) है।

उक्त आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह मन्दिर नागर शैली में निर्मित है, यद्यपि इसकी निर्माण तिथि बारहवीं सदी है।

मकला का शिव मन्दिर :

महिद्पुर के मकला नामक ग्राम में महाकालेश्वर मन्दिर अभी भी सुरक्षित स्थिति में है। इसका मण्डप भग्न हो चुका है, जिसका जीर्णोद्धार किया गया है। मन्दिर का मूल गर्भ-गृह अब भी सुरक्षित है। यह मन्दिर ऊन और धराड़ के मन्दिरों से साम्य तो रखता है, परन्तु वास्तविकता की दृष्टि से इसमें निश्चय ही भिन्नता है। परमारकालीन अधिकांश मन्दिर सप्तरथ योजना से शृंग-युक्त रेखा-शीर्ष वाले हैं। मकला का यह मन्दिर निर्माण की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। मकला के मन्दिर का गर्भगृह तारांकित तो है, किन्तु गर्भगृह योजना पंचरथ है। मन्दिर की विशाल जंघा अलंकृत एवं भव्य है।

गर्भगृह में वेदिबंध, कुम्भ व कलश का समावेश है। ऊपर के वेदिबंध में गागरक है। कलश बन्धन के ऊपर अन्तर-पत्र, पुष्प अलंकरण, गागरक एवं मंचिका-बन्धन दिखाया गया है। तत्पश्चात् जंघा की दीवारें जोड़ी गई हैं और फिर शीर्ष प्रारम्भ होता है। छज्जे का अलंकरण ऊर्ध्व कमल से किया गया है। शीर्ष के निचले तल में अंग-शीर्ष मेखला है। इन अलंकरणों की पुनरावृत्ति तीनों दिशाओं में की गयी है। तत्पश्चात् ऊरुशृंग दो तलों में विभक्त हैं। आमलक और शीर्ष नष्ट हो चुके हैं।

अन्तर-विन्यास की चर्चा समीचीन होगी। महामण्डप में प्रवेश हेतु ऊँचे सोपानों की व्यवस्था है। सम्भवतः इसके तीन मण्डप रहे होंगे जो भव्य निर्माण योजना का संकेत करते हैं; यथा सामने की ओर दोनों तरफ भद्रक-स्तम्भ हैं, जिनके पिण्ड के मध्य में देवताओं की प्रतिमाएँ प्रदर्शित हैं तथा कोष्ठक सादे व तीन बंधनों से युक्त हैं। शिरापट्टी में सप्त-मातृकाओं एवं नवग्रह को प्रदर्शित किया गया है।

भद्र-मण्डप में चारों दिशाओं में चार भद्रक स्तम्भ हैं, जो महामण्डप के दीवार को आधार देते हैं। अन्तराल में भी भद्रक स्तम्भ हैं। तत्पश्चात् गर्भगृह का मुख द्वार है, जिनमें ऊँची मुख-चतुष्टी का निर्माण है। गंगा-यमुना की प्रतिमाएँ मनोहारी हैं। स्तम्भ-शाला बहुअलंकृत न होकर सादी है।

उसरंग में सप्त मातृकाओं का अपने वाहन सहित शिल्पांकन किया गया है। साथ ही गणेश को भी शिल्पांकन में प्रदर्शित किया गया है। कला की दृष्टि से वह देवांकित स्तम्भ सम्भवतः 12वीं शताब्दी में निर्मित किया गया है।

जवासिया का जबरेश्वर महादेव मन्दिर :

यह मन्दिर उज्जैन जिले के चिंतामणि जवासिया नामक ग्राम में स्थित है। इसका निर्माण एक टीले की ढलान के नीचे छोटे से नाले के पास ऊँची जगती पर किया गया है। निर्माण-योजना में गर्भगृह ही शेष बचा है। मन्दिर पंचरथ तथा ऊर्ध्वाकार पंचभूमि युक्त है। इस मन्दिर के निर्माण में शिल्प-शास्त्रों में उद्धृत वास्तु-पुरुष मण्डल के सिद्धान्त का पालन किया गया है।

भूमिज शैली में निर्मित इस देवालय का अन्तराल व गर्भगृह का भाग ही सुरक्षित है। मण्डोवर के ऊपर का भाग भी नष्ट हो गया है। शेष निर्माण आधुनिक है। उपलब्ध अवशेषों से संकेत मिलता है कि वेदिबंध में अलंकृत दो बन्धनों से युक्त खुर व कुंभ हैं, जिनमें अन्तर-पट्टिका भी है। तदुपरान्त मंचिका, खुर और कुंभ बन्धनों से जंघा प्रारम्भ होती है। ये सभी बन्धन साधारण बन्धनों से अलंकृत हैं। मण्डोवर में कूट स्तम्भों के पीठ सुरक्षित हैं, जिनमें मध्य बन्धन के माध्यम से दोहरे अलंकरण का प्रयास किया गया है। कूट स्तम्भ परिवर्तन पद्धति से निर्मित किये गये हैं व देवालय पाँच कूट स्तम्भों से निर्मित है। आमलक, शिखर व जंघा भाग का ऊपरी हिस्सा उपलब्ध नहीं होने से इसके ऊर्ध्वाधर व क्षैतिज वास्तु-विन्यास का अनुमान लगाना असंभव है, परन्तु वेदिबंध के अलंकरणों से स्पष्ट होता है कि पूर्ण रूप से शास्त्रीय नियमों का पालन करके मन्दिर का निर्माण किया गया है। तदनुसार इसमें पाँच कूट-स्तम्भ व सात भूमियाँ रही होंगी।
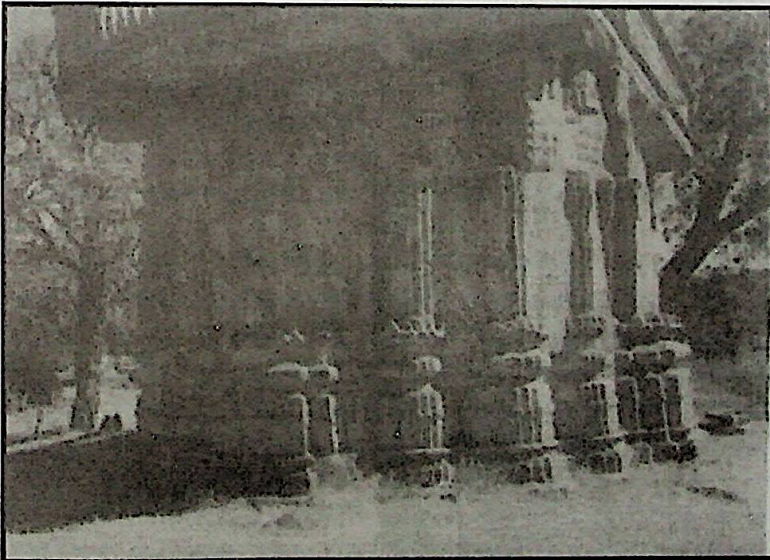
जबरेश्वर महादेव मन्दिर, जवासिया

कला की दृष्टि से यह देवालय 11वीं शताब्दी के अन्तिम चरण का प्रतीत होता है। मन्दिर के चारों ओर परमारकालीन मूर्तियाँ यथा विष्णु, हयग्रीव, वामन, शिव, गणेश, नटराज, सप्तमातृकाएँ, हनुमान, उमा-महेश्वर, कृष्ण, नंदी, पंचमुखी शिव विशेष उल्लेखनीय हैं। यह मन्दिर भूमिज शैली का एक उत्तम उदाहरण है।

पिंगलेश्वर मन्दिर :

उज्जैन-भोपाल रेलमार्ग पर उज्जैन से 5 कि. मी. दूर पिंगलेश्वर ग्राम है। यहाँ चौरासी महादेव में से एक महादेव मन्दिर है जो पिंगलेश्वर महादेव नाम से प्रसिद्ध पूर्वी द्वार वाला मंदिर कहा जाता है। यह मूलतः परमारकालीन है। परमारकालीन ध्वंसावशेषों पर इस मन्दिर का निर्माण किया गया है। वर्तमान में इसमें गर्भगृह व स्तम्भ शेष हैं। यह मन्दिर पिंगला नदी के किनारे स्थित होने के कारण अत्यन्त रमणीय है। नदी के किनारे पक्के घाट बने हुए हैं।

इसके अतिरिक्त मन्दिर के समीप शुंग-कुषाणकालीन चतुर्मुखी शिवलिंग है। इस शिवलिंग के समीप उमा-महेश्वर, पार्वती व शिव की प्रतिमाएँ चबूतरे पर लगी हुई हैं, जो परमारकालीन हैं। यह स्थल उज्जैन की पंचक्रोशी यात्रा का प्रथम द्वार है और यह यात्रा भी वहीं समाप्त होती है।

उज्जैन जिले का महिदपुर भी एक परमारकालीन बस्ती रही है। यहाँ से प्राप्त प्रतिमाओं से ज्ञात होता है कि यहाँ परमार काल में एक शैव मन्दिर था। महिदपुर के निकट ही लगभग 3 कि. मी. दूर घूर्जटेश्वर का एक परमारकालीन मन्दिर है। मन्दिर यद्यपि पुनः निर्मित हो चुका है किन्तु इसमें लगे पुरावशेष उसके मूल रूप में परमारकालीन होने का बोध करवाते हैं। महिदपुर के ही निकट धन्वन्तरि ग्राम में भी एक छोटा-सा शिव-देवल है, जो उत्तर परमारकालीन दिखाई देता है। यह त्रिरथ शैली में है। इस मन्दिर के शिखर एवं किसी अन्य परमारकालीन मन्दिर के पर्याप्त अवशेष वहीं पड़े हैं, जो यह प्रकट करते हैं कि यहाँ का मन्दिर अलंकृत, प्रतिमा-खचित, रेखा-शिखर युक्त, सप्तरथ एवं ताराकाकृत था।

झार्डा में परमारकालीन दो मन्दिरों में से एक शिव के प्रति समर्पित था। प्राचीन मन्दिर के मण्डप में चार-चार स्तम्भों वाली प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। झार्डा में ही गणेश, शिव-पार्वती, भवानी एवं महिषासुर मर्दिनी, शेषशायी विष्णु आदि की अनेक परमारकालीन प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं।

उज्जैन जिले के कतिपय स्थानों पर आज भी परमारकालीन मन्दिरों के अवशेष देखे जा सकते हैं। ऐसे स्थलों में करेड़ी, सामानेरा, जलवाँ, इटावास, घोंसला, डेलची, जवासिया (आगर मार्ग), मीण, भीखमपुर आदि का उल्लेख करना समीचीन होगा।

❑

मालवांचल की चित्रांकन परम्परा : एक विहंगावलोकन

नर्मदाप्रसाद उपाध्याय

रूप को शब्दों में बाँधना उतना ही कठिन है, जितना शब्द को रूप में बाँध देना। हमारी परम्परा की यह अद्‌भुत विशेषता है कि उसने शब्द और रूप दोनों को ही उनकी असीमित व्यंजना के रहते, बाँधने का सफल प्रयास किया है। रूप अपने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ जब मध्यकाल के चितेरे की तूलिका से बाँधा गया, तब रूप को रंगों और रेखाओं के माध्यम से बाँध लेने की प्रक्रिया सहज नहीं थी। वह एक तपस्वी की साधना की तरह थी, ऐसी निष्काम साधना की तरह जिसकी परिणति के रूप में साधक ने कुछ नहीं चाहा। यही कारण है कि मध्यकाल के अधिकांश चितेरों के नाम हमें ज्ञात नहीं हैं। समूचे देश के विभिन्न अंचलों में, विभिन्न शैलियों में, विभिन्न विषयों तथा काव्य ग्रंथों के प्रसंगों को आधार बनाकर चित्रांकन हुए, विशेष रूप से राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में। इन चित्रांकनों के सन्दर्भ में विशिष्टता यह रही कि इनकी शैलियाँ अपने उन स्थानों के नामों के आधार पर जानी गईं, जिन स्थानों पर ये चित्र विभिन्न कालखण्डों में बनें। राजस्थान के छोटे-से-छोटे ठिकाणे में बने चित्र उस ठिकाणे के नाम से जाने जाते हैं, जैसे देवगढ़, नागौर, रियां और बेगूं। रियासतों में तो इन शैलियों का अपना वैभव है। मेवाड़, उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, जोधपुर, किशनगढ़ और नाथद्वारा जैसी प्रख्यात शैलियाँ यहाँ विकसित हुईं। इसी तरह हिमाचल प्रदेश में नहान तथा बाहु जैसे छोटे स्थानों पर जो शैलियाँ पनपीं, उनकी अपनी विशेषताएँ हैं। इनके अलावा कांगड़ा, गुलेर, बसोहली, चम्बा, गढ़वाल, मण्डी, बिलासपुर तथा नूरपुर जैसे स्थानों पर जिस पहाड़ी शैली ने विकास पाया, वह विश्व के कला इतिहास की धरोहर है।

मालवा के सन्दर्भ में यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि यहाँ की चित्र शैली का अस्तित्व सोलहवीं सदी से मिलता है तथा इसका निरन्तर विकास होता गया, किन्तु इसे मालवा कलम के नाम से ही जाना जाता है। राजस्थान तथा हिमाचल प्रदेश की विभिन्न रियासतों तथा ठिकाणों के नामों के आधार पर नामकरण नहीं है। इस ओर शोध की निरन्तर आवश्यकता है। मालवा कलम अपने आप में अद्‌भुत कलम है। यद्यपि विभिन्न कालखण्डों में मालवा की सीमाएँ बदलती रहीं, किन्तु थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ जो मध्यभारत के अंचल थे, वहाँ इस कलम ने अपना पूर्ण उत्कर्ष पाया।

यद्यपि महामालव-अवन्ती-जनपद की सीमा के विषय में पुराने ग्रंथों और इतिहासकारों में मत विभिन्नता है, किन्तु आज अवन्ती और मालव में कोई विशेष द्वैत नहीं माना जाता। इनकी सीमाएँ विन्ध्य के अंचल से लेकर नर्मदा उपत्यका और बेतवा तथा बूंदी की पर्वत शृंखला के अन्तर्गत सीमित मानी जाती है तथा इसका समर्थन भाषा और उसके संस्कारों से भी होता है।

वात्स्यायन ने अवन्ती के रहने वालों को उज्जयिनी देश का निवासी माना है और उन्हीं को अपर मालवीय (ता एवापरमालव्य:) माना है तथा अपर मालवा के पश्चिम में लाट (गुजरात) को सूचित किया है। नर्मदा, मालव और दक्षिणापथ की प्राकृतिक विभाजक रेखा है, लेकिन बुद्धकाल में माहिष्मती (वर्तमान महेश्वर) के भाग को पश्चिम मालवा कहा गया है। विदिशा के भाग को पूर्व मालव तथा आकर-अवन्ती सूचित किया है और दशपुर को उत्तर-मालवा तथा अवन्ती मध्य मालव के नाम से जानी गई है। मालकम भी आकर-अवन्ती के इस क्षेत्र की परिसीमा का प्राय: समर्थन करते हैं। विष्णुपुराण में मालव प्रदेश की एकता स्वीकार की गई है।

'कारूषा मालवाश्चैव पारियात्र निवासिन:'

स्कंदपुराण, महाभारत और भागवतकाल में अवन्ती और मालव को अलग-अलग नहीं माना है। वराहमिहिर ने, जिनकी जन्मस्थली कायथा (उज्जैन के निकट एक गाँव) मानी जाती है, उन्होंने मालवा का पृथक से उल्लेख किया है तथा इस प्रदेश की नदियों के नाम भी दिये हैं। पद्मभूषण पंडित सूर्यनारायणजी व्यास का मानना है कि जनसाधारण में माल शब्द ऊँचे भाग को कहा जाता है। सारे देश का मालव-मध्यभाग और प्लेटो होने के कारण ऊँचाई पर स्थित है। इस कारण उसे माल-उन्नत-भूतल (माल-मुन्नत भूतलम्) कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि मालव अपने आप में एक स्वतंत्र जाति रही तथा उसका अस्तित्व काफी पुराना है व ईसा पूर्व की आरम्भिक शताब्दियों में रचे गये ग्रंथों में मालव का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल में 1619 ई. में मराठा आक्रमण के पूर्व मालव प्रदेश की स्थितियाँ प्राय: यथावत् थीं, किन्तु इसके बाद परिस्थितियाँ बदलीं। सुप्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ. रघुवीरसिंह ने मालवा सूबे के परगनों की विस्तृत जानकारी जुटाई है।

मालवा में प्राचीन कला परम्परा मौर्य, शुंग, शक तथा सातवाहन कालों में बहुत पल्लवित हुई। स्तूप, चैत्य, विहार, शैलकृत गुफायें तथा देवालय निर्मित किये गये। परमारकालीन शासकों की रचनात्मक प्रतिभा उदयपुर, ग्यारसपुर, नेमावर, बदनावर, विदिशा, ऊन, भोजपुर तथा उज्जैन में मिलती है। यहाँ श्री लक्ष्मी को यक्षी के रूप में उकेरा गया है तथा श्रीवृक्ष भी उत्कीर्ण किया गया है। शुंगकाल में साँची के स्तूप और तोरण बने, जिन पर हीनयानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। क्षत्र, भिक्षापात्र, पदचिह्न, स्वस्तिक, त्रिरत्न, बोधीवृक्ष, बोधिमण्डल तथा वज्रासन प्रतीक रूप में उत्कीर्ण हैं। कसरावद के उत्खनन में विहारों से प्राप्त पात्रों पर उत्कीर्ण घण्टों के नीचे सूर्य का प्रतीक उत्कीर्ण किया गया है तथा मालवा से मिली अधिकांश मुद्राओं पर सूर्य उत्कीर्ण है। सूर्य अंकन परब्रह्म के रूप में विभिन्न प्रकारों से उत्कीर्ण किया गया है। मालवा की अधिकांश मुद्राओं पर स्वस्तिक अंकित है। स्वस्तिक को भी सूर्य का प्रतीक माना गया है। दशपुर, जो मालवा का उत्तर-पश्चिमी भाग है, वहाँ अनेक अभिलेख मिले हैं, जिनसे वहाँ के मूर्तिशिल्प की जानकारी मिलती है। यहाँ का सातवीं-आठवीं शताब्दी का मूर्तिशिल्प औलिकरों की परम्परा तथा दक्षिण के राष्ट्रकूटों की कला परम्परा का समन्वय है। दशपुर प्रदेश में मूर्तिकला का आरम्भ ताम्राश्वयुगीन मिट्टी की मूर्तियों से होता है। गांधार शिल्प से प्रभावित देवी हारीति की एक प्रतिमा मंदसौर से प्राप्त हुई है। तीसरी-चौथी शताब्दी से उत्तर परमारकाल तक निरन्तर प्रतिमाएँ मिलीं। गुप्तकालीन सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा पशुपतिनाथ की है, जो मंदसौर में है। हिंगलाजगढ़ से प्राप्त चतुर्मुखी शिवलिंग राष्ट्रकूट कला का एक सुन्दर उदाहरण है। शैव उपासना के कारण उमा-महेश्वर के सुंदर अंकन के उदाहरण मिलते हैं। मोढ़ी मन्दिर (तहसील भानपुरा) के तोरण द्वारा पर नटराज शिव की सुन्दर नृत्य मुद्राएँ उत्कीर्ण हैं। विष्णु प्रतिमाएँ भी यहाँ मिली हैं। दशावतार अंकन भी प्राप्त हुये हैं। लोटखेड़ी से प्राप्त वराह पर विभिन्न देवी-देवताओं के 206 अंकन हैं। रामायण के दृश्य भी संधारा में उत्कीर्ण किये गये हैं। गरूड़, कृष्ण तथा बलराम की मूर्तियाँ भी मिली हैं। इस क्षेत्र में शाक्त प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं। दुर्गा प्रतिमाओं में ओज, शौर्य, गंभीरता तथा मातृत्व के गुण सहज रूप में दृष्टिगत होते हैं। सावन (नीमच) से एक बीस भुजी महिषासुर मर्दिनी की प्रतिमा मिली है। विभिन्न क्षेत्रों में चौथी-दसवीं शताब्दी तक बनाई गई मातृकाओं की मूर्तियाँ भी मिली हैं। गजलक्ष्मी तथा सरस्वती की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं। गणपति प्रतिमाएँ भी विभिन्न भंगिमाओं में मिली हैं। इसी प्रकार कार्तिकेय की प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई

हैं। सूर्य, नवग्रह, अष्टदिक्पाल की मूर्तियाँ भी मालवा के विभिन्न अंचलों से प्राप्त हुई हैं। दशपुर प्रदेश में जैन मूर्तियाँ बहुलता से मिली हैं। अम्बिका, अजिता, मनोवेगा, कंदर्पा तथा पद्मावली की प्रतिमाएँ प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। धमनार, खेजड़िया भूप, खोलवी, पोलाडूँगर आदि स्थानों पर गुफाएँ मिली हैं। पद्मपाणि अवलोकितेश्वर की प्रतिमा भानपुरा से मिली है।

मालवा तथा विशेषकर उज्जयिनी के वैभव के सम्बन्ध में कालिदास, बाणभट्ट, शूद्रंक आदि के ग्रंथों में विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। जहाँ तक चित्रकला का सम्बन्ध है, बाघ की चित्रकला (पाँचवी से छठवीं शताब्दी) मालवा के सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। कालिदास ने मेघदूतम् और रघुवंशम् में चित्रांकन सम्बन्धी अनेक उल्लेख किए हैं। परमारकाल में चित्रकला का काफी विकास हुआ होगा, किन्तु उसके प्रमाण देखने को नहीं मिलते। गौरी और खिलजी सुल्तानों के आधिपत्य में जब यह क्षेत्र आया और माण्डू राजधानी बनी तब चित्रकला का विकास हुआ। माण्डू में श्वेताम्बर जैनों ने कलाशैली का विकास किया। माण्डू कल्पसूत्र जो सन् 1439 में बना, वह जगत् प्रसिद्ध है, इसमें जैन धर्म का विवरण देते हुए मनुष्य, पशु-पक्षी, देवी-देवता आदि के चित्र अंकित किए गए हैं। इन चित्रों के विषय धार्मिक हैं, किन्तु ये बाहरी प्रभाव से मुक्त हैं। माण्डू में जिस चित्रकला का विकास हुआ, उसमें हिरात और शीराज की तुर्कमान शैली का प्रभाव स्पष्ट है। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में ईरानी कलम का समन्वय भारतीय कलम से हुआ। नियामतनामा में इस शैली के चित्र हैं। सोलहवीं सदी के आरम्भ में राग-रागिनियों के चित्र बनने आरम्भ हो गये थे तथा नारियों के आभूषण व अलंकरण बहुतायत से बनाये जाने लगे थे। जैन प्रभाव के कारण वर्गाकार सिर, विशाल नेत्र, घूँघट और चित्रित पृष्ठभूमि नारी-चित्रों में दृष्टिगोचर होने लगी थी। बाजबहादुर के राज्यकाल में भी इस शैली के अनेक चित्र बने। इसका प्रचार मेवाड़ और महाराष्ट्र तक हुआ। सत्रहवीं शताब्दी (1634 ई.) में रसिकप्रिया के चित्र बने। सन् 1680 में माधोदास नामक चितेरे ने नरसिंहगढ़ में एक रागमाला चित्रावली तैयार की, जिसके चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में हैं। नरसिंहगढ़ के कँवरानी मन्दिर व चम्पावती मन्दिर में अभी भी मालवा शैली के चित्र हैं तथा नरसिंहगढ़ से 12 किमी. दूर साखाश्यामजी में सुन्दर कृष्ण-लीला के चित्र हैं तथा वहाँ बनी समाधि पर बने विभिन्न शिल्प भी अद्वितीय हैं। राघोगढ़ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा तथा राजा धीरजसिंह के समय वहाँ बहुत सारे चित्र बने। राघोगढ़ की अपनी विशिष्ट शैली है तथा राघोगढ़ कलम के चित्र विश्व के विभिन्न संग्रहालयों तथा व्यक्तिगत संग्रहों में हैं। मालवा अंचल के उज्जैन, मंदसौर, इन्दौर, धार, रतलाम आदि क्षेत्रों में 18-19वीं शताब्दी में निरन्तर मालवा कलम का विकास हुआ। एकचश्म चेहरे, सुडौल शरीर, सरल आकृति तथा पतली-मोटी रेखाओं से उरेहे गये चित्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मराठों के समय में बने चित्रों पर मराठा प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उज्जैन और मन्दसौर के विभिन्न मन्दिरों और हवेलियों में सुन्दर चित्र बने। धार के वैष्णव मन्दिरों में भी सुन्दर व कलात्मक नाथद्वारा शैली से प्रभावित लघुचित्र रखे हुये हैं। सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान, उज्जैन में जैन कल्पसूत्र तथा मधुमालती की सचित्र पोथियाँ हैं। बनारस कला भवन में रामायण के विभिन्न प्रसंगों पर आधारित अंकन लघुचित्रों के रूप में हैं। जीवन के सामान्य व्यवहार, कृष्ण-लीला तथा धार्मिक विषयों पर बने चित्र, दरबारी चित्र, आखेट, मंत्रणा, नारी सौन्दर्य, राग-रागिनी तथा विभिन्न काव्य ग्रंथों के आधार पर लघुचित्र बने हैं। व्यक्तिचित्र भी बहुत बने हैं। एकचश्म चेहरे और डेढ़ चश्म वक्ष की रचना प्राय: चित्रों में की गई है। मालवी पहनावा स्पष्ट दिखाई देता है तथा मालवी अलंकरण भी दिखाई देते हैं। इस कलम पर मुगल कलम का प्रभाव भी है। लाल, नीले, हल्के और सुनहरी रंगों का प्रयोग हुआ है। लाल रंग और रामरज रंग की प्रमुख भूमिका रही है।

मालवा की चित्रांकन परम्परा के सन्दर्भ में अध्ययन करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि भीमबेटका तथा बाघ की गुफाओं के अंकन की निरन्तरता बनी रही तथा मध्यकाल व उत्तर मध्यकाल में नीमच और जावद से लेकर विदिशा तक विभिन्न स्थानों में जो परम्परा विकसित हुई, उसमें बाघ की गुफाओं के अंकन के तत्त्व विद्यमान थे।

मालवा कलम पर पश्चिमोत्तर गुजरात शैली का विशेष प्रभाव पड़ा तथा खिलजियों के आधिपत्य में आने के बाद माण्डू चित्रांकन का एक प्रमुख केन्द्र बना। मारवाड़ से गुजरात तथा देहली से आकर

माण्डू में बसे श्वेताम्बर जैनों ने तत्कालीन प्रचलित शैली में सचित्र पोथियों को चित्रित कराया। जो कार्य माण्डू में श्वेताम्बर जैनों ने किया, वही कार्य चंदेरी में दिगम्बर जैनों ने किया। माण्डू कल्पसूत्र (1439 ई.) के अंकन की परम्परा देवसानोपादो के चित्रण होने तक निरन्तर विकसित होती रही। इसका काल लगभग 40 वर्षों का है। ओढ़नी की एक विशिष्ट भँगिमा का चित्रण विकसित हुआ। नियामतनामा के अलावा हम्जानामा (1475 ई.) तथा दुर्गापथ (1487 ई.) भी माण्डू में गयास खिलजी के समय चित्रित हुए। अमरूकशतक के चित्र भी यहाँ बनें, जो वर्तमान में छत्रपति शिवाजी संग्रहालय, मुम्बई में हैं। माण्डू के चितेरों ने कुलहदार पगड़ी, जो देहली के चितेरों द्वारा बनाई गई शबीहों में विद्यमान थी, का अंकन उन्होंने अपने रूपायनों में किया।

सन् 1630 से 1700 ई. के बीच मालवा में रागमाला चित्रण बहुत हुआ। मालवा कलम के रागमाला पर आधारित चित्र फाईन आर्ट म्यूजियम, बोस्टन तथा भारत कला भवन में है, जो क्रमशः सन् 1630 ई., 1650 ई. में बनाए गए थे।

जैसा कि उल्लेख किया गया है इन सब में विशिष्ट रागमाला चित्रांकन सन् 1680 ई. में बनाई गई उस रागमाला के हैं, जो नरसिंहगढ़ के चितेरे माधोदास तथा उसके शिष्यों ने तैयार की थी। इस रागमाला के चित्रों में पुरुष जामा या धोती पहने हुए हैं तथा महिलाओं ने दो प्रकार के लंहगे पहने हैं। राय आनन्दकृष्ण तथा जोसफ एम. डाइ-।।। ने अपने शोध ग्रंथ में विस्तार से मालवा कलम के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला है। मालवा कलम की नायिका की देहयष्टि सुघड़ और सुदृढ़ है। उसका मस्तक प्रशस्त है तथा कलाइयाँ कोमल, किन्तु दृढ़ हैं। मालवा शैली में रची गई नायिका राजस्थान तथा पहाड़ी शैलियों में रची गई नायिकाओं की तरह सुकोमल नहीं है। वह किशनगढ़ तथा कांगड़ा शैली की नायिकाओं से भी भिन्न है। उसकी देहयष्टि तथा भँगिमा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह सीधे खलिहान से नृत्य में सम्मिलित होने आ गई हो।

जगदीश मित्तल एवं कमला मित्तल, संग्रह हैदराबाद तथा एन.सी. मेहता गैलरी, अहमदाबाद, गोपीकृष्ण कनोरिया संग्रह, पटना, भारत कला भवन, बनारस, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूजियम, लंदन, ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन, लॉस एंजिल्स काउंटी म्यूजियम अमेरिका, फाईन आर्ट म्यूजियम, बोस्टन में रखे मालवा शैली के चित्र विभिन्न कालक्रमों में इस क्षेत्र में हुए विकास पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

मालवा तथा मेवाड़ शैली एक-दूसरे से काफी प्रभावित रहीं। मालवा की शैली अपने आरम्भिक काल में मेवाड़ से प्रभावित रही, किन्तु बाद में उसने अपनी स्वयं की मौलिक विशेषताएँ रचीं। यह अपने आप में एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि अभी तक मालवा अथवा सेन्ट्रल इंडियन पेटिंग के नाम से इस क्षेत्र के चित्रांकनों को पहचाना जाता है, जबकि मोटे तौर पर मालवा के विभिन्न नगरों में उत्तर मध्यकाल में बने भित्तिचित्र तथा गत्तों पर बनें लघुचित्र मिलते हैं। नीमच और जावद से लेकर इन्दौर तक तथा उज्जैन से लेकर नरसिंहगढ़ और राघोगढ़ तक यह परम्परा दिखाई देती है। मालवा अंचल में 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक जो व्यक्तिचित्र भित्तियों पर उरेहे गये मिलते हैं, उनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है-

शहर		स्थान, जहाँ भित्तियों पर व्यक्तिचित्र अंकित हैं
नीमच	-	चौधरी मदनसिंह की हवेली
मंदसौर	-	सागरमल पोरवाल की हवेली, दारूगाँव के ठाकुर का मकान
रतलाम	-	कोटावाले बाफना की हवेली, शाँतिलालजी बागिया की हवेली, जैन हवेली
उज्जैन	-	राम जनार्दन मन्दिर, तिलकेश्वर मन्दिर, चिटणीस मन्दिर, सत्यनारायण मन्दिर
देवास	-	चरणदास मन्दिर, सीनियर स्टेट राजवाड़ा
धार	-	वैष्णव मन्दिर
माण्डू	-	गदाशाह की दुकान
इन्दौर	-	राजवाड़ा

मालवा के इन विभिन्न स्थानों में बहुतायत से उत्तर मध्यकाल में बने व्यक्तिचित्र मिले हैं। लेखक को जावद में दो सचित्र ग्रंथ मिले हैं, जो 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बनें। ये ग्रंथ ढोलामारू तथा लौरचंदा हैं। इनमे मेवाड़ कलम के व्यक्ति चित्रण की विशिष्टताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। देवास में व्यक्तिचित्रण की समृद्ध परम्परा उत्तर मध्यकाल में मिलती है तथा अभी भी अनेक व्यक्तिगत संग्रहों में व्यक्तिचित्र मौजूद हैं। इसी तरह रतलाम में भी यह परम्परा बड़े समृद्ध रूप में विद्यमान रही है। मंदसौर की हवेलियों में भी बहुतायत से व्यक्तिचित्र चित्रित किये गये हैं। एशमॉलियन म्यूजियम, ऑक्सफोर्ड में 18वीं शताब्दी का एक सुन्दर व्यक्तिचित्र प्रदर्शित है, जो सरूपराम नामक चित्रकार द्वारा बनाया गया है। इसमें एक राजा को संगीत सुनते दर्शाया गया है।

पूर्व उल्लेख में यह स्पष्ट किया गया है कि नरसिंहगढ़ में माधोदास व उसके शिष्यों के समय में 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चित्रांकन की उत्कृष्ट परम्परा विकसित हुई थी। इस परम्परा की निरन्तरता बनी रही। यद्यपि लघुचित्र उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु नरसिंहगढ़ के दो मन्दिरों में जिन्हें क्रमशः कँवरानी मन्दिर तथा चम्पावती मन्दिर कहा जाता है, की दीवारों पर भित्ति चित्र उपलब्ध हैं। ये चित्र भी उमट शासकों के समय के ही हैं। पूर्व में राजगढ़ तथा नरसिंहगढ़ के राज्य एक ही थे तथा इनके शासक उमट वंशीय राजपूत थे, किन्तु सन् 1681 में राजा परसराम ने नरसिंहगढ़ को बसाया तथा वहाँ एक तालाब बनाया जिसे परसा सागर के नाम से आज भी जाना जाता है। राजा परसराम की मृत्यु सन् 1695 में हुई। ये भित्ति चित्र भी इसी काल के हैं।

नरसिंहगढ़ के कँवरानी मन्दिर की दीवारों पर बने अधिकांश चित्र नष्ट हो गये हैं। वर्तमान में केवल मन्दिर की छत पर बने हुए चित्र ही सुरक्षित बचे हैं, जो कृष्ण लीला के हैं। इस मन्दिर के गुम्बद की दीवारों पर वृत्त में चित्रकारी की गई है तथा प्रत्येक वृत्त बड़ा आनुपातिक है, जिनमें कृष्ण लीला के अंकन किए गए हैं। इन चित्रों में किले की दीवारें, खुले हुए झरोखे, नीला आकाश तथा सुदृढ़ किला बना हुआ दिखाई देता है। किले की आकृति दो भागों में विभक्त हो गई है तथा इन दोनों भागों के बीच में एक नारी आकृति चित्रित है। इस नायिका ने रंगीन साड़ी पहन रखी है तथा उसके गले का नेकलेस भी बड़ा स्पष्ट है। उसने जूड़ा बाँध रखा है तथा चेहरा गोल है। इस चित्रावली में एक पंडित का व्यक्तिचित्र भी है जो पूर्ण एकाग्रता के साथ बैठा हुआ ध्यानमग्न है। राधा और कृष्ण, ब्रह्मा, पूजा करती मालवी नायिका, गतिमान घोड़े तथा योद्धा इन चित्रों मे मौजूद हैं। इन चित्रों पर मेवाड़, कोटा तथा मुगल कलम का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। विशिष्ट प्रकार का मालवी अंगरखा तथा पगड़ी का अंकन इन चित्रों की विशेषता है।

कँवरानी देवी के मन्दिर की दीवारों पर बने हुए चित्र भी लगभग इसी समय के हैं। एक चित्र विष्णु-लक्ष्मी का है, शेषशायी विष्णु शेषनाग पर लेटे हुये हैं तथा उनकी नाभि के ऊपर कमल नाल के ऊपर ब्रह्मा तथा उनके पाँवों के पास लक्ष्मी को अंकित किया गया है। उनके सिर पर मुकुट है तथा चेहरा एकचश्म है। उन्हें एक राजपूत राजा की तरह चित्रित किया गया है, जिनकी मूँछें हैं। भगवान्

कँवरानी मन्दिर, नरसिंहगढ़ में चित्रित शेषशायी विष्णु

को व्यक्ति के रूप में चित्रित करने की परम्परा इन अंकनों में दिखाई देती है। लक्ष्मी का अंकन विशेष रूप से बड़ा आकर्षक है। उनकी भौंह, आँख, नाक, ओंठ तथा अधरोष्ठ बूंदी नायिका की तरह चित्रित किए गए हैं। पार्वती के पीछे गणेश हैं, उनके हाथ में एक प्याला है तथा वे अपनी सूँड पर एक लाल झण्डे को धारित किए हैं। यह एक विशिष्ट लक्षण है, जो भारतीय लघुचित्रों में बनाए गए गणेश में नहीं मिलता। एक चित्र शिव दरबार का है, जिसमें कैलाश पर्वत पर शेर की खाल पर शिव विराजे हैं। उनकी जटाओं में बहती गंगा का प्रवाह बड़ा कलात्मक है। शिव के गणों का अंकन भी बड़ा सुन्दर है। शिव दरबार के बाजू में राम, सीता तथा हनुमान के सुन्दर व्यक्तिचित्र अंकित किए गए हैं। राम को भी किसी राजपूत शासक की तरह चित्रित किया गया है, जिनकी मूँछें हैं। हनुमान का अंकन इन अर्थों में विलक्षण है कि उनकी देह दुबली है तथा उन्होंने अपने सिर पर एक टोपी धारण कर रखी है। एकचश्म सीता का अंकन भी बड़े सुन्दर रूप में किया गया है। उनके एक हाथ में पुष्प है तथा दूसरे हाथ से वे अपना पल्लू सँवार रही हैं। उनकी पूरी देहयष्टि अलंकृत है। सीता, लक्ष्मी तथा पार्वती के अंकन बहुत सुन्दर हैं। इन अंकनों में लाल, नीले, पीले तथा सफेद रंगों का उपयोग किया गया है।

नरसिंहगढ़ की यही परम्परा परवर्ती काल में एक सामासिक शैली के रूप में नरसिंहगढ़ से 20 कि.मी. दूर साखा श्यामजी की समाधि के पास बने कक्ष के चित्रों में दिखाई देती है। ये चित्र 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हैं। अभिलेख के अनुसार सन् 1787-1788 ई. में यह जागीर रावत पर्वतसिंह ने भगली पण्डी नामक एक राजपूत स्त्री को दी थी, जिसने अपने पति की स्मृति में यह चित्र बनवाये। वेणु वादन करते कृष्ण, युद्ध दृश्य, रैदास के समक्ष बैठी मीरा, गजलक्ष्मी, योद्धा, पहलवान, जैन संत, नृसिंह अवतार, ढोलामारू तथा समुद्र मंथन के अंकन बड़े प्रसिद्ध हैं। एक अनुमान यह भी है कि ये अंकन संभवतः 1840 से 1850 ई. के बीच किये गये होंगे। क्योंकि इन पर ब्रिटिश प्रभाव अत्यधिक है। कृष्ण का एक चित्रांकन ऐसा है, जिसमें वे बंदूक लिए हुए दर्शाए गए हैं। यह शैली समग्रता में मालवा की लोकशैली के एक समन्वित स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती हैं।

नरसिंहगढ़ से लगी हुई एक छोटी सी स्टेट राघोगढ़ है। यह कोटा के दक्षिण में अवस्थित है तथा इसकी चित्रांकन परम्परा पर बूँदी तथा कोटा कलमों, विशेषकर कोटा कलम का प्रभाव रहा।

राघोगढ़ के शासक खीची चौहान थे। खीची चौहानों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ हैं। इस सम्बन्ध में खीची शोध संस्थान, इन्द्रोका द्वारा विशद् जानकारी दी गई है। राघोगढ़ के शासक गागरौन से आए थे। राजा गरीबदास गागरौन के अन्तिम शासक थे, जिनका काल 1660-1673 तक का है। वे गुगौर से बालाभेंट आए। यह स्थान मध्यभारत में सिरोंज के निकट है। सन् 1673 में भामावत नामक ग्राम में, जो राघोगढ़ से 8.04 कि. मी. दूर है, उनका निधन हुआ। उनके सबसे बड़े पुत्र लालसिंह थे, जिन्होंने राघोगढ़ की स्थापना की। वे सन् 1673 ई. में गद्दी पर बैठे तथा उन्होंने 1697 ई. तक राज्य किया। उनके पुत्र राजा धीरजसिंह (1697-1726 ई.) के काल में राघोगढ़ की चित्रांकन परंपरा ने अपना पूर्ण उत्कर्ष पाया। यद्यपि
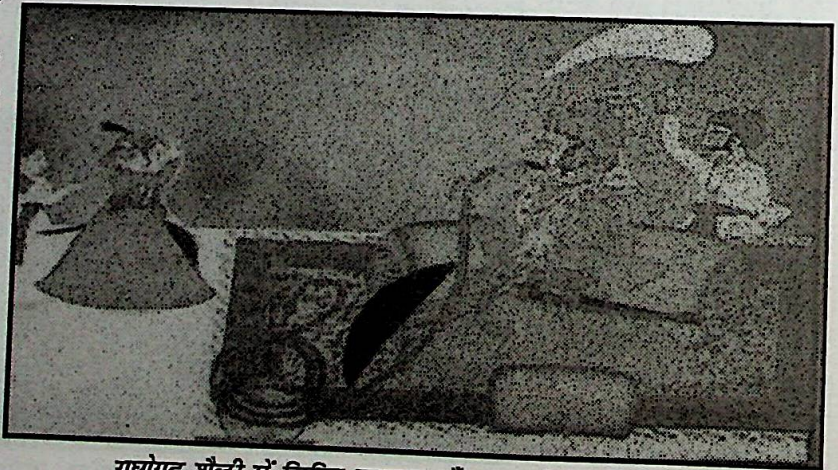
राघोगढ़ शैली में चित्रित महाराज कुँवर जयसिंह अपने पिताश्री के साथ
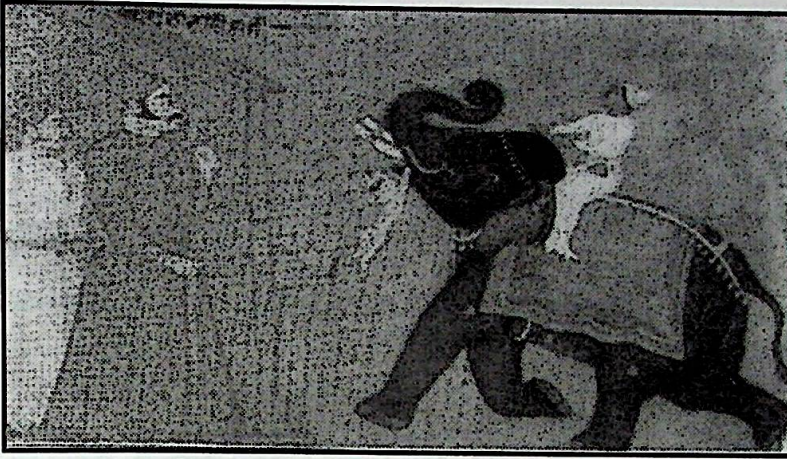
राघोगढ़ शैली में चित्रित क्रीड़ा-कौतुक देखने में मग्न महाराज श्री धीरजसिंह

यह परंपरा बाद के शासकों के समय में भी निभाई गई, किन्तु अन्य किसी के पास वह प्रतिभा तथा संरक्षण भाव नहीं था। राघोगढ़ कलम के सचित्र ग्रंथों तथा चित्रों को सहेजने का कार्य पं. रविशंकर देराश्री ने किया। उन्होंने दो चित्रों के एलबम भारत कला भवन को भेंट कर दिए तथा अनेक चित्र उनके द्वारा राजकीय संग्रहालय उदयपुर को भेंट किए गए।

राघोगढ़ की चित्रांकन परम्परा का अपना विशिष्ट महत्त्व है। स्टूअर्ट कैरी वैल्श ने सुप्रसिद्ध कलाविद् जगदीश मित्तल के सन्दर्भ से राघोगढ़ कलम के बारे में यह अवधारित किया है कि "राघोगढ़ कलम की यह विशेषता है कि वह मुगल शैली के बहुत सारे प्रभावों से इसलिए अछूती रही, क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से देहली से उसकी दूरी थी। इसलिए तथाकथित मुगल परिष्कार से परे रहते हुये राघोगढ़ की चित्रांकन शैली की जड़ें अपने लोक में समाई रहीं तथा उन्होंने वहीं से ऊर्जा और शक्ति ग्रहण की। सीमित साधनों व निरन्तर अपने आसपास के शासकों के द्वेष के बीच भी रहते राघोगढ़ के शासकों ने अपनी सांस्कृतिक अभिरुचि को जीवंत बनाए रखा। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने स्थानीय चितेरों को 200 वर्षों तक प्रश्रय दिया। इसीलिए 1670 ई. से 1860 ई. तक बनें राघोगढ़ के रूपायन हमें उपलब्ध होते हैं। यद्यपि राघोगढ़ के चित्रकार कोटा शैली से तथा मालवा के अन्य अंचलों की शैलियों से, जो दक्षिण में पनप रही थीं, प्रभावित हुए, किन्तु उसके बावजूद उन्होंने अपनी कलम की विशिष्टता को बरकरार रखा। किसी अन्य राजपूत कलम को यह गौरव हासिल नहीं है कि उसने समान गुणवत्ता वाले चित्रों का निर्माण इतने लम्बे समय तक किया हो।"[1] राघोगढ़ की चित्रांकन परम्परा पर कोई महत्त्वपूर्ण शोधकार्य अभी तक नहीं हुआ है, किन्तु इस कलम के चित्र विलक्षण हैं। राजा धीरजसिंह का सर्वाधिक झुकाव चित्रांकन पर ही था। एक व्यक्तिचित्र में वे माला फेरते हुए दर्शाये गये हैं तथा उनके सामने एक बना हुआ चित्र तथा चित्रांकन की सामग्री मौजूद है। उनके दरबार में राग-रागनियों तथा विभिन्न पारंपरिक प्रसंगों के आधार पर बहुतायत से चित्रांकन हुए। रामायण तथा भागवत भी चित्रित किए गए। भगवान् राम के अनुयायी होने के कारण राम दरबार के सुन्दर अंकन राघोगढ़ कलम में हुए।

जंगल तथा पहाड़ों की बहुलता के कारण शिकार करने की परंपरा राघोगढ़ के शासकों में रही तथा राजा धीरजसिंह के समय में उनकी कई शबीहें बनीं, जिनमें उन्हें शिकार करते दर्शाया गया है। उनकी पासवान ऐश्वर्यजी थीं, जिन्होंने राग-रागनियों के चित्र बनाये। राजा धीरजसिंह के समय में धीरपुर ग्राम में चतुर्भुज मंदिर की दीवारों पर सुंदर चित्र बनें। ये भित्ति चित्र अभी भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में मौजूद हैं।

राघोगढ़ कलम के चित्रों की यह विशेषता है कि उनमें अनुपात का विशेष ध्यान रखा गया है। इस कलम के चित्र पूरे विश्व भर के व्यक्तिगत संग्रहों तथा संग्रहालयों में मौजूद हैं। इनमें से प्रमुख हैं-राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, एन. सी. मेहता गैलरी, अहमदाबाद, भारत कला भवन, बनारस, गोपीकृष्ण कनौरिया संग्रह, पटना, बड़ौदा म्यूजियम एण्ड पिक्चर गैलरी, बड़ौदा, जगदीश मित्तल एवं

[1] Stuart Carry Welch - India Art And Culture 1300-1900, p.374

राघोगढ़ शैली में चित्रित महाराज श्री धीरजसिंह

कमला मित्तल संग्रह, हैदराबाद, विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूजियम, ब्रिटिश म्यूजियम, इण्डिया ऑफिस कलेक्शन, सेन्सीबरी संग्रह, लंदन, चेस्टर बेट्टी लायब्रेरी, डबलिन, बोस्टन म्यूजियम, ब्रूकलिन म्यूजियम, मेट्रापॉलिटिन म्यूजियम, न्यूयार्क आदि। मुझे एक सुन्दर राघोगढ़ कलम का चित्र डॉ. जिम मेसेलोस, सिडनी विश्वविद्यालय के व्यक्तिगत संग्रह में भी देखने को मिला, जिसकी सधी हुई रेखाएँ तथा चमकदार रंग सहज आकृष्ट करते हैं।

राघोगढ़ की नायिका का चित्रांकन बूंदी शैली की नायिका की तरह हुआ है। उसका चेहरा गोल है तथा चिबुक नुकीली। पुरुषों के पहनावे पर मुगल प्रभाव स्पष्ट है तथा पगड़ी घेरदार बनाई गई है। इस कलम में वनस्पति का नैसर्गिक अंकन हुआ है तथा हल्के हरे रंग की पृष्ठभूमि में प्रायः चित्र बनाए गए हैं। चित्रों के विषयों में वैविध्य है। यदि वहाँ गजलक्ष्मी और इन्द्राणी हैं, तो कमल के फूलों पर विराजी तथा दैत्यों का संहार करती दुर्गा भी हैं। शिव-पार्वती, भृंगी ऋषि, उषा, चित्रलेखा, गणेश, राजा बाणासुर के साथ-साथ राजा लालसिंह, राजा धीरजसिंह, राजा विक्रमजीतसिंह, राजा बलभद्रसिंह प्रथम, राजा बलवंतसिंह तथा राजा जयमंडलसिंह की शबीहें भी बनी हैं। एक सुन्दर शबीह श्री दिग्विजयसिंहजी के व्यक्तिगत संग्रह में मौजूद है, जिसमें राजा धीरजसिंह अपनी रानियों से घिरे सर्प युगल की कहानी कह रहे हैं। कोकसिंह खीची की शबीह राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। इन चित्रों पर राजस्थानी कलमों का प्रभाव है, किन्तु पृष्ठभूमि राघोगढ़ के कलाकार की मौलिक देन है। इस शैली के चित्रों में आनुपातिक असंतुलन, व्यक्तिचित्रों के सन्दर्भ में प्रायः दिखाई देता है। राघोगढ़ के आरम्भिक अंकनों की झलक एन. सी. मेहता संग्रह, अहमदाबाद में रखे बारामासा के चित्रों में विशेष रूप से मिलती है।

इन चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे वहाँ की स्थानीयता से गहरे रूप में प्रभावित हैं। उनके विषय यद्यपि परम्परागत हैं, किन्तु जो व्यक्तिचित्र हैं, वे बड़े जीवंत हैं। पृष्ठभूमि में राघोगढ़ का स्थापत्य विशेष रूप से देखा जा सकता है। बैंगनी रंग की गुँथी हुई शृंखला का उपादान राघोगढ़ कलम की अपनी अप्रतिम विशेषता है, जो राघोगढ़ से दक्षिण भारत की ओर गया। राघोगढ़ कलम अपने आप में मालवा की प्रतिनिधि कलम है, जिसकी अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं।

माण्डू से लगी हुई ऐतिहासिक नगरी धार के पुष्टिमार्गी मन्दिरों में जो चित्र लगे हैं, वे भी उत्तर मध्यकाल में बने चित्र हैं तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वे इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि वे चित्र संभवतः धार में ही बनें, जिनके विषय नाथद्वारा कलम के थे, किन्तु जिन्हें स्थानीय चितेरों के साथ मिलकर नाथद्वारा कलम के चितेरों ने बनाया। स्थानीयता के प्रभाव के चलते इन पर मराठा प्रभाव बड़ा स्पष्ट है। धार में मुख्य रूप से वल्लभ सम्प्रदाय के तीन मन्दिर हैं। इनमें से एक मन्दिर श्री

गोवर्धननाथ जी का मन्दिर है, जिसमें अनेक चित्र हैं। एक चित्र में पुराणिकजी (शास्त्रीजी) को मराठी पगड़ी पहने दर्शाया गया है। एक मन्दिर मदनमोहनजी का है, जिसमें जमुनाजी का सुन्दर चित्र मौजूद है। बालकृष्णजी के मन्दिर में, जिसे दाईजी का मन्दिर भी कहा जाता है, उसमें झूला दृश्य का लघुचित्र है। वहाँ के अन्य व्यक्तिगत संग्रहों में भी इसी प्रकार के अनेक चित्र मौजूद हैं।

महेश्वर के मन्दिर में रखे राधा-कृष्ण के सात चित्र काफी समय पहले प्राप्त हुए थे, जो उत्तर मध्यकाल के हैं। इनमें राधा के वे व्यक्तिचित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें उन्हें मराठी वेशभूषा में दर्शाया गया है। मालवा के अन्तर्गत भोपाल व सीहोर को भी मान्य किया जाता रहा। 1832 ई. में भोपाल रियासत के संरक्षण में संभवत: सीहोर में बने पाँच व्यक्तिचित्र मुझे एक व्यक्तिगत संग्रह में देखने को मिले, ये चित्र 1832 ई. में हरगोविन्द नामक चितेरे द्वारा बनाए गए। ये व्यक्तिचित्र मंसूर बिन सलेम के हैं, जिनकी अनूठी दाढ़ी, जो दो भागों में विभक्त है तथा विशिष्ट वेशभूषा व बैठने की भंगिमा सहज ही आकृष्ट करती है।

माण्डू, धार, नरसिंहगढ़ तथा राघोगढ़ एवं चंदेरी के अतिरिक्त पश्चिमी मालवा में नीमच, जावद, मंदसौर, रतलाम, उज्जैन, इन्दौर तथा देवास में विशेष रूप से मध्यकाल व उत्तर मध्यकाल में चित्र बने। इन चित्रों के विषय परम्परागत तो थे, किन्तु इन पर मुगल कलम के साथ-साथ राजस्थान की विभिन्न शैलियों का भी प्रभाव था। अब मालवा कलम के चित्र सहज ही मोटे तौर पर पूर्वी और पश्चिमी मालवा के रूप में तो कम से कम पहचाने ही जा सकते हैं। ये चित्र मालवा से लगे हुए बुन्देलखण्ड की कलमों के चित्रों से भिन्नता रखते हैं। ज्यादातर कलाविदों ने बुन्देलखण्ड तथा मालवा के चित्रों में भेद नहीं किया है। बुन्देलखण्ड के ओरछा व दतिया कलम के चित्रों को सहज ही मालवा कलम के चित्रों से पृथक् किया जा सकता है। इसी तरह कोटा व बूंदी शैली के चित्रों से राघोगढ़ व नरसिंहगढ़ के चित्रों को पृथक् से पहचाना जा सकता है। इसी तरह मेवाड़ तथा उदयपुर कलम के चित्रों से मंदसौर व जावद में बने चित्रों की भिन्नता को स्पष्ट किया जा सकता है। मालवा की स्थानीयता का अंकन ही मालवा शैली के चित्रों को राजस्थान तथा बुन्देलखण्ड की विभिन्न शैलियों के चित्रों से पृथक् कर उसकी मौलिक पहचान को स्थापित करता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि राघोगढ़ व नरसिंहगढ़, माण्डू तथा धार में परम्परागत विषयों पर लघुचित्र बने तथा सचित्र ग्रंथ चित्रित हुए तो एक विशिष्ट कालखण्ड में माण्डू, चंदेरी, मंदसौर तथा रतलाम में जैन विषयों पर विशेष अंकन हुए। उज्जैन में विभिन्न धार्मिक विषयों पर तथा ज्योतिष को केन्द्र में रखते हुए चित्र बनाए गए तो देवास में व्यक्तिचित्र विशेष रूप से बने। मराठा प्रभाव के कारण एक नया सौन्दर्यबोध चितेरों में जागृत हुआ। मालवा से लगे विदर्भ अंचल में जो चित्र बनें, वे मालवा कलम के चित्रों से अंकन की बारीकी, रंग चयन, रेखा संतुलन तथा विषय चयन की दृष्टि से श्रेष्ठतर नहीं थे। विदर्भ अंचल के चित्रकारों ने यद्यपि अपने स्थानीय मराठा प्रभाव को अंकित तो किया, किन्तु वे राजस्थान की परंपरागत शैलियों के दबाव में रहे तथा एक बड़ी सीमा तक उन्होंने उन शैलियों का अनुकरण करने का प्रयास किया, जबकि मध्यकाल व उत्तर मध्यकाल में मालवा में यह स्थिति नहीं रही। मालवा के चितेरे ने अपनी आंचलिक विशेषताओं को उरेहने में कोई कोताही नहीं की। उसने यहाँ के स्थापत्य, शिल्प, वनस्पति तथा पूजनीय उपादानों का खुलकर अपनी मौलिक और समन्वित शैली में चित्रण किया। वह राजस्थान की विभिन्न शैलियों के प्रभाव में अवश्य रहा, किन्तु दबाव में नहीं रहा। यही मालवा कलम के चितेरे की सबसे बड़ी विशेषता है। अभी भी यद्यपि साक्ष्य मौजूद नहीं है, फिर भी शाजापुर तथा नलखेड़ा जैसे स्थानों में चित्रांकन के सम्बन्ध में जानकारियाँ वाचिक परंपरा के माध्यम से मिलती हैं।

आज यही सबसे अधिक प्रासंगिक तथ्य है कि मालवा कलम की पहचान के लिए पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ शोधार्थी अपनी सामर्थ्य को प्रगट करें तथा उस महान वैभव को उद्घाटित करें जो मालवा कलम के रंगों और रेखाओं में समाविष्ट है।

❑

अवन्ती क्षेत्र की चित्रकला

डॉ. आर. सी. भावसार

भारतवर्ष के इतिहास में अवन्ती प्रदेश का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस भू-भाग की प्रधान नगरी उज्जयिनी को अतीत काल में कई शताब्दियों तक राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस पुनीत पुरी में भूतभावन भगवान महाकालेश्वर विराजमान हैं। पुराणों में इसके कनकशृंगा, कुशस्थली, उज्जयिनी, अवन्ती, पद्मावती, कुमुद्वती, अमरावती, विशाला तथा प्रतिकल्पा नामों का उल्लेख है।

अवन्ती का उज्जैन सम्भाग अपनी चित्रकला की परम्परा से अत्यन्त ही समृद्ध है। यहाँ की चित्रकला के मुख्य उदाहरण उज्जैन, देवास, रतलाम, मन्दसौर, भानपुरा, नीमच एवं शाजापुर में विद्यमान भित्ति चित्र हैं। कलाकारों ने रंग और तूलिका के माध्यम से धार्मिक कथाओं, सामाजिक परम्पराओं और जनजीवन के विभिन्न पहलुओं को अभिव्यक्त किया है। साथ ही यहाँ की स्थानीय संस्थाओं ने भी कला के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस क्षेत्र की चित्रकला को जानने के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं:

(अ) मन्दिरों एवं प्रासादों के भित्तिचित्र जो नष्ट होने से बच गये हैं।
(ब) अध्ययन-अध्यापन में कार्यरत चित्रकार तथा शिक्षण संस्थाएँ।
(स) लोक सृजन, जिनमें माण्डने एवं चित्रावंण।

1. चिटणिस मन्दिर उज्जैन में चित्रित घुड़सवार

उज्जैन–उज्जैन में भित्तिचित्रों की यह श्रृंखला तिलकेश्वर महादेव मन्दिर, चिटणिस मन्दिर, श्री राम जनार्दन मन्दिर, काल भैरव मन्दिर, अनादि कल्पेश्वर मन्दिर, हरसिद्धि मन्दिर, जगदीश मन्दिर, जैन मन्दिर एवं माधव महाविद्यालय के गाँधी सभागृह तथा वाचनालय में विद्यमान हैं।

देवास–देवास जो उज्जैन सम्भाग के अंतर्गत एक जिला मुख्यालय है। यहाँ चरणदास मन्दिर, राजवाड़ा तथा मल्हार स्मृति मन्दिर में भित्तिचित्र विद्यमान हैं तथा पँवार शासकों के निजी संग्रह में कुछ व्यक्ति चित्र (पोट्रेट) संग्रहित हैं।

रतलाम–रतलाम नगर भी उज्जैन सम्भाग का एक जिला मुख्यालय है। इस नगर में बाबा साहब का जैन मन्दिर, कोटवाला बगीचे में स्थित जैन मन्दिर, भूपतसिंहजी की कोठी, चाँदमल मेहता की हवेली तथा कोटावाले की हवेली भित्तिचित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं।

मन्दसौर–यह नगर उज्जैन सम्भाग का जिला मुख्यालय है तथा मन्दसौर नगर के साथ समीपवर्ती भानपुरा एवं नीमच नगर में भी सुन्दर भित्तिचित्र बने हैं। मन्दसौर में शान्तिलाल बागिया की हवेली, सज्जनलाल सागरमल पोरवाल की हवेली, मांगीलालजी की हवेली, महंत मंगलदासजी का रामलक्ष्मण मन्दिर तथा पन्नालालजी बागरेचा का भवन, भानपुरा में यशवंतराव होलकर की छत्री, नीमच में पुरानी बस्ती बघाना में चौधरीजी की हवेली भित्ति चित्रकला के भण्डार हैं। यहाँ के भित्ति चित्र उज्जैन सम्भाग के सर्वोत्कृष्ट चित्रों में से हैं तथा संख्या की दृष्टि से भी प्रथम स्थान पर हैं।

शाजापुर–यह नगर भी उज्जैन सम्भाग का जिला मुख्यालय है। लोक चित्रावण से सम्बन्धित चित्रों का यहाँ अद्भुत भण्डार भारत के स्वतंत्र होने तक था, परन्तु अब घरों की छुट-पुट भित्तियों पर एक स्मरण मात्र ही शेष है। राजराजेश्वरी मन्दिर जिसे रोड़ेश्वरी माता का मन्दिर कहते हैं, इस मन्दिर की भित्तियों पर तैल रंगों से अलंकरण एवं चित्र बने हैं।

इन मन्दिरों के तथा प्रासादों के भित्तिचित्रों का संक्षिप्त विवेचन निम्नांकित है–

मैनाबाई का बाड़ा, उज्जैन–स्वतंत्रता के पूर्व उज्जैन सिंधिया शासकों के अधीन था। यह नगर प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र रहा है। यहाँ श्रीमंत दौलतराव सिंधिया की मातुश्री का एक महल था जो 'मैनाबाई का बाड़ा' के नाम से विख्यात था, जिसमें चित्रों का महत्त्वपूर्ण संग्रह था। लेफ्टिनेंट कर्नल कोनोली ने सन् 1884 में अपने एक लेख में उज्जैन के संस्मरण के दौरान उल्लेख किया था कि ''मैनाबाई का महल भवन निर्माण कला की दृष्टि से अद्वितीय था, जिसमें अनेक चित्र बने हुए थे जो महाभारत के प्रसंग एवं कृष्णलीला से सम्बन्धित थे।'' सन् 1925 ई. में यह महल जलकर नष्ट हो गया और उसके साथ चित्रकला का वह भण्डार भी हमेशा के लिए ओझल हो गया।

2. चिटणिस मन्दिर उज्जैन में चित्रित सवारी का दृश्य

3. चिटणिस मन्दिर उज्जैन में चित्रित सवारी तथा बैल जुता हुआ रथ

तिलकेश्वर मन्दिर, उज्जैन-यह मन्दिर उज्जैन-बड़नगर मार्ग पर स्थित है, समीप में गढ़कालिका मन्दिर तथा भर्तृहरि गुफा भी है। मन्दिर के आस-पास कुछ प्रतिमाएँ बिखरी पड़ी हैं, जिन्हें पुरातत्त्ववेत्ताओं ने परमारकालीन घोषित किया है। इससे इस मन्दिर को परमार काल का ही अवशेष माना जाता है, जिसका जीर्णोद्धार मराठाकाल में हुआ था। इस मन्दिर के गुम्बद में भित्तिचित्र बने हुए हैं, जो अपनी अंतिम साँसें गिन रहे हैं। यहाँ संगीत सम्बन्धी, शिकार सम्बन्धित मृगसिंह युक्त दृश्य, नाथ सम्प्रदाय के साधु तथा सद्यः स्नाता एवं कृष्ण लीला का अंकन हुआ है।

चिटणिस मन्दिर, उज्जैन-यह मन्दिर उज्जैन के पानदरीबा कार्तिक चौक मोहल्ले में स्थित है। मन्दिर के आसपास आवासीय कमरे बने हुए हैं, जिनमें महाराष्ट्रीयन परिवार के गृहस्थ निवास करते हैं। पानदरीबा की मुख्य सड़क पर एक विशाल प्रवेश द्वार बना हुआ है, इसी द्वार से प्रवेश कर मन्दिर तक पहुँचा जाता है। मन्दिर का अगला भाग, जिसे सभागृह की संज्ञा दी जाती है, काष्ठ निर्मित है एवं गर्भगृह पक्का बना हुआ है, जिसमें भगवान लक्ष्मीनारायण की प्रतिमा विराजमान है। मराठा कालीन इस मन्दिर में काष्ठ के आधार पर चित्र बने हुए हैं, यहाँ चिटणिस परिवार के एक व्यक्ति का चित्र लगा हुआ है, जिस पर संवत् 1780 अंकित है। इस आधार पर यहाँ के भित्तिचित्रों का (काष्ठ पर निर्मित) समय अठारहवीं शताब्दी का अनुमानित है। चित्रों के विषय धार्मिक, पौराणिक कथाओं से सम्बन्धित हैं। साथ ही सिंधिया राजघराने की सवारी के दृश्य भी अंकित हैं। चित्र की पृष्ठभूमि लाल रंग से बनी हुई है, जिस पर सफेद, नीले एवं लाल रंगों का प्रयोग किया गया है, जिसमें सैनिक सिर पर पगड़ी पहने हुए, अंगरखा और पजामा पहने हथियारों से सजे हुए, चलते हुए अंकित किए गए हैं। सैनिकों के पीछे पालकी चित्रित है, जिसे चार कहार उठाए हुए हैं, जिसमें एक महिला लोट के सहारे बैठी दिखाई गई है। सम्भवतया ये सिंधिया परिवार की रानी हो? साथ में चँवर धारिणी और पालकी के पीछे पुन: सैनिक अंकित हैं। इस दृश्य में हाथी, घुड़सवार और बैलगाड़ियों का अंकन हुआ है, जो रथ की तरह दिखाई देती है। मानवाकृतियाँ ठिगने कद की बनाई गई है, जिनकी बाह्य रेखा (आउट लाईन) गहरे रंग से की गई है। घुड़सवारों का अंकन बहुत ही सजीव हुआ है। (देखिये चित्र सं. 1, 2, 3)

वर्तमान में यह चित्रित काष्ठ पट्टिकाएँ सड़ कर नीचे गिर रही हैं तथा रख-रखाव के अभाव में मरणासन्न हैं।

श्रीराम-जनार्दन मन्दिर, उज्जैन-यह मन्दिर अंकपात क्षेत्र में विद्यमान है। यहाँ पर एक प्रांगण में दो मन्दिर बने हुए हैं। इनमें से एक श्रीराम का अति प्राचीन मन्दिर है तथा दूसरा विष्णु (जनार्दन) का मन्दिर है। दोनों ही मन्दिर एक परकोटे से घिरे हुए हैं, जिसका एक ही मुख्य द्वार है। इन मन्दिरों को शाही सनदें प्राप्त हैं, जो सिंधिया, होलकर तथा शाही परिवारों द्वारा प्रदत्त की गई है। रेजीडेंसी के चिकित्सा अधिकारी डॉ. विलियम हन्टर ने कुछ संस्मरण उज्जैन के सम्बन्ध में लिखे थे, जिनमें इन मन्दिरों का भी उल्लेख है।

4. श्री राम मन्दिर उज्जैन में चित्रित

उन्होंने लिखा था-''सबसे अधिक गौरवशाली मन्दिर नगर के बाहर थोड़ी दूरी पर स्थित है, जहाँ एक सरोवर भी है। उनके इस लेख के द्वारा इन मन्दिरों के निर्माण का समय 1767 ई. के आसपास सिद्ध होता है।'' इस मन्दिर के पुजारी से प्राप्त जानकारी के आधार पर तथा उन्हें प्रदत्त सनदों के आधार पर ज्ञात होता है कि इनमें से राम मन्दिर का निर्माण सिंधिया द्वारा तथा विष्णु (जनार्दन) मन्दिर का निर्माण होलकर राजाओं द्वारा करवाया गया था। उनकी पूजा की व्यवस्था भी अलग-अलग करवाई गई थी। राम मन्दिर में राम-लक्ष्मण एवं सीता की प्रतिमाएँ तथा जनार्दन मन्दिर में विष्णु की प्रतिमा 17वीं शताब्दी की हैं। इन मन्दिरों में मराठा कालीन भित्तिचित्रों के सुन्दर उदाहरण विद्यमान हैं। (देखिये चित्र सं. 4)

राम मन्दिर में भित्ति पर भगवान राम के जीवन की सुन्दर झाँकी विभिन्न आयातों में विराजित कर चित्रित की गई है तथा साथ ही श्रीराम जन्म, जन्म-कुण्डली-दिग्दर्शन, झूला आकर्षण के केन्द्र हैं।

मन्दिर में बाँयी तरफ की भित्ति पर राम के जन्म का दृश्य अंकित है। इस फलक पर अनेक दृश्य अंकित हैं, जिनमें राजा दशरथ को राम-जन्म की सूचना दी जा रही है तथा राजा दशरथ ज्योतिषियों को राम की जन्म-कुण्डली बनाने का निर्देश दे रहे हैं। रामजन्म की घटना नगरवासियों के लिए अत्यन्त ही आनन्दप्रदायक लग रही है। नगरवासी उस अद्‌भुत आनन्द में इधर-उधर चलते-फिरते अंकित किए गए हैं। चित्र में देवनागरी लिपि में 'ये समैया राम नोमी पुत्र उच्छाव का है' दूसरे फलक में पालना (झूला) अंकित किया गया है, जिसमें राम-लक्ष्मण अंकित किए गए हैं। चित्र में राम-लक्ष्मण की माता के साथ सेविकाएँ भी अंकित की गई हैं, जो झूले की रस्सी खींचकर झूला दे रही है। एक फलक में भरत और शत्रुघ्न राजसी वेशभूषा में अंकित है। (चित्र सं. 4)

एक फलक में राम-लक्ष्मण को वशिष्ठ मुनि और राजा दशरथ के साथ अंकित किया गया है, जिसमें राम-लक्ष्मण वशिष्ठ मुनि के साथ विद्याध्यन के लिए आश्रम जा रहे हैं।

एक फलक में राम-सीता के विवाह का दृश्य अंकित किया गया है। सीता को वरमाला लिए सखियों के साथ विवाह-मण्डप में जाते अंकित किया गया है। मण्डप केले के पेड़ से सज्जित बनाया गया है, पास में गणेश और ब्रह्मा को अंकित किया गया है। चित्रकार ने चित्र में सजीव वातावरण निर्मित कर दिया है जो दर्शकों के मन में भक्ति के भाव उत्पन्न करता है। चित्र में वस्त्राभूषण का अंकन परम्परागत महाराष्ट्रीयन है। चित्रांकन मराठा-मालवा शैली में किया गया है।

विष्णु मन्दिर के भित्तिचित्रों में मणिकुट्टिम का कार्य भी किया गया है। मन्दिर के गुम्बद में पच्चीकारी के माध्यम से अलंकरण एवं बीच-बीच में सुन्दर लघु चित्र बने हैं, जिनमें कृष्ण लीला के विभिन्न प्रसंग एवं मयूर अंकन दर्शनीय हैं। कुछ चित्र अधूरे से भी लगते हैं जिनमें रंग भरना शेष है। ये चित्र राजपूत एवं मालवा शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। कई लघु चित्रों की रेखाएँ तथा मानव आकृतियाँ इतनी सशक्त हैं कि वे काँगड़ा शैली का भ्रम उत्पन्न कर देती हैं। सन् 1960 ई. के दशक में डॉ. वि. श्री. वाकणकर ने अपने विद्यार्थियों द्वारा इन भित्ति चित्रों की अनुकृतियाँ भी करवाई थीं, उस समय मुझे भी इन चित्रों की अनुकृति करने का अवसर प्राप्त हुआ था। गर्भगृह की भित्तियों पर एकनाथ, तुकाराम तथा नामदेव, बोदले बुआ, गरुड़ एवं हनुमान की विशाल आकृतियाँ अंकित की गई हैं। गर्भगृह की छत भी ज्यामितिक आकारों से चित्रित हैं। चित्रों के नीचे सन्तों के नाम भी अंकित किए गए हैं।

काल भैरव मन्दिर, उज्जैन-भैरवगढ़ क्षेत्र में क्षिप्रा तट पर काल भैरव का मन्दिर स्थित है, जो विशाल परकोटे से घिरा हुआ है। काल भैरव की प्रतिमा अत्यन्त चमत्कारी है, जहाँ शराब का भोग लगाया जाता है। मन्दिर के पुजारी एक रकाबी (प्याली) में शराब भरकर प्रतिमा के ओंठों पर लगाते हैं और धीरे-धीरे शराब की प्याली खाली हो जाती है।
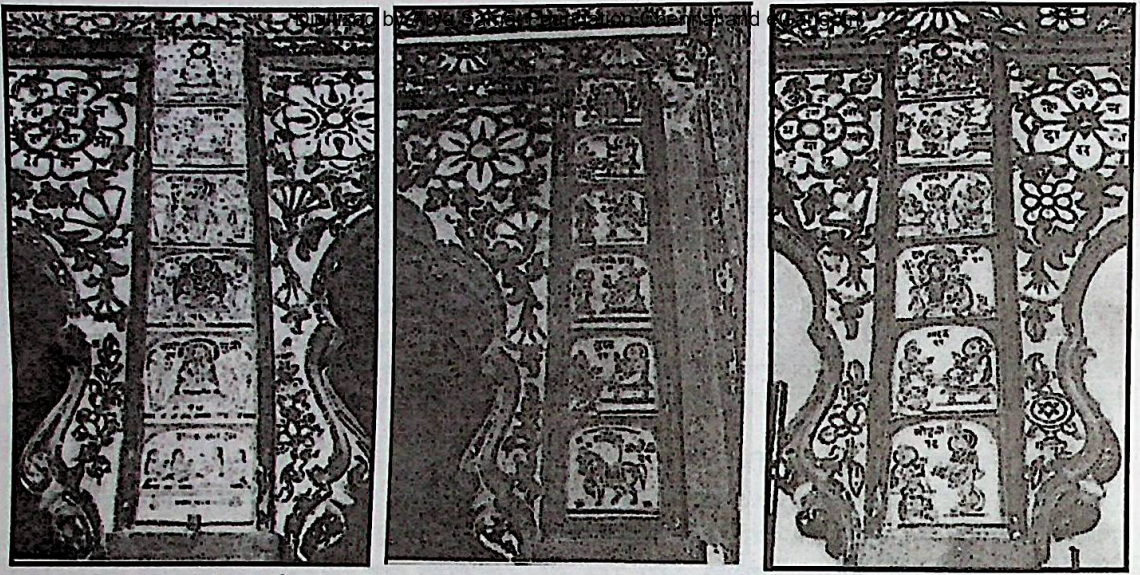
5, 6, 7. सत्यनारायण मन्दिर उज्जैन के भित्तिचित्र

इस मन्दिर के गर्भगृह के अन्दर लाल पृष्ठभूमि पर चित्र बने हुए हैं तथा मन्दिर के अन्दर की छोटी छत्री की गुम्बद की भित्तियों पर चार चित्र बने हुए थे, जिनकी कुछ धुँधली आकृतियाँ दिखाई देती हैं। इनमें दुर्गा, काले-गोरे भैरव, गजलक्ष्मी, राम-लक्ष्मण-सीता-हनुमान तथा बाँसुरीवादक श्रीकृष्ण हैं। उपरोक्त चार चित्रों में से केवल दुर्गा एवं गजलक्ष्मी ही शेष बचे हैं।

अनादि कल्पेश्वर मन्दिर, उज्जैन-महाकालेश्वर मन्दिर के प्रांगण में अनादि कल्पेश्वर का मन्दिर स्थित है। इसकी छत पर रासलीला का चित्रण 1980 ई. के पूर्व विद्यमान थां, जो साफ-सफाई एवं रंग-पुताई के कारण अदृश्य हो गया है।

हरसिद्धि मन्दिर, उज्जैन-महाकाल क्षेत्र में हरसिद्धि देवी का प्रसिद्ध मन्दिर है। यह कहा जाता है कि सती के देह त्याग के बाद जब भगवान शंकर उनके शव को कन्धे पर लेकर शोक में व्याकुल होकर घूमने लगे, तब भगवान विष्णु ने चक्र से शव के टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे। इससे सती की क़ोहनी मन्दिर के स्थान पर गिरी थी और इससे यह मन्दिर शक्तिपीठ के रूप में स्थापित हुआ। इस मन्दिर के सभागृह के गुम्बद में विभिन्न देवियों के चित्र बने थे, जिन्हें किशोर पेंटर और चौहान पेंटर ने बनाया था। धुँधले हो जाने पर सन् 1980 ई. के सिंहस्थ पर्व हेतु इन्हें पुनः तैल रंगों से चित्रित किया गया था, जो आज भी विद्यमान हैं। इसमें देवी के विभिन्न रूपों का अंकन देवनागरी वर्णमाला (अ से क्ष, त्र, ज्ञ) के एक-एक अक्षर के साथ मन्त्र लिखकर किया गया था। चित्रांकन गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के चित्रों से समानता रखते हैं। इन चित्रों में पूर्व की मौलिकता दिखाई नहीं देती और पूर्व के चित्रों की तुलना में यह चित्र सामान्य कोटि के हैं।

सत्यनारायण मन्दिर, उज्जैन-सत्यनारायण मन्दिर क्षिप्रा नदी की ओर जाने वाले मार्ग, जिसे आजकल ढाबारोड़ कहते हैं, पर स्थित है। यहाँ भगवान सत्यनारायण की प्रतिमा विराजमान है। वर्तमान मन्दिर के पूर्व यह मन्दिर काष्ठ से निर्मित था, जो आग लग जाने से नष्ट हो गया था। भक्तों द्वारा संवत 2012 वि. में इसका पुनर्निर्माण हुआ था, जिसमें तत्कालीन जिलाधीश श्री प्रभुदयालजी ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया था।

इस मन्दिर की भित्तियों तथा खम्भों पर सुन्दर चित्र बने हैं, जिसे देखकर अजन्ता की गुफाओं के चित्रों का स्मरण हो आता है। यहाँ के चित्रों के विषय विविधता लिए हुए हैं, जिनमें फूल-पत्तियों

युक्त अलंकरण, कृष्णलीला, राशियों से सम्बन्धित, वार (दिवस) से सम्बन्धित सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि और रविवार को मानवाकृति के रूप में चित्रित किया गया है। विभिन्न अवतारों और राग-रागिनियों का भी अंकन यहाँ की भित्तियों पर हुआ है। रंग संयोजन में पीला, लाल, नीले, हरे एवं काले रंगों का शुद्ध रूप में प्रयोग हुआ है। (देखिये चित्र सं. 5, 6, 7)

जैन मन्दिर, उज्जैन-उज्जैन के जैन मन्दिरों में भी भित्ति चित्रण हुआ है, जिसका विषय तीर्थंकर के लोक कल्याणकारी कार्य तथा जैन धर्म से सम्बन्धित कथाएँ हैं। इनमें से कुछ चित्र जैन और अपभ्रंश शैली से प्रभावित है तथा कुछ एकदम नये हैं, जो तैल रंगों से बनाये गये हैं।

माधव महाविद्यालय, उज्जैन-माधव महाविद्यालय मालवा के प्राचीनतम महाविद्यालय में से है, ग्वालियर के स्वर्गीय महाराज श्रीमंत माधवराव सिंधिया (श्रीमंत जीवाजीराव सिंधिया के पिता) के नाम पर इसका नामकरण हुआ था। तभी से यह सुयोग्य अधिकारियों, योग्य आचार्यों और सुसंस्कृत शिक्षकों के नेतृत्व और मार्गदर्शन में उज्जैन नगर की शैक्षणिक गतिविधियों का नेतृत्व करता आ रहा है। उज्जैन की प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराओं का भी यह प्रतिनिधित्व करता रहा है। इस माधव महाविद्यालय के गाँधी सभागृह तथा वाचनालय में 1970 और 1980 ई. के मध्य प्रोफेसर श्रीमती शिवकुमारी जोशी एवं प्रोफेसर रामचन्द्र भावसार के मार्ग दर्शन में विद्यार्थियों द्वारा भित्तिचित्रों का सृजन हुआ, जो आज भी विद्यमान हैं। इन चित्रों का विषय सामाजिक एवं कार्यशैली मानवाकृति युक्त अलंकरणात्मक है, जिन्हें पोस्टर रंगों से बनाया गया है। यहाँ यह उल्लेख करना युक्तिसंगत है कि इन भित्ति चित्रों को महाविद्यालय के छात्र-छात्राओं एवं प्राध्यापकों ने एक साथ बनाया है। भित्ति चित्रों के अतिरिक्त महाविद्यालय के प्रांगण में प्रसिद्ध मूर्तिकार श्री फड़के की बनाई हुई पंडित जवाहरलाल नेहरू की प्रतिमा स्थापित की गई, जिसका अनावरण पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा सम्पन्न हुआ था। प्रांगण में ही डॉ. आर. सी. भावसार कला आचार्य द्वारा स्वामी विवेकानन्द की आदमकद प्रतिमा का निर्माण सन् 1976 में हुआ, जिसका अनावरण रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी रंगनाथानंद द्वारा सम्पन्न हुआ था।

9. चरणदास मन्दिर देवास में चित्रित कृष्ण

देवास-देवास नगर में 18वीं, 19वीं शताब्दी के भित्ति चित्र चरणदास मन्दिर, राजवाड़ा तथा मल्हार स्मृति मन्दिर एवं पँवार शासकों के निजी संग्रह में विद्यमान हैं।

चरणदास मन्दिर की भित्तियों पर श्रीनाथजी, राहू, केतु, उद्धव, श्रीकृष्णजी, दशावतार, शेषशायी विष्णु, श्रीराम चरित्र, शिव-पार्वती तथा महाभारत के कुछ प्रसंगों का चित्रण हुआ है। ये चित्र राजस्थानी शैली से प्रभावित मराठा शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं, इनके रंग चटकीले हैं। देवास के पँवार शासकों के निजी संग्रह में कृष्णाजी, तुकोजी, रुकमांगद राव पँवार आदि के व्यक्ति चित्र (पोट्रेट) विद्यमान हैं। इसी प्रकार जूनियर के शासकों में सदाशिव राव, मल्हार राव एवं खासे साहब आदि के व्यक्ति चित्र (पोट्रेट) विद्यमान हैं। देवास के कार्यभारी श्री फडनीस एवं दीवान गंधे, सुपेकर आदि के निजी संग्रह में भी चित्र संग्रहीत हैं, जिससे चित्रकला के प्रति इनकी रुचि का पता चलता है। (चित्र क्र. 8, 9.)

8. चरणदास मन्दिर देवास में चित्रित 'रासलीला''
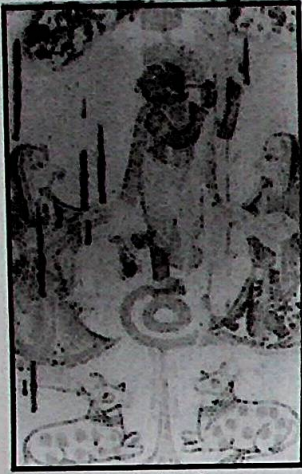
10. कृष्ण एवं गोपियाँ, रतलाम

11. मंगलकलश धारिणी, रतलाम

राजवाड़ा-देवास के सीनियर राजवाड़े में 1866 ई. के आसपास के भित्ति चित्र हैं, जिसमें राज परिवार की सवारी, जिनमें हाथी, घुड़सवार, तोप गाड़ियाँ, ऊँट सवार एवं शिकार दृश्यों का अंकन हुआ है। इसके अतिरिक्त जूनियर राजवाड़े में गायत्री, गोपी-कृष्ण, गणेश आदि देवी-देवताओं के भित्ति-चित्र चित्रकार नाना भुजंगराव द्वारा निर्मित हैं।

मल्हार मार्तण्ड स्मृति मन्दिर-यहाँ 1939 ई. में बने तैल रंगों से निर्मित भित्तिचित्र सभागृह की दोनों भित्तियों पर बने हैं, जिनमें मल्हार राव पँवार, सदाशिव राव पँवार अपने सभासदों के साथ चित्रित हैं। इन चित्रों के निर्माता के रूप में डी. बी. पँवार का नाम उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त शीलनाथ महाराज की धूनी पर भी चित्र बने हैं, जिनमें चित्रकार नाना भुजंग द्वारा चित्रित नारायणराव दादा साहेब तथा महारानी चिमनाबाई के व्यक्ति-चित्र दर्शनीय हैं, जिन्हें देखकर चित्रकार राजा रवि वर्मा का स्मरण हो आता है। ये व्यक्ति चित्र यूरोपीय शैली से पूर्णतया प्रभावित हैं। उज्जैन, इन्दौर तथा देवास में चित्रकार नाना भुजंग के साथ भेरूलाल मुस्सवर तथा खूबचन्द मुस्सवर का नाम काफी चर्चित रहा है।

रतलाम-बाबा सा. का जैन मन्दिर रतलाम भी कभी भित्ति चित्रों से सुसज्जित था, परन्तु साफ-सफाई के दौरान उन्हें पुताई से नष्ट कर दिया गया है।

भूपतसिंहजी की कोठी, रतलाम के कोटा बगीचे के मध्य स्थित है। कोठी की दूसरी मंजिल के एक कक्ष में पाश्चात्य शैली में धार्मिक विषयों पर आधारित तैल चित्र बने हैं। चाँदमलजी मेहता की हवेली, रतलाम में तोपखाना मार्ग के समीप स्थित है, इसमें दूसरे मंजिल के कक्ष में भित्ति चित्र बने थे, उनमें से राम के राजतिलक वाला भित्तिचित्र ही विद्यमान है तथा शेष नष्ट हो चुके हैं। इस भवन का निर्माण सन् 1935 ई. में हुआ था। कोटावाले की हवेली, रतलाम में अनेक भित्ति चित्र विद्यमान हैं, इनमें छुट-पुट अंकन हुआ है। इनके विषय मंगल कलशधारिणी महिलाएँ, हाथी सवार, रिद्धि-सिद्धि गणेश, कृष्ण और गोपियाँ, शिव-परिवार, काला-गौरा भैरव, सिंहवासिनी दुर्गा, सरस्वती, गजलक्ष्मी, राम परिवार, लैला-मजनू, द्वारपाल आदि से सम्बन्धित हैं। इन चित्रों पर लोक चित्रावण का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। वस्त्र-आभूषणों के अंकन में मालवी लहंगा-चोली एवं ओढ़नी का उपयोग हुआ है, आकृतियाँ ठिगने कद की बनाई गई हैं। (चित्र क्रमांक 10, 11.)

12. मन्दसौर में चित्रित रागिनी देसबराढ़

मन्दसौर-शांतिलालजी बागिया की हवेली-मन्दसौर में शान्तिलालजी बागिया की हवेली में दूसरी मंजिल के कक्ष में लैला-मजनू, यूरोपीय दम्पत्ती, नायक-नायिका, शिकारी, झूला, हाथी सवार, सैनिक, अश्वारोही, ऊँट की सवारी, मातापुत्र, रतिक्रिया, कामधेनु, भोजन बनाती महिलाएँ, अनाज की दुकान, कृष्ण लीला, सूर्य-चन्द्र, मराठा दरबार, वीणावादिनी,
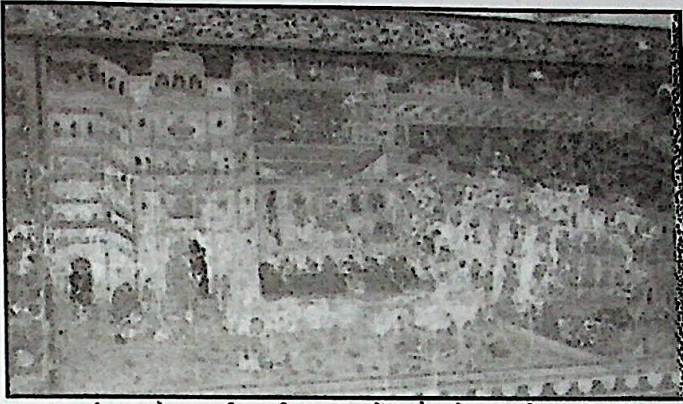
13. *यशवंतराव होल्कर की छतरी भानपूरा में इन्दौर के राजवाड़े का भित्तिचित्र*

रामेश्वरजी, जगन्नाथजी आदि से सम्बन्धित करीब 82 चित्रों का अंकन हुआ है। (चित्र क्रमांक 12.)

सागरमलजी पोरवाल की हवेली-सागरमलजी पोरवाल की हवेली, मन्दसौर में अश्वारोही, गजारोही, राग-रागिनी, सावन का झूला, काँटा निकालती महिला, महिलाओं के समूह से बनी पालकी तथा नारी कुंजर, चौपड़, विवाह, फूदड़ी नृत्य, शतरंज, शोभा-यात्रा, राजदरबार, शिकार, मेंढ़ों की लड़ाई, तुकोजीराव की सवारी, मधुपान, नौका, होली, पशु-पक्षी, रतिक्रीड़ा, लैला-मजनू आदि विषयक चित्र बने हैं।

रामलक्ष्मण मन्दिर-मंगलदास महंत का राम-लक्ष्मण मन्दिर मन्दसौर के किले के मार्ग पर स्थित है। इस मन्दिर में कृष्णलीला से सम्बन्धित चित्र बने थे, जो वैष्णव सम्प्रदाय (पुष्टिमार्ग) के हैं। यहाँ के चित्रों को चित्रकार जगन्नाथजी तथा गौतमदासजी ने बनाया था। वर्तमान में ये चित्र धुँधले हो गये हैं।

पन्नालाल बावरेचा की हवेली-पन्नालाल बावरेचा की हवेली, मन्दसौर में स्थित है तथा इस भवन के तीसरे मंजिल का एक कक्ष भित्ति चित्रों से अलंकृत है। चित्रों के विषय हिन्दू देवी-देवताओं से ओत-प्रोत हैं। सूर्य, हिरण्य-कश्यपु वध, कालिय दमन, लक्ष्मीजी, भक्त ध्रुव, यमपुरी, अर्धनारीश्वर, लक्ष्मीनारायण, ब्रह्मलोक, ऐरावत पर इन्द्र, पहाड़ उठाते हनुमानजी, राम और सीता का जनकपुरी में मिलन, शेषशायी विष्णु तथा अहिल्योद्धार जैसे प्रसंग धार्मिक कथाओं को समझाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते नजर आते हैं। यहाँ के अधिकतर चित्रों की पृष्ठभूमि में लाल तथा गेरूआ रंग भरा गया है। ये चित्र त्र्यम्बकराव यावलकर द्वारा सन् 1920 ई. में निर्मित हुए किए गए थे, जो यूरोपीय शैली से प्रभावित हैं।

भानपुरा-भानपुरा, मन्दसौर जिले की एक तहसील का मुख्यालय है, यहाँ होलकर नरेश यशवंतराव की छत्री है, जो धार्मिक देवी-देवताओं के भित्ति चित्रों से सज्जित है। देवी-देवताओं के चित्रों के अतिरिक्त भवनों के अन्य चित्र भी बड़ी सूझ-बूझ के साथ अंकित किए गए हैं, जिनमें इन्दौर के राजबाड़े का चित्र विशेष उल्लेखनीय है। देवी-देवताओं की वेशभूषा मराठी पहनावों से युक्त हैं। (चित्र क्रमांक 13.)

नीमच-नीमच का एक भाग बघाना के नाम से जाना जाता है। यहाँ एक भवन चौधरी जी की हवेली के नाम से विख्यात है। इस दो मंजिले भवन में ऊपर की मंजिल के दो कक्षों में भित्ति चित्र बने हैं, जिनमें से एक धार्मिक और युद्ध सम्बन्धी विषयों से ओत-प्रोत है, वहीं दूसरे कक्ष में रतिक्रिया से सम्बन्धित चित्र हैं। इन चित्रों में महिलाओं और पुरुषों का पहनावा मालवी तथा राजस्थानी है।

इस प्रकार उज्जैन सम्भाग में भित्ति चित्रों का भण्डार है और इन भित्ति चित्रों में मन्दसौर एवं नीमच जिले के चित्रागार अत्यधिक समृद्ध हैं।

14. 'राष्ट्र यज्ञ' चित्रकार मुकुन्दराव भाण्ड

चित्रकार–उज्जैन सम्भाग की चित्रकला को जानने के लिए दूसरे महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में यहाँ के चित्रकार तथा शिक्षण संस्थाओं की गतिविधियाँ हैं, जो यहाँ की चित्रकला के विकास पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

साहित्य एवं कला के विकास में 20वीं शताब्दी ई. के पूर्वार्द्धकाल में श्री मुकुन्दरावजी भाण्ड, श्री मदनलालजी शर्मा, श्री कोराने एवं श्री गजानन वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिनके प्रयत्नों से उज्जैन के कला क्षेत्र में स्वतंत्रता के पूर्व विशेष हलचल हुई। उज्जैन में जन्में श्री मुकुन्दराव भाण्ड उज्जैन में स्काउट मास्टर थे। उन्होंने 20वीं शताब्दी ई. के दूसरे दशक में नमक मण्डी स्थित अपने निवास पर चित्रकला की कक्षाएँ प्रारम्भ की थीं। आपके विद्यार्थियों में श्री मदनलालजी शर्मा एवं श्री वि. श्री. वाकणकंर मुख्य थे। उस समय स्वतंत्रता की चेतना सम्पूर्ण भारतवर्ष में हिलोरे ले रही थी। लोकमान्य तिलक ने 'स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' का उद्घोष किया था। देश का युवा वर्ग चाहे वह साहित्यकार हो, चित्रकार हो, अपनी रचनाओं में स्वतंत्रता का उन्माद एवं आंग्ल शासन के प्रति अपना विरोध रचनाओं में प्रगट कर रहा था। उसी सन्दर्भ में पण्डित सूर्यनारायण व्यास उज्जयिनी से निकलने वाली अपनी तत्कालीन मासिक पत्रिका 'विक्रम' के माध्यम से युवकों में नई चेतना भर रहे थे, वहीं दूसरी ओर 'विक्रम' पत्रिका से सम्बन्धित मुख पृष्ठ, स्केचेस आदि का सृजन श्री गजानन्द वर्मा द्वारा किया जाता था। श्री मुकुन्दराव भाण्ड अपनी चित्रकला के माध्यम से स्वतंत्रता आन्दोलन में नये प्राण फूँक रहे थे। श्री भाण्ड ने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय 'राष्ट्रयज्ञ' नामक चित्र की रचना की थी। इस चित्र में भारत माता अपने लाड़ले पुत्रों की आहुति दे रही है। इस चित्र की 10,000 प्रतियाँ केलेण्डर के रूप में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में सन् 1929 में श्री माखनलाल चतुर्वेदी के पत्र कर्मवीर के माध्यम से वितरित हुई थीं। कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता पं. जवाहरलाल नेहरू ने की थी। 1929 ई. की इस घटना को लेकर श्री भाण्ड को दण्डस्वरूप 1930 ई. में नौकरी से निकाल दिया था। (चित्र क्रमांक 14.)

जिस समय महात्मा गाँधी ने देश में हरिजन आन्दोलन का कार्य प्रारम्भ किया था, उज्जैन की सार्वजनिक सभा ने यह निश्चय किया कि बम्बाखाना में श्री अच्युतानन्द प्रासादिक व्यायामशाला में गणेशोत्सव का आयोजन किया जाए। स्थानीय मठों के घोर विरोध के बावजूद भी व्यायामशाला में गणेशजी की मूर्ति पधरायी गई। एक सप्ताह भर रोज नई-नई झाँकियाँ बनाई गईं। एक दिन की झाँकी रांगोली के रूप में श्री भाण्ड ने बनाई, जिसमें भगतसिंह का चित्र अंकित किया गया। उस समय उनका चित्र बनाना और लगाना राष्ट्रीय अपराध माना जाता था। पुलिस को खबर पहुँच गई, पुलिस व्यायामशाला पहुँची, इस बीच श्री भाण्ड ने अपनी बनाई हुई रांगोली को मिटा दिया और झाड़ू लगा दी।

उज्जैन में प्रोफेसर श्री चिन्तामण हरि खाडिलकर ने माधव महाविद्यालय में चित्रकला का अध्यापन किया तथा विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ कीं। ये अनुभवी शिक्षक थे तथा इन्होंने चित्रकला विषय को विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर तथा पी-एच.डी. स्तर पर स्थापित किया। इनके सेवा निवृत्ति के पश्चात् श्रीमती शिवकुमारी जोशी एवं डॉ. आर. सी. भावसार ने चित्रकला विभाग में अध्यापन की बागडोर अपने हाथ में ली तथा वर्तमान में भी अध्ययन अध्यापन का कार्य गतिमान है। वर्तमान में डॉ. श्रीकृष्ण जोशी एवं डॉ. अल्पना भट्ट विभाग में अध्यापन कर रहे हैं। शासकीय कन्या महाविद्यालय उज्जैन में भी चित्रकला विषय का अध्ययन-अध्यापन गतिमान है। यहाँ के प्राध्यापकों में स्वर्गीय पदमा पाटील एवं स्वर्गीय बी. एल. कुल्मी का नाम उल्लेखनीय है। वर्तमान में श्री बी. एल. सिंहरोडिया, श्रीमती रंजना वानखेड़े तथा डॉ. आलोक भावसार अध्यापन कर रहे हैं।

सन् 1953 ई. में श्री विष्णु श्रीधर वाकणकर सर जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट, मुम्बई से जी. डी. आर्ट परीक्षा पास कर उज्जैन आए तथा भारतीय कला भवन नामक संस्था की माधवनगर में स्थापना की। इस संस्था ने उच्चकोटि के कलाकार राष्ट्र को दिए, जिनमें श्री सच्चिदानंद नागदेव, श्री मुजफ्फरउद्दीन कुरैशी, डॉ. रामचन्द्र भावसार, डॉ. लक्ष्मीनारायण भावसार, डॉ. विष्णु भटनागर, डॉ.

चन्द्रशेखर काले, प्रमोद गणपत्ये तथा श्रीमती शिवकुमारी जोशी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने मालवा के जन-जीवन से सम्बन्धित तथा कालिदास की रचनाओं पर आधारित चित्रों का सृजन किया और उनकी प्रदर्शनियाँ लगाईं।

लोक-शैली-लोक-कला उज्जैन सम्भाग में प्राचीनकाल से गतिमान है, जिसे हमारी माताओं और बहू-बेटियों ने चिरस्थायी बनाए रखा है। मालवा का कोई भी अनुष्ठान या तीज-त्यौहार ऐसा नहीं होता, जिसमें कला का समावेश न हो। प्रत्येक त्यौहार पर रांगोली बनाना, मांडना बनाना, चित्रावण करने की परम्परा है, जो लोक-कल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत है। यह कला किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं होती, बल्कि लोक की सामूहिक अभिव्यक्ति होती है। लोक-कला में विशेष योगदान के लिए उज्जैन की कलाकार श्रीमती कृष्णा वर्मा को म. प्र. सरकार ने शिखर सम्मान देकर उज्जैन को गौरवान्वित किया है।

रांगोली-रांगोली सूखे रंगों के पावडर से बनाई जाती है, रांगोली बनाने के लिए जो पावडर होता है, उसे भी रांगोली ही कहते हैं। यह मार्बल का बारीक पिसा हुआ चूर्ण होता है, इसमें रंगों को मिलाकर अनेक टिंट्स और शेड बना लिए जाते हैं। रांगोली त्यौहारों के दिन घर-आँगन, पूजा-स्थान तथा भोजन-स्थान पर बनाई जाती है, जिससे कलात्मक एवं दिव्य वातावरण का निर्माण होता है। यह कार्य घर की माता-बहनों द्वारा सम्पादित होता है। महाराष्ट्रीयन परिवारों में रांगोली अंकन प्रतिदिन होता है।

माँडना-माँडना का अर्थ किसी भी सतही धरातल पर रेखाओं द्वारा चित्रण करने से है। माँडनों के अन्तर्गत वे सभी आकृतियाँ आती हैं, जो धरती पर बनाई जाती हैं। माँडना शब्द दो प्रकार से उपयोग में आता है-माँडना संज्ञा भी है और क्रिया भी। मालवा क्षेत्र में माँडनों का काफी प्रचलन है। यहाँ कोई दिन, तिथि या त्यौहार ऐसा नहीं होता, जब लिपे-पुते आँगन में घर की गृहणियाँ माँडने न बनाती हों। दशहरा, दीपावली तथा होली पर तो आँगन और कमरे माँडनों से भरे रहते हैं। माँडनों को मालवा में दो रंगों से बनाया जाता है, एक तो खड़िया, मिट्टी (श्वेत रंग) और दूसरा गैरू। खड़िया और गैरू को अलग-अलग पात्रों में गलाया जाता है और स्थायित्व के लिए थोड़ा गोंद मिलाकर घोल तैयार किया जाता है, फिर कपड़े के छोटे से टुकड़े को घोल में भिगोकर अनामिका ऊँगली से माँडना माँडा जाता है। माँडनों में ज्यामितिक आकारों का बाहुल्य होता है। 'माँडना'' को मध्य से मांडना प्रारम्भ किया जाता है, फिर उसे चारों ओर बढ़ाया जाता है। सबसे निपुण और सिद्धहस्त अनुभवी महिला गैरू के घोल से मुख्य आकार बनाती है एवं अन्य बहू-बेटियाँ भरण भरती हैं। माँडे हुए माँडनों को कभी मिटाया नहीं जाता। यदि कोई माँडना मिटाता है, तो उसे अपशकुन माना जाता है।

संजा-संजा का अंकन कुँवारी कन्याओं द्वारा भित्ति पर गोबर से होता है। कन्याएँ अनंत चतुर्दशी से लेकर सम्पूर्ण श्राद्ध पक्ष में प्रतिदिन संजा का अंकन करती हैं। गाढ़े गोबर को विभिन्न आकारों में भित्ति पर चिपकाकर संयोजन किया जाता है और गोबर पर गुलतेवड़ी के पत्ते, फूल की पंखुड़ियाँ तथा रंगीन कागज़ के टुकड़े चिपकाकर कलात्मक एवं मनमोहक संयोजन तैयार किया जाता है। बाहरी आकार को मन्दिर कहा जाता है और इसे मिटाते नहीं हैं, बल्कि बना रहने देते हैं। उसके अन्दर मध्य में प्रतिदिन नये संयोजन होते हैं। इनके अंकन में पाँच-पाँचे, चाँद-सूरज, बिजोरा, छाबड़ी, गोर बेसन्या, घेवर, चौपड़, आणो, गणपति, डोकरा-डोकरी, जाड़ी-जसोदा, पातली पेमा, बनिये की दुकान और किल्ला कोट बनाया जाता है। प्रतिदिन संजा की आरती होती है और लोक गीत गाये जाते हैं।

संजा लोक कला की एक ऐसी विधा है, जिसमें समस्त ललित कलाओं का समावेश रहता है। जब संजा माँडने की योजना तैयार होती है, तो चित्रकला का ज्ञान उपस्थित होता है। जब गोबर चिपकाकर आकारों को पृष्ठभूमि से ऊपर उठाकर बनाया जाता है, तो मूर्तिकला की उपस्थिति होती है। जब किल्ला कोट बनाने की प्रक्रिया शुरू होती है, तो भवन निर्माण कला की उपस्थिति होती

धुलजी महाराज, उज्जैन के चित्र (15) शिव–पार्वती भांग छानते हुए (16) शिव–पार्वती

है और जब संजा की पूजा–आरती होती है, तो संजा के लोक गीत गाये जाते हैं जो संगीत का वातावरण बनाते हैं। इन लोक गीतों के कथानकों से साहित्य की उपस्थिति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार संजा के माध्यम से समस्त ललित कलाओं के दर्शन होते हैं।

चित्रावण–चित्रावण को हम भित्ति चित्र की संज्ञा देते हैं, जिनका विषय जन–जीवन से सम्बन्धित होता है। चित्रावण का आधार घर और मन्दिरों की दीवारें होती हैं, जिनमें विवाहोत्सव, दीपावली एवं तीर्थ यात्रा से आने–जाने के समय चित्रावण किया जाता है। चित्रावण की दो परम्पराएँ मालवा में विद्यमान हैं। प्रथम वह जो महिलाएँ अपने हाथों से बनाती हैं और दूसरी वह जो परम्परागत व्यावसायिक चितेरे अपने हाथों से बनाते हैं। ग्रामीण महिलाएँ बाँस की पतली सलाई के सिरे पर रूई बाँधकर उसे तूलिका के रूप में प्रयोग करती है और धूलि रंगों (पावडर कलर्स) में गोंद मिलाकर उससे चित्रावण करती है। दूसरी ओर परम्परागत व्यावसायिक चितेरे नारियल की नरेटी में धूली रंगों को गोंद मिलाकर उसके घोल से चित्रावण करते हैं। घर और देवालयों की दीवारों पर इन लोक चित्रावणों के सहज ही दर्शन हो जाते हैं।

परम्परागत व्यावसायिक चितेरों में उज्जैन के किशनलाल शर्मा (आदि गौड़ ब्राह्मण) नारायणजी शर्मा, मुन्नालालजी शर्मा, हीरा, सूरजमलजी, रूपनारायणजी, जुगलकिशोरजी और इनके परिवार के सदस्य सिद्धहस्त हैं। मुन्नालाल जी शर्मा को तो होलकर राज्य में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। इनके पुत्र धूलजी शर्मा, ने जीवन भर उज्जैन–इन्दौर के आसपास के क्षेत्र में चित्रावण कर ख्याति अर्जित की है। (चित्र क्रमांक 15,16.)

शाजापुर में ब्राह्मण परिवार के श्री घड़ियालीजी महाराज और उनके पुत्र श्री सत्यनारायणजी महाराज तथा बाबर मशहूर चितेरे थे, जो शाजापुर से बाहर आसपास के क्षेत्र में जाकर चित्रावण किया करते थे। (चित्र क्रमांक 17, 18, 19.)

ये चित्रावण विवाहोत्सव, गणगौर, 'मान' तथा तीर्थ यात्रा से सम्बन्धित होते थे, जिनमें देवी–देवताओं, पशु–पक्षियों, लाड़ा–लाड़ी, राजा–रानी, कलश, पगल्ये आदि के अंकन के साथ कुछ हास्य दृश्य भी अंकित किए जाते हैं।

सत्यनारायण महाराज, शाजापुर के चित्र (17) विवाह समारोह (18) हाथी पर सवार लाड़ा-लाड़ी (19) तीर्थ यात्री

20. *तीर्थ यात्रा के गीत पर आधारित चित्रावण चित्रकार: डॉ. लक्ष्मीनारायण भावसार, शाजापुर*

इन चित्रावणों का लोक-गीत और लोक-कथाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है जो शब्दों और कथानकों की चित्रमय प्रस्तुति करते हैं। यहाँ तीर्थ यात्रा के एक प्रसंग से सम्बन्धित लोक-गीत को उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिस पर मालवा के चितेरों ने मनमोहक अंकन किया है। डॉ. लक्ष्मीनारायण भावसार सेवानिवृत्त आचार्य चित्रकला, भोपाल ने भी इस प्रकार के अनेक चित्र सृजन कर उनकी पारदर्शियाँ निर्मित की हैं, जो लोक चित्रावण के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

तीर्थ यात्रा से सम्बन्धित एक लोक-गीत है, जिसका सारांश है कि एक परिवार तीर्थ यात्रा के लिए निकला है और एक छोटी बहू जिसके बच्चे छोटे हैं, उसे घर पर छोड़ गये हैं। तीर्थ यात्री परिवार गंगा किनारे पहुँच गया है और वे अपनी बड़ी बहू के साथ गंगाजल कलश में भरने हेतु जाते हैं। तीर्थ-पण्डा उनसे परिचय पूछता है कि आप लोग कहाँ से आये हैं तथा आपके पिता का क्या नाम है? परिचय के बाद तीर्थ-पण्डा कलश में जल भरने की अनुमति देकर कुछ निर्देश देता है। उधर घर पर छोटी बहू अकेलापन महसूस करती है तथा लम्बा समय बीत जाने पर व्यथित होती है। वह वट वृक्ष की पूजा हेतु जहाँ अपनी देवरानी-जेठानी के साथ जाया करती थी। अब उसे अकेली पूजा सम्पन्न करना पड़ रही है। तीर्थयात्रियों को इतना लम्बा समय हो गया कि गोद में जो कन्या थी, वह अब बड़ी हो गई है तथा गली-मोहल्लों में घूमने लगी है। लड़का इतना बड़ा हो गया है कि वह काशी पढ़ने जाने की बात करता है। तीर्थयात्री तुलसी का पौधा लगा गये थे, वह पौधा इतना बड़ा हो गया है कि वह क्यारे में समा नहीं रही है। आम का पेड़ लगा गये थे, उसमें इतने आम लगे हैं कि वृक्ष में समा नहीं रहे हैं यथा-

सोना को घड़ेल्यो ने रेशमलम्बी डोर
पानीड़ा गया उनकी कुले बऊ।

कौन राय का नंद कय तमारो नाम
कांका नगर का तमे राजेवी।
नाथूलालजी का नंद रामचन्द्र हमारो नाम
नगर शाजापुर का राजेवी
दई दो झकोलो संगवी, भरीलो यो नीर
जई ने बर्तावो तमारा देश में,
पाँच/अठारह बरस की कन्या परनाओ रे, भानेज
परनाओ रे
तुलसाँ परनाओ रे, जिने माय जल बर्तावो जो।
बामण के दखणा, बेरागी ने सीधो
इतरो धरम कुल बऊ तम कीजो।
अब घर पर अकेली बहू अपने को अभिव्यक्त
करती है-
जाऊँ तो अकेली राम, आऊँ तो अकेली
मिली गयो सहल्यारो साथ भोला संगवी
ये बड़ पूजूँ रे अकेली।
नानो सो पुत्तर मेली गया संगेवी
यो पुत्तर काशी भणवा जाय, भोला संगवी, यो
बड़ पूजूँ रे अकेली
नानी सी कन्या मेली गया संगेवी;
या कन्या सेरी रमवा जाय, भोली संगेवी........
नानो सो आम्बो बोई गया संगेवी
यो आम्बो केरी ना समय, भोला संगेवी..........
नानी सा तुलसाँ रोपी गया संगेवी
या तुलसाँ क्यारे नी समाय, भोला संगेवी.......
आऊँ तो अकेली राम, जाऊँ तो अकेली
मिली गयो सहेल्यारो साथ भोला संगेवी,
यो बड़ पुजूँ रे अकेली। (चित्र क्रमांक 20)

ऐसे अनेक लोक-गीत उज्जैन सम्भाग में गाये जाते हैं और उनसे प्रेरित होकर यहाँ के पेशेवर लोक चित्रकारों ने भित्ति चित्रों का सृजन किया है, जो हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में चित्रकला के महत्व को दर्शाते हुए उल्लेख है-

'कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थ मोक्षदम्।
मंगल्यं प्रथमं चैतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।।

अर्थात् समस्त कलाओं में चित्रकला सर्वश्रेष्ठ है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देने वाली है तथा जहाँ चित्रों को लगाया या बनाया जाता है, वहाँ मंगल होता है। इसीलिए चित्रकला हमारी जन्म से मरण तक की सँगिनी है।

❑

उज्जयिनी के लोक गीतों में चित्रावण

प्रो. लक्ष्मीनारायण भावसार

क्षेत्राधिपति भूतभावन श्री ज्योतिर्लिंग भगवान महाकाल यहाँ विराजे हैं, उज्जयिनी मालव भूमि का हृदय है। यही मालवा भूमि में प्राणवायु का संचार करती है। प्रारम्भ से वर्तमान तक उज्जयिनी अनेक परिधानों को पहनती, उतारती, चढ़ाती आ रही है। ये परिधान विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक राजनैतिक मूल्यों के और अवधारणाओं के राज्यकाल-शासनकाल थे, यहाँ की संस्कृति को किसी भी राज-राजवंश या शासनकाल से प्रभावित नहीं होने दिया, इन्हें कभी क्षरित नहीं होने दिया। एक तो उज्जयिनी में भूतभावन महाकाल विराजे हैं और मालवा, माँ पार्वती जी का प्रिय है, सोचे यहाँ कितना आनन्द, कितनी खुशहाली और कितनी समृद्धि होगी। उज्जयिनी अभी भी अपनी धार्मिक, सांस्कृतिक और लौकिक गरिमा में उसी प्रकार जीवन्त है, जैसे उज्जयिनी का लोक जीवन लोक आस्थाओं, लोक पर्व, लोक गीत और लोक चित्रावणों से सराबोर है। आइये हम संक्षिप्त में उज्जयिनी के परिधान में पहिचान बने कतिपय राज्यवंश और राजाओं की एक शृंखला को देखें।

उज्जयिनी को प्राचीन समय में अवन्तिका नाम से सम्बोधित किया जाता था। मालव जनपद को अवन्तिका भी कहा जाता था। इसी सन्दर्भ में पुराणों में अवन्ती रक्षा शब्द का पर्याय था। वेदों में भी पृथक् अवंति शब्द को भी विद्वान् रक्षा या रक्षात्मक अभिव्यंजना से जोड़ते हैं। वाल्मीकि का रामायण और वेदव्यास रचित महाभारत में अवन्ती स्पष्टतः प्रदेश सूचक ज्ञात हुआ। इसके उपरान्त हैहयवंश के पश्चिम मालवा में रहने के सन्दर्भ ज्ञात होते हैं, गुरुतुल्य भार्गवों से पराजित होने पर भी वे मालवा प्रदेश में टिके रहे, अब तक उज्जयिनी विकसित हो चुकी थी। इसके बाद का क्रम संभवतया विलुप्त जैसा है। फिर हम एकदम भगवान बुद्ध के समय चण्डप्रद्योत को उज्जयिनी के शासक के रूप में देखते हैं। राजकुमारी वासवदत्ता राजा चण्ड प्रद्योत की पुत्री थी, वत्सराज उदयन और वासवदत्ता प्रसंग उज्जयिनी का ही है। चण्डप्रद्योत का पुत्र गोपाल उज्जैन का राजा हुआ। अशोक महान् विदिशा की वैश्य बाला से विवाह करने के बाद उस वैश्य पत्नी के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा सहित सभी उज्जैन में लगभग 11 वर्ष रहे। मगध सम्राट होने के बाद भी अशोक उज्जैन को अपनी यादों में सँजोये रहते थे। गर्दभिल्लक के युद्ध में मारे जाने के बाद कुछ समय तक शकों ने उज्जैन पर राज्य किया।

मालव मन के हृदय सम्राट और उज्जयिनी के जननायक, लोक मन में विराजे महाराजा विक्रमादित्य प्रथम शती ई. पू. उज्जयिनी का राजकाज सम्भाला, जो आज पर्यन्त उसी रूप में हमारी आस्था और विश्वास में समाया हुआ है। तथाकथित विद्वान् इतिहासकार उनके शासनकाल, विक्रम संवत् आदि से सहमत नहीं हैं। मालवा का लोकमन, लोक आस्थाएँ, लोककथाएँ, लोक वार्तायें, लोक गीत और लोगों के विश्वास सभी महाराजा वीर विक्रमादित्य की, उनके समय की और विक्रम संवत् की प्रामाणिकता को अपने अन्तर्मन में पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ सँजोये हुए है।

विक्रम-वेताल और चौंसठ योगिनी लोकप्रसंग, उज्जयिनी और उज्जयिनी के माध्यम से समूचे मालवा में इस प्रकार रचरम गये हैं कि वीर विक्रमादित्य केवल राजा ही नहीं हैं, वरन् वे उज्जयिनी के लोकमन के नायक भी हैं। वीर विक्रमादित्य एक महान् राजा और ऐतिहासिक पुरुष थे। गर्दभिल्ल शाखा के गणनायक थे, जिन्होंने उज्जैन से शकों को खदेड़ बाहर किया था। इस घटना की स्मृति में 57 ई. पू. में एक संवत् चलाया गया था। इतिहास प्रसिद्ध नवरत्न (कालिदास, बेताल भट्ट, शंकु, धन्वन्तरि, घटकर्पर, क्षपणक, अमरसिंह, वराहमिहिर और वररुचि) इन्हीं विक्रमादित्य की सभा के विभिन्न विधाओं के ज्ञानी, चिन्तक और विचारक थे। फिर हर्ष का समय ऐसा आया जब उज्जयिनी फिर से अपने धर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में विकासोन्मुख हुई। इस समय ज्ञानी और कर्मकाण्डी ब्राह्मण स्थापित हुए। कालिका मन्दिर का जीर्णोद्धार हर्ष के समय हुआ था। 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' के लेखक बाण उसी समय के हैं। राष्ट्रकूटों ने 750 ई. में उज्जैन पर अधिकार किया, लेकिन परमार नरेश सीयक ने उज्जैन का स्वतंत्र आधिपत्य घोषित कर दिया। बाद में मुंज ने परमार नरेश का स्थान ग्रहण किया, लेकिन राजधानी उसने धार नगरी को बनाया। मुंज शैव धर्मावलम्बी था। सन् 1015 में लोकप्रिय विद्वान् शासक भोज सिंहासनारूढ़ हुआ। वह अपने ज्योतिष ज्ञान, योगशास्त्र, राजनीति, धर्म, दर्शन, शिल्प, व्याकरण, काव्य, नाटक आदि कई विधाओं का ज्ञाता था। मालव भूमि की ख्याति इस समय देश देशान्तर तक पहुँची। गांगेयदेव और तेलंगराज पर विजय की स्मृति में धार में लौह स्तम्भ निर्मित कराया गया। 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली' कहावत इसी विजय का प्रतिफल है।

सन् 724 में उज्जयिनी पर इस्लामी आक्रमण हुआ, लेकिन कुछ ही समय में प्रतिहारों ने उन्हें मार भगाया। मालवा के सुल्तानों के समय उज्जैन का सामरिक दृष्टि से भी महत्त्व रहा, लेकिन आक्रान्ताओं ने बार-बार लूटमार कर उज्जैन की आभा को क्षरित किया। मुगल काल में उज्जैन की क्षरित आभा फिर से प्रदीप्त होने लगी। अकबर दो बार उज्जैन आया था। जहाँगीर भी उज्जैन आता-जाता रहा। उसे उज्जैन और माण्डव से विशेष प्रेम था। औरंगजेब ने अपने स्वभाव और उसूलों के विपरीत उज्जैन के पण्डों को जजियाकर से मुक्त कर दिया। यही नहीं उसने महाकालेश्वर मन्दिर में नन्दादीप ज्योति को संध्या समय नियमित प्रकाशमान रखने हेतु घृत की समूची व्यवस्था मुगल शासक द्वारा कराई जाने का प्रबन्ध कराया। सवाई जयसिंह 1732 में दूसरी बार मालवा का सूबेदार बनाकर उज्जैन भेजा गया। वह ज्योतिष और खगोल का अच्छा विद्वान् था। उज्जैन का यंत्रमहल और जयसिंहपुरा इन्हीं शासक जयसिंह का अवदान है। राणोजी सिंधिया का शासन काल उज्जैन के सांस्कृतिक परिवेश को पुनर्जागरण का आभास दिलाने की ओर आवृत करने वाला प्रतीत हुआ। राणोजी के सहायक, दीवान धर्मनिष्ठ रामचन्द्र बाबा शेणवी ने महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग (आततताइयों द्वारा विध्वंस किये गये) की प्राण प्रतिष्ठा कराई। रामघाट और नृसिंह घाट भी इसी समय निर्मित हुए। सिंहस्थ को राजकीय व्यवस्था से संचालित करना भी इसी समय प्रारम्भ हुआ। गंगाघाट और अंकपात मन्दिर महादजी सिंधिया के समय निर्मित हुए। बायजाबाई ने सुप्रसिद्ध द्वाराकाधीश गोपाल मन्दिर बनवाया। माधवराव सिंधिया ने कोठी पैलेस बनवाया। सड़कों और रेलों की योजना भी इसी समय बनी। जीवाजीराव सिंधिया के उदार सहयोग से विक्रम विश्वविद्यालय प्रारम्भ हुआ। राजमाता विजयाराजे सिंधिया भी उज्जैन और भगवान महाकालेश्वर के प्रति अनन्य श्रद्धावान थीं।

चित्रावण और लोकगीत :

मालवा की चित्रकला में दो विधाएँ प्रचलित रही हैं-एक शास्त्रोक्त (नागर) चित्र शैली जो मालवा शैली नाम से जानी जाती है। दूसरी चित्रकला शैली जो लोक अंचल में चित्रावण के नाम से जानी जाती है, जिसका मुख्य केन्द्र उज्जयिनी है। चित्रावण एक ऐसी विधा है। जिसने सभी जाति और वर्ग को एक सूत्र में बाँध रखा है, सभी जाति और सभी वर्ग के घरों में चित्रावण बनते हैं। स्त्री-पुरुषों को भी समान रूप से समाज और सभ्यता में एक साथ अग्रसर करने की वकालत चित्रावण ने ही की है। जब मनुष्य हिंसक पशुओं से निजात पाकर दुधारू पशुओं को पालने लगा,

खेती करने लगा, सामूहिक परिवारों में रहने लगा तब उसके अनेक मांगलिक संस्कारों की, खुशी की अभिव्यक्ति करने व्रत-पूजा, शादी-विवाह के रीति-रिवाजों को रोचक और अनुकरणीय बनाने हेतु चित्रावणों की मनोरम छटा को अंगीकार किया होगा और उसकी सृष्टि की होगी।

लोकगीत किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं हैं, वे परम्परा में समय के साथ अपने बड़ों से सांस्कृतिक उपहार के रूप में मिली विरासत हैं, जो यथा समय बनते-सँवरते रहे हैं। ये चित्रावण किसी एक चितेरे के नाम से नहीं, वरन् उनकी वंश परम्परा से मुखरिंत हुईं और जीवन्त बनी हुई हैं। हर नगर और ग्राम में लोक चितेरे अपनी परम्परा का निर्वहन करते हैं। पक्के मकान और सीमेन्ट की दीवारों ने उज्जयिनी की चित्रावण कला को बहुत नुकसान पहुँचाया है।

चित्रावण हमारी संस्कृति की संवाहक है, जो केवल सौन्दर्य सृष्टि ही नहीं करती, वरन् लोक मंगल के सूत्रों को भी पुरानी पीढ़ी से नयी पीढ़ी तक लाकर-सँजोकर पस्म्पराओं को प्राणवान बनाये रखती है। चित्रावण अपने मनोहारी रूपाकारों से जहाँ लोक-आस्था और परम्पराओं को शाश्वत रखती है वहीं परमात्मा के प्रति आस्था भी जागृत करती है। हम चाहें जितने भी आधुनिक हो जाएँ लेकिन लोक परम्पराओं से हमारा खून बना है।

दीपावली-दशहरा, करवा-चौथ, रक्षाबंधन, देवउठनी ग्यारस, नागपंचमी, गणगौर, संजा, तीजमाता, माय-माता, ईष्ट देवी-देवताओं की पूजा में माँडना, चौक पूरना, संजा, मेंहदी, गोदना, चित्रावण आदि घर की स्त्रियों द्वारा किये जाते हैं। पूजा संस्कार के अवसर पर महल की रानियाँ भी चौक पूरने में गर्व समझती थीं।

उज्जयिनी व समूचे मालवा क्षेत्र में कभी ऐसा नहीं होता कि लिपी हुई धरती पर कंकू-अक्षत न डले हों या माँडने न बने हों और पुती हुई दीवार पर चित्रावण न बने हों। धरती को कंकू-अक्षत के छींटे और दीवार को बिना मांगलिक चित्रावण के कभी सूना नहीं छोड़ा जाता है। चित्रावण उज्जयिनी की कला-अभिव्यक्ति का सौंदर्यमयी और मांगलिक दिग्दर्शन है।

लोकगीत लोकमन का उल्लासमय संगीत है। लोकगीत केवल स्वर लहरी ही नहीं है, वरन् उज्जयिनी और सम्पूर्ण मालवा की संस्कृति का उद्घाटन भी है। जो समूचे अंचल में, नगरों में, समूचे गाँवों में, समूचे परिवारों में निशिदिन स्फुरित होता रहता है। उज्जैन में (सम्पूर्ण मालवा अंचल सहित) लोकगीत, लोक जन मन की प्राणवायु है। मालवा का लोकमन जन्म से मृत्यु तक के सभी तीज-त्यौहारों, व्रत-उपवासों, मांगलिक पर्वों, शादी-विवाह, मामेरा, तीर्थ यात्रा, बालक जन्म की बधाई, नृत्य-गान, माच अभिनय सभी में अपने हृदय की खुशी, हृदय के आनन्द, हृदय की पीड़ा, विरह, बिछोह, वात्सल्य आदि को सहज रूप से व्यक्त करते आ रहा है। मामेरे में भाई के आने में देरी को भी यदि बहन चोसर आँसू रोती होती है, तो उसकी अभिव्यक्ति लोकगीत से गाकर व्यक्त करती है। इसकी सहेलियाँ उस समय उसके लोक स्वर में समवेत साथ देकर अपनी संवेदना भी उजाकर करती हैं। हास-उपहास में गायी जाने वाली लोक-गालियाँ भगवान राम के पिता दशरथजी जब जनकजी के घर पाहुने बनकर जाते हैं, उस लोकगीत की छटा में दर्शाते फिर मधुर-मधुर लोक-गालियाँ जो दोनों ब्याई-ब्यानजी (समधियों को) का मनोरंजन करती हैं। यह उज्जयिनी के लोकरंजन, लोक जीवन की मस्ती है।

महलों, मन्दिरों में आवश्यकतानुसार गाये जाने वाले गीतों का भी चित्रावण में चित्रण हुआ है। लोक का एक गीत बहुत तप कर लोकगीतों में उतरता है। हरियाली अमावस्या के समय सावन के लोक गीत की एक कड़ी-''देखी थी बई देखी थी पानी भरता देखी थी। हाथ में हरियाली चूड़ो, माथे मोहन बेड़ो जी।'' उज्जयिनी की जो मालवी बोली में मिठास है वही मिठास उज्जैन के चित्रावण में भी है। संजा गीत की भी बात निराली है-कैसे आती है, कैसी चली जाती है? यह संजा बई का सोलह दिन का प्रवास पर्व है।

संजा बई की माँ संजा बई के भेजो काएँ
संजा बाई की आरती (आगमन)
(बहुत सारे गीतों के बाद)
संजा बई तम तमारा घरे जाव
तमारी माँ मारेगा के कूटेगा
चाँद गयो गुजरात हिरनी का बड़ा-बड़ा दाँत.............

संजा के आगमन गीत की अवस्था में अटूट खुशहाली छिपी है और संजा बई के विदाई गीत में समूचे उज्जैन और मालवा की बालाओं के लोकमन में ऐसी उदासी मायूसी छा जाती है, मानो अपने से ही किसी अनन्य की विदाई की हो।

कई रेत में पीपल उगी
तम गेरा गेरा बंस बढ़ावो रे
म्हारा गेरा गजानंद आया।
कई रवीन्द्र लाल का मन भाया
कई नरेंदलाल का मन भाया
बड़ लाड़ी ने मोतिड़ा बदायाओ
म्हारा गेरा गजानंद आया

लोकगीत में गणेश के आह्वान के समय कितनी असंभव बातें संभव हो जाती हैं। रेत में पीपल उगना जहाँ पानी के कोई आसार नहीं हैं। गणेशजी की कृपा से यह भी संभव हो जाता है। हमारे दोनों भई के मन में वे विराजे हैं और बहुएँ मोतियों की थाल से उनकी अगवानी करती है ऐसे गहरे मन और शरीर के गजानन की हमारे ऊपर पूर्ण कृपा है।

लोकगीत की इन कड़ियों को लोकचितेरों ने भी अपने कौशल और पूर्ण मनोयोग से चित्रावण में ऐसा समाहित किया है कि दर्शक भावविभोर हो जाते हैं।

उमाजी पूछे शिवजी तप करि आया रे.....।
नानी नानी जटा शिवजी मोटी कैसे लागि रे।
कोई लावे पायाँ-पायाँ कोई लावे बायाँ रे.....
जटा माये नारी शिवजी कोई नहीं लाया रे।
भांगे की रोटी ने भांग की शाक रे
उमाजी परोसे भोला जीमी क्यों नी लेवो रे।
कैलाशपुर में विष्णु बरवाने रे
तमारी कला ने शिवजी कोई नी जारे रे।
उमाजी पूछ शिवजी तप करि आया रे.....

भगवान शंकर तो उज्जैन के महाराजाधिराज हैं, महाकालेश्वर हैं। पास में पावन क्षिप्रा का घाट है, जहाँ भांग छनती रहती है। उज्जैन के लोकगीत और लोक चितेरे दोनों यह मानते हैं कि भगवान शिव और पार्वती स्वयं ही भांग बनाते हैं और छानते हैं तथा इसी बीच बहुत-सी बातचीत कर लेते हैं, जो लोकगीत में उपरोक्तानुसार कही गयी है व चित्रावण में भी चित्रित है। उज्जैन में इस चित्रमय लोकगीत का प्रसंग बहुत प्रचलित है।

भगवान शिव-पार्वती दोनों भाँग छानते हैं, लोकगीत के माध्यम से पार्वतीजी शिवजी को कुछ रोचक और मर्मस्पर्शी उलाहने देती हैं-उमाजी पूछ रही हैं- शिवजी आप तपस्या करके आये हैं, आपकी नानी-नानी जटा मोटी-मोटी कैसे लग रही है। सुना है कोई अपनी अर्द्धांगिनी को सात फेरे फिराकर लाते हैं, कोई गंधर्व विवाह कर बाँहों में हाथ डालकर ले आते हैं, पर हे प्रभु जटा के भीतर नारी को तो कोई नहीं लाया है। भांग की रोटी और भांग की शाक बनी है, उमाजी परोस रही हैं, भोलेनाथ जीम क्यों नहीं लेते (उलाहने से भोलेनाथ अचम्भित है)। हे भोलेनाथ! आपकी बड़ी महिमा

है। कैलाशपुर में विष्णुजी आपकी प्रशंसा करते हैं, आपकी कला को भगवान कौन जान सकता है? इस प्रसंग को उज्जयिनी के चित्रावण में इस प्रकार चित्रित किया गया है कि यह चित्रावण की पहचान बन गया है।

आऊँ तो अकेली राम, जाऊँ तो अकेली,
मिली गयो सहेल्यारो साथ भोला संगेवी - यो बड़ पूजूँ रे अकेली................
नानी सी कन्या मेली गया संगेवी,
या कन्या सेरी रमवाजाय भोला संगेवी - यो बड़ पूजूँ रे अकेली............
नाना सो पुत्तर मेली गया संगेवी,
यो पुत्तर कासी भणवा जाय भोला संगेवी - यो बड़ पूजूँ रे अकेली..........
नानो सो आँबो बोई गया संगेवी,
यो आँबो फले नी समाय भोला संगेवी-यो बड़ पूजूँ रे अकेली................
नानी सी तुलसाँ रोपी गया संगेवी,
या तुलसा क्यारे नी समाय भोला संगेवी-यो बड़ पूजूँ रे अकेली........

इस लोकगीत में तीरथवासी यात्रा से अभी तक लौटे नहीं हैं। बड़ पूजन के लिये अब मोहल्ले की सब स्त्रियाँ भी नहीं जाती हैं, गृह स्वामिनी अकेले आती है और अकेले ही बड़ पूजन करने जाती है। बहुत समय हो गया है। छोटी सी नानी (बेटी) गोद में छोड़ गये थे वह बड़ी होकर मोहल्ले में घूमने लायक हो गयी है। छोटा सा पुत्तर (बेटा) छोड़ गये थे, बड़ा होकर काशी पढ़ने चला गया है। छोटा सा आम का पौधा लगा गये थे। वह वृक्ष बन गया है एवं फलों से भरा रहता है। छोटी सी तुलसी रोप गये थे, वह तुलसी अब क्यारे में नहीं समाती है, लेकिन वो तीर्थ यात्रा से अभी तक नहीं आये। इस लोकगीत को चितेरों ने बड़ी चतुराई से सँवारा है। इसकी चित्रावण रमणीय दिखती है।

गोया में आये म्हारा बीर
चूनड़ लाया रेशम जी
सेरी में आया म्हारा वीर
मंडप में आया म्हारा वीर
चूनड़ लाया रेसम की
नापूँ तो हाथे पंचास तोलू तो तोला तीस की जी
मेलूँ तो तरसे म्हारो जीव ओडूँ तो मोती खिरी पड़े जी
मण्डप में आया म्हारा बीर चुनड़ लाया रेसम की-

इस लोक गीत में मामेरा करने बहु के भाई (वीर) पहिले गोया में फिर सेरी में और अब मण्डप में आ गये है तथा बहन के लिए रेसम की चूनड़ी लाये हैं। नाप में पच्चास हाथ की तोल में तीस तोले की है। इस तैयारी से भाई चुन्दड़ी लेकर आया है। लोक चितेरे ने अब कैसे चुन्दड़ी के नाप और तौल को प्रस्तुत चित्रावण में सँवारा है। यह नयनाभिराम झाँकी है।

माथा ने भम्मर पेरो म्हारी भाबी
कानाँ में झालज पेरो म्हारी भाबी
काले आवेगा हमारा वीर झारी तो झलकती आवे
झारी झलकती आवे जम्बू उबरातो आवे
माथा में भम्मर जद पेराँ बाई
कानाँ ने झालज जद पेराँ बाई
नजराँ बतई दो तमारा वीर
झारी तो झलकती आवे
झारी झलकती आवे जम्बू उबरातो आवे
संगने लगाई दोड़ा दोड़ झारी तो झलकती आवे
पग घोई सामने आओ रविंदलाल
पिताजी की काबड़ तोकी लावो
झारी तो झलकती आवे
पग धोई सामे आओ नरेंदलाल
पिताजी की कावड़ तोकी लाओं
झारी तो झलकती आवे
झारी झलकती आवे झलकती जम्बू उबरातो आवे
संग ने लगाई दोड़ादोड़ झारी तो झलकती आवे।

गंगामाता के संग ने लोकगीत में ननद भाभी से कहती है कि आप माथे में, गले में, कमर में, हाथ में, बाँहों में, पैरों में आभूषण धारण करो। कल मेरे भाई तीर्थयात्रा से आएँगे, उनकी गंगा झारी झलकती आएगी। भाभी कहती है तुम अपने भाई को नजर दिखा दो तो मैं सभी आभूषण पहन लूँगी और भाभी तुम सोच रही हो देखो, वो झारी झलकती आ रही है, ज़म्बू उबराता आ रहा है, मेरे भाई कावड़ लिये आ रहे हैं। जाओ जरा अपने बेटों से कावड़ उठाने को कहो, देखो वे आ रहे हैं।

इस लोक गीत को चितरा कितने सरलतम रूपाकारों और चटक रंग में चित्रावण से दर्शाता है यही लोकमन के गीत और चित्रावण का एकाकार है जो उज्जयिनी की लोक आत्मा को रूप में (चित्रावण में) लाते हैं।

बीरा माथा ने भम्मर घड़ावजो
काना में झालज- घड़ावजो तिलड़ी रतन जड़ावजो
फूल क्यारी फूल गुलाब को
बीरा सबका पेलाओ तमारे नोतिया
बीरा काँरे लगाई बड़ी देर
फूल क्यारी फूल गुलाब को
बेन्या तमारी भावज माड्यो रूसेलो
समझावत लागी बड़ी देर-
फूल क्यारी फूल गुलाब को
बीरा हइड़ा मँ हसंज घड़ाव जो
बीरा बइयाँ ने बावजूद घड़ाव जो
बीरा पोंचा में गजरा घड़ाव जो
फूल क्यारी फूल गुलाब को

इस लोकगीत में मामेरा करने आने में बड़ी देर कर दी। बहिन ने कहा आपको सबसे पहले न्यौता दिया था फिर भी आपको कहाँ देर हो गई। भाई ने कहा-तुम्हारी भाभी रिसा गई थी। इस कारण समझाने में देर हुई। बहिन ने कहा मेरे लिए सारे आभूषण और वस्त्र लाना। इस प्रसंग का गरिमामय ढंग से चित्रावण किया गया है।

लाड़ेला तमें चढ़ोई नी घोड़ी
चढ़ोई ने घोड़ी ने बाट मरोडी
तोड़ला तमें..................

वर निकासी के समय घर की माता, बहिन, भोजाई, लाड़े को घोड़ी पर चढ़ाकर उसके मोड़ पर अपने स्तन के दूध की बोछार करती हैं फिर मुड़कर उसे बारात की तरफ मुड़ने की बधाई देती हैं। इस चित्रावण में लाड़ा झुककर टीका लगवाता है। सभी महिलाएँ उसकी आरती कर उसका अभिवादन करती हैं। चित्रावण मनोरम है।

घड़ी एक घोड़िया थोबेजो रे सायब बनड़ा
माता बई से मिलवा दोये रे हटीला बनड़ा
माताबई से मिली करी कई करो वो सायब बनड़ी
दोनों पलखड़े पाँव घरे चालो आपने
कोठी का कने थाप्या बई का डेयरा
बई तो चाल्या परदेश सम्मत होय तो दादाजी लायजो
नी तो रीजो तमारा देस सम्मत थोड़ी ने रण घणो
बई ने लाँवा बड़ी बेग

लोकगीत के इस चित्रावण में विदाई के बाद सायव बनड़ा घोड़ी पर बैठकर आगे आये और बनड़ी बग्गी में पीछे बैठी चलती है। बनड़ी कहती है बनाजी मेरे माता-पिताजी से एक बार मिल लेने दो, पता नहीं फिर कब मिलना होगा। अब मैं तो परदेश जा रही हूँ, पिताजी की हिम्मत होगी तो लेने आएँगे। पिताजी ने कहा हिम्मत भी थोड़ी है और ऋण भी बहुत है। फिर भी जल्दी ही लेने आएँगे। लोकगीत में प्रसंग जितना हृदय विदारक है, चित्रावण में उतना ही गम्भीर है। बनड़ा की दिखनोटी घोड़ी की लयात्मकता बनड़ी की बग्गी क़ा लोच दर्शनीय है यहाँ लोकगीत और चित्रावण की जुगलबंदी है, जो सुख सृजित करती हैं।

सूरज सामे पनीड़ा नी जऊँ, म्हारी चुन्दड़ी को रंग उड़ी जाय
वई वंशी वाला ने वई, मुरलीवाला रीझ गयी राधा प्यारी-
सूरज सामे पानीड़ा नी जाऊँ, म्हारी चुनड़ी को रंग उड़ि जाय।
कितनों बरस का कुँवर कन्हैया तो, कितना बरस की राधा प्यारी।
सूरज सामें पानीड़ानी जऊँ, म्हारी चुनड़ी को रंग उड़ि जाय।
बारा वरस का कुँवर कन्हैया, तो तेरह बरस की राधा प्यारी
सूरज सामे पानीड़ानी जऊँ, म्हारी चुनड़ी को रंग उड़ि जाय।
कच्ची केसर को रंग बनायो तो कंचन की पिचकारी
सूरज साम पानीड़ा नी जऊँ, म्हारी चुनड़ी को रंग उड़ि जाय।
भरि पिचकारी उका सम्मुख झली भींज गयी राधा प्यारी
सूरज सामें पानीड़ा नी जऊँ, म्हारी चुनड़ी को रंग उड़ि जाय।

'म्हारी चुन्दड़ी को रंग उड़ी जाय' लोकगीत में चुदंड़ी कच्चे रंग से रँगी है और चित्रावण में भी कच्चे रंग से चित्रावण किया जाता है। क्या निश्छल है रस और रंग की नोकझोंक। वो ही बंशी वाले और वो ही मुरली वाले हैं, जिन पर राधाजी रीझ गयी है। अब प्रश्न यह है कि कितने बरस के कुँवर कन्हैया और कितने वर्ष की राधा प्यारी है-सूरज सामने नहीं जाती, मेरी चुंदड़ी का रंग उड़ जाता है। बारा बरस के कुँवर कन्हैया और तेरह बरस की प्यारी राधाजी कच्ची केसर का रंग बनाकर सोने की पिचकारी से खेल रहे हैं। पिचकारी लाकर जैसे ही रंग डाला, राधा प्यारी भीग गयी- "सूरज

साम पानीड़ानी जऊँ, म्हारी चुनड़ी को रंग उड़ि जाय।''
इस लोकगीत की लौकिक छटा चित्रावण से प्राणवान हुई है।

लोकगीतों पर आधारित चित्रावण की विशेषताएँ-उज्जयिनी में विवाह, मामेरा, गंगामाता, तीर्थयात्रा आदि मांगलिक अवसरों पर पेशेवर चितेरों (लोक चित्रकार) की चित्रावण शैली की विशेषताएँ बड़ी विलक्षण है। चित्रावण में मानव आकृतियों, पशु-पक्षी सभी को कई मुद्राओं में भी दर्शाया जाता है। इसी में चितेरों की दक्षता है। चित्रावण में मैदान, तालाब, पहाड़, नदी, क्षितिज चित्रित नहीं करते हैं, न ही पार्श्व भूमि की रचना करते हैं। चितेरे इतने दक्ष होते हैं कि प्रारम्भिक रेखांकन भी नहीं करते। सीधे-सीधे आकृति-रूप विषयक रंग भर देते हैं और फिर गहरी या काली रेखाओं से अन्तिम पूर्णता की कूँची (ब्रश) चला देते हैं।

तीज-त्यौहार, शादी-विवाह, मामेरा, गाल, तीर्थ यात्रा, गंगा और अन्य मांगलिक पर्व पर जो भी लोकगीत गाये जाते हैं। ये कुशल चितेरे इन सभी लोकगीतों के भावों को सरलतम रूपाकार को चित्रावण में चित्रित कर देते हैं। छाया-प्रकाश के रंग विधान का चित्रांकन में कोई स्थान नहीं है। ये सारी स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, फल-फूल सभी की आकृतियाँ चितेरों को रटी रटाई होती हैं। चितेरों को केवल आपका निमंत्रण चाहिये। ये तुरन्त पूरे आत्मविश्वास और अपनी सक्षम कूँचीचाप से आवश्यकतानुसार सबकुछ चित्रित कर देते हैं और चित्रावण खिल उठते हैं।

लोक चितेरे कहीं भी नौकर या मज़दूर बनकर चित्रावण नहीं बनाते, वरन् उन्हें जिस घर पर चित्रावण करना होता है, उस घर से उन्हें विधिवत् आमंत्रित किया जाता है। इन्हें आखोती, पगड़ी-दुपट्टा और दक्षिणा श्रद्धानिधि के रूप में दी जाती है तथा सम्मान दिया जाता है।

चित्रावण के चित्रण का माध्यम और तकनीकी पहलू बड़ा विचित्र है। अपनी चित्रण सामग्री के लिये ये चितेरे किसी कम्पनी या फैक्ट्री के बने रंगों और ब्रुश के मोहताज नहीं होते। ये चितेरे स्वयं अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने द्वारा प्रयोग किये जाने वाले रंगों को तैयार कर लेते हैं। नारियल की आधी नरेटी में ये साधारण मिट्टी के रंगों को गोंद में घोटकर उसका पेस्ट बना लेते हैं। लगभग सभी उपलब्ध रंग पेवड़ी, लाल, नीला, हरा, कत्थई, पीली मिट्टी और काले के नरेटी में पेस्ट बना लेते हैं और फिर आवश्यकतानुसार जिस घर में चित्रावण करने जाते हैं, वहाँ इनका उपयोग (चित्रावण के समय) करते रहते हैं। ये विशुद्ध रंग होते हैं। इनमें विशेष चमक तथा तड़क-भड़क होती है, जो इनकी निश्छल छटा को दर्शाती है। ये बाँस की पतली लकड़ी से बालों को बाँधकर अलग-अलग छोटे-बड़े चित्रावण कार्य की कूँची बना लेते हैं जो बड़ी गतिशील और सुडौल होती हैं, चितेरे दीवार पर चित्रावण बनाने से पहिले इन कूँचियों के चलाने का अभ्यास करते हैं, जब उन्हें लगता है कि ये

कूँचियाँ उनके अभीष्ट के अनुकूल चल सकती हैं, तभी दीवारों पर इनसे चित्रावण कार्य करते हैं। चित्रावण के लिये सबसे उपयुक्त कच्ची दीवार होती है, जो लीपन से छबी होकर खड़िया से पुती हो। इस दीवार पर जहाँ भी रंग लगाते हैं, वे वहाँ टिके रहते हैं। दीवार सोख लेती हैं, बहते नहीं। लेकिन आज के समय में जहाँ अधिकतर घर की दीवारें सीमेन्ट से बनी होकर डिस्टेम्बर पुती होती हैं। वहाँ चित्रावण करने के लिए काफी सतर्क और एकाग्र रहना पड़ता है, अन्यथा कूँची थोड़ा सा भी ज्यादा रंग आ जाने पर रंग का रेला बाहर बह जाता है। कुल मिलाकर चितेरे कच्ची और पक्की दोनों प्रकार की दीवारों पर चित्रावण बनाने में अभ्यस्थ रहते हैं। चित्रावण अधिकतर घर के बाहर की दीवारों पर ही बनवाये जाते हैं, जिससे आने-जाने वाले इस मनोहारी चित्रावण की छटा को निहार सकें।

चित्रावण अधिकतर विवाह, मामेरा, गाल, गंगामाता, तीर्थ यात्रा, देवी-देवता प्रसंग आदि से सम्बन्धित लोकगीतों की विषय-वस्तु को आधार बनाकर चित्रित किये जाते हैं। रूपाकारों में पुरुषों की वेशभूषा उज्जयिनी-मालवी आदमी की होती है, जिसने पगड़ी, धोती, अंगरखा पहना हो। स्त्री रूपाकारों की वेशभूषा भी ठेठ उज्जयिनी मालवी स्त्रियों की घागरा-लुगड़ा और काँचली पहिने दर्शाते हैं, नाक में नथ, सिर पर बोर, हाथ में बाजू बंद, चूड़ा, बिच्छियाँ भी दर्शाते हैं। मराठाकालीन प्रभाव के कारण कहीं-कहीं स्त्रियों को मराठी वेशभूषा में भी दर्शाने का चितेरों को अभ्यास रहता है। विभिन्न चित्र दृष्टव्य हैं।

मांगलिक कार्यों, विवाह आदि में चित्रावण का लक्ष्य जहाँ एक ओर दीवारों की सजावट है, वहीं दूसरी ओर लोक प्रसंग के लोकगीतों के मर्म का उद्घाटन भी चित्रावण में है। चित्रावण में प्रयुक्त इनके रूपाकार निश्चित रहते हैं-गणेशजी, रिद्धी-सिद्धि, लाड़ा-लाड़ी, जीन लगे घोड़े पर बनेड़ा, बग्गी में बनड़ी, बारात का आगमन, मामेरा, गंगा माता की अगवानी, ब्याईजी-ब्यानजी प्रसंग, भांग छानते शिव-पार्वती, सरस्वतीजी, हनुमानजी, लक्ष्मीजी, राम-लक्ष्मण-जानकी, राधा-कृष्ण, ढोली, बाजावाला, हाथी की पालकी, नंदीगण, चँवर डुलाते स्त्री-पुरुष, मराठी महिलाएँ और इसी प्रकार के अन्य रूपाकार सुनिश्चित रहते हैं, जिन्हें चित्रावण में प्रयुक्त करवाते हैं। इन सभी के वस्त्राभूषण सब कुछ उज्जयिनी-मालवी ठाठ बाट के बनाते हैं। ''हाथ, हाथी और घोड़ों और सब थोड़ो-थोड़ो'' चित्रावण में मानवाकृति के हाथ, पशुओं में घोड़ा और हाथी बनाना ही कठिन है बाकी सब थोड़ा-थोड़ा है-आसान है, बन जाता है। चित्रावण में अन्तिम रेखा का बहुत महत्त्व है। इसी से चितेरे की दक्षता का अंदाज लगता है। मालवी लोकमन, लोकगीत और चित्रावण का त्रिवेणी संगम अवन्ती क्षेत्र में बहता रहा है और बहता रहेगा। □

प्राचीन काल-गणना का केन्द्र-उज्जयिनी

डॉ. मोहन गुप्त

आर्यभट ने अपनी आर्यभटीय के काल क्रियापाद में लिखा है-

युग-वर्ष-मास-दिवसाः समं प्रवृत्तास्तु चैत्रशुक्लादेः
कालोऽयमनाद्यन्तो ग्रहभैरनुमीयते क्षेत्रे। (आ.भ.3/11)

इसकी टीका करते हुए सूर्यदेव यज्वन् ने लिखा है-चैत्रशुक्लप्रतिपदादौ युगादयः समं प्रवृताः। अयमनाद्यनन्तः कालः क्षेत्रे गोलस्थितैर्ग्रह भैरनुमीयते। एतदुक्तं भवति-यद्यप्यनाद्यनन्तः कालः तथापि ज्योतिश्चक्रस्थैः ग्रहादिभिरुपाधिभूतैः कल्पमन्वन्तरयुगवर्षमासदिवसादिरूपेण परिच्छिद्यत इति।[1]

वास्तव में काल अनादि-अनन्त है तथा अपरिच्छिन्न है, किन्तु व्यवहार के लिए खगोल स्थित ग्रहों की स्थिति से उसका अनुमान लगाया जाता है। उसकी गणना के प्रयोजन हेतु ग्रहस्थितियों तथा उनके भगणों के आधार पर कल्प, मन्वन्तर, युग, वर्ष, मास तथा दिवस की कल्पना की गई है। यद्यपि काल की इन इकाइयों का आविर्भाव सभ्यता के विकसित चरण में हुआ तथापि यह भी कल्पना की गई कि सृष्टि के आदि में ये सब एक साथ प्रारंभ हुए। अब एक प्रश्न उठा कि पृथ्वी तथा आकाश मण्डल दोनों गोल हैं। काल की गणना स्थान सापेक्ष भी है, अतः सृष्टि के आदि में यदि ये काल की इकाइयाँ प्रारम्भ हुईं तो किस स्थान से? इसके लिए पृथ्वी के मध्यभाग की कल्पना की गई। उस समय के सभ्य संसार में भारतवर्ष ही प्रमुख था। यहीं से ज्योतिर्विज्ञान की विद्या भी प्रारंभ हुई। भारतवर्ष में लंका नगरी भूमध्य रेखा पर मानी गई-उसके सन्निकट होने के कारण-अतः काल का आरंभ सृष्टि के आदि में लंका से हुआ-

चैत्र सितादेरुदयात् दिनमासवर्षयुगकल्पाः
सृष्ट्यादौ लंकायाम् समं प्रवृत्ता दिनेऽर्कस्य। (ब्रह्म स्फुट सिद्धांत)

इसीलिये ब्रह्म स्फुट सिद्धांत, जो प्राचीनतम पैतामह सिद्धान्त का नया संस्करण माना जाता है, ने प्रतिपादित किया कि सृष्टि के आदि में सूर्य उदय के समय चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, रविवार को काल का आरम्भ हुआ-दिन-मास-वर्ष-युग-कल्प-सभी एक साथ प्रारंभ हुए। किन्तु ग्रह गणना तथा कालगणना का केन्द्र लंका नहीं रहा। ज्योतिर्विज्ञान का विकास उत्तर भारत में हुआ। ग्रहों की स्थितियों का गणित, उसके सिद्धान्त, उनका वेध-सभी कार्य उत्तर भारत में हुआ, जिसका मुख्य केन्द्र उज्जैन था। उज्जैन को सभी प्रकार की विद्याओं का केन्द्र होने का गौरव महाभारत काल से ही प्राप्त था। यही कारण था कि श्रीकृष्ण-बलराम मथुरा से काशी न जाते हुए विद्याध्ययन हेतु उज्जैन आये। अतः काल गणना का केन्द्र भी यहीं हो, यह बात तत्कालीन ज्योतिर्विदों तथा शासकों के मन में आई होगी। ज्योतिर्विदों ने अपने वेध से यह भी ज्ञात किया कि जिस रेखांश पर लंका है, उसी रेखांश पर उज्जैन है तथा चूँकि पृथ्वी या भूचक्र की गति पूर्व-पश्चिम की ओर है, अतः लंका से गणना करने पर या उज्जैन से गणना करने पर कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका में लिखा-

उज्जयिनी लङ्कायाः सन्निहिता योत्तरेण समसूत्रे
तन्मध्याह्नो युगपद् विषमो दिवसो विषुवतोऽन्यः[2] (पं.सिं.13/17)

उज्जयिनी लंका से सीधी रेखा में उत्तर में स्थित है। अतः उनका मध्याह्न साथ-साथ होता है, यद्यपि विषुवदिन (सम्पात दिन) को छोड़कर दिनमान भिन्न होता है। सूर्य सिद्धान्त ने भी यही बात बताई-

राक्षसालयदैवोकः शैलयोर्मध्यसूत्रगाः
रोहीतकमवन्ती च यथा सन्निहितं सरः[3] (सू.सि. 1/62)

राक्षसों का आवास लंका तथा देवताओं का निवास स्थान सुमेरु पर्वत (उत्तर ध्रुव) के मध्यगत सीधी रेखा पर स्थित रोहतक, अवन्ती तथा कुरुक्षेत्र रेखादेश कहे जाते हैं। (रेखादेश का अभिप्राय है शून्य देशान्तर) ज्योतिर्विदों ने अपने अध्ययन तथा वेध से उज्जयिनी के विषय में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित किया-वह यह कि जब सूर्य उत्तर में परम क्रान्ति पर पहुँचता है उस मध्याह्न में उज्जैन में शंकु की छाया समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ हुआ उज्जैन सूर्य की उत्तर-दक्षिण यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव पर है तथा इसका अक्षांश सूर्य की परम क्रान्ति के बराबर है। यह बात यहाँ के ज्योतिर्विदों को उस समय उद्घाटित हुई जब सूर्य की परम उत्तरा क्रान्ति 24° थी, जिसका आशय हुआ कि उज्जयिनी का अक्षांश भी 24° था। आजकल सूर्य की परम उत्तरा क्रान्ति 23°-26' है तथा उज्जैन का अक्षांश 23°-11' है। वराहमिहिर, आर्यभट, भास्कर सभी ने उज्जैन का अक्षांश 24° तथा सूर्य की परम उत्तरा क्रान्ति 24° मानी है।

मिथुनांशे च कुवृत्तादंशचतुर्विं शतिं विहायोच्चैः
भ्रमति हि रविरमराणां समोपरिष्टात् तदावन्त्याम्।[4] (पं. सि. 13/10)

मिथुन राशि के अन्त में भूवृत्त (विषुवत् रेखा) से 24° उत्तर में सूर्य अवन्ती के ऊपर से देवताओं के लोक (उत्तरी गोलार्ध) में भ्रमण करता है। इन दो कारणों-लंका से सीधी रेखा में होने तथा सूर्य की परमोत्तर क्रान्ति के स्थान अर्थात् कर्क रेखा पर अवस्थित होने से तथा उस समय के सभ्य जगत् का प्रधान केन्द्र होने के कारण उज्जयिनी से कालगणना प्रारंभ की गई तथा सभी ग्रहों का गणित उज्जयिनी के सूर्योदय या उज्जयिनी की मध्य रात्रि के सन्दर्भ से किया गया। यह ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि लंका से काल के प्रारंभ होने की बात ब्रह्म स्फुट सिद्धान्त में की गई, किन्तु प्रथम ग्रह गणित उज्जयिनी के सन्दर्भ में ही किया गया जो आज तक प्रवर्तमान है। ज्योतिष के सभी सिद्धान्त ग्रन्थों में ग्रह स्पष्ट उज्जयिनी मध्यरात्रि का निकाला जाता है तथा नाड़यन्तर या देशान्तर संस्कार करके उसे अन्य स्थानों का बनाया जाता है। यहाँ तक कि वार प्रवृत्ति भी उज्जयिनी की मध्यरात्रि से होती थी, अर्थात् जब उज्जयिनी में मध्यरात्रि होती थी, उसी समय अन्य स्थानों, यवनपुर या रोमक या सिद्धपुर में वार बदलता था, भले ही वहाँ उस समय संध्या हो या प्रातःकाल हो या प्रातःकाल से पूर्व का समय हो। जो स्थिति आज वैश्विक समय (Universal Time) के लिए ग्रीनविच की है, वही ज्योतिष के सिद्धान्त काल में तथा उसके बाद हजारों वर्ष तक, उज्जैन की रही। ज्योतिर्विज्ञान की विद्या यहाँ से यूनान तथा एलेक्जैण्ड्रिया पहुँची। इसलिए वहाँ के ज्योतिषियों ने भी उज्जैन के सूर्योदय या मध्यरात्रि को ध्यान में रखकर अपने यहाँ का ग्रह-गणित किया। इसका प्रमाण है यवनपुर का युगारम्भ। वराहमिहिर ने ज्योतिषोपनिषद् में लिखा है-

रव्युदये लंकायां सिंहाचार्येण दिनगणोऽभिहितः
यवनानां निशि दशभिर्मुहूर्तैश्च तद्गुरूणा।[5] (पं.सिं.15/19)

सिंहाचार्य ने अहर्गण का प्रारंभ सूर्योदय पर लंका से बताया है, यवनों के लिए उनके आचार्य ने सूर्यास्त से 20 घटी बाद युगारंभ अर्थात् दिवस गणना का प्रारंभ बताया है।'

अब सूर्यास्त के 20 घटी बाद युगारंभ की कोई तुक नजर नहीं आती, किन्तु जब हम विचार करते हैं कि यवनदेश (यूनान) का यह समय सूर्यास्त के 20 घटी बाद का, उज्जैन के सूर्योदय के समकालीन है, तब यह तर्क समझ में आता है। ग्रह गणना तो उन्हें भारतीय सिद्धांतों के अनुसार करना है, जिसका प्रारंभ उज्जैन सूर्योदय से है। अतः अपने स्थान के अनुरूप बनाने के लिए वहाँ के आचार्य ने वहाँ युगारंभ सूर्यास्त के 20 घटी बाद बताया। यदि यूनान के किसी नगर का देशान्तर

उज्जैन से 60° पश्चिम में है, तो यह 10 नाड्यन्तर हुआ। इसका अर्थ हुआ कि जब उज्जैन में सूर्योदय होगा तब वहाँ 10 घटी रात शेष होगी, अर्थात् 30 घटी रात्रि में से 20 घटी रात्रि बीत गई होगी या कि सूर्यास्त से 20 घटी का समय व्यतीत हुआ होगा। रोम नगर उज्जैन से लगभग 63° पश्चिम में है। रोमक नगर यहीं रहा होगा, जिसका उज्जैन से तत्कालीन नाड्यन्तर 10 नाडी या 60° रहा होगा। एलेक्जैण्ड्रिया का उज्जैन से नाड्यन्तर वराहमिहिर द्वारा वर्णित प्राचीन पौलिश सिद्धान्त में 7 नाड़ी 20 विनाड़ी दिया हुआ है-

यवनान्तरजानाड्यः सप्तावन्त्यां त्रिभागसंयुक्ताः[6] (पं.सिं. 3/13)

इससे यह सिद्ध होता है कि रोमन तथा मिश्र की सभ्यताओं के समय उज्जैन से उन देशों का जीवन्त सारस्वत तथा व्यावसायिक सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध में सूर्य सिद्धान्त के यशस्वी टीकाकार श्री ई. बर्जेस की टिप्पणी अत्यन्त महत्व की है।

'But the circumstance which actually fixes the position of the prime meridian is the situation of the city of Ujjayini...........It is the capital of the rich and populous province of Malva.........and from old time a chief seat of Hindu literature science and arts of all the centres of Hinduculture, it lay nearest to the great ocean route by which during the frst three centuries of our era, so important a commerce was carried on between Alexandria as the mart of Rome, and India and the countries lying still further east. That the prime meridian was made to pass through this city proves it to have been the cradle of the Hindu science of astronomy or principal seat during its early history.[7]

कुछ समय पूर्व नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने विश्व किंवा भारत की काल गणना पुनः उज्जैन से करने की बात कही थी। उनकी बात में तर्क है। पहली बात तो यह है कि अब साम्राज्यवाद का युग समाप्त हो गया है, जो ग्रीनविच से कालगणना का मुख्य हेतु था अन्यथा दुनिया के एक कोने में 51°-30' से भी ज्यादा उत्तरी अक्षांश में अवस्थित छोटे से टापू के सन्दर्भ में विश्व की कालगणना नहीं होती। दूसरे, परम्परया ग्रेट ब्रिटेन तथा समस्त यूरोपीय देश एवं अमेरिका, पश्चिम के देश कहलाते हैं। अतः क्या यह उचित है कि जब पश्चिम में सूर्य का उदय हो तब विश्व में सूर्योदय माना जाये। इसके लिए कोई पूर्व का देश चुना जाना चाहिए। चूँकि भारत पूर्वी क्षेत्र का प्राचीनतम देश है तथा ग्रह गणना इस भू-भाग भारतवर्ष से और वह भी उज्जैन से प्रारंभ हुई थी, अतः यह उचित ही है कि विश्व का रेखादेश (Prime Meridian) उज्जयिनी ही हो और यहीं से विश्व की कालगणना की जाये। दूसरे जैसा ऊपर बताया गया है, उज्जयिनी उत्तर गोलार्द्ध के समृद्ध क्षेत्र, ट्रापिकल जोन में, कर्क रेखा पर ही अवस्थित है, जहाँ सर्दी तथा गर्मी के दिनमान में बहुत अन्तर नहीं पड़ता। अतः उज्जैन को केन्द्र मानने से विश्व के नगरों का अधिक स्वाभाविक समय प्राप्त होगा, विश्व समय के सन्दर्भ में पूर्व में सूर्योदय पहिले होगा, पश्चिम में बाद में होगा। यदि विश्व समय (U.T.) प्रातः 6 बज रहा होगा तो पूर्व में प्रातः या दिन होगा तथा पश्चिम में अभी रात ही होगी जबकि अभी विपरीत है-विश्व समय के प्रातः 6 बजने पर पश्चिम में सूर्योदय होता है तथा पूर्व में संध्या। यद्यपि उज्जैन अभी कर्क रेखा से 15' दक्षिण में चला गया है, किन्तु उस स्थान को भी खोज निकाला गया है, जहाँ से वर्तमान में कर्क रेखा गुजरती है। उज्जयिनी से लगभग 22 कि.मी. उत्तर में महिदपुर में ग्राम डोंगला है। वहाँ पर सूर्य की परम उत्तरा क्रान्ति 23°-26' के दिन 21/22 जून को मध्याह्न में शंकु की छाया समाप्त हो जाती है। उसका अनेक बार वेध किया जा चुका है। मैंने स्वयं 2002 की जून में एम. ए. ज्योतिर्विज्ञान के छात्रों के साथ वहाँ जाकर वेध लिया था। 22 जून को मध्याह्न शंकु की छाया समाप्त हो गई थी। वहाँ वाकणकर शोध संस्थान के तत्त्वावधान में भास्करयंत्र तथा शंकु एवं भित्तियंत्र की स्थापना कर दी गई है तथा एक वेधशाला तथा कर्कराजेश्वर मन्दिर के निर्माण की योजना है। इस स्थान का देशान्तर वही है,

जो उज्जैन का है। अतः इसे पृथ्वी का केन्द्र मानकर विश्व की नवीन कालगणना का शुभारंभ किया जा सकता है। भारतीय परम्परा उज्जैन को विश्व की नाभि पर अवस्थित मानती है-

स्वाधिष्ठानं स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका
नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः

यहाँ पर ईश्वर की महाकाल रूप में अवस्थिति काल के किसी विशेष सन्दर्भ की द्योतक है।

जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है, इसका मानक समय 82°-30' (इलाहाबाद के समीप) देशान्तर तथा 23°-11' अक्षांश (उज्जैन) के आधार पर निर्धारित है। भारत की सीमाएँ लगभग 67° पूर्व (द्वारका का देशान्तर 69° के आसपास है) से 95° पूर्व (इटानगर का 93°-50') तक फैली है। इस पूरे भू-भाग का एक ही मानक समय (Standad Time) होने से, विशेषकर पूर्व के नगरों में अत्यन्त अस्वाभाविक समय मिलता है, जिसका अन्तर उनके स्थानीय समय से लगभग एक घण्टे तक का हो जाता है। इसके अतिरिक्त उत्तर-पूर्वी राज्यों के पश्चिम में स्थित बांग्लादेश का मानक समय हमसे आधा घण्टे आगे है। इससे और भी विचित्र स्थिति बनती है, क्योंकि उसके पूर्व में स्थित ईटानगर, आईजॉल आदि का समय आधा घण्टा पीछे रहता है जबकि वास्तव में आगे होना चाहिये। ऐसी स्थिति में भारत में दो स्टेण्डर्ड टाईम होने चाहिए (अमेरिका में अनेक हैं)-एक उज्जैन के सन्दर्भ में ग्रीनविच मीन टाइम से 5 घण्टे आगे 75° देशान्तर पर तथा दूसरे जी.एम.टी. से 6 घण्टे आगे 90° देशान्तर पर। अक्षांश दोनों का 23°-11' अर्थात् उज्जैन का ही रहना चाहिए। एक को I.S.T. (Indian Standard Time) तथा दूसरे को E.S.T. (Eastern Standard Time) या B.S.T. (Bharat Standard Time) कहा जा सकता है। बदलते वैश्विक परिप्रेक्ष्य में कालगणना के इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिये। ❑

सन्दर्भ :

1. आर्यभट : आर्यभटीय, सूर्यदेव यज्वन् की टीका के साथ, संपा. के.वी. शर्मा, इण्डियन नेशनल साइंस एकेडमी, नई दिल्ली, 1976, पृ. 95.
2. वराह मिहिर : पञ्चसिद्धान्तिका : टी. एस. कुप्पन शास्त्री एवं के.वी. शर्मा, पी.पी.एस.टी. फाउण्डेशन, अड्यार, मद्रास, 1993, पृ. 253.
3. सूर्य सिद्धान्त : रंगनाथ की टीका, चौखम्बा सुर भारती, वाराणसी, 2000, पृ. 41.
4. वराह मिहिर : पञ्चसिद्धान्तिका, ऊपर उद्धृत, पृ. 250
5. पञ्च सिद्धान्तिका, ऊपर उद्धृत, पृ. 288.
6. तदैव पृ. 51 (III-13)
7. सूर्य सिद्धान्त : अंगेजी अनुवाद द्वारा ई. बर्जेस, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, 1977, पृ. 46.
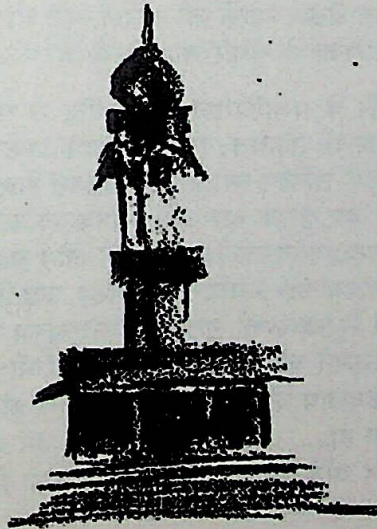
रेखांकन : प्रमोद गणपत्ये

जहाँ महाकाल के जागरण से शुरू होती है सुबह

डॉ. विवेक चौरसिया

महाकाल मंदिर में नंदी दीपों के घी के लिए सनद लिखने वाले औरंगजेब ने पता नहीं यह बात क्या सोचकर कही–सुबहे बनारस, शामे अवध और शबे मालवा। दीवाना मुगल मालवा की रात पर फिदा हुआ, शायद सुबह से महरूम रह गया। वरना क्या मजाल कि जिस शहर की सुबह साक्षात् महाकाल के जागरण से शुरू होती हो, उस पर औरंगजेब गौर करने में चूक गया हो।

सच ही है, यह उज्जैन की भूमि है। समुद्र मंथन के बाद जहाँ अमृत की बूँदे गिरी ही नहीं, देवताओं के बीच बँटवारा भी हुआ। देवताओं ने इसी जमीन पर बैठकर अमृत पिया था। वो शायद सुबह ही थी। सोचता हूँ, उसी सुबह जब अमृत बँटा और देवता संसार को उजाला, वनस्पति, जल, वायु, अग्नि, नक्षत्र, जीवन का उपहार देने के लिए अमर हो गए, उसी दिन से सुबह का मतलब उजाला हो गया। ऐसी घड़ी, जिसके साथ ही आदमी कर्मरत हो जाता है। कहते हैं, सोने से कलियुग, जागने से द्वापर, उठ बैठने से त्रेता और चल देने से सतयुग होता है। ऐतरेय ब्राह्मणों के ऋषियों ने इस भाव को जब गाया होगा, तब भी शायद सुबह ही रही होगी। अंधेरा छँट रहा होगा और सूरज प्रभाती गाकर लोगों को कर्म के लिए प्रेरित कर रहा होगा।

उज्जैन में सुबह का मतलब ब्रह्म मुहूर्त है। मालवा के लोगों को मोहब्बत में भले लोग मट्ठा कहते हों, लेकिन उनकी सुबह तो ब्रह्म मुहूर्त में ही हो जाती है। आज भी भागदौड़ भरी जिंदगी में सुबह और ब्रह्म मुहूर्त का तालमेल बैठाने वालों की तादाद भले ही घट गई हो, लेकिन सूरज के साथ उठने वाले भी जानते हैं, उनके राजा ने शृंगार कर लिया है।

उज्जैन के राजा महाकाल हैं। वे राजाधिराज हैं, क्योंकि वे राजा भले उज्जैन के हैं, पर उनका राज पूरी पृथ्वी पर है। सारे संसार में संभवतः महाकाल ही अकेले हैं, जिनकी भस्म आरती होती है और उसी के साथ शुरू होती है उज्जैन की सुबह। हजारों साल हुए, उज्जैन और महाकाल का यही नाता है। सुबह का, रोशनी का,शृंगार का और महाकाल के संरक्षण का। यही वजह है रोज महाकाल की भस्म आरती में इकट्ठा होने वाले उज्जैन के लोग महाकाल की इस कृपा पर कृतकृत्य हो बोल उठते हैं–राजाधिराज की जय हो! भगवान को भस्म चढ़ती है, गर्भगृह मंत्रों से गूंजता है और मंत्र पुष्पांजलि में शामिल होने से सूरज कभी नहीं चूकता। सूरज सूचना निवेदित करता है–हे प्रभु! अब आपके इस राज्य में उजाला करने के लिए मैं तत्पर हूँ। मैं भी कर्म पर हूँ और मेरे साथ आपकी प्रजा भी। पुरोहित साक्षी होकर उद्घोष करते हैं–धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो:.......और उज्जैन की सुबह शुरू हो जाती है। महाकाल मंदिर के प्रांगण में असंख्य कबूतर और तोते कलरव करते हैं, अंधेरा विदा होता जाता है।

शिप्रा की शिप्र धारा पर सूरज की किरणें पड़ने से पहले ही तीर्थ पुरोहित के कदमों की आहट से घाटों को सन्नाटा टूटने लगता है। डुबकी लगाने आए लोग, तीर्थयात्री और साधु-संत नदी में खड़े होकर सूर्य को अर्घ्य देते नजर आते हैं। घाटों के मंदिरों में घंटियाँ बज उठती हैं और पंडित भीतर से बाहर तक सफाई में जुट जाते हैं। रामघाट शिप्रा का प्रमुख घाट है। संभवतः श्री राम कभी उज्जैन आए ही नहीं, लेकिन किंवदंतियाँ हमारी संस्कृति का मूल हैं और किंवदंती कहती है इसी घाट पर श्रीराम ने अपने पिता का तर्पण किया था। फिर उज्जैन की भूमि तो यूँ भी मोक्ष की भूमि है। शिप्रा का कोई घाट हो, जहाँ तर्पण होगा, वहीं मोक्ष हो जाएगा। उज्जैन की महिमा-गा-गाकर पंडे हर सुबह सदियों से मृतकों को मोक्ष कराते आ रहे हैं। कहते हैं कभी उज्जैन के सूर्योदय के हिसाब से स्टैंडर्ड टाइम तय होता था। आज जो हैसियत ग्रीनविच की है, वो कभी उज्जैन की थी। कहते तो यहाँ तक हैं कि थी नहीं, आज भी है। लंका से उज्जैन, फिर कुरुक्षेत्र से मेरु तक जाने वाली जिस भूमध्य रेखा की कल्पना की गई थी, उसके मध्य में ही उज्जैन था। अरबी में तो उजीन का मतलब मध्य ही है। इसीलिए शहर भी उज्जैन कहलाया। अमर्त्य सेन ने तो कुछ दिन पहले कहा भी था स्टैंडर्ड टाइम आज भी उज्जैन से ही तय किया जाना चाहिए और इस हिसाब से आज भी उज्जैन का सूर्योदय मानक है। फिर उज्जैन की सुबह अपनी अनूठी अदा से बेजोड़ हो जाए तो क्या फिदा होने के हालात नहीं बनेंगे?

ऐसा नहीं है कि महाकाल, शिप्रा और सूर्योदय तक ही उज्जैन की सुबह के रंग सिमट जाते हों। अजान, चर्च की घंटियों, गुरुद्वारों के शबद-कीर्तन से उज्जैन की सुबह रोशन होती है। मालीपुरा के फूलों की गंध के साथ महकती है। यदि बावला कालिदास उज्जैन के फूलों पर रिझा था, तो गलत नहीं था। सुबह के फूलों के आगे बेबस हुई कवि की कलम बिल्कुल ठीक चली थी। आज भी कालिदास के जमाने की बस्ती गढ़कालिका में देवी के मंदिर में उसी अंदाज में सुबह होती है, जिस अंदाज में उस जमाने में हुआ करती थी। वही मंत्र, वही पूजा, वही अर्चना, वही समर्पण और वही आभार। सांदीपनि का आश्रम तो अब वैसा नहीं रहा, पर कृष्ण की प्यारी गायें आज भी इस आश्रम में रंभाती हैं। कृष्ण को पुकारती हैं कि आओ, फिर एक सुबह तुम्हारे साथ खेलें। समय के साथ उज्जैन की फितरत बदल गई है। तीस साल पहले तक आदमी सुबह मंदिरों की ओर जाता दिखता था। अब कम लोग जाते हैं, लेकिन पुराने शहर में आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं जो हाथ में तांबे का कलश लिए मंदिर की सीढ़ियाँ उतरते हैं और रास्ते में मिलने वाले हर आदमी को चरणामृत देते हैं। ये सुबह के प्रतिनिधि मंगलकामना करते चलते हैं, आप कर्म पर जा रहे हैं, लीजिए भगवान का चरणामृत ले जाइए। जमाना बदला है, तो सुबह के अंदाज भी बदले हैं। काम का समय बदल गया है। किसी की सुबह ब्रह्म मुहूर्त में हो रही है तो किसी की सूरज के तीस फीसदी आसमान पार कर लेने के बाद। लेकिन जिन्हें अलसुबह नसीब है, वे तो उज्जैन की सुबह पर मर मिटते हैं। आजकल की कॉलोनियों में बाकी शहरों की तरह मार्निंग वाक का चलन है, लेकिन दूसरे शहरों में मार्निंग वाक का स्वाद लेने वाले भी जानते हैं और मानते हैं उज्जैन की सुबह जैसा स्वाद सिर्फ उज्जैन में ही मिल सकता है।

हर गाँव, हर शहर, हर बस्ती के बाशिंदों को हक है कि वो जहाँ सुबह जीता है, उसकी तारीफ कर सके। हर जगह की सुबह नई हो सकती है, रोशन भी और रंगीन भी। यदि औरंगजेब ने बनारस की सुबह को बेजोड़ कहा था तो ठीक ही कहा होगा। उसने वहाँ की सुबह देखी। पर इसमें कोई शक नहीं कि उज्जैन की सुबह देखने के बाद भी वह उस शिद्दत से महसूस नहीं कर सका होगा, जिस शिद्दत से उसने गंगा की धारा पर सूरज की किरणें देखी हों। वरना वह नहीं कहता सुबहे-बनारस। यही कहा होता सुबह तो उज्जैन की। यह बात मैं इस दावे के साथ कह सकता हूँ कि मैंने उज्जैन की सुबह महसूस की है, इसलिए नहीं कि यह मेरा अपना शहर है, इसलिए कि वाकई इस शहर की सुबह का उजाला अलग ही है। महक भी जुदा है और तृप्ति भी।

❑

हर मौसम में अलग मिजाज होते हैं उज्जैन की शाम के

अर्चना अनूप

उज्जैन की शाम शिप्रा आरती के झाँझ-मजीरे और नगाड़ों की धुन से गूँजती है। शिप्रा की लहरों में उज्जयिनी की शाम के दर्शन डूबते सूर्य की लालिमा के साथ होते हैं। सुबह की तरह ही शाम के प्रहर भी भक्ति में डूबे होते हैं। शबे मालवा की शाम के रसास्वादन की भी अपनी परंपरा रही है।

भस्मारती से जागने वाले राजाधिराज महाकाल के इस शहर की आबोहवा में भक्ति का स्पंदन दिनभर नजर आता है। पक्षियों का कलरव शाम होने का संकेत देता है, तो पुराने शहर में आज भी चौपाल और घर के ओटलों पर बैठकर गप्पें लड़ाने की संस्कृति है। जयसिंहपुरा, कार्तिक चौक, दानीगेट में आज भी सिगड़ियाँ जल उठती हैं। महिलाएँ चौके-चूल्हे में व्यस्त हो जाती हैं, तो पंडे-पुजारी महाकाल की बूटी लेकर आनंदित होते हैं। हर मौसम में शाम के मिजाज बदल जाते हैं। वर्षाकाल में पानी की रिमझिम फुहारों के बीच शौकीनों के बीच चाय-भजिए के दौर होते हैं, तो बच्चों के गीत गूँज उठते हैं-'पानी बाबा आया, ककड़ी-भुट्टा लाया। पहली बारिश में बच्चों की अलाई दूर करने के लिए उन्हें नहलाना माता-पिता नहीं भूलते।

गर्मी की शाम इससे कहीं जुदा होती है। सूरज ढलते ही घर-आँगन के आसपास पानी के छिटकाव से ठंडक ढूँढी जाती है। शबे-मालवा के तो कहने ही कुछ और है। शिप्रा के घाटों पर सैलानियों का मेला नहीं होता। होते हैं, तो खुद उसके शहर के बाशिंदे।

हर शाम ढलते सूरज के साथ शुरू होता है दिनभर की थकान उतारने का सिलसिला। शाम की रंगत का लुत्फ उठाने के अपने-अपने तरीके हैं पुराने और नए शहर के लोगों के, जो हर मौसम में अपना मिजाज बदलते हैं। महानगरीय सांध्य संस्कृति का थोड़ा प्रभाव नए शहर में देखा जाने लगा है, लेकिन पुराने शहर के लोग अब भी देवदर्शन से ही संध्या का स्वागत करते हैं। शिप्रा के शांत जल में चलते फव्वारों के बीच गुजरती है सुहानी शाम की कुछ घड़ियाँ, लेकिन नए शहर यानी पुल के इस पार जिंदगी कुछ अलग ही रंगत लिए हुए है। ढलती शाम की लालिमा के साथ शुरू होता है 'इवनिंग वॉक' का दौर। नन्हें-मुन्ने भी अपने दादा-दादी तो कभी पापा-मम्मी का हाथ पकड़े विक्रम वाटिका और बालोद्यान में कलरव करते खिलखिलाते शाम के इस दौर को और सुहाना बना देते हैं।

सूरज की लाल रोशनी में जब पक्षी चहचहाते हुए अपने घरौंदों में लौटने लगते हैं, इस शहर में उनके स्वरों का संगीत महसूस करना अपने आप में एक सुखद अनुभूति होती है। फिर शुरू होता है खाने-खिलाने का दौर। इधर सूरज ने खुद को छुपाने की कोशिशें शुरू की नहीं कि शौकीन अपने स्वाद को पूरा करने के लिए निकल पड़ते हैं। मालवा के लोगों के खाने-पीने के शौक भी निराले

हैं। ऐसी कोई दावत जिसमें नमकीन सेव, [illegible], भजिये या कचोरी या फिर चाट न हो। यहाँ के कई लोगों की शाम का नाश्ता सेव-परमल के बिना अधूरा है।

गर्मियों के मौसम में जहाँ जूस, कुल्फी और गोला खाने वालों की भीड़ उमड़ती है, वहीं चटपटी चाट के शौकिनों की भी कमी नहीं होती है। आईस्क्रीम पार्लर की रंगीन रोशनी में ठंडी-ठंडी आईस्क्रीम का मजा लेने वालों में बच्चों से लेकर बुजुर्गों तक की शुमारी रहती है।

तपती गर्मी के बाद बारी आती है बारिश की फुहारों की। भजिए-पकौड़ों के चलते दौर के साथ दूध और गरमा-गरम जलेबी भी होते हैं। ककड़ी-भुट्टे की खुश्बू हर किसी के लिए फिर से बचपन की यादें ताजा कर देती हैं।

ठंडी-ठंडी हवाएँ अपने साथ लेकर आती हैं गराडू और गजक की गर्मी, जो गुलाबी शाम की ठंडक को रंगीनियाँ देती हैं। कार्तिक मेले की जगमगाती रोशनी, गोल-गोल घूमते झूले, खिलौनों के लिए मचलते बच्चे और रंग-बिरंगी चूड़ियाँ पहनती नवयुवतियाँ इस दौर की शामों को एक नई रौनक देती हैं। सचमुच मालवा की शाम का रंग देखे बिना शबे मालवा अधूरी ही है। ❑

सभी रेखांकन : ह्रषीकेश शर्मा

कुम्भ की परम्परा और उज्जैन का सिंहस्थ महापर्व

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा

भारत पर्वोत्सवों के लिए उर्वर भूमि रहा है, जहाँ प्रकृति और मनुष्य के रिश्तों को चिह्नित करने की दृष्टि से पर्व और उत्सवों की विलक्षण भूमिका रही है। कुंभ ऐसा ही अनुपम पर्व है, जहाँ धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक धरातल पर मनुष्य का प्रकृति या यूँ कहें शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य बनता है। 'पर्व' शब्द की व्युत्पत्ति 'पृ' धातु के साथ 'वनिप्' प्रत्यय के संयोग से हुई है, जिसका तात्पर्य ही है-गाँठ, पोर या जोड़। जिस प्रकार बाँस या ईख की गाँठ सुनिश्चित अन्तर पर आती है, उसी प्रकार भारतीय काल गणना के अनुसार विशिष्ट पर्व भी सुनिश्चित अंतराल पर आते हैं, जिनका स्नान, दान, पूजन आदि की दृष्टि से विशेष महत्त्व होता है। कुंभ ऐसा ही महापर्व है, जिसमें सुनिश्चित ग्रहयोगों के कारण स्थान विशेष पर बारह वर्षों के अंतराल से स्नान, दान आदि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समय आता है। ये स्थान हैं-हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक। कुंभ पर्वकाल में हरिद्वार में गंगा, प्रयाग में गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम, उज्जैन में शिप्रा और नासिक में गोदावरी नदी को अमृतमयी माना जाता है।

कुंभ : शब्द, अर्थ और प्रयोग

'कुम्भ' शब्द की व्युत्पत्ति 'कुं भूमिं कुत्सितं वा उम्भति पूरयति-उम्भ् + अच्' से हुई है। 'कुं' का अर्थ है भूमि या पृथ्वी। 'कुं' में 'उम्भ' धातु तथा 'अच्' प्रत्यय के संयोग से 'कुम्भ' शब्द बना है। उम्भति या उभति का अर्थ है संक्षिप्त करना या भरना और पूरयति का तात्पर्य है भरना या पूरा करना। भूमि या मिट्टी से निर्मित पात्र कुंभ है, जिसे जल से भरा जाता है। इस प्रकार कुंभ का सामान्य तात्पर्य है-जल भरने का पात्र, घड़ा, क़लश या करवा। राशिचक्र में ग्यारहवीं राशि का नाम भी कुंभ है। अमृत मंथन के आख्यान के अनुसार समुद्र से प्राप्त अमृत कुम्भ में रखा गया था, जिससे छलकी बूँदों के कारण पृथ्वी पर चार स्थानों पर कुंभ पर्व की परम्परा शुरू हुई। वर्तमान में कुंभ शब्द प्रति बारह वर्ष में देश के उपर्युक्त चार स्थानों में होने वाले महापर्व और मेले के लिए भी रूढ़ हो गया है। सुभाष राय की पुस्तक 'कुम्भ मेला' तथा पं. वेणीराम शर्मा गौड़ प्रणीत 'कुम्भ पर्व माहात्म्य' में 'कुम्भ' शब्द की कई व्याख्याएँ मिलती हैं, जो सनातन संस्कृति के इस महापर्व की महिमा का बखान अलग-अलग कोणों से करती हैं। ऐसी ही कुछ व्याख्याएँ हैं-

कुं भूमिं कुत्सितं उम्भति पूरयति जगद्धितायेति वा कुम्भः

अर्थात् पृथ्वी के कुत्सित दोषों को दूर करने वाले पर्व को कुम्भ कहते हैं, जिसके पीछे जगत् कल्याण की भावना होती है।

कुं पृथ्वीं उभ्यतेऽनुगृह्यते उत्तमोत्तममहात्मसङ्गमैः तदीयहितोपदेशैः यस्मिन् सः कुम्भः

अर्थात् श्रेष्ठ महात्माओं के सान्निध्य तथा उनके हितोपदेशों द्वारा पृथ्वी जिसमें अनुगृहीत होती है, वह कुंभ है।

कुं पृथ्वीं भावयति पोषयति विविधयागादिभिरिति वा कुम्भः

अर्थात् पृथ्वी (राष्ट्र) को विविध यागादि अनुष्ठानों द्वारा भावित और पुष्ट करने वाले पर्व को कुंभ कहते हैं।

कुं पृथ्वीं उम्भति पूरयति मङ्गलसम्मानादिभिरिति कुम्भः

अर्थात् पृथ्वी को मंगल, सम्मान आदि से पूर्ण करने वाले पर्व को कुंभ कहते हैं।

कुं पृथ्वीं भावयति दीपयति तेजोवर्द्धनेनेति वा कुम्भः

अर्थात् पृथ्वी को सुख प्रदान करने तथा तेजोवृद्धि द्वारा दीप्त करने वाले पर्व को कुंभ कहते हैं।

उपर्युक्त व्याख्याएँ कुम्भ पर्व के लोक मांगलिक आधार, आनुष्ठानिक महत्त्व एवं धार्मिक-सांस्कृतिक जागरण का स्पष्ट आभास कराती हैं, जिन्हें हम कुंभ पर्व के अवसर पर क्षेत्र, भाषा, पंथ आदि की सीमाओं को तोड़ते उसके समन्वयी रूप में सहज ही देख सकते हैं।

'कुंभ' शब्द के प्राचीन प्रयोग वेद, महाकाव्य एवं पुराणों में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। ऋग्वेद में यह शब्द विभिन्न सूक्तों, जैसे 1/8/92, 1/2/3/23 तथा 10/89/7 में, शुक्ल यजुर्वेद में सूक्त 19/53/3, सामवेद में सूक्त 6/3 एवं अथर्ववेद में सूक्त 19/53/3, 4/34/7 तथा 16/6/8 में प्रयुक्त हुआ है। इनमें से अथर्ववेद (4/34/7) से 'चतुरः कुंभाश्चतुर्धा ददामि' को उद्धृत कर कई विद्वानों ने इससे चार स्थानों पर सम्पन्न होने वाले कुंभ पर्व का तात्पर्य ग्रहण करने की बात कही है, जबकि उपर्युक्त वैदिक सूक्तों में 'कुंभ' शब्द स्नान पर्व का बोधक नहीं था। कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त सूक्तों से कुंभ के आध्यात्मिक निहितार्थों के संकेत दर्शाये हैं। महाभारत (1/25), रामायण (3/35/27/34), गरुड़पुराण (1/240/26-28), स्कन्दपुराण (4/1/50/55-125) में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु उनसे कुंभ पर्व की उत्पत्ति या स्वरूप पर प्रकाश नहीं पड़ता है। वायु पुराण (2/15/47) में कुंभ शब्द मृत्यु संस्कार करने के लिए पवित्र स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है। नारदीय पुराण (2/65/100) में यह शब्द सरस्वती के तट पर स्थित एक स्थान के लिए आया है, जहाँ स्नान करने से यज्ञ का फल मिलता है। वर्तमान में भारत के चार स्थानों पर सम्पन्न होने वाले कुंभ पर्व-स्नान को भी यज्ञ आदि अनुष्ठानों से अधिक फलदायी बताया जाता है। संभव है उत्तर वैदिक काल में सामान्य जन के लिए यज्ञ के सहज विकल्प के रूप में तीर्थ-स्नान की परम्परा को महत्त्व मिलने लगा हो और वही कुंभ जैसे महापर्व की प्रतिष्ठा का कारण बना। उपर्युक्त साहित्यिक स्रोतों से यह स्पष्ट है कि वेदों में कुंभ जहाँ मात्र आध्यात्मिकता की ओर संकेत करता था, वहीं पुराणों तक आते-आते यह पुण्य फलदायी स्नान पर्व के रूप में प्रतिष्ठित होने लगा। कुंभ पर्व क्षीर समुद्र-मंथन के प्रसिद्ध पुराख्यान को अपनी पृष्ठभूमि में रखे हैं, साथ ही इसके पर्व-योगों के पीछे सुदूर अतीत से आती हुईं ज्योतिषशास्त्रीय मान्यताएँ काम कर रही हैं। फिर यह पर्व उत्तर वैदिक काल में वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा और प्रसार तथा गंगा-यमुना के क्षेत्र से लेकर विंध्य के दक्षिण (नासिक एवं कुंभकोणम्) तक अमृत की तलाश और पर्व-स्नान से जुड़ी धार्मिक-सांस्कृतिक आस्था का सुन्दर निदर्शन है।

कुंभ पर्व से सम्बद्ध पुराख्यान

कुंभ पर्व का सम्बन्ध समुद्र-मंथन के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान से है। इस आख्यान के बीज वैदिक वाङ्मय के देवासुर संघर्ष में मिलते हैं, वहीं इस आख्यान से जुड़े विष्णु, इन्द्र आदि देव तथा अन्य घटक सूत्र रूप में पूर्ववर्ती साहित्य में उपलब्ध हैं। देवासुर संग्राम और समुद्र-मंथन के आख्यान रामायण, महाभारत तथा विभिन्न पुराणों में वर्णित हैं, जिनमें प्रमुख हैं-पद्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, भागवत, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, देवीभागवत, स्कन्दपुराण आदि। पुराणों में वर्णित इस आख्यान में कुछ प्रसंगगत अन्तर दिखाई देते हैं, फिर भी उसके मूल घटनाक्रम में एकरूपता है। देव ओर असुरों का द्वन्द्व भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का बहुचर्चित प्रसंग रहा है। समुद्र-मंथन की पुराणोक्त कथा के अनुसार देव और असुरों के बीच निरंतर जारी वैमनस्य के बीच

एक बार समझौते की स्थिति बनी। पृथ्वी के समस्त तत्त्वों का अन्वेषण और उपभोग तो वे कर चुके थे, किन्तु विराट रत्नाकर (समुद्र) का अन्वेषण शेष था। समुद्र से अमृत सहित अमूल्य रत्नों को प्राप्त करने की आकांक्षा से समुद्र-मंथन की भूमिका बनी। इस महत् कार्य के लिए बड़े प्रयास की आवश्यकता थी। अतः स्वयं भगवान् विष्णु ने कूर्म (कछुआ) बनकर पीठ पर मन्दराचल को मथनी के रूप में धारण किया। नागराज वासुकि को रस्सी बनने के लिए संतुष्ट किया गया और उसके मुख भाग को असुरों ने तथा पूँछ के हिस्से को देवताओं ने ग्रहण कर मंथन आरम्भ किया।

परस्पर सहयोग और श्रम से किए गए इस मंथन से समुद्र ने अपना शीश झुका दिया और एक-एक कर लक्ष्मी, कौस्तुभ मणि, पारिजात पुष्प, वारुणी (सुरा), धन्वन्तरि, चन्द्रमा, गरल (कालकूट या हालाहल विष), शार्ङ्गधनुष, पांचजन्य शंख, कामधेनु गाय, रम्भा, उच्चैःश्रवा अश्व, ऐरावत हाथी और अमृत ये चौदह रत्न अर्पित किए। इन रत्नों के अतिरिक्त कुछ अन्य रत्नों की चर्चा भी पुराणों में मिलती है, जैसे-महापद्म निधि, पुष्पक विमान, विश्वकर्मा, हरिचंदन, मंदार आदि कल्पवृक्ष। स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड के अन्तर्गत केदार खण्ड में कुछ ओर रत्नों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें भाँग, काकड़ासिंगी, लहसुन, गाजर, अत्यधिक उन्माद कारक धतूर, पुष्कर आदि सम्मिलित हैं। महादेव शिव ने स्वयं हालाहल विष का पान करते हुए उसे कंठ में धारण किया तथा उसके भयावह प्रभाव से देव-दानवों की रक्षा की। लक्ष्मी ने विष्णु का वरण किया तथा अन्य रत्न विभिन्न देवों और ऋषियों को अपिर्त किए गए। धन्वन्तरि स्वयं अमृत कुंभ लेकर प्रकट हुए, जो देव और दानवों के बीच पुनः संघर्ष का कारण बना।

अमृत प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति के लिए किए गए समुद्र-मंथन से देव और असुर जहाँ अपार आनन्दित थे, वहीं उस पर वर्चस्व के लिए कूटनीति भी जारी थी। देवराज इन्द्र का पुत्र जयंत देवताओं के इशारे पर उस अमृत कुंभ को लेकर स्वर्ग की ओर भाग गया। असुर गुरु शुक्राचार्य के आदेश पर दैत्यगण जयंत से कलश छीनने के लिए उसके पीछे दौड़े। कलश को अपने अधिकार में करने के लिए देवताओं के बारह दिन अर्थात् मनुष्यों के बारह वर्ष तक यह संघर्ष चलता रहा। इस दौरान चार स्थानों पर कुंभ की छीना-झपटी में अमृत की बूँदे छलक पड़ीं। ये स्थान थे- तीर्थराज प्रयाग, हरिद्वार (विष्णुद्वार), अवन्ती और नासिक (गोदावरी तट)। अमृत से पवित्र इन्हीं चार स्थानों पर उस आख्यान की स्मृति से जुड़ा कुंभ महापर्व प्रति बारह वर्ष में आयोजित किया जाता है।

विष्णुद्वारे तीर्थराजेऽवन्त्यां गोदावरी तटे।
सुधाविन्दु विनिक्षेपात् कुम्भं पर्वेति विश्रुतम्॥

अमृत को लेकर देव और असुरों के बीच द्वन्द्व के दौरान एक स्थिति यह भी बनी कि असुरगण 'अमृत कुंभ' को लेकर पाताल लोक चले गए। तब विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर इस संघर्ष को समाप्त करने का प्रयास किया। असुरगण मोहिनी के अद्‌भुत सौंदर्य पर मुग्ध हो गए, तब मोहिनी ने देवों को अमृतपान कराना प्रारंभ किया। राहु ने देव पंक्ति में बैठकर अमृत पीने का प्रयास किया, उसी क्षण विष्णु ने अपने सुदर्शन चक्र से उसका सिर काट दिया। अमृत ग्रहण करने के कारण राहु का सिर अमर हो गया तथा उसका धड़ केतु के रूप में बदल गया। अंततः विष्णु ने असुरों का संहार कर उनके अत्याचारों से सभी लोकों को मुक्त करवाया और देवों को अमरता प्रदान की।

अनेक विद्वानों ने देवासुर संघर्ष के आख्यान में निहित प्रतीकों को तलाशने की भी कोशिश की है। भगवानसिंह का मत है कि यह मिथक भारत में कृषि जैसी अन्न उत्पादन प्रक्रिया के उद्‌भव का प्रतीक है। उनकी दृष्टि में देव और असुरों का संघर्ष कृषि के उद्‌भावकों और आखेटकों, प्रगतिशीलों और परम्परावादियों के बीच के द्वन्द्व का प्रतीक है। 'देव' शब्द की व्युत्पत्ति 'दिव्' से हुई है, जिसका अर्थ है अग्नि या प्रकाश। देवों के स्पर्धी उनसे जिन कारणों से परास्त होते थे, उनमें से एक मुख्य कारण उनका अग्नि के प्रयोग से अपरिचित रहना था। (भगवानसिंह, द वैदिक हड़प्पन्स, पृ. 79-81) देवासुर संघर्ष एवं समुद्र-मंथन से जुड़ी इसी तरह की कई व्याख्याएँ मिलती हैं, जो इस पुराख्यान की प्रतीकीय संभावनाओं की ओर संकेत करती हैं।

समुद्र-मंथन के आख्यान का भूगोल

समुद्र-मंथन के आख्यान से जुड़े कई भौगोलिक संदर्भ भी पुराणों में मिलते हैं। इनके आधार पर इस आख्यान के भौगोलिक परिदृश्य का अनुमान लगाया जा सकता है। अमृत प्राप्ति हेतु 'क्षीर सागर' का मंथन किया गया था, जिसे पुराणों में शाकद्वीप को घेरे हुए वर्णित किया गया है। इस शाकद्वीप की पहचान कुछ विद्वानों ने भारत के उत्तर-पश्चिम में ईरान में स्थित सेइस्तान (शकस्थान) के रूप में की है। (डॉ. सर्वानंद पाठक, विष्णुपुराण का भारत, पृ. 50) इससे स्पष्ट होता है कि पुराणकारों ने भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में क्षीरसमुद्र की परिकल्पना की थी, जो सिंधु सभ्यता के निकट का ही क्षेत्र है।

इसी प्रकार विष्णु के कूर्मावतार का सम्बन्ध हिमालय की गोद में स्थित वर्तमान उत्तराखण्ड राज्य के कूर्माचल (कुमाऊँ) से जोड़ा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह अवतार चम्पावती नगरी से पूर्व में स्थित एक पर्वत पर हुआ था, जिसकी आकृति कूर्मवत् प्रतीत होती है। इसी तरह समुद्र-मंथन में मथानी के रूप में प्रयुक्त मंदराचल पर्वत की पहचान वर्तमान उत्तराखंड के तीर्थ बदरीनाथ के समीप स्थित एक पर्वत के रूप में की गई है। कुछ पुराणों के अनुसार बदरीकाश्रम का नर और नारायण मंदिर मंदराचल पर स्थित है। जबकि महाभारत (वन पर्व) के अनुसार मंदराचल गंधमादन पर्वत के पूर्व में तथा बदरीकाश्रम के उत्तर में है। (नन्दूलाल डे : द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एंशिएंट एंड मिडिएवल इंडिया, पृ. 124) ये दोनों स्थान हिमालय पर्वत शृंखला में परिकल्पित किए गए हैं, जिसे भारतीय वाङ्मय में देवतात्मा के रूप में प्रतिष्ठा मिली हुई है।

ब्रह्माण्डपुराण में अमृत का वर्णन पुराणोक्त 'प्लक्षद्वीप' की चन्द्र पहाड़ी की वनौषधियों के रस के रूप में किया गया है। भागवत में 'प्लक्षद्वीप' के सात विभाजनों में से एक का नाम 'अमृत' बताया गया है। इसी तरह प्लक्षद्वीप की सात नदियों में से एक नाम अमृता बताया गया है। अधिकांश पुराणों में 'प्लक्षद्वीप' की चर्चा पृथ्वी के सात द्वीपों के अन्तर्गत की गई है। इस द्वीप को घेरे हुए इक्षु सागर (ईख के रस का सागर) बताया गया है। कुछ विद्वानों ने पौराणिक वर्णनों के आधार पर प्लक्षद्वीप का समीकरण वर्तमान अफगानिस्तान की काबुल नदी (सं.कुभा) के आसपास के क्षेत्र के रूप में किया है। (विष्णुपुराण का भारत, पृ. 44-45 एवं 50) एक अन्य मान्यता के अनुसार प्लक्षद्वीप वर्तमान कैस्पियन सागर के पश्चिम में भूमध्यसागर के आसपास का क्षेत्र रहा होगा। (द कल्चरल हैरिटेज ऑफ इंडिया, भाग 6, पृ. 8-11) इन मतभेदों के बाद भी यह तो स्पष्ट ही है कि समुद्र-मंथन के आख्यान का भौगोलिक परिवेश सुदूर पश्चिमी भारत या पश्चिम एशिया से जुड़ा हुआ है। वैदिक संस्कृति और सिंधु सभ्यता के भूगोल से इसकी निकटता सहज ही देखी जा सकती है। संभव है धन्वन्तरि या आयुर्वेदज्ञों के प्रयत्नों से पुराणोक्त 'प्लक्षद्वीप' की वनौषधियों से जीवनोपयोगी रस का अनुसंधान हुआ हो, जिसे दुर्लभ होने के कारण अमृत की संज्ञा मिल गई हो।

कुंभ पर्व-योग

अमृत कुंभ की रक्षा में चार देवताओं का विशेष श्रम और योगदान माना गया है। चन्द्रमा ने कुंभ को गिरने नहीं दिया, सूर्य ने कुंभ को फूटने नहीं दिया, बृहस्पति ने दैत्यों से उसकी रक्षा की और शनि ने इन्द्रादि देवताओं के भय से उसकी रक्षा की। इसीलिए इन ग्रहों के योग से कुंभ पर्व का योग होता है।

सूर्येन्दु गुरु संयोगस्तद्राशौ यत्र वत्सरे।
सुधाकुंभ-प्लवे भूमौ कुम्भो भवति नान्यथा।।

अर्थात् जिस वर्ष में सूर्य, चन्द्र और गुरु का उस अमृत-स्रवण के समय वाली राशि पर संयोग होता है, तभी पृथ्वी पर कुंभ पर्व होता है, अन्यथा नहीं।

पौराणिक मत के अनुसार देवासुर संघर्ष देवताओं के बारह दिन अर्थात् मनुष्यों के बारह वर्ष तक चला था। प्रत्येक वर्ष एक कुंभ अर्थात् बारह कुंभ पर्व होते हैं, जिनमें से आठ पर्व लोकान्तर में

देवताओं के होते हैं तथा पृथ्वी पर मनुष्यों के चार कुंभ होते हैं। विष्णुपुराण एवं अन्य ग्रंथों में विभिन्न ग्रहों की विशेष स्थिति के अनुसार कुंभ पर्व मनाए जाने का उल्लेख मिलता है।

हरिद्वार – *पद्मिनीनायके मेषे कुंभराशिगते गुरौ।*
गंगाद्वारे भवेद्योगः कुम्भनामा तदोत्तमम्॥

कुंभ राशि के गुरु में जब मेष राशि का सूर्य हो तब हरिद्वार (गंगाद्वार) पर कुंभ होता है।

प्रयाग – *मकरे च दिवानाथे वृषभे च बृहस्पतौ।*
कुम्भयोगो भवेत् तत्र प्रयागेह्यति दुर्लभः॥
माघेवृषगते जीवे मकरे चन्द्रभास्करौ।
अमावस्यां तदा योगः कुम्भाख्यस्तीर्थनायके॥

अर्थात् सूर्य जब मकर राशि के हों तथा गुरु वृषभ राशि पर, तब तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ पर्व का योग होता है। इसी प्रकार माघ का महीना हो, अमावस्या की तिथि हो, बृहस्पति वृष राशि पर हों तथा सूर्य-चन्द्र मकर राशि पर तब प्रयागराज में अत्यंत दुर्लभ कुंभयोग होता है।

नासिक– *सिंहराशिगते सूर्ये सिंहराशौ बृहस्पतौ।*
गोदावर्या भवेत्कुंभः पुनरावृत्तिवर्जनः॥

सिंह राशि के गुरु में जब सिंह राशि का सूर्य हो तब गोदावरी तट (नासिक) पर कुंभ पर्व होता है।

उज्जैन – *मेषराशिगते सूर्ये सिंहराशौ बृहस्पतौ।*
उज्जयिन्यां भवेत्कुंभः सर्वसौख्य विवर्धनः॥
मेषराशिगते सूर्ये सिंहराशौ बृहस्पतौ।
कुम्भयोगसविज्ञेयः भुक्तिमुक्ति प्रदायकः॥

सिंह राशि के गुरु में मेष का सूर्य आने पर उज्जयिनी में कुंभ पर्व मनाया जाता है। नासिक और उज्जयिनी के कुंभ पर्व सिंह राशि पर बृहस्पति के आने पर होते हैं, इसलिए यहाँ के कुम्भ महापर्वों को सिंहस्थ महापर्व के नाम से प्रसिद्धि मिली है। हरिद्वार, प्रयाग और नासिक में अर्द्धकुंभी भी होती है, लेकिन उज्जैन में इस प्रकार की परम्परा नहीं है।
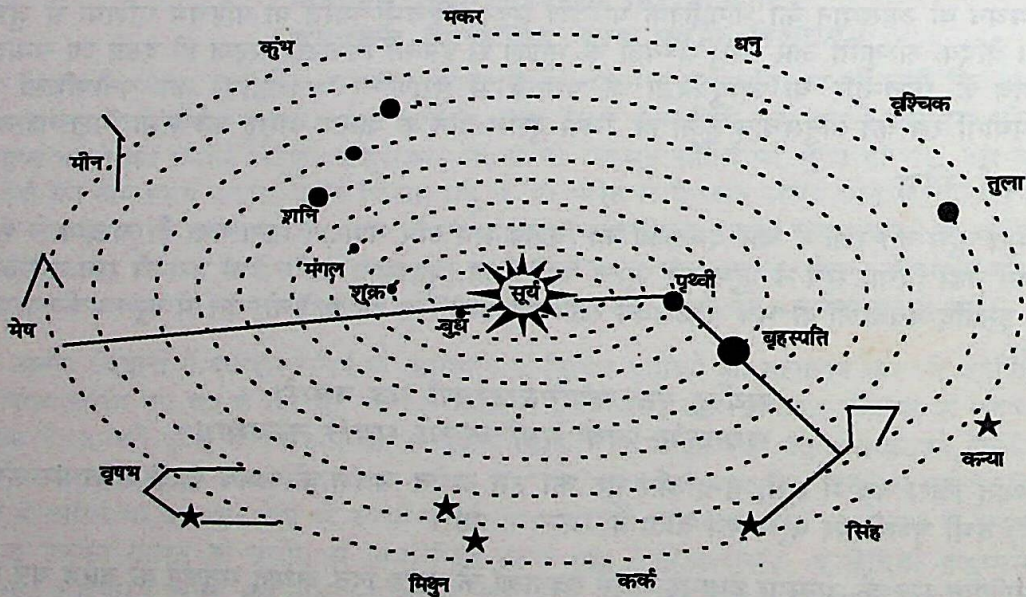
उज्जैन के सिंहस्थ-स्नान-योग एवं पंचक्रोशी यात्रा

उज्जयिनी के कुंभ या सिंहस्थ महापर्व के समय विशिष्ट पुण्यदायी योगों का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराण के अन्तर्गत 'सिंहस्थ माहात्म्य' के अनुसार ये योग हैं-

कुशस्थली तीर्थवरं देवानामपि दुर्लभम्।
माधवे धवले पक्षे सिंहे जीवे त्वजे रवौ॥
तुलाराशौ निशानाथे स्वातिभे पूर्णिमा तिथौ।
व्यतिपाते तु सम्प्राप्ते चन्द्रवासर संयुते।
कुशस्थली महाक्षेत्रे स्नाने मोक्षमवाप्नुयात्॥
एतेन दश महायोगाः स्नानान्मुक्ति फलप्रदा॥ (स्कन्दपुराण)

अर्थात् अवंतिका नगरी, वैशाख मास, शुक्ल पक्ष, सिंह राशि में गुरु, मेष राशि में सूर्य, तुला राशि में चन्द्र, स्वाति नक्षत्र, पूर्णिमा तिथि, व्यतिपात योग, सोमवार आदि दस पुण्यप्रद योग होने पर सिंहस्थ पर्व में शिप्रा स्नान करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इनमें से अधिकांश योग तो प्रति वर्ष प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन सिंह पर बृहस्पति बारह वर्ष में ही आते हैं।

ज्योतिषीय गणना के अनुसार प्रायः बारह वर्ष के अंतर से गुरु सिंह राशि पर आता है, अतः उज्जैन में प्रत्येक बारह वर्ष में सिंहस्थ पर्व मनाया जाता है। बृहस्पति सदैव बारह वर्ष में ही चक्र भ्रमण पूर्ण नहीं करता है, वरन् लुप्ताब्दवश चौरासी वर्ष में एक बार ग्यारह वर्ष के अंतर से ही चक्र के आरंभ में आ जाता है। इस तरह छह सिंहस्थ बारह-बारह वर्षों के अन्तर से तथा सातवें सिंहस्थ ग्यारह वर्ष के अन्तर से मनाए जाते हैं। ऐसा प्रसंग 1956-57 में और फिर 1968-69 में आया था। इसलिए प्रत्येक सातवाँ पर्व ग्यारह वर्ष के अन्तर से मनाए जाने से बृहस्पति का निर्दिष्ट राशि पर योग सदैव बना रहेगा। उज्जयिनी में होने वाले सिंहस्थ महापर्व की अवधि वैशाख मास की चैत्र पूर्णिमा से वैशाख पूर्णिमा तक रहती है, जिसमें प्रमुख स्नान पर्व निम्नानुसार होते हैं-

चैत्र शुक्ल पूर्णिमा (प्रथम शाही स्नान)
वैशाख कृष्ण अमावस्या (द्वितीय शाही स्नान)
वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया)
वैशाख शुक्ल पंचमी (शंकराचार्य जयंती)
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा (तृतीय शाही स्नान)

पूर्व सिंहस्थों में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को ही एकमात्र शाही स्नान होता था, वर्तमान में साधु-संन्यासियों द्वारा चैत्र शुक्ल पूर्णिमा और अक्षय तृतीया को भी शाही स्नान के रूप में मान्यता दे दी गई है। उज्जयिनी में प्रत्येक वर्ष होने वाली पंचक्रोशी यात्रा भी सिंहस्थ महापर्व के दौरान होती है, जिसका गौरव और अधिक बढ़ जाता है।

पंचक्रोशी यात्रा का उल्लेख स्कन्दपुराण में पंचेशानी यात्रा के नाम से मिलता है। पाँच दिवसीय इस यात्रा में पंच ईशान विग्रहों की प्रदक्षिणा एवं पूजा-अर्चना की जाती है। यह यात्रा वैशाख कृष्ण एकादशी से अमावस्या तक सम्पन्न होती है। पहले दिन रुद्रसागर में स्नान के बाद महाकालेश्वर के दर्शन से यात्रा की शुरूआत होती है। वर्तमान में इसकी शुरूआत नागचंद्रेश्वर दर्शन से होने लगी है। तदुपरांत क्रमशः पिंगलेश्वर, कायावरोहणेश्वर, विल्वकेश्वर तथा उत्तरेश्वर या दर्दुरेश्वर का पूजन करते हुए अंतिम दिन महाकालेश्वर के दर्शन-पूजन के साथ यात्रा का समापन होता है। महाकाल उज्जयिनी के केन्द्र में स्थित हैं तथा शेष चार शिवलिंग चार दिशाओं में नगर रक्षक की तरह हैं। इनकी प्रदक्षिणा के बाद अष्टतीर्थ यात्रा भी की जाती है।

शिप्रा स्नान की महिमा

स्कन्दपुराण में उज्जैन तथा शिप्रा की मुक्तकंठ से प्रशंसा की गई है। शिप्रा की उत्पत्ति से सम्बद्ध एक किंवदंती बहुप्रचलित है, जिसके अनुसार उज्जैन में अत्रि ऋषि ने तीन हजार वर्ष तक तपस्या

की। तपस्या के दौरान उन्होंने अपने एक हाथ को ऊपर उठाए रखा। तपस्या के बाद उन्होंने अपने नेत्र खोले तब देखा कि उनके शरीर से प्रकाश के दो स्रोत निकले, जिनमें से एक आकाश की ओर जाकर बाद में चन्द्र बन गया और दूसरे ने जमीन की ओर जाकर बाद में शिप्रा नदी का रूप धारण कर लिया।

शिप्रा को 'विष्णुदेहोद्भवा' भी कहा जाता है। स्कन्दपुराण में शिप्रा की उत्पत्ति का आख्यान मिलता है, जिसके अनुसार एक समय शिव ब्रह्म कपाल लेकर भिक्षा के लिए सभी लोकों में गए, किन्तु उन्हें भिक्षा नहीं मिली। तब वे कुपित हो भिक्षा के लिए बैकुंठ पहुँचे। वहाँ उन्होंने भगवान् विष्णु से भिक्षा की याचना की। विष्णु ने उन्हें तर्जनी अंगुली दिखाकर कहा कि मैं तुम्हें भिक्षा तो दे रहा हूँ, इसे स्वीकार करो। विष्णु की तर्जनी देख शिव क्रुद्ध हो गए। उन्होंने त्रिशूल से उनकी तर्जनी पर प्रहार कर दिया, जिससे रक्त धारा बह निकली। शिव के हाथ का कपाल रक्त-पूरित हो गया। कपाल के चारों ओर रक्त धारा बहने लगी, वही धारा शिप्रा नदी के रूप में प्रवाहित हो गई। वह विष्णुदेहोद्भवा शिप्रा तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गई।

शिप्रा की पौराणिक संज्ञाएँ ज्वरघ्नी, पापघ्नी और अमृतसम्भव भी हैं, जो क्रमशः बैकुंठ, यमद्वार और पाताल लोक से सम्बद्ध हैं। इसके ज्वरघ्नी नाम के पीछे कृष्ण और बाणासुर के संग्राम की गाथा है। युद्ध से आक्रांत बाणासुर शिव की शरण में गया। तब शिव ने उसकी रक्षा करने के लिए माहेश्वर ज्वर प्रकट कर श्रीकृष्ण और उनकी सेना की ओर उन्मुख कर दिया। इसके प्रत्युत्तर में कृष्ण ने वैष्णव ज्वर की सृष्टि की। दोनों ज्वरों में परस्पर युद्ध होने लगा। कुछ समय के बाद माहेश्वर ज्वर परास्त हो अपनी रक्षा एवं शांति के लिए महाकाल वन में आया और वहाँ प्रवाहित होने वाली शिप्रा नदी में निमग्न हो गया। वैष्णव ज्वर ने भी शिप्रा में प्रवेश कर शांति प्राप्त की। इस तरह विष्णु और शिव दोनों के द्वारा प्रयुक्त ज्वर शांत हो गए। ज्वरों के तत्क्षण नाश करने वाली नदी के रूप में इसका नाम ज्वरघ्नी हो गया।

शिप्रा के नामोच्चार भर से पाप मुक्ति और शिवत्व की प्राप्ति का आख्यान भी स्कन्दपुराण में मिलता है, जिसके आधार पर यह पापघ्नी कहलाई। एक गाथा के अनुसार नागों द्वारा संरक्षित अमृत के इक्कीस कुंडों का अमृत रस शिव ने अपने तीसरे नेत्र से पी लिया था। तब नागों ने विष्णु से प्रार्थना की। विष्णु के आदेश पर उन्होंने महाकाल वन में आकर महाकालेश्वर का पूजन-अर्चन किया और शिप्रा जल को ले जाकर रिक्त अमृत कुंडों में छिड़का। वे रिक्त कुण्ड अमृतमय हो गए। तब से शिप्रा अमृतोद्भवा भी कहलाने लगी। शिप्रा की उत्पत्ति और संज्ञा से जुड़े अधिकांश आख्यान वैष्णव एवं शैव दोनों पंथों के समन्वय की ओर इशारा करते हैं। समन्वय की यह धारा आज भी उज्जैन में जीवंत है। शिप्र-कुण्ड से उद्भव होने के कारण इसका नाम शिप्रा हुआ। इसकी दो अन्य संज्ञाओं में से एक 'सिप्रा' (करधनी) इसके प्रवाह पथ के मेखलाकार होने से जुड़ी है, तो दूसरी संज्ञा 'क्षिप्रा' जल प्रवाह की क्षिप्र गति का बोध करती है। वामन, मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, कूर्म, मत्स्य, नारद, ब्रह्म, स्कन्द आदि पुराणों में शिप्रा की महिमा का गान मिलता है। स्कन्द पुराण के अनुसार उत्तरवाहिनी शिप्रा सर्वत्र पुण्यदायी और पापहारिणी है-

शिप्रा च सर्वतः पुण्या पवित्रा पापहारिणी
अवन्त्यां च विशेषेण शिप्रा च उत्तरवाहिनी॥

कार्तिक एवं वैशाख मास में शिप्रा स्नान की विशेष महिमा कही गई है, जो आज भी लोक जीवन में मान्य है। स्कन्दपुराण के अनुसार-

कार्तिक चैव वैशाखे उच्चे नीचे दिवाकरो।
क्षिप्रा स्नानः प्रदुर्वीत क्लेश दुःख निवारणम्॥

उज्जैन के कुंभ योग से जुड़े कुछ प्रश्न

उज्जैन के कुंभ के सम्बन्ध में एक मान्यता यह भी मिलती है कि पूर्व में यह पर्व शिप्रा तट पर वृश्चिक राशिस्थ गुरु के अवसर पर आयोजित होता था, जो बाद में सिंहस्थ गुरु के अवसर पर होने

लगा। डॉ. राजबली पांडेय ने उज्जैन के कुंभपर्व का ग्रहयोग वृश्चिक राशिस्थ गुरु ही बताया है। उनका कथन है, ''जिस समय सूर्य तुला राशि पर स्थित हो और गुरु वृश्चिक राशि पर हो तब उज्जैन में कुंभ पर्व मनाया जाता है।'' (हिन्दू धर्मकोश, पृ. 190)। इस मान्यता के पक्ष में एक वृद्ध गृहस्थ के घर से मिले पुराने जीर्ण-शीर्ण कागज में अंकित श्लोक की भी चर्चा मिलती है। यह श्लोक 'श्री क्षेत्र अवन्तिका' पुस्तक में दिया गया है-'ईज्ये मेषादि याते प्रथम.........भवतु सुरनदी यत्र याते नमस्ते।' अर्थात् गुरु मेष राशि में हो.....(वाचन संभव नहीं), मिथुन राशि में काशी क्षेत्र, कर्क राशि में कावेरी नदी, सिंह राशि में गोदावरी, कन्या राशि में कृष्णा, तुला राशि में तुंगभद्रा, वृश्चिक रशि में विशाल क्षेत्र-शिप्रा तटवर्ती उज्जयिनी, धनु राशि में अयोध्या, मकर राशि में मलप्रभा, कुंभ राशि में कुंभकोणम् तथा मीन राशि के गुरु में मानसरोवर में गंगा का वास रहता है। इस उल्लेख के अनुसार पूर्व में बारह स्थानों पर पर्व होते थे और उनमें अलग-अलग राशियों पर गुरु की स्थिति से योग बनते थे। इनमें से तीन पर्व तो अब भी परम्परानुसार होते हैं-एक सिंहस्थ गुरु में गोदावरी तट पर दूसरा कुंभ राशिस्थ गुरु में कुंभकोणम् में तथा तीसरा कन्या राशि के गुरु में कृष्णा तट पर।

तमिलनाडु के तंजौर जिले में स्थित कुंभकोणम् (सं. कुंभघोण अर्थात् कुंभ की नासिका) में भी बारह वर्ष में महामखम् या महामहम् पर्व होता है, जिसके पीछे अमृत कुंभ से जुड़ी एक विशिष्ट पौराणिक कथा रही है। इसके अनुसार अमृत से भरा कुंभ प्रलय के समय कुंभकोणम् में आकर ठहर गया, जिसे शिकारी वेश में शिवजी ने अपने तीर से फोड़ दिया। कुंभ की नासिका (घोण) के फूटने से अमृत भूमि पर फैल गया। उससे निर्मित 'महामखम् सरोवर' अमृतमय और पुण्यदायी होने के कारण सदियों से लोक आस्था का केन्द्र बना हुआ है। इस सरोवर को चैतन्यचरितामृत (2/9) में 'कुंभकर्ण कपाल' के नाम से वर्णित किया गया है। वैसे तो कुंभकोणम् में प्रतिवर्ष सामान्य मखम् उत्सव होता है, किन्तु बारह वर्षों में यह कुंभ पर्व की तरह माघ महीने में महामखम् महापर्व के रूप में आयोजित होता है, इसीलिए इसे दक्षिण भारत का कुंभ कहा जाता है। इसका मुख्य स्नान माघी पूर्णिमा को होता है। मखम् माघ का ही रूप है। वहाँ कुंभेश्वर महादेव की अर्चना की जाती है, जिनकी प्रतिमा कुंभ के आकार की है। कभी यह नगर चोल साम्राज्य की राजधानी रहा है। यहाँ आयोजित 'महामखम्' में दक्षिण भारत के विभिन्न भागों से तीर्थ यात्री बड़ी संख्या में आते हैं। उज्जैन में आयोजित सिंहस्थ पर्व के पूर्व माघ महीने (फरवरी-मार्च) में कुंभकोणम् का महामखम् सम्पन्न होता है। 13 फरवरी को कुंभ संक्रांति होती है, जो कुंभ पर्व की परम्परा में कुंभकोणम् के विशेष महत्त्व को द्योतित करती है। वर्तमान में उज्जैन का कुंभ सिंहस्थ गुरु के अवसर पर होता है। संभव है अतीत में यह पर्व उपर्युक्त श्लोक के अनुरूप वृश्चिक राशिस्थ गुरु के अवसर पर ही होता रहा हो।

उज्जैन के कुंभ के वर्तमान में प्रचलित समय को लेकर डॉ. डी.पी. दुबे (इलाहाबाद) ने भी अपने सम्पादित ग्रंथ 'कुंभ मेला : पिलग्रिमेज टू द ग्रेटेस्ट कॉस्मिक फेयर' (2001) में कुछ प्रश्न उठाए हैं। उनकी मान्यता है कि कुंभ को प्रत्येक तीन वर्षों के अंतराल से क्रमशः हरिद्वार (चैत्र माह में), प्रयाग (माघ में), नासिक (भाद्रपद में) और उज्जैन (वैशाख या कार्तिक) में होना चाहिए। किन्तु यह स्थिति व्यवहार में नजर नहीं आती है। हरिद्वार, प्रयाग और नासिक में तो यह मेला क्रमशः, तीन-तीन वर्ष के अंतराल से होता है, किन्तु उज्जैन और नासिक के कुंभ मेले के बीच तीन वर्ष का अंतराल नहीं रहता। वे एक ही वर्ष के अन्दर मनाए जाते हैं। इन दोनों में सिंह राशिस्थ गुरु का संयोग रहता है जो बारह वर्ष में एक बार ही आता है। डॉ. दुबे ने तीन-तीन वर्ष के अन्तराल से जुड़ी समस्या का समाधान करने के लिए अपना मत प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार उज्जैन का कुंभ मेला कार्तिक मास में होना चाहिए, जबकि गुरु, सूर्य और चन्द्र तुला राशि में हों। उन्होंने खगोलशास्त्रीय दृष्टि से भी विभिन्न कुंभयोगों की विवेचना की है और उज्जैन के कुंभ को कार्तिक मास में वैकल्पिक खगोलीय संयोग के आधार पर मनाने का परामर्श दिया है। उनकी इस मान्यता के आधार में कोई स्पष्ट शास्त्रीय प्रमाण तो नहीं है, जो उज्जैन के कुंभ की स्थिति कार्तिक मास में सिद्ध कर सके। यह अवश्य है कि आज भी उज्जैन में प्रतिवर्ष कार्तिक में शिप्रा स्नान और मेले का आयोजन होता है, जिसमें अंचल के श्रद्धालुओं की भीड़ जुटती है। कभी वह मेला बारह वर्ष के अंतराल से

होने वाले कुंभ पर्व के रूप में मनाया गया हो, इसके प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। वस्तुतः कोई भी पर्व शास्त्रीय प्रमाणों के साथ लोक आस्था के सहकार से ही संभव होता है। इस दृष्टि से उज्जैन के सिंहस्थ की वर्तमान स्थिति को परिवर्तित करने का कोई कारण नहीं है।

सिंहस्थ स्नान पर्व के लिए विभिन्न ग्रंथों में जिन योगों की चर्चा मिलती है, उनमें सूर्य के मेष राशि में होने तथा सिंहस्थ गुरु होना आवश्यक है। यह संयोग सामान्यतः बारह वर्ष के अंतराल में वैशाख मास (अप्रैल-मई) में ही आता है। स्कन्दपुराण सहित अनेक ग्रंथों में वैशाख में शिप्रा स्नान अत्यन्त पुण्यदायी माना गया है। इसी तरह सूर्य के मेष राशि में संक्रमण तथा सिंह के गुरु में होने पर स्नान-दान-पुण्य का विशेष महत्त्व है। वैशाख मास शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा, तृतीया (अक्षय तृतीया), एकादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी को यात्रा, स्नान, दान-पुण्य आदि शुभ फलदायी माने गये हैं। स्कन्दपुराणकार तो यह भी कहते हैं कि स्नान की बात तो अलग है ही, शिप्रा के दर्शन मात्र से पापों का नाश हो जाता है-'सोमयुक्तां नदीं शिप्रा दृष्टवा पापं व्यपोहति।' अवन्ती क्षेत्र माहात्म्य (स्कन्दपुराण) में उल्लेख मिलता है कि तीर्थ स्नान आदि पुण्य कार्यों के लिए पंचसकार योग मिल जाए तो वह विशेष पुण्यदायी बन जाता है। यह पंचसकार योग शिप्रा तट को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है-

सर्वत्र दुर्लभा सिप्रा सोमं सोमग्रहस्तथा।
सोमेश्वरः सोमवारः सकाराः पञ्च दुर्लभाः॥

स्पष्ट है कि वर्तमान में उज्जैन में आयोजित सिंहस्थ महापर्व से जुड़े योग कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उनके निर्धारण में स्पष्ट संगति दिखाई देती है। जब सामान्य वर्षों में वैशाखी पूर्णिमा एवं वैशाख मास के अन्य दिनों में शिप्रा स्नान का महत्त्व माना जाता है, तब सिंहस्थ के दौरान उनका महत्त्व बहुगुणित होना स्वाभाविक है। शास्त्रों के साथ लोक आस्था भी इन्हीं योगों का समर्थन करती है। फिर यह भी उल्लेख्य है कि कार्तिक, माघ और वैशाख इन तीन मासों में विभिन्न पुण्य क्षेत्रों में स्नान एवं दान-पुण्य का अपना महत्त्व है, किन्तु कुंभ स्नान से जो फल मिलता है, वह उनकी तुलना में कई गुना अधिक माना गया है। विष्णुपुराण का कथन है-

सहस्रं कार्त्तिके स्नानं माघे स्नानं शतानि च।
वैशाखे नर्मदा कोटिः कुम्भस्नानेन तत्फलम्॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
लक्षप्रदक्षिणाः भूम्याः कुम्भस्नानेन तत्फलम्॥

अर्थात् हजारों कार्त्तिक स्नान, सैकड़ों माघ स्नान तथा करोड़ों बार वैशाख में नर्मदा स्नान से जो पुण्य प्राप्त होता है, वही पुण्य कुम्भ पर्व पर मात्र एक बार स्नान करने से प्राप्त हो जाता है। इसी तरह हजारों अश्वमेध, सैकड़ों वाजपेय यज्ञ तथा पृथ्वी की लाखों प्रदक्षिणा करने से जो फल मिलता है, वह कुम्भ स्नान करने भर से मिल जाता है।

उज्जैन में वैशाख मास में शिप्रा स्नान का वही महत्त्व माना गया है, जो माघ में प्रयाग तीर्थ पर तथा कार्तिक में पुष्कर तीर्थ में स्नान का है-

प्रयागे माघमासे तु पुष्करं कार्त्तिके तथा।
अवन्ति माधवे मासे पापं हन्यात् युगार्जितम्॥

अर्थात् प्रयाग में माघ मास के स्नान, पुष्कर में कार्त्तिक मास के स्नान तथा अवन्तिका में वैशाख मास के स्नान से युगों में अर्जित पाप भी विनष्ट हो जाते हैं। यह श्लोक भी उज्जयिनी के सिंहस्थ के वैशाख मास में ही होने का महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है।

अमृत वितरण की नगरी उज्जयिनी

उज्जयिनी का सम्बन्ध अमृत कुंभ से अमृत के छलकने के पुराणोक्त प्रसंग के साथ ही विभिन्न रत्नों के वितरण के आख्यान से भी है। स्कन्दपुराण के आवन्त्य खण्ड में अमृत मंथन के साथ ही उसके वितरण की भी कथा मिलती है। इस आख्यान से ही उज्जयिनी के एक नाम 'पद्मावती' का

सम्बन्ध है। इस आख्यान के अनुसार समुद्र-मंथन के उपरान्त देव-दानवगण अमृत आदि रत्नों को लेकर माहेश्वर वन (उज्जयिनी स्थित महाकाल वन) चले गए, जहाँ रत्नों के विभाजन और अमृत वितरण के प्रश्न को लेकर देव-दानवों में विवाद हो गया। तब विष्णु मोहिनी रूप धारण कर उनके बीच पहुँच गए। मोहिनी के रूप-सौन्दर्य से दैत्यगण मुग्ध हो गए। मोहिनी ने देवताओं को अमृतपान कराना प्रारम्भ किया, तब राहु भी देव पंक्ति में आकर बैठ गया। उसने जिस क्षण अमृत पान का प्रयत्न किया, विष्णु ने अपने चक्र से उसका सिर काट दिया। राहु का मस्तक अमर हो गया। राहु के रक्त-स्राव का स्थान महत् तीर्थ हो गया। महाकाल वन स्थित इस तीर्थ के स्नान एवं दर्शन से राहु पीड़ा के नाश का उल्लेख भी स्कन्द पुराण में मिलता है। उज्जयिनी में ही समुद्र-मंथन से प्राप्त रत्न देवताओं को मिले थे। रत्नों को प्राप्त कर देवताओं ने कहा कि इस नगरी में हम सब रत्नों के भोगी हुए हैं, अतः पद्मा अर्थात् लक्ष्मी यहाँ सदैव निश्चल निवास करेंगी और तभी से इसका एक नाम 'पद्मावती' हो गया। (स्कन्दपुराण, आवन्त्य खंड, अवन्ती क्षेत्र-माहात्म्य, अध्याय 44)।

उज्जयिनी के दो अन्य नामों 'अमरावती' और 'अवन्तिका' की पृष्ठभूमि में भी देवासुर संघर्ष और अमृत-मंथन के आख्यान प्रभावकारी रहे हैं। स्कन्द पुराण के अनुसार देवासुर युद्ध में देव पराजित हो गए थे, तब उन्होंने विष्णु के पास मेरु पर्वत पर आश्रय लिया। विष्णु ने उन्हें शक्ति और अक्षय पुण्य प्राप्त करके उज्जयिनी (कुशस्थली) में जाकर रहने को कहा। महाकाल वन में स्थित यह नगरी प्रत्येक कल्प में देवता, तीर्थ, औषधि, बीज और सम्पूर्ण प्राणियों के पालन और रक्षण में समर्थ होने के कारण अवन्तिका या अवन्ती नगरी कहलाई। 'अमरावती' नामकरण के पीछे स्कन्द पुराणोक्त कश्यप का आख्यान रहा है। इसके अनुसार कश्यप ने अपनी पत्नी के साथ महाकाल वन में कठोर तपस्या की और वरदान पाया कि सूर्य-चन्द्र की स्थिति तक पृथ्वी पर उनकी संतति अवश्य रहेगी। तब महाकाल वन सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त हो गया। यहाँ पर समुद्र-मंथन से प्राप्त दुर्लभ रत्न आदि हैं। अमृत कण के छलकने और देवताओं के वास के कारण इसका अमरावती नाम सार्थक हो गया। उज्जयिनी के 'हिरण्यवती' (सुवर्ण से सम्पन्न) और 'भोगवती' (भोगों से युक्त) जैसे नाम भी समुद्र-मंथन से प्रकट हुईं श्री की देवी लक्ष्मी तथा कौस्तुभ मणि आदि रत्नों से इस स्थान की सम्बद्धता का बोध कराते हैं।

अतीत से वर्तमान तक कुंभ पर्व

कुंभ पर्व से जुड़े पुराख्यान के बीज वेदों में वर्णित देवासुर संघर्ष में सहज ही विद्यमान हैं। इसी संघर्ष से जुड़ा समुद्र-मंथन का आख्यान उत्तर वैदिक काल में वैष्णव धर्म की लोकप्रियता के साथ-साथ विकसित हुआ, जिसमें विष्णु अपने दूसरे अवतार कूर्मावतार के साथ ही धन्वन्तरि तथा मोहिनी रूप में उपस्थित होकर असुरों से अमृत कुंभ की रक्षा करते हैं और इन्द्र सहित देवों को अमृत पान कराते हैं। वेदोक्त इन्द्र (देवेंद्र) और विष्णु (उपेन्द्र) की बदली हुई स्थिति का स्पष्ट संकेत समुद्र-मंथन के इस आख्यान में निहित है, जिसकी पुष्टि रामायण, महाभारत, विभिन्न पुराणों तथा वैष्णव आगम ग्रंथों से भी होती है। कुंभ पर्व की उत्पत्ति के स्पष्ट प्रमाण न तो वैदिक वाङ्मय, महाकाव्य, पुराणों और धर्मशास्त्रों में उपलब्ध हैं और न प्राचीन अभिलेखों में, किन्तु विभिन्न साक्ष्यों से ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं कि यह पर्व सुदूर अतीत से जारी है और कुंभ मेले रूप में इसकी प्रतिष्ठा मध्य युग में हुई है।

कुंभ पर्व की प्रतिष्ठा के पार्श्व में गंगा नदी के प्रति पुरातन शास्त्रों और लोक के दृष्टिकोण का विशेष योगदान रहा है, क्योंकि कुंभ से जुड़े दो स्थान हरिद्वार और प्रयाग गंगाघाट पर ही स्थित हैं। गोदावरी नदी भी दक्षिण गंगा के रूप में प्रसिद्ध है, जिसके तट पर नासिक का कुंभ होता है। इसी तरह कई पौराणिक आख्यानों में उत्तरवाहिनी शिप्रा का सम्बन्ध विष्णु और गंगा से दर्शाया जाता है, जिसके तट पर उज्जैन का कुंभ पर्व सम्पन्न होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि सुदूर अतीत में कुंभ पर्व संभवतः केवल हरिद्वार (विष्णुद्वार) में ही होता रहा होगा, क्योंकि वहीं यह पर्व कुंभ राशि पर गुरु के आने पर होता है और शेष तीन स्थानों पर इसकी शुरूआत बाद में हुई होगी। राशि की दृष्टि

से यह मान्यता अवश्य युक्तिसंगत लगती है, किन्तु 'अमृत कुंभ' के आख्यान से इस बात की पुष्टि नहीं होती है, जिसमें भूलोक के चार स्थानों पर कुंभ पर्व के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

उज्जैन के कुंभ (सिंहस्थ) की प्राचीनता से जुड़े एक आख्यान का सम्बन्ध महाभारत काल से है। इसके अनुसार कृष्ण के गुरु सांदीपनि काशीवासी थे। द्वापर में वे प्रभास क्षेत्र से लौटते हुए उज्जैन आए थे। तब उज्जैन में दैवयोग से कुंभ (सिंहस्थ) पर्व का समय था। भीषण ग्रीष्म एवं अनावृष्टि के कारण उन दिनों यहाँ भयावह अकाल पड़ा हुआ था। जगह-जगह से साधु-महात्माओं के समूह आए हुए थे, किन्तु महर्षि सांदीपनि की तेजस्विता और ज्ञानगौरव से यहाँ के निवासी विशेष आकृष्ट हुए। उन्होंने महर्षि को अपने कष्ट से मुक्ति की प्रार्थना की। महर्षि ने लोक मंगल के लिए घोर तप किया और भगवान् महाकाल से इस क्षेत्र के कल्याण का वर पाया। भगवान् शिव ने सांदीपनि को आदेश दिया कि वे यहीं निवास करें और विद्यादान द्वारा भावी पीढ़ी को शिक्षा देकर विश्व कल्याण के लिए अग्रसर करें। इसी कारण सांदीपनि ने अपना आश्रम यहीं स्थापित किया था। इस अनुश्रुति की पुष्टि शैवपुराण की पूर्वभागरूप 'ईश्वर संहिता' के पैंतीसवें अध्याय और आगम तंत्र से सम्बद्ध 'सांदीपनि मुनि चरित्र स्तोत्र' (अनुवाद-प्रो. बाबूलाल शुक्ल शास्त्री) से होती है। 'ईश्वर संहिता' में उल्लेख मिलता है कि कुंभ के दौरान सांदीपनि मुनि अवन्ती आए थे। तब अनावृष्टि से परेशान यहाँ के लोगों के कष्ट को दूर करने के लिए सांदीपनि ने शिव की घोर तपस्या की। पार्वती के अनुरोध पर शिवजी महाकाल के लिंग से प्रकट हुए और इच्छित वर माँगने के लिए महर्षि से कहा। सांदीपनि ने दुर्भिक्ष से इस पुरी को मुक्त करने की प्रार्थना की। तब शिव ने वरदान दिया कि इस पुरी में अब दुर्भिक्ष का कष्ट कभी नहीं रहेगा तथा यह देश 'मा-लव' नाम से प्रसिद्ध होगा। तुम भी अर्चना करते हुए यही बस जाओ। तुम्हारे शिष्य श्रीकृष्ण और बलराम तुम्हारे मृतपुत्र को यम से लेकर तुम्हें देंगे। तभी से मालवा अकालमुक्त हो गया और सांदीपनि यहीं बस गए। महर्षि सांदीपनि और श्रीकृष्ण से जुड़ी कई कथाएँ ब्रह्मपुराण, गर्ग संहिता एवं अन्य पुराणों में भी मिलती हैं, जिनमें उज्जयिनी की महिमा का भी गान हुआ है। अन्य ग्रंथों में भी सांदीपनि के तीर्थ-यात्रा प्रसंग में उज्जैन आने का उल्लेख मिलता है।

एक मान्यता के अनुसार नासिक और उज्जैन के कुंभ पर्व अगस्त्य ऋषि द्वारा प्रवर्तित हैं। अगस्त्य का जन्म कुंभ से माना जाता है 'अगस्त्य कुंभ संभवः।' नासिक एवं उज्जैन के कुंभ इसी कारण एक ही वर्ष में होते हैं। नासिक में प्रायः उदयकालिक एवं उज्जैन में अस्तकाल में अगस्त्य को अर्घ्य प्रदान किया जाता है। उज्जैन की चौरासी महादेवों की यात्रा में प्रथम पूजा अगस्त्येश्वर महादेव की ही होती है। (उज्जयिनी : प्रतिकल्पा, पृ. 48)।

कुंभ की प्राचीनता से जुड़े एक साक्ष्य का सम्बन्ध प्रयाग के कुंभ से है। इसके अनुसार चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग सातवीं शताब्दी (629-645 ई.) में भारत आया था। उसने अपने यात्रा वृत्त में सम्राट हर्षवर्द्धन द्वारा प्रयाग के त्रिवेणी तट पर आयोजित छठे पंचवर्षीय दान महोत्सव का उल्लेख किया है, जिसमें लगभग पाँच लाख श्रद्धालु एकत्र हुए थे तथा एक माह तक यह उत्सव चलता रहा। यह एक पुरातन उत्सव था, जिसमें सम्राट हर्षवर्द्धन अपने राज्यकाल के प्रत्येक पाँच वर्ष में सम्मिलित हुए। इस उत्सव में हर्ष के मंत्रियों से लेकर भिक्षुओं तक की सहभागिता रहती थी। इसमें शामिल लोगों में विभिन्न धर्म और सम्प्रदायों के प्रमुखों के साथ ही दार्शनिक, विद्वान् और आध्यात्मिक संत भी थे। इस दानोत्सव में हर्ष ने अपना सारा राजकोष, यहाँ तक कि अपने बहुमूल्य वस्त्र तक संतों, बौद्ध भिक्षुओं और गरीबों को दान में अर्पित कर दिए थे। 644 ई. में हुए इस उत्सव को कुछ विद्वानों ने प्रयाग के अर्द्धकुंभ के रूप में स्वीकार किया है, जो आज भी प्रत्येक पाँच वर्ष के अंतराल में होता है। (सुभाष राय : कुंभ मेला, पृ. 59-60) इस उत्सव की शुरूआत हर्ष ने नहीं की थी, किन्तु यह अवश्य है कि उसने आम जनता में धार्मिक आस्था और सद्भाव के संचार के लिए महत्त्वपूर्ण दिशा दी थी। हर्ष के बाद इस परम्परा के जारी रहने के कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं।

कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि कुंभ पर्व की परंपरा तो अत्यन्त प्राचीन है, उसे सुगठित रूप देने में आदि शंकराचार्य (788-820 ई.) की अहम भूमिका रही है। जिस तरह उन्होंने चार

मुख्य तीर्थ स्थानों पर चार पीठ स्थापित किए थे, उसी तरह चार तीर्थ स्थानों पर आयोजित कुंभ पर्व में साधुओं की भागीदारी की परिपाटी का सूत्रपात किया। इन पर्वों के जरिए वे अलग-अलग क्षेत्र, पीठ और पंथों के आचार्यों को समवेत रूप में एकत्र कर उनके धर्मोपदेशों का लाभ सामान्यजन को दिलाना चाहते थे। आज भी कुम्भ मेलों में शंकराचार्य मठ से सम्बद्ध आचार्य संत समुदाय सहित सम्मिलित होते हैं। विभिन्न अखाड़ों और सम्प्रदायों के साधुओं के कुंभ पर्व में शामिल होने की शुरूआत भी मध्यकाल में ही हुई है। वैसे तो आदि शंकराचार्य के पूर्व भी कुंभ पर्व की परम्परा रही है, किन्तु इसे व्यवस्थित रूप देने में उनके प्रयास महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

पुराणोक्त कुंभ की परम्परा सें उज्जयिनी का गहरा सम्बन्ध रहा है, लेकिन परमार काल के पश्चात् लगभग छह सौ वर्षों तक अवंती परिक्षेत्र में विदेशी सत्ता की वर्चस्वशाली उपस्थिति के कारण यह पर्व लोक परम्परा के अंग के रूप में ही मनता रहा। एक प्राचीन प्रमाण से वृश्चिक राशि पर गुरु होने पर इस पर्व के होने का उल्लेख मिलता है। ऐसा माना जाता है कि बाद में सिंहस्थ गुरु में नासिक तीर्थ में एकत्रित साधु समाज उज्जैन आकर वैशाख शुक्ल पूर्णिमा के पवित्र पर्व का स्नान करने लगे जो उज्जैन में भी सिंहस्थ पर्व का कारण बना। मध्य युग में इसके लिए राजसत्ता की ओर से कोई प्रबंध या सहायता का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु मालवा में मराठा शक्ति के उदय के साथ यह स्थिति बदली। सन् 1732 में राणोजी शिन्दे ने इस परिक्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित करने के बाद दीवान रामचन्द्र बाबा सुखठणकर (शेणवी) के माध्यम से उज्जैन के सिंहस्थ को सुचारु रूप से मनाने की व्यवस्था की। भास्कर रामचन्द्र भालेराव के अनुसार, ''महाराजा राणोजी के समय से ही सिंहस्थ का मेला योग्य रूप में भरने लगा, क्योंकि महाराष्ट्र के नासिक में एकत्रित साधुओं को उज्जैन के शिन्दे वंश द्वारा खास तौर पर आमंत्रित किया गया और सिंहस्थ गुरु के योग पर मेला होने की प्रथा प्रचलित होने लगी। उसी समय से प्रति बारहवें वर्ष सिंहस्थ का सांस्कृतिक समारोह शिन्देशाही की ओर से अविचल रूप से सम्पन्न होता रहा है।'' (उज्जयिनी दर्शन, 1957 ई., पृ. 105) कालान्तर में शिंदे राजवंश के महादजी, जनकोजी, जयाजीराव, माधवराव, जीवाजीराव आदि शासकों ने भी सिंहस्थ की व्यवस्थाओं में पर्याप्त रुचि दिखाई और यह मेला धार्मिक जन जागरण का महत्त्वपूर्ण अवसर बनने लगा। स्वतंत्र भारत में भी इससे जुड़ी राजकीय व्यवस्था की परम्परा का निर्वाह जारी है और देशी-विदेशी पर्यटकों और श्रद्धालुओं का इसकी ओर आकर्षण क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

आधुनिक युग में उज्जैन के सिंहस्थ का इतिहास 1850 ई. के आसपास से मिलने लगता है। 30 अप्रैल 1850 ई. के मालवा अखबार में अवन्ती परिक्षेत्र में मेले के आयोजन का उल्लेख मिलता है। यह मेला वैशाख मास में ही हुआ था और गुरु भी सिंह राशि में थे। इसलिए संभावना है कि यह सिंहस्थ का मेला ही था। उस मेले में सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर से श्रद्धालुओं का आगमन हुआ था, इस बात का भी उल्लेख मिलता है। अखबार में प्रकाशित समाचार इस प्रकार है, ''महदपुर की खबर.........के और उज्जैन के खतों से मालूम हुआ कि वहाँ हैजे की बीमारी जारी है। सैकड़ों आदमी उसमें फँसते हैं। अगर यही हाल रहा तो मालूम होता है कि उज्जैन का मेला अच्छा नहीं होगा। दूर-दूर से आदमी (स्नानार्थी) आकर जो उज्जैन में इकट्ठे हुए हैं, सो अजब नहीं कि इससे वहाँ हैजे का जोर हो गया हो।'' (मालवा अखबार, जिल्द 2, नं. 18, पृ. 138, मंगलवार, 30 अप्रैल 1850 ई.)

इसके बाद सन् 1897 ई. के सिंहस्थ मेले का उल्लेख ग्वालियर रियासत के प्रकाशन 'तर्जुमा रियासत ग्वालियर' तथा 'ग्वालियर स्टेट गजेटियर' में मिलता है। 1850 ई. से 1897 ई. के मध्य संन् 1862,1873 तथा 1885 ई. में स्नान पर्व हुए थे, किन्तु उनका उल्लेख प्राप्त नहीं है। 1897 ई. का सिंहस्थ स्नान उज्जैन में नहीं हुआ था। उस वर्ष साधु-संत समाज उज्जैन में समुचित व्यवस्था के अभाव में सिंधिया राज्य की सीमा से बाहर होल्कर राज्य के शिप्रा तटवर्ती महिदपुर चले गए थे, जहाँ यह मेला धूर्जटेश्वर (धूलटेश्वर) महादेव के मंदिर के पास शिप्रातट पर लगा था। तत्कालीन सिंधिया शासक ने साधु समाज से अनुनय-विनय कर उनका क्रोध शांत किया और तब साधु-संतों ने वैशाखी पूर्णिमा का मुख्य स्नान उज्जैन आकर किया।

उस घटना के बाद 1909 ई. से सिंहस्थ से जुड़ी राजकीय व्यवस्था में क्रमशः सुधार होता गया। सन् 1921 तथा 1933 ई. के सिंहस्थ में अपेक्षाकृत कम ही श्रद्धालुगण सम्मिलित हुए थे। 1945 ई. का सिंहस्थ पर्व द्वितीय महायुद्ध की छाया से ग्रस्त रहा। पं. सूर्यनारायण व्यास के सम्पादन में प्रकाशित 'विक्रम' पत्रिका के सिंहस्थ अंक (मार्च 1945) में इस आशय की सूचना छपी थी, "**उज्जैन की सिंहस्थ यात्रा स्थगित :** उपरोक्त यात्रा में जाने की इच्छा रखने वाले यात्रियों को उनकी सुविधा की दृष्टि से सूचित किया जाता है कि खाद्य पदार्थों की न्यूनता तथा युद्धजन्य यातायात की कठिनाइयों के कारण ग्वालियर गवर्नमेंट ने उज्जैन की सिंहस्थ यात्रा को, जिसका दूसरा पर्व इस वर्ष मार्च से जून तक होने वाला है, स्थगित रखे जाने का निश्चय किया है।" (विक्रम, सिंहस्थ अंक, मार्च 1945 ई., पृ. 29) इस तरह की सूचनाओं के बावजूद 1945 ई. का सिंहस्थ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा। इस बात की ओर संकेत स्वयं पं. सूर्यनारायण व्यास ने अपने सम्पादकीय में किया था, "अनेक प्रतिबन्धों और नियंत्रणों के पाश चतुर्दिक् व्याप्त हैं। यातायात और अन्न-वस्त्र के प्रश्न ने जबकि एक विकट परिस्थिति प्रस्तुत कर रखी है। तब भी अनेक कष्ट और श्रम सेवित करके सुदूर प्रदेशों से सर्वसाधारण समाज के नर-नारी से लेकर साधक समूह भी सहस्रों की संख्या में सम्मिलित हो ही गया है। भगवती शिप्रा के पावन पुलिन पर, इस पार से लेकर उस पार तक, अंकपात से लेकर मंगलेश्वर तक एक अद्‌भुत दृश्य उपस्थित हो गया है। साधु समाज अपने-अपने विचार प्रचार करते हुए धार्मिक-प्रेरणा से सामाजिक समुत्थानं की दिशा में सतत यत्नशील हैं। अनेक विद्वज्जनों की विशद वाणी से विर्निगत विमल-विचार-धारा में सहस्त्रों मानव का मन आप्यायित हो रहा है। बारह वर्षों के परिभ्रमण करके आने वाला यह महान् पुण्य-पर्व इस समय अवन्तिका की अतीत महत्ता की दिव्य-स्मृति को पुनः सजग बना रहा है।" (विक्रम, सिंहस्थ अंक, मार्च 1945 ई. पृ. 35-36)।

1945 ई. के सिंहस्थ पर्व की समयावधि को लेकर विद्वानों में मतभेद भी हुए थे, क्योंकि उस वर्ष अधिक मास के आ जाने से सिंहस्थ पर्व के कुछ योगों और वैशाख मास में संगति नहीं बैठ पा रही थी। इस पर पं. सूर्यनारायण व्यास ने 'वैशाख मास का पर्व' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पणी लिखकर वैशाख मास को विशेष महत्त्व देने का आग्रह किया था। उन्होंने लिखा है, " 12 वर्ष के पश्चात् जब-जब सिंह राशि पर गुरु रहता है, इसी पवित्र मास (वैशाख) में यह पुण्य-पर्व मनाया जाता है। जिस प्रकार कुंभ राशि पर गुरु आने पर हरिद्वार में यह महापर्व मनाया जाता है, उसी प्रकार सिंह के गुरु में अवन्तिका में। इसकी द्वादश वार्षिक महापर्व की विस्मृति न हो जावे इस कारण जिस प्रकार अर्धकुंभी और कुंभ-संक्रान्ति पर प्रति वर्ष स्नान-यात्रा की प्रथा पालित होती है, उसी प्रकार शत-सहस्राब्दियों से उज्जैन में भी प्रति वर्ष इस महापर्व की स्मृति में वैशाख मास का स्नान, यात्रा और पूर्णिमा को पूर्णता का स्नान-पर्व मनाया जाता है। यह उसी स्मृति-दिन की परम्परा है। इसके अतिरिक्त केवल योगों को अलग महत्त्व देकर इस पवित्र स्मारक वैशाख मास को जो गौण रूप देने का इस बार (अधिक मास के सहसा आ जाने से) प्रयत्न कुछ लोगों ने किया, वह प्राचीनता के उपासकों और स्मृति परम्परा के पोषकों के लिए आश्चर्यकारक हुआ है। योगों का समावेश उस मास में हो जाना विशेष पुण्यप्रद अवश्य है, परन्तु मास की महत्ता प्रथम है। योग उसके अनुवर्ती हो सकते हैं, स्वतंत्रता से मास की महत्ता को भुलाकर केवल योगों को महत्त्व दिया जाना शास्त्रीयता से पृथक् हो जाना है। ऐसी अवस्था में सैकड़ों वर्षों से वैशाख माह का जो पौराणिक महत्त्व चला आ रहा है और हजारों नर-नारी उसे उन्नत काल से मानकर पुण्य संचय करने आ रहे हैं, वह व्यर्थ हो जाएगा। अधिक मास की भ्रामक भित्ति के बीच में आ जाने के कारण यह जो संशय उपस्थित हआ था, उसे पुनः साधु-समाज ने सुधार लिया है और वैशाख की शास्त्रीय परम्परा को स्वीकृत कर लिया है, यह संतोष का विषय है।" (विक्रम, सिंहस्थ अंक, मार्च 1945 ई., पृ. 36)। पं. व्यास ने उज्जैन के सिंहस्थ पर्व के परिप्रेक्ष्य में वैशाख मास और उसकी पूर्णिमा को विशेष महत्त्व दिया, जिन्हें स्कन्दपुराण में चर्चित दस पुण्यदायी योगों में भी विशेष महत्त्व मिला है।

1956 ई. में सिंहस्थ पर्व की तिथि ग्यारह वर्ष के बाद ही आने से समस्या खड़ी हो गई थी। 1956 ई. के मेले में साधु-सन्त सम्मिलित नहीं हुए। 1957 ई. (12वें वर्ष) में साधु-संतों ने उज्जैन

आकर स्नान किया था। सिंहस्थ तिथि सम्बन्धी यह विवाद 1968 एवं 1969 ई. में भी बना रहा, जिसके परिणामस्वरूप बैरागियों ने यह पर्व 1968 ई. में तथा शैव मतावलंबियों ने 1969 ई. में यह पर्व मनाया। 12 वर्ष के अन्तराल सम्बन्धी यह विवाद धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है। उज्जैन के वरिष्ठ ज्योतिर्विद् पं. आनन्दशंकर व्यास के अनुसार -छह सिंहस्थ बारह-बारह वर्षों के अंतराल से और सातवें सिंहस्थ को ग्यारह वर्ष के अंतराल से मनाने पर तिथि विषयक इस समस्या का समाधान सहज ही हो जाता है। सन् 1980 और 1992 ई. के सिंहस्थ मेलों में उत्तरोत्तर विस्तार और व्यापकता के दर्शन हुए, वहीं देश-विदेश के लाखों धर्मालुओं और पर्यटकों का ध्यान आकृष्ट करने में यह मेला अत्यन्त सफल रहा। वर्तमान में इस मेले में मध्यभारत राज्य विधानसभा द्वारा 1955 ई. में पारित 'मध्यभारत सिंहस्थ मेला एक्ट (क्रमांक 27) 1955' के अनुसार राज्य शासन द्वारा विभिन्न व्यवस्थाएँ की जाती हैं। 1980 और 1992 ई. के सिंहस्थ मेलों के पश्चात् प्रशासनिक प्रतिवेदन भी प्रकाशित किए गए, जो इसकी आयोजना से लेकर मार्गदर्शी सुझावों तक का उपयोगी ब्यौरा देते हैं।

उज्जयिनी का कुंभ चक्र :

उज्जयिनी का कुंभ या सिंहस्थ महापर्व ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बृहस्पति आदि देवों की आराधना, उज्जैन में स्थित सभी तीर्थों, सागरों और शिवलिंगों के दर्शन और शिप्रा में पुण्य स्नान का विलक्षण. संयोग उपस्थित करता है। इस महापर्व पर ज्योतिर्विज्ञान एवं धर्मशास्त्रीय दृष्टि से अनुसंधान करने वाले ज्यातिर्विद् स्व. पं. संकर्षण व्यास ने 1956 ई. में कुंभ पर्व के अवसर पर उज्जयिनी के 'कुंभ कलश चक्र' की परिकल्पना कर उसे प्रस्तुत किया था। कलश चक्र का चित्रांकन कलाकार श्री नगजीराम ने किया था। पं. संकर्षण व्यास के सुपुत्र ज्योतिर्विद् पं. आनंदशंकर व्यास ने उस कुंभ चक्र की विवेचना प्रस्तुत की .है। उनके अनुसार कलश के शीर्ष पर श्रीफल और उस पर पर्व के मुख देव बृहस्पति अपनी पर्व राशि (सिंह) के वाहन पर स्थित हैं। कलश के मुख पर भगवान् विष्णु हिरण्यमयेन पात्रेण के अनुसार तथा कलश कंठ में रुद्र रूप में भी महाकाल प्रणव आकृति से प्रदर्शित हैं। महाकाल के प्रणवमय रूप में जलाधारी 'उ' है, सर्पमुख मात्रा है तथा चन्द्र एवं रुद्रशिर अनुस्वार हैं।

पं. व्यास के अनुसार भगवान शिव ने विषपान किया था, अत: वे कुंभ चक्र में नीलकंठ हो अमृतमय कलश के कंठ में बैठकर गरलाग्नि का शमन करते हुए गरलहीन सर्प शिप्रा को अपने शिरस्थित सोमलेखा से सोमपान कराते हुए दर्शाए गए हैं। गंगावतरण रूप में यहाँ महाकाल के शीर्ष से गिरकर शिप्रा अहिवलयाकार हो सम्पूर्ण क्षेत्र को वेष्ठित किए हुए है। सोमपान से शिप्रा सोमवती हो अमृतमयी हो गई है। यह प्रसिद्ध है कि सोमवती अमावस्या पर शिप्रा का स्नान अत्यन्त पुण्यदायी होता है। अवन्ती खण्ड में लिखा है-

सरित्सोमा समुत्पन्ना व्यासते नैव तेजसा।
प्रविष्टा सा नदी शिप्रा अमृते नाति पूरिता।
ततः सोमवती शिप्रा विख्याता ह्यति पुण्यदा।।

इसी चक्र में शिप्रा अपने अट्ठाइस भाग में (अहिवलयाकार चक्र में) कृत्तिकादि नक्षत्र क्रम से भ्रमण करते हुए दिखाई गई है। प्रत्येक भाग में एक-एक तीर्थ और तीन-तीन शिवलिंग दर्शाते हुए शिप्रा स्थित अट्ठाइस तीर्थ और मुख्य चौरासी लिंग इस चक्र में आ जाते हैं। कलश के कुक्षिद्वय पर सप्तसागर एवं सप्तद्वीप, वेद चतुष्टय, मूल में ब्रह्मा तथा मध्य में मातृगण देते हुए 'कलशस्य मुखे विष्णुः कंठे रुद्रसमाश्रिताः' कलश की स्तुति को यह चक्र साकार कर देता है। कलश में अट्ठाइस कोठे वाला अहिवलय चक्र ही कुंडलिनी चक्र है, सुषुम्ना शिप्रा है। इन्हीं चौरासी लिंगों से बार्हस्पत्य भ्रमण के द्वारा पर्व का स्वरूप सिद्ध हो जाता है।
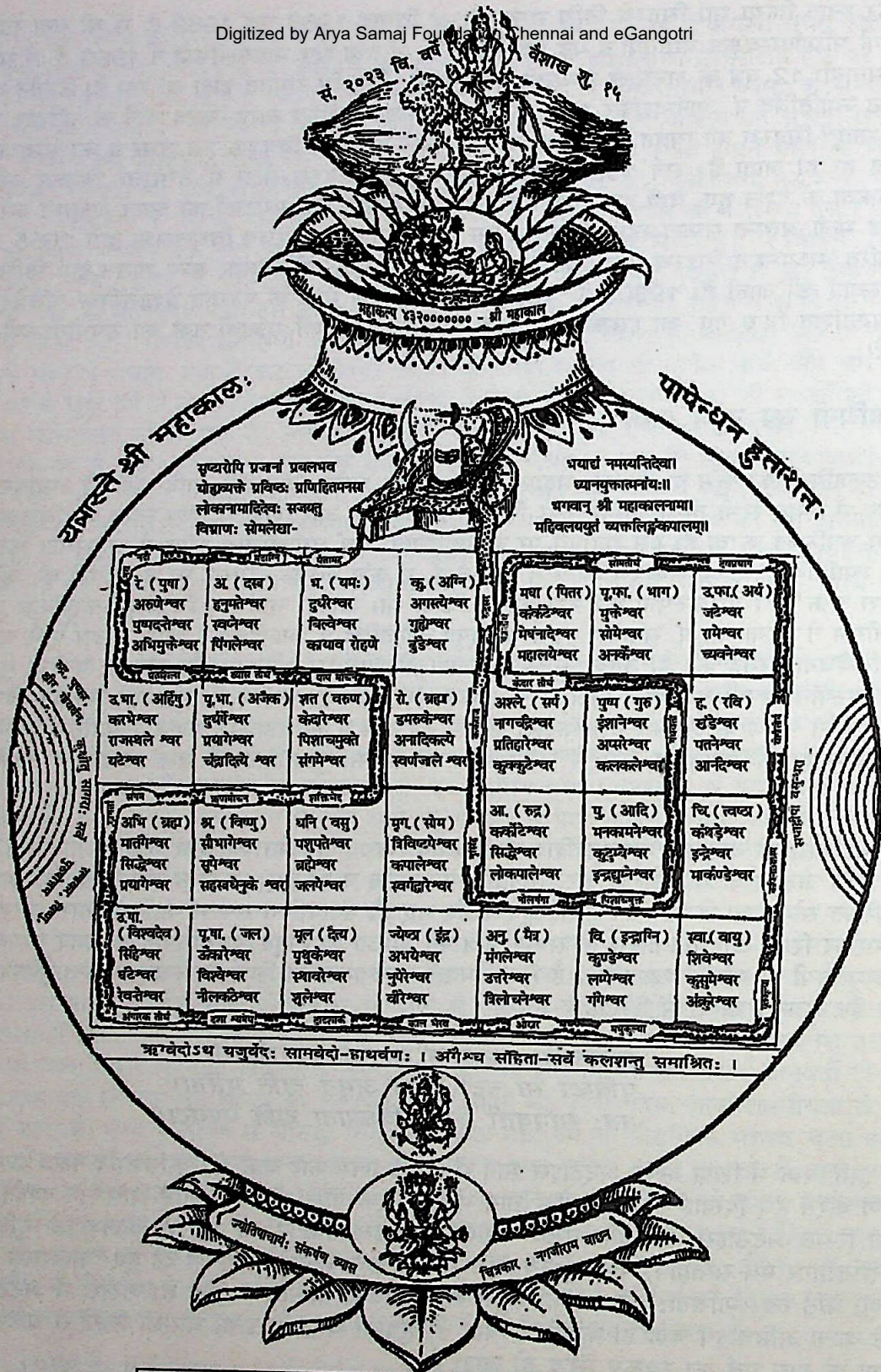
उज्जयिनी का कुंभ चक्र/सौजन्य : पं. आनंदशंकर व्यास

पं. संकर्षण व्यास ने कुंभ चक्र की परिकल्पना द्वारा सिंहस्थ से जुड़े आध्यात्मिक, पौराणिक, यौगिक और ज्योतिषशास्त्रीय संदर्भों को समन्वित किया है। इसके माध्यम से अमृत बिन्दु के पतन से अमृतमयी अवन्तिका के कुंभ पर्व पर अमृत कलश में विराजमान उज्जयिनी के सभी देवताओं, तीर्थों आदि का तत्त्व रूप से दर्शन हो जाता है।

लोक आस्था का पर्व

उज्जैन का सिंहस्थ महापर्व शास्त्रीय परम्परा और जातीय स्मृति के पर्व के साथ ही लोक आस्था का पर्व है। लोक मन में सिंहस्थ से जुड़ी अनेक अनुश्रुतियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवाहमान रही है, जो आज भी कई माध्यमों से प्रकट होती हैं। मालवी के एक पुराने लोक गीत की बानगी देखिए, जिसमें सिंहस्थ मेले या जातरा (यात्रा) के प्रति जनाकर्षण के साथ ही इस मेले में घटित साधुओं के संघर्ष की स्मृति को भी पिरोया गया है। यह घटना लगभग सौ वर्ष पूर्व के सिंहस्थ के दौरान हुई थी। गीत की पंक्तियाँ हैं-

ए जी! देखण के चालो, सिंगत मेलो लाग्यो माल में।
हुकम करो तो जावाँ जातरा,
दो-एक रई जावाँ रात,
छोरा-छोरी के मेली जावाँ,
कूँची रखलाँ साँत,
ए जी! देखण के चालो, सिंगत को मेलो लाग्यो माल में।
एक लाख और नो से गाड़ी,
जिनका देखो ठाटा,
गुंसाई में झगड़ो हुवो,
तो नागा मारे भाटा।

इस गीत में सिंहस्थ के अवसर पर जुटने वाली भीड़, उसके ठाठ-बाट और कभी-कभार अलग-अलग दल के साधुओं के बीच होने वाले विवाद का यथार्थ अंकन हुआ है। कभी इस मेले में हजारों बैलगाड़ियाँ जुटती थीं। अब वाहन भले ही बदलने लगे हैं, किन्तु उनकी बढ़ती संख्या मेला नियंत्रकों के लिए चुनौतीपूर्ण बनी हुई है। इसी तरह शाही स्नान के लिए अखाड़ों के आपसी विवाद भी प्रशासन के सामने चुनौती पैदा करते हैं। लगभग सौ वर्ष पूर्व ग्वालियर स्टेट के दौर में विभिन्न अखाड़ों के स्नान के लिए आने के समय और क्रम के निर्धारण की प्रक्रिया शुरू हुई थी। उसके पहले के एक शाही स्नान में रामघाट की ओर से शिप्रा स्नान करने वाले वैष्णव बैरागियों और सामने दत्त अखाड़ा (हरिहर घाट) की ओर से स्नान करने वाले दशनामी (नागा) साधुओं के बीच संघर्ष हो गया था, जिसकी स्मृति आज भी लोक अनुश्रुतियों में दर्ज है।

निष्कर्ष

स्पष्ट है कि कुंभ पर्व की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और उसमें उज्जैन के सिंहस्थ महापर्व का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। भारत के धार्मिक-सांस्कृतिक उत्कर्ष के प्रतीक कुंभ पर्व ने पिछली शताब्दियों में अनेक उतार-चढ़ाव के बावजूद एक विराट लोक पर्व के रूप में अपने अस्तित्व को बनाए रखा है। इसमें समय-समय पर परिष्कार और बदलाव के सूत्र भी प्रभावकारी रहे हैं। कभी यह शास्त्रोक्त तीर्थ-स्नान और दान-पुण्य का अवसर था। कालान्तर में इसमें विभिन्न सम्प्रदाय के साधु-सन्तों के अखाड़ों की भी सक्रिय भागीदारी होने लगी। मध्यकालीन संकट के दौर में इस पर्व के समक्ष कई चुनौतियाँ भी उभरीं, किन्तु आधुनिक काल तक आते-आते इसमें साधु-संतों की हिस्सेदारी राजकीय व्यवस्था और लोक-विस्तार सभी स्तरों पर उल्लेखनीय परिवर्तन होते रहे हैं। वर्तमान में इस महापर्व ने विश्व प्रसिद्ध और विशाल मेले का रूप धारण कर लिया है, जिसमें एक साथ लाखों की संख्या में तीर्थयात्रियों और पर्यटकों का सैलाब उमड़ता है। देश-विदेश में कुंभ मेले जैसा दूसरा उदाहरण नहीं है, जो एक साथ धार्मिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रेरक हो और अपनी सम्पूर्णता में लोकमंगल एवं लोकरंजन को सिद्ध करता हो। □

भारतीय मूर्तिशिल्प परम्परा में कुम्भ पर्व सम्बन्धी आख्यान

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा, डॉ. धीरेन्द्र सोलंकी

भारत की जातीय स्मृतियों और धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन-बोध को प्रत्यक्ष करने की दृष्टि से कुंभ महापर्व की महत्ता निर्विवाद है। सांस्कृतिक एवं धार्मिक समरसता का प्रतीक कुंभ देश के चार प्राचीन नगरों-हरिद्वार, प्रयाग, उज्जयिनी और नासिक से जुड़ी सुदीर्घ परम्परा का अनुपम दृष्टांत है। यह पर्व सुदूर वैदिक काल से निरन्तर प्रवाहित सांस्कृतिक प्रतीकों को लोक जीवन में संचरणशील करते हुए एक साथ भारतीय जीवन-दृष्टि, इतिहास, पुराख्यान, मिथक, खगोल विद्या, अध्यात्म-दर्शन आदि की पारस्परिकता को मूर्त करता है। इस पर्व की पृष्ठभूमि में देवासुर संघर्ष और समुद्र-मंथन के सुविख्यात पौराणिक आख्यान हैं, जिन्हें पद्मपुराण, मार्कण्डेयपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, विष्णुपुराण, वायुपुराण, श्रीमद्भागवत, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, देवी भागवत, स्कन्दपुराण आदि में वर्णित किया गया है। ये आख्यान रामायण एवं महाभारत में भी उपलब्ध हैं। देवासुर संघर्ष तो वैदिक वाङ्मय का भी एक मुख्य प्रसंग रहा है, जिसके सातत्य को हम उत्तर वैदिक काल से लेकर पुराणों के रचनाकाल तक सहज ही देख सकते हैं। काल-प्रवाह में इस बहुचर्चित संघर्ष के साथ समुद्र-मंथन का आख्यान भी समाहित होता चला गया, जिसने पिछली शताब्दियों में भारतीय जनमानस में अपनी खास जगह बना ली है।

कुंभ पर्व से जुड़े आख्यानों का मुख्य रूप से वैष्णव धर्म से गहरा सम्बन्ध है। वैष्णव मत के साथ ही शैव, सौर आदि मतों के तत्त्वों का समन्वय भी इन आख्यानों में सहज ही उपलब्ध है। कुंभ पर्व के पार्श्व में चर्चित समुद्र-मंथन के आख्यान के केन्द्र में विष्णु की महत्त्वपूर्ण भूमिका दिखाई देती है, जो अपने कूर्म, धन्वन्तरि और मोहिनी स्वरूप के माध्यम से देवताओं को अमृत पान करवाते हैं। ये तीनों रूप श्रीमद्भागवत महापुराण (1/3/2-25), गरुड़ पुराण आदि में विष्णु के अवतारों में परिगणित किए गए हैं। विष्णु वैदिक काल के आरम्भ में सूर्य के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करते थे, जो सप्त लोकों का स्वामी और सम्पूर्ण सृष्टि के लिए त्रिपगमापी है। त्रिपगमापी का यह संकेत-सूत्र परवर्ती काल में विष्णु के वामन अवतार का आधार बना। पुरुष सूक्त में विष्णु को सूर्य के रूप में ही वर्णित किया गया है।[1] ऋग्वेद में उन्हें क्रियात्मक देवता के रूप में स्वीकार किया गया है।[2] ऋग्वेद में विष्णु के अन्य स्वरूपों के अतिरिक्त वराह और वामन तथा उनके वाहन गरुड़ के संकेत भी मिलते हैं।[3] फिर वैदिक देवमण्डल में विष्णु का महत्त्व क्रमशः बढ़ता चला गया और ब्राह्मण काल तक आते-आते विष्णु ब्राह्मण धर्म के अत्यन्त प्रभावशाली देवता बन गए। ब्राह्मण ग्रंथों के साथ-साथ आरण्यक एवं उपनिषदों में उन्हें यज्ञ का सर्वोच्च देवता माना गया है। तैत्तिरीय आरण्यक विष्णु के वराह अवतार के विषय में सूचना देता है कि जलमग्न पृथ्वी को शतभुजी वराह ने निकाला था। कठोपनिषद् भी विष्णु को सर्वोच्च मानता है।

समुद्र-मंथन के पौराणिक आख्यानों में विष्णु के दूसरे प्रमुख अवतार कूर्म की विशिष्ट भूमिका दिखाई देती है। प्रजापति के एक रूप में कूर्म के प्राचीनतम निर्देश शतपथ ब्राह्मण[4] और तैत्तिरीय आरण्यक[5] में मिलने लगते हैं। वैदिक वाङ्मय में मत्स्य, कूर्म और वराह जैसे मनुष्येतर अवतार मूलतः प्रजापति के साथ जुड़े हुए थे, किन्तु वैष्णव धर्म के प्रसार के साथ इनकी चर्चा विष्णु के अवतारों के रूप में की जाने लगी। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में देव और असुरों द्वारा समुद्र-मंथन का वर्णन हुआ है। इसमें विश्वामित्र इन्द्र के मुख से सुने विशालापुरी के इस पुरातन वृत्तान्त को राम-लक्ष्मण के समक्ष प्रस्तुत करते हुए दर्शाये गये हैं। इस वृत्तान्त के अनुसार दिति के पुत्र दैत्यों और अदिति के पुत्र देवताओं ने अजर-अमर होने के लिए क्षीरसागर का मंथन कर अमृत रस प्राप्त करने का निश्चय किया। उन्होंने वासुकि नाग को रस्सी और मंदराचल को मथानी बनाकर क्षीरसागर को मथना प्रारंभ किया। उससे सर्वप्रथम हालाहल विष उत्पन्न हुआ, जिसे विष्णु के निवेदन पर शिव ने अपने कण्ठ में धारण किया। तभी मंदराचल पर्वत पाताल में प्रविष्ट हो गया, जिसे विष्णु ने कूर्म के रूप में अपनी पीठ पर धारण कर लिया। तदनन्तर समुद्र-मंथन से धन्वन्तरि, अप्सराएँ (अप् या जल में उसके रस से उत्पन्न), वरुण की कन्या वारुणी (सुरा), उच्चैःश्रवा अश्व, मणिरत्न कौस्तुभ तथा अंततः अमृत प्रकट हुआ। वारुणी सुरा को ग्रहण करने के कारण अदिति के पुत्र 'सुर' तथा उससे रहित होने के कारण दैत्य 'असुर' कहलाए। अमृत के लिए सुर और असुरों में संग्राम हुआ, तब विष्णु ने मोहिनी माया का आश्रय लेकर अमृत हर लिया और दैत्यों का संहार किया। रामायण के इस प्रसंग में वर्णित अमृत आदि रत्नों की संख्या पुराणों तक आते-आते क्रमशः बढ़ती चली गई, वहीं विष्णु के कूर्म रूप, मोहिनी माया तथा धन्वन्तरि को अवतार के रूप में प्रतिष्ठा मिलने लगी। पांचरात्र एवं अन्य वैष्णव संहिताओं में भी विष्णु के विभिन्न अवतार या व्यूहों का निरूपण मिलता है।

महाभारत में भी कूर्म को विष्णु के अवतारों में स्पष्टतः परिगणित किया गया है। महाभारत में समुद्र-मंथन से प्राप्त अमृत की कथा भी मिलती है। इसके अनुसार राजा पृथु के भय से पृथ्वी गो बन गई थी, तब देवताओं ने इन्द्र को बछड़ा बनाकर सोने के पात्र में अमृत रूप दूध दुहा। यह अमृत दुर्वासा के शाप से समुद्र में चला गया। तदनन्तर समुद्र के मंथन द्वारा अमृत से पूर्ण कलश को लेकर धन्वन्तरि बाहर आए। ऐसे कई सूत्रों का आख्यानगत विस्तार परवर्ती पुराणों में हुआ है। यद्यपि पुराणों के रचना काल को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु यह एक सर्व स्वीकार्य तथ्य है कि पुराणों में वर्णित कई आख्यान उनके लेखन के पूर्व भी सूत्रात्मक या मौखिक रूप में उपलब्ध थे।

महाकवि कालिदास (ई.पू. पहली शती) ने स्वयं समुद्र-मंथन और शेषशायी विष्णु से जुड़े आख्यान-सूत्रों का अपने 'रघुवंश' महाकाव्य के दशम सर्ग में प्रभावपूर्ण प्रयोग किया है। इस सर्ग में देवगण रावण के अत्याचार से त्रस्त हो शेषशायी विष्णु की शरण में जाते हैं, जहाँ वे योग निद्रा में लीन हैं। लक्ष्मी विष्णु के चरण कमल को अपनी गोद में रखकर दबा रही हैं। विष्णु ने वक्षस्थल पर समुद्र-मंथन से प्राप्त कौस्तुभ मणि को धारण किया है। महाकवि वृक्ष की शाखा सदृश उनकी बड़ी-बड़ी भुजाओं के लिए कल्पना करता है, मानो समुद्र में एक और पारिजात (कल्पवृक्ष रत्न) निकल आया हो।[6] इसी सर्ग के प्रारंभ में कालिदास ने एक दृष्टांत उक्ति में समुद्र-मंथन के सूत्र का प्रयोग किया है, 'प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः'[7] अर्थात् समुद्रों में रत्नों के रहते हुए भी मंथन के पहले वे प्रकट नहीं होते। इसी प्रकार उन्होंने एक स्थान पर इन्द्र द्वारा समुद्र-मंथन से प्राप्त अमृत कलश को स्वीकार करने का उल्लेख किया है-'वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता'[8] अर्थात् समुद्र द्वारा दिए गए अमृत के कलश को इन्द्र ने स्वीकार किया था। स्पष्ट है कि महाकवि कालिदास के समय में समुद्र-मंथन और उससे अमृत कुंभ सहित विभिन्न रत्नों की प्राप्ति के आख्यान का व्यापक प्रसार हो गया था। इसीलिए वे उसके संकेत-सूत्रों का दृष्टांत-वाक्यों के रूप में प्रयोग कर सके।

समुद्र-मंथन के रामायण एवं महाभारत में वर्णित तथा पुराण-प्रसिद्ध आख्यानों को सूक्ष्मता से देखें तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि इनमें देवराज इन्द्र संकटग्रस्त और वैभवहीन हैं, वहीं

असुरराज बलि इन्द्र को परास्त कर विभिन्न रत्नों का स्वामी बन जाता है। तब विष्णु की सहायता से देव और असुर मिलकर समुद्र-मंथन करते हैं। फलतः एक-एक कर कई रत्न देवताओं को प्राप्त होते हैं। विष्णु मोहिनी रूप में समुद्र-मंथन से प्राप्त अमृत को असुरों से लेकर इन्द्र सहित देवताओं को पिलाते हैं। इस आख्यान के समान उत्तर वैदिक साहित्य में भी विष्णु को इन्द्र की सहायता के लिए एक कूटनीतिज्ञ और असुरों की हार का कारक निरूपित किया गया है। समुद्र-मंथन के आख्यान में भी वेदोक्त इन्द्र (देवेन्द्र) और विष्णु (उपेन्द्र) की स्थिति बदली हुई नजर आती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समुद्र-मंथन के आख्यान का बीजांकुरण उत्तर वैदिक काल में ही हो गया था। इस मंथन के लक्ष्य में अमृत ही प्रधान रत्न था। ऐसी मान्यता है कि मंथन से प्राप्त अमृत की बूँदें देव और असुरों की छीना-झपटी में चार स्थानों पर गिरी थीं, जहाँ की नदियाँ विशेष पर्व योगों पर अमृतमयी हो जाती हैं। यह विश्वास ही कुंभ पर्व का कारण बना। एक तरह से कुंभ पर्व समुद्र-मंथन के आख्यान की जातीय स्मृति को सँजोए रखने का माध्यम है, जिससे अमृत कुंभ सहित विभिन्न रत्नों की प्राप्ति हुई थी।

समुद्र-मंथन के आख्यान की प्राचीनता से जुड़े साहित्यिक साक्ष्यों की अपनी महत्ता है, किन्तु इस दिशा में पुरातत्त्वीय प्रमाणों को लेकर अधिक विमर्श नहीं हुआ है। इस दृष्टि से यह शोध करना महत्त्वपूर्ण होगा कि समुद्र-मंथन, उससे प्राप्त विभिन्न रत्न तथा अमृत वितरण से जुड़ी घटनाओं, चरित्रों तथा अन्य घटकों का भारतीय शिल्पांकन की परम्परा में किस प्रकार उद्भव और विकास हुआ है। इस सुदीर्घ यात्रा के माध्यम से विवेच्य पुराख्यान और चरित्रों के मूल बीजों की पहचान के साथ-साथ उनके परिवर्द्धन-रूपान्तरण की प्रक्रिया को भी देखा-समझा जा सकता है। भारतीय शिल्पांकन परम्परा में कुंभ पर्व सम्बन्धी आख्यानों का प्रतिफलन, उसके पुरातत्त्वीय साक्ष्य, जन मान्यताएँ और विकास यात्रा का पारस्परिकता में विवेचन प्रस्तुत है।

1. कूर्मावतार और समुद्र-मंथन का शिल्पांकन

समुद्र-मंथन के पौराणिक आख्यान के अनुसार जब मंदराचल पर्वत अपने भार से समुद्र में डूबने लगा, तब विष्णु ने कूर्म का स्वरूप धारण कर उस पर्वत को अपनी पीठ पर स्थिर कर लिया था। मत्स्य के बाद कूर्म के रूप में विष्णु के दूसरे अवतार की कथा वाल्मीकि रामायण और महाभारत में मिलती है। विभिन्न पुराणों में विष्णु के अवतारों की संख्या अलग-अलग मिलती है, किन्तु अधिकांश पुराणों में कूर्म को अवतार माना गया है। इन पुराणों में पद्म विष्णुधर्मोत्तर, श्रीमद्भागवत, विष्णु, स्कन्द, गरुड़ आदि पुराण सम्मिलित हैं। विष्णु के प्रसिद्ध दशावतारों में कूर्म को भी स्थान मिला है। कूर्म आदि प्रमुख अवतारों के प्राचीनतम निर्देश शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक में मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार कूर्म का रूप धारण कर प्रजापति ने संतानोत्पत्ति की थी और वराह रूप में पृथ्वी को समुद्र तल से ऊपर उठाया था।[9] इसी में उल्लेख मिलता है कि वेदी चयन में अनेक प्रकार की इष्टकाओं का प्रयोग होता था, जिनमें एक कूर्म इष्टका कहलाती थी। इन इष्टकाओं को सृष्टि-रचना-प्रक्रिया का प्रतीक माना गया है। कूर्म इष्टका को मध्य में स्थापित किया जाता था, जिसके मूल में कच्छप द्वारा पीठ पर पृथ्वी धारण की कल्पना है। कूर्म वैदिक प्रतीक भी था, जो द्युलोक और पृथ्वी दोनों के समन्वय का सूचक था।

महाकाव्य-पुराण काल में विष्णु के साथ-साथ उनके एक अवतार के रूप में कूर्म की पूर्णतः प्रतिष्ठा हो चुकी थी। फलतः उन्हें विविध कला माध्यमों और साहित्य में अंकित किया जाने लगा। परमार शासक भोज ने विष्णु के कूर्मरूप की स्तुति में प्राकृत काव्य 'अवनिकूर्मशतम्' की रचना की थी। इसमें 109 प्राकृत गाथाएँ हैं। इसे धार (म. प्र.) की प्रसिद्ध भोजशाला में उत्कीर्णित किया गया है। कूर्म पर केन्द्रित यह अपने ढंग की अनूठी काव्य-कृति है।

पौराणिक आख्यान एवं अनुश्रुतियों में कूर्मावतार का सम्बन्ध हिमालय की गोद में स्थित वर्तमान उत्तराखण्ड राज्य के कूर्माचल (कुमाऊँ) से जोड़ा जाता है। ऐसा माना जाता है कि विष्णु का द्वितीय कूर्मावतार यहीं पर चम्पावती नगरी से पूर्व में स्थित एक पर्वत पर हुआ था, जिसकी आकृति कूर्मवत

प्रतीत होती है। वर्तमान में देश में कूर्म के मंदिर कम ही हैं, किन्तु देव मंदिरों की प्रतिष्ठा, सरोवर-प्रतिष्ठा, भूमि-पूजन तथा प्रासाद-निर्माण एवं प्रतिष्ठा आदि में मुख्य द्वार की देहली आदि स्थानों पर कूर्ममूर्ति की स्थापना एवं पूजा की जाती है।

पुरातात्त्विक साक्ष्य की दृष्टि से देखें तो विष्णु के कूर्म अवतार का अंकन द्वितीय शती ई.पू. से लेकर तेरहवीं शती ई. तक विभिन्न रूपों में मिलता है। उज्जयिनी की आहत मुद्राओं पर द्वितीय शताब्दी ई.पू. से लेकर तीसरी शती ई. तक कूर्म और मत्स्य का अंकन मिलता है। उज्जयिनी की आहत मुद्राओं को कूर्म प्रकार की मुद्राओं के नाम से भी जाना जाता है। इन मुद्राओं पर कहीं कूर्म बृहदाकार में तो कहीं पुण्य सलिला शिप्रा में कूर्म एवं मत्स्य को एक साथ अंकित किया गया है। शिप्रा सम्बन्धी स्तोत्रो में श्वेत कूर्म को शिप्रा का वाहन भी बताया गया है।
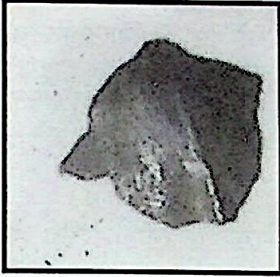
ताम्र निर्मित कूर्म
(दूसरी शती ई.)

भारतीय मूर्ति शिल्प परम्परा में कूर्मावतार की प्रतिमाएँ तीन प्रकारों में प्राप्त होती हैं-

1. सामान्य कूर्म (चलित या अचल)
2. समुद्र-मंथन दृश्य-मन्दराचल पर्वत के नीचे बैठा हुआ कूर्म।
3. मन्दराचल के स्थान पर प्रतीक रूप में ब्रह्मसूत्र एवं शिवलिंग का अंकन भी संभव है।

द्वितीय शती ई. पू. से लेकर तेरहवीं शती ई. तक कूर्म का अंकन कई रूपों में मिलता है, जैसे-स्वतंत्र कूर्म, मुद्राओं पर कूर्म, पट्ट या प्रतिमा पर कूर्म, दशावतार में कूर्मावतार या विष्णु प्रतिमा के परिकर में कूर्म आदि। फिर विष्णु के पशु वराह अवतार के अंकन में विभिन्न अवतारों के साथ अष्टदिक्पाल, द्वादश आदित्य, व्यंतर देवता, सप्त मातृकाएँ, नवग्रह आदि का अंकन तो मिलता ही है, कूर्म और मत्स्य का अंकन पशु वराह की पीठ पर बड़े आकार में किया जाता था।

कूर्मावतार एवं समुद्र-मंथन का दृश्य,
बड़ोह पठारी (विदिशा) से प्राप्त, 9वीं शती ई.

गुप्तकालीन उदयगिरि की गुफा में नरवराह के साथ कूर्म एवं शेषनाग को उत्कीर्ण किया गया है। गुप्त कला में कूर्म का अंकन अनेक स्थानों पर किया गया। प्रतीहार कला में कूर्म का अंकन समुद्र-मंथन तथा गंगा के वाहन के प्रसंग में मंदिर की द्वार शाखाओं में किया गया है। कूर्म के पृष्ठ पर समुद्र-मंथन का सुन्दर चित्रण बड़ोह पठारी (विदिशा) से प्राप्त एक शिलापट्ट पर दिखाई देता है। ग्वालियर संग्रहालय में संग्रहीत इस पट्ट का आकार 0.45 × 0.30 × 0.9 मी तथा समय 9वीं शती ई. अनुमानित है।[10] इस पट्ट पर कूर्म के पृष्ठ पर मथनी (मंदराचल) आधारित है। इस मथानी पर वासुकि-नाग की नेति लिपटी है, जिसे एक ओर देवता तथा दूसरी ओर दानव पकड़े हैं, मानो सागर मथ रहे हों। पर्वत पर दाहिनी

ओर चक्र लिए विष्णु स्थानक मुद्रा में हैं, उनके शेष हाथ खंडित हैं। बाईं ओर ऐरावत गज सहित इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, लक्ष्मी, कुबेर और धन्वन्तरि का मोहक अंकन किया गया है। शिल्पी ने समुद्र-मंथन के आख्यान को अपनी कल्पनाशीलता के साथ मूर्ति शिल्प में उत्कीर्ण किया है।

प्रतीहार काल की आठवीं शती की कन्नौज से प्राप्त विश्वरूप विष्णु मूर्तियों में से एक अष्टभुजी विष्णु की मूर्ति भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, जिसमें विष्णु के सौम्य मुख के साथ मत्स्य, कूर्म, वराह और नृसिंह मुखों की अभिव्यंजना है।[11] इस प्रतिमा में विष्णु द्विभंग में खड़े हुए हैं। शिलाफलक के परिकर में समुद्र-मंथन से प्राप्त कुछ रत्न भी दर्शाए गए हैं, जैसे ऐरावत गज सहित इन्द्र, उच्चैःश्रवा अश्व आदि। किरीट के ऊपर तथा अन्य स्थानों पर भी ब्रह्मा सहित विभिन्न अवतारों, एकादश रुद्र, द्वादशादित्य, अष्टभैरव, नाग एवं अन्य देवताओं को उत्कीर्ण कर नागलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक विष्णु की व्यापकता प्रदर्शित की गई है।

परमारकाल के अनेक दशावतार शिलापट्टों में दूसरे क्रम पर कूर्मावतार का अंकन मिलता है, वहीं शेषशायी विष्णु, चतुर्भुज विष्णु, लक्ष्मीनारायण आदि की प्रतिमाओं के परिकर, वितान या अलंकरण में भी कूर्मावतार सहित विभिन्न अवतारों को उत्कीर्ण किया जाता था।

समुद्र-मंथन को प्रदर्शित करने वाली एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमा बिड़ला संग्रहालय, भोपाल में उपलब्ध है। समसगढ़ (सीहोर) से प्राप्त इस यज्ञवराह प्रतिमा में दाहिनी ओर समुद्र-मंथन का आकर्षक अंकन हुआ है। लगभग 9-10वीं शती ई. में निर्मित यह प्रतिमा लाल बलुआ प्रस्तर की है, जिसका परिमापन 138 × 53 × 55 सेमी. है। वराह के सम्पूर्ण शरीर पर लघुकाय देव आकृतियाँ हैं। वराह के सभी पैर एवं कमर के नीचे का भाग भग्न है। शरीर पर बाईं ओर की तीसरी पंक्ति में कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिंह और कल्कि अवतारों का अंकन है। दाहिनी ओर समुद्र-मंथन के दृश्य के साथ नीचे विनायक का अंकन है। इस प्रतिमा में वराह का थूथन भयानक दिखाया गया है।[12]

केन्द्रीय पुरातत्त्व संग्रहालय, ग्वालियर में प्रदर्शित भूवराह प्रतिमा भी समुद्र-मंथन के अंकन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[13] विदिशा से प्राप्त यह प्रतिमा बलुआ प्रस्तर से निर्मित है तथा इसका समय लगभग 9वीं शती ई. माना गया है। पशु वराह प्रतिमा विशालकाय है, जिसके थूथन पर स्त्री रूप में पृथ्वी की आकृति प्रदर्शित की गई है। वराह के सम्मुख नाग दम्पति का वीरासन में संभवतः अंजलि हस्त मुद्रा में अंकन किया गया है, जिसका ऊपरी भाग खंडित है। वराह द्वारा दाँतों से उठाई हुई पृथ्वी (स्त्री आकृति) को अंकित किया गया है, जिसका एक उरोज तथा मुख क्षतिग्रस्त है। वराह के शरीर पर समुद्र-मंथन, देवता, अष्टदिक्पालों और मुनिजन का अंकन अत्यन्त रोचक बन पड़ा है। वराह के पैर हाथी के पैरों के समान हैं।

करोहन (जिला उज्जैन) से प्राप्त एक परमारकालीन यज्ञ वराह प्रतिमा भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।[14] यह प्रतिमा स्थानक मुद्रा में है। नीचे नागदेव एवं नागकन्या का अंकन है। वराह के दाँतों पर स्थित पृथ्वी तथा उसके शरीर पर समुद्र-मंथन, दशावतार एवं मुनिगण को उत्कीर्ण किया गया है।

2. समुद्र-मंथन से प्राप्त रत्नों एवं अन्य घटकों का अंकन

समुद्र-मंथन से प्राप्त विभिन्न रत्नों के साथ विष्णु का अंकन शेषशायी या पद्मनाभ प्रतिमाओं में मिलता है। विष्णु का यह विशिष्ट रूप है, जिसे भारतीय मूर्ति शिल्प परम्परा में शताब्दियों से उत्कीर्ण किया जा रहा है। विष्णु-नारायण की शेषशयनमूर्ति ऋग्वेद (10/82, 5-6) के सूत्रों का ही मिथकीय विस्तार है।[15] विष्णुधर्मोत्तर पुराण (450-650 ई.) में विष्णु के शेषशायी स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि नागराज को जल के मध्य में अंकित किया जाना चाहिए। वे भयंकर प्रतीत होते हैं। उनके ऊपर चतुर्भुज विष्णु शयन मुद्रा में हों तथा उनका एक चरण लक्ष्मी की गोद में रखा हो। उनके नाभि रूपी सरोवर में दो कमलों से उद्‌भूत ब्रह्मा की स्थापना की जानी चाहिए।[16] कालिदास (पहली शती ई.पू.) की कृतियों में भी शेषशायी विष्णु का अनेक स्थलों पर

उल्लेख हुआ है। रघुवंश में कहा गया है कि विष्णु शेषशैया पर लेटे हुए हैं एवं लक्ष्मी कमलासन, मेखला, रेशमी अधोवस्त्र धारण किए तथा विष्णु के चरण को गोदी में लिए हैं।[17] विष्णु श्रीवत्स तथा कौस्तुभमणि धारण किए हैं।[18]

भारतीय मूर्तिकला में विष्णु का अंकन शुंग और कुषाणकाल में प्रारम्भ हो गया था।[19] तदनन्तर गुप्तकाल में वैष्णव प्रतिमाओं के निर्माण में तेजी आई तथा विष्णु-मूर्तियों के विभिन्न रूपों का विकास हुआ। विष्णु की शेषशायी प्रतिमाओं का निर्माण गुप्तकाल में हुआ, जिनमें मृण्मूर्ति भीतरगाँव (कानपुर उ.प्र.) तथा पाषाण मूर्ति, देवगढ़ (जिला ललितपुर) विशेष उल्लेखनीय हैं।[20] भीतरगाँव (5वीं शती ई.) से प्राप्त मृण्मूर्ति और देवगढ़ (छठी सदी ई.) की पाषाण प्रतिमा में विष्णु आदि या अनन्त नाग के फणों के नीचे शयनक मुद्रा में हैं, जिनके आसपास कई आकृतियों को दर्शाया गया है, इनमें लक्ष्मी मुख्य हैं, जो उनके चरण दबा रही हैं। मधु और कैटभ युद्धरत हैं। देवगढ़ की प्रतिमा में विष्णु के आयुधों का मानवीकरण किया गया है। विष्णु की दूसरी पत्नी भूदेवी भी खड़ी हुई हैं। उनकी नाभि से निकले कमल पर ब्रह्मा विराजमान हैं। अन्य देवगण इस अलौकिक दृश्य को निहारते दर्शाये गये हैं। शेषशायी विष्णु का प्रचुर मात्रा में शिल्पांकन प्रतीहार, चन्देल, कल्चुरी एवं परमारकालीन मूर्तिशिल्पों में मिलता है। शिलापट्टों पर विष्णु के ऊपर वर्णित स्वरूप के साथ-साथ समुद्र-मंथन से प्राप्त अमृत कुंभ, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा अश्व आदि रत्नों तथा दशावतार का अंकन भी प्रतीहार एवं परमारकालीन शिल्पांकन परम्परा को वैशिष्ट्य देता है। महाकाव्यों तथा पुराणों में वर्णित विष्णु के शेषशायी रूप का अंकन चौथी शती के पश्चात् बड़े पैमाने पर होने लगा था। 8वीं-9वीं शती से यह अत्यधिक लोकप्रिय विग्रह सिद्ध हुआ, सम्पूर्ण भारत में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। शेषशायी विष्णु की स्वतंत्र प्रतिमाएँ तो मिलती ही हैं, साथ ही यज्ञवराह प्रतिमा पर भी विष्णु के शेषशायी रूप का अंकन मिलता है।

शेषशायी विष्णु, देवगढ़ (ललितपुर), छठी शती ई.

केरल के तिरुअनंतपुरम् नगर का नामकरण विष्णु के इसी स्वरूप के आधार पर हुआ है। वहाँ अनंतशायी या पद्मनाभ की शयनक मुद्रा में विशाल प्रतिमा है। उस मंदिर का निर्माण 1049 ई. में हुआ था। विष्णु की शयनक मुद्रा की प्रतिमाओं के अंकन के आधार में बृहद्संहिता और वैखानस आगम के साथ-साथ विष्णुधर्मोत्तर, अग्नि, मत्स्य, स्कन्द आदि पुराणों के निर्देश रहे हैं। इन्हीं के आधार पर गुप्त काल से लेकर परमार काल तक की शेषशायी विष्णु प्रतिमाओं का निर्माण हुआ है। विभिन्न पुराणों में समुद्र-मंथन से प्राप्त मुख्यतः चौदह रत्नों का उल्लेख मिलता है। कतिपय रत्नों को छोड़कर इन पुराणों में एकरूपता नजर आती है। एक मंगलस्तुति में इनका उल्लेख इस प्रकार हुआ है-

लक्ष्मीः कौस्तुभपारिजातकसुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमाः धेनुः कामदुधा सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गनाः।
अश्वः सप्तमुखो विषं हरिधनुः शंखोऽमृतं चाम्बुधे रत्नानीति चतुर्दश प्रतिदिनं कुर्वन्तु वो मङ्गलम्।[21]

अर्थात् लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, पारिजात नामक कल्पवृक्ष, वारुणी सुरा, वैद्यराज धन्वन्तरि, चन्द्रमा, कामधेनु गौ, ऐरावत हस्ती, रंभा आदि अप्सराएँ, सात मुख वाला उच्चैःश्रवा अश्व, कालकूट विष, विष्णु का शार्ङ्गधनुष, पांचजन्य शंख तथा अमृत–ये समुद्र से उत्पन्न चौदह रत्न आप लोगों का प्रतिदिन मंगल करें।

उपर्युक्त चौदह रत्नों के अलावा कुछ अन्य रत्नों का उल्लेख कतिपय पुराणों में मिलता है, जैसे–महापद्म निधि, हरिचंदन, मंदार कल्पवृक्ष, पुष्पक विमान आदि। स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्ड के अंग केदारखण्ड में वर्णित समुद्र-मंथन के आख्यान में उपर्युक्त मुख्य रत्नों के अतिरिक्त कुछ और रत्नों की प्राप्ति की भी चर्चा मिलती है। ये हैं–भाँग, काकड़सिंगी, लहसुन, गाजर, अत्यधिक उन्मादकारक धतूरा, पुष्कर आदि। संभव है ये रत्न बाद में जोड़ दिए गए हों। यहाँ समुद्र-मंथन से प्राप्त विभिन्न रत्नों और आख्यान के अन्य घटकों को रूपायित करने वाली प्रमुख प्रतिमाओं की विवेचना प्रस्तुत है।

उज्जयिनी से प्राप्त शेषशायी विष्णु की प्रतिमा विक्रम कीर्ति मंदिर संग्रहालय, उज्जैन में प्रदर्शित है। इसकी निर्माणक सामग्री भूरा बलुआ प्रस्तर है तथा मापन 85 x 51 x 27 सेमी है। इसकी अनुमानित तिथि 9वीं शती ई. है। शेषशायी विष्णु को शयनक मुद्रा में चतुर्भुजी प्रदर्शित किया गया है। विष्णु के ऊपरी बाएँ हाथ में चक्र और निचले हाथ में शंख का अंकन है। दाहिना हाथ मुकुट को सहारा दिए हुए है। दाएँ हाथ के समीप ही विष्णु का आयुध गदा दृष्टव्य है तथा निचले हाथ में अक्षमाल वक्षस्थल पर स्थित है। विष्णु किरीट, मुकुट, कुंडल, त्रिलड़ी हार, वैजयंतीमाला, कौस्तुभ मणि, वलय, केयूर, कटि मेखल, कटिःवस्त्र, उत्तरीय एवं नूपुर से शोभायमान हैं। प्रतिमा के मध्य पट्ट में मधु और कैटभ युद्धरत दृष्टव्य हैं। समीप ही दो दण्डधारी पुरुषों का अंकन किया गया है। प्रतिमा के परिकर में विष्णु के दशावतार–मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, राम, परशुराम, बलराम, बुद्ध और कल्कि दर्शित है। प्रतिमा के पादपीठ पर समुद्र-मंथन से प्राप्त रत्नों में उच्चैःश्रवा अश्व, अमृत कुंभ, कूर्म पर मन्दराचल पर्वत तथा देवगण अंकित हैं, जबकि लक्ष्मी विष्णु की चरण सेवा कर रही हैं। इस प्रतिमा में समुद्र-मंथन से प्राप्त ऐरावत को न उत्कीर्ण करते हुए ऐरावत रूपी गणेश को अंकित करने का सफल प्रयास किया गया है। यहाँ शिल्पी ने पुराणों का सहारा न लेते हुए प्रयोग की प्रवृत्ति दर्शायी है, वह शैव और वैष्णव धर्म के समन्वय को प्रदर्शित कर रहा है। इसमें अस्पष्ट पारिजात वृक्ष का भी अंकन किया गया है।

शेषशायी विष्णु, नवीं शती ई., विक्रम कीर्ति मंदिर, उज्जैन

शेषशायी विष्णु की पूर्व वर्णित प्रतिमा के समान एक और प्रतिमा विक्रम कीर्ति मंदिर संग्रहालय में प्रदर्शित है। इसमें भी समुद्र-मंथन के उपरांत लक्ष्मी, शेषशायी विष्णु की सेवारत हैं। पूर्व वर्णित प्रतिमा से भिन्न कुछ नई आकृतियाँ भी इस प्रतिमा में अंकित की गई हैं। परिकर को दो भागों में विभक्त किया गया है। इसमें अष्टदिक्पाल, द्वादश आदित्य, दशावतार, नवग्रह एवं व्यंतर देवताओं का अंकन किया गया है। पादपीठ पर ऐरावत, पारिजात वृक्ष, चार अमृत कुंभ, मन्दराचल पर्वत, सात
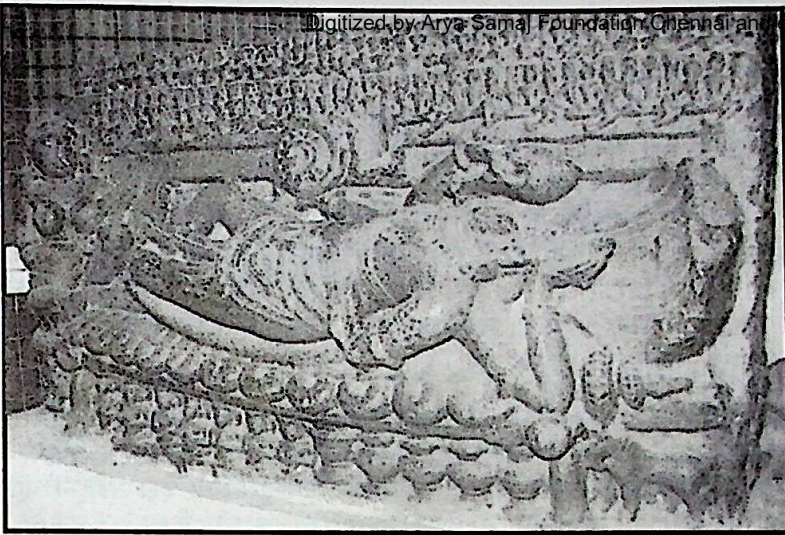
शेषशायी विष्णु, नवीं शती ई., विक्रम कीर्ति मंदिर, उज्जैन

मानव-नाग की मिश्रित आकृतियाँ, कल्पवृक्ष तथा अन्त में अंजलि हस्त मुद्रा में स्त्री परिचारिका का अंकन किया गया है। उल्लेखनीय है कि कई शेषशायी विष्णु प्रतिमाओं में एक अमृत कुंभ का अंकन मिलता है। शिल्पी ने इसमें एक के स्थान पर चार अमृत कुंभों को उकेर कर संभवतः सम्पूर्ण भारत के चार स्थानों- हरिद्वार, प्रयाग, नासिक और उज्जयिनी में आयोजित कुंभ पर्व को दर्शाने का प्रयास किया है, जो भारत की एकता और समन्वय के प्रतीक हैं। पाद पीठ पर चार कुंभ और मानव-नाग मिश्रित आकृतियों के मध्य मंदराचल पर्वत का अंकन भी किया गया है। इसकी मुख्य विशेषता यह है कि वासुकि नाग के माध्यम से सागर को मथने के कारण पर्वत पर घर्षण के निशान भी शिल्पी ने दर्शाने का प्रयास किया है। कहा गया है- 'रसरी आवत जात है, सिल पर परत निसान।' यह शिल्पी की कुशलता और गांभीर्य का प्रतीक है।

विक्रम कीर्ति मंदिर संग्रहालय में एक दशावतार पट्ट प्रदर्शित है। इसमें विष्णु के दसों अवतारों का चित्रण किया गया है। इस पट्ट की मुख्य विशेषता यह है कि शिल्पी ने विष्णु के क्रमबद्ध दशावतारों का चित्रण न करते हुए जहाँ उसे जो उपयुक्त लगा, अंकित कर दिया है। इस पट्ट में मत्स्य और कूर्म का अंकन विशेषतः दर्शनीय है। इस तरह की प्रतिमा मालवा क्षेत्र में पहली बार प्राप्त हुई है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा 11-12वीं शती ई. की अनुमानित है, जो परमार कला के पतनोन्मुख काल प्रदर्शित कर रही है।
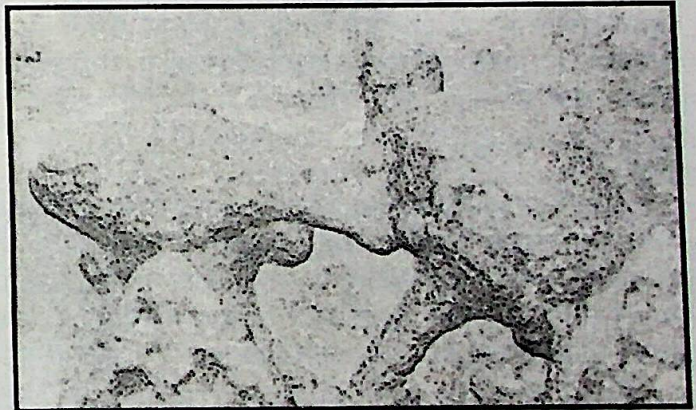
कूर्म और मत्स्यावतार, 11-12शती ई., उज्जैन

पूर्व वर्णित प्रतिमाओं के समान विक्रम कीर्ति मंदिर संग्रहालय में प्रदर्शित एक अन्य शेषशायी विष्णु प्रतिमा में भी दशावतारों को अंकित किया गया है। इसमें समुद्र-मंथन से प्राप्त अमृत कुंभ के साथ उच्चैःश्रवा अश्व और ऐरावत को साथ-साथ प्रदर्शित किया गया।

उच्चैःश्रवा अश्व और ऐरावत, नवीं शती ई., उज्जैन

बिड़ला संग्रहालय, भोपाल में प्रदर्शित परमारकालीन वैष्णव प्रतिमाएँ 8वीं से 13वीं शती ई. तक की हैं। इनमें से एक शेषशायी विष्णु प्रतिमा समसगढ़ (सीहोर) से प्राप्त हुई है। भूरे शिला फलक से निर्मित इस प्रतिमा का आकार 45 x 92 x 21 सेमी है तथा इसका समय 13वीं शती ई. अनुमानित है। इस प्रतिमा में शेष शैया पर विष्णु शयनक मुद्रा में हैं। किरीट-मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर, कटक, वलय, मेखला, वनमाला आदि से अलंकृत विष्णु के चरणों में लक्ष्मी सेवारत हैं। ऊपर शिलाफलक पर दशावतारों का अंकन हैं। नीचे सूर्य के साथ समुद्र-मंथन से निकले चन्द्र, उच्चैःश्रवा अश्व तथा पाँच घटों का अंकन है। बीच में एक ध्यानस्थ पुरुष आकृति भी है।[22] यह प्रतिमा शिल्पशास्त्रों के प्रतिमा लक्षणों का पालन करती है। संभवतः इसमें प्रदर्शित पाँच घट (कुंभों) में से चार भारत के चार प्रमुख तीर्थ स्थानों-हरिद्वार, प्रयाग, नासिक और उज्जैन में होने वाले कुंभ पर्व के प्रतीक हैं तथा एक घट मंदराचल पर्वत का प्रतीक है।

नरसिंहगढ़ से प्राप्त शेषशायी विष्णु की एक प्रतिमा में नीचे दोनों पार्श्व में दो-दो पूर्ण कुंभों को दर्शाया गया है। बीच में कालिया मर्दन का दृश्य है। इस प्रतिमा में प्रदर्शित चार पूर्ण कुंभ देश के चार स्थानों पर होने वाले कुंभ पर्व को प्रतीकित करते हैं। 11वीं शती में अनुमानित इस प्रतिमा का निर्माण हरे रंग के बलुआ प्रस्तर से हुआ है तथा आकार 80 x 226 x 60 सेमी. है।[23]

विदिशा संग्रहालय में प्रदर्शित शेषशायी विष्णु (शयन) की एक प्रतिमा में पादपीठ के दोनों ओर दो पूर्ण घट एवं उनके मध्य में तीन देव प्रतिमाएँ तथा अश्व का अंकन किया गया है। लाल बलुआ प्रस्तर से निर्मित यह प्रतिमा 13वीं शती की है तथा इसका आकार 68 x 52 x 55 सेमी है। इसी संग्रहालय में प्रदर्शित शेषशायी विष्णु की एक अन्य प्रतिमा में समुद्र-मंथन से प्राप्त रत्नों के स्थान पर मंथन का दृश्य अंकित कर दिया गया है। लगभग 10वीं शती में लाल बलुआ प्रस्तर से निर्मित इस प्रतिमा में विष्णु सप्तफणों से युक्त शेषशैया पर शयनक मुद्रा में हैं।[24] कौस्तुभमणि, मुक्तमाला, कंठाभरण आदि से अलंकृत विष्णु के पैरों के समीप भग्न लक्ष्मी बैठी हैं। प्रतिमा के ऊर्ध्व भाग में नवग्रहों का अंकन खंडित अवस्था में है। नीचे दोनों ओर पट्टिका में समुद्र-मंथन का दृश्य अंकित किया गया है।

इन्द्र और वरुण

पौराणिक आख्यानों के अनुसार समुद्र-मंथन की पृष्ठभूमि में दैत्यों से इन्द्र की पराजय एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। भारतीय साहित्य में इन्द्र की उत्पत्ति सम्बन्धी अनेक मत मिलते हैं। ऋग्वेद में इनकी उत्पत्ति एक राक्षस को नाश करने के लिए बताई गई है।[25] ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार इन्द्र को प्रजापति ने उत्पन्न किया था।[26] समुद्र-मंथन के पश्चात् मोहिनी रूपी विष्णु ने इन्द्र को ऐरावत हाथी प्रदान किया था, वहीं पारिजात वृक्ष तथा रम्भा को उनके नंदनवन में भेजा गया था।

भारतीय कला परम्परा में इन्द्र के अंकन के निर्देश बृहद्संहिता, विष्णुधर्मोत्तर पुराण एवं अन्य शिल्प शास्त्रों में मिलते हैं। इन्द्र के प्राचीनतम अंकन गांधार एवं मथुरा की कला में प्राप्त होते हैं। भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर मंदिर में भी इन्द्र की प्रतिमाएँ मिलती हैं। प्रतीहार एवं परमारकालीन शिल्पों में इन्द्र अष्टदिक्पालों के बीच अंकित हैं ही, कहीं-कहीं इनकी स्वतंत्र प्रतिमा भी मिलती है। मालादेवी मंदिर (ग्यारसपुर, विदिशा) में प्राप्त प्रतिमा इसी प्रकार की है, जिसमें इन्द्र हस्ति के ऊपर ललितासन में विराजमान हैं। इन्द्र रत्नमुकुट, रत्नकुण्डल, द्विवली हार, केयूर, पादकटक, यज्ञोपवीत तथा अधोवस्त्र धारण किए हैं एवं उनका दाहिना पैर कलश के ऊपर रखे कमल पर स्थित है। यह प्रतिमा खंडित है।[27]

इन्द्र के साथ ही वरुण का उल्लेख भी समुद्र-मंथन के आख्यान में मिलता है। वरुण भी इन्द्र के समान वैदिक देवता हैं। पौराणिक देवशास्त्र में ये इन्द्र के साथ अष्टदिक्पाल में परिगणित किए जाने लगे। इन्हें लोकपाल भी कहा जाता है। समुद्र-मंथन से प्राप्त वारुणी सुरा वरुण को अर्पित की गई थी। वाल्मीकि रामायण के अनुसार वारुणी वरुण की कन्या थी। उस वरुण कन्या सुरा को

देवताओं ने ग्रहण किया था, इसीलिए वे 'सुर' कहलाए। भारतीय कला में वरुण का स्वतंत्र अंकन कम ही हुआ है। इन्हें इन्द्र एवं अन्य दिक्पालों के साथ अंकित करने की परम्परा रही है। परमार एवं प्रतीहार काल की अनेक प्रतिमाओं पर इनका अंकन मिलता है, जिनमें यज्ञवराह की प्रतिमा प्रमुख है। प्रतीहारयुगीन कला में इन्द्र, वरुण आदि अष्टदिक्पालों का प्रदर्शन इंदोर (गुना), चतुर्मुख महादेव मंदिर, नचना (पन्ना), गडरमल मंदिर (बड़ोह पठारी), मालादेवी मंदिर (ग्यारसपुर), जामगढ़-भगदेई (रायसेन) आदि के मंदिरों में किया गया है। कन्नौज के संग्रहालय में संग्रहीत नवीं शती की कल्याण सुन्दर प्रतिमा के शिलाफलक में परिकर में ऐरावत गजारूढ़ इन्द्र, मकरारूढ़ वरुण तथा अन्य देवी-देवताओं का अंकन मिलता है।[28]

लक्ष्मी

समुद्र-मंथन के पौराणिक आख्यान में समुद्र से प्राप्त विभिन्न रत्नों के साथ लक्ष्मी का वर्णन भी मिलता है, जो विष्णु का वरण करती हैं। भारतीय देवों की शृंखला में लक्ष्मी प्राचीनतम कड़ी हैं। विभिन्न उत्खननों में प्राप्त प्राचीन मृण्मूर्तियों में इनका मातृका स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है। सिंधु घाटी की सभ्यता से ही शक्ति की अवधारणा में लक्ष्मी की कल्पना का प्रादुर्भाव हो गया था। वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा प्राचीन साहित्य में इस देवी का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। प्रतिमा की दृष्टि से अभिलषितार्थ चिन्तामणि, मत्स्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, अंशुमद्भेदागम, देवीपुराण और मार्कण्डेय पुराण के वर्णन महत्त्वपूर्ण है।[29] गुप्तकालीन कला में विष्णु के साथ लक्ष्मी का अंकन प्रतिमाशास्त्रीय मानदण्डों के अनुरूप दिखाई देता है। प्रतीहार, परमार, चालुक्य, चंदेल एवं कल्चुरीकालीन कला में लक्ष्मी के कई रूपों के अंकन का विकास हुआ। शेषशायी विष्णु के साथ उनकी सेवा में रत लक्ष्मी के शिल्पांकन समुद्र मंथन के आख्यान के सुन्दर निदर्शन हैं; जिनकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त भी स्वतंत्र रूप से लक्ष्मी प्रतिमाएँ मिलती हैं। ऐसी प्रतिमाओं में देवगढ़ मंदिर क्रमांक बारह की सिरपट्टी में उत्कीर्ण लक्ष्मी प्रतिमा उल्लेखनीय है।[30]

मूर्तिशिल्प के अतिरिक्त मुद्राशास्त्र की दृष्टि से देखें तो प्राचीन भारतीय मुद्राओं में लक्ष्मी का अंकन सर्वप्रथम आहत मुद्राओं में प्राप्त होता है। लक्ष्मी का अंकन तीसरी शती ई.पू. से ही प्रारंभ हो जाता है। इसमें कहीं लक्ष्मी पद्मासना है, कहीं ललितासना। महिद्पुर (जिला.उज्जैन) से प्राप्त दुर्लभ मुद्रा में लक्ष्मी को नृत्यरत प्रदर्शित किया गया है। गुप्तकाल तक आते-आते जनमानस में लक्ष्मी लोकप्रिय हो चुकी थी। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त और कुमारगुप्त की स्वर्णमुद्राओं पर लक्ष्मी उत्कीर्णित है। तत्पश्चात् नवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही कल्चुरी नरेश गांगेय देव की स्वर्ण मुद्राओं पर लक्ष्मी का अंकन है। परमार नरेश अजयदेव की रजत मुद्राओं पर लक्ष्मी का अंकन प्रचुर मात्रा में है। इन मुद्राओं के साथ कहीं-कहीं गजाभिषेक लक्ष्मी का अंकन भी प्राप्त होता है। 14वीं शती के बाद मुगल बादशाहों ने भी या तो श्री सुल्तान लिखा है या उन पर लक्ष्मी का अंकन किया है। मराठा काल में तो लक्ष्मी घर-घर में पूजी जाने लगी। वर्तमान तक आते-आते लक्ष्मी धन की देवी के रूप में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गई हैं।

परमार नरेश अजयदेव की लक्ष्मी प्रकार की मुद्रा, 12वीं शती ई.

धन्वन्तरि

धन्वन्तरि का नाम देव चिकित्सक के रूप में अनेक प्राचीन ग्रंथों और पुराणों में मिलता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार शल्यशास्त्र के ज्ञाता, पारंगत विद्वान् को धन्वन्तरि कहा जाता है। महाभारत के अनुसार एक बार राजा पृथु के भय से पृथ्वी गाय बन गई थी। तब देवताओं ने इन्द्र

को बछड़ा बनाकर सोने के पात्र में अमृत रूप दूध दूहा था। यह अमृत दुर्वासा के शापवश समुद्र में चला गया था, जिसे समुद्र-मंथन के समय कुंभ में लेकर धन्वन्तरि बाहर आए थे। भागवत में विष्णु के अंशांश से धन्वन्तरि की उत्पत्ति मानी गई है-

स वै भगवतः साक्षाद् विष्णोरंशांशसम्भवः।
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् ।।[31]

पौराणिक आख्यान के अनुसार समुद्र-मंथन के फलस्वरूप दिव्य कांति से युक्त, तेजस्वी, हाथ में अमृतपूर्ण कलश लिए हुए अलौकिक पुरुष प्रकट हुआ। वही आयुर्वेद के प्रवर्त्तक और यज्ञभोक्ता भगवान् धन्वन्तरि के नाम से प्रख्यात हुए। उनका आविर्भाव कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी (धनतेरस) को हुआ था। श्रीमद्‌भागवत में इन्हें 'स्मृतिमात्रार्तिनाशनः' विशेषण दिया गया है। भागवत में ही चर्चित विष्णु के छब्बीस अवतारों में इनका क्रम कच्छप और मोहिनी के बीच में दिया गया है।[32] नरसिंह, वामन, राम, कृष्ण आदि अवतार इनके बाद बताए गए हैं। गरुड़ एवं अन्य पुराणों में भी इनका विष्णु के अवतार के रूप में उल्लेख मिलता है। वे इन्द्र के अनुरोध पर देवों के चिकित्सक के रूप में अमरावती में रहने लगे थे। ऐसी मान्यता है कि यही धन्वन्तरि कालान्तर में काशीराज दिवोदास धन्वन्तरि के रूप में जन्मे, जिन्होंने 'धन्वन्तरि संहिता' लिखी और अष्टांग आयुर्वेद शास्त्र का प्रचार किया।

ब्रह्माण्ड पुराण में अमृत को प्राचीन 'प्लक्षद्वीप' की चन्द्र पहाड़ी की वनौषधियों का रस कहा गया है। अमृत मंथन के आख्यान में धन्वन्तरि को अमृत कुंभ लेकर समुद्र से निकलने का उल्लेख मिलता है। अधिकांश पुराणों में इस प्लक्ष द्वीप को पृथ्वी के सात द्वीपों के अन्तर्गत रखा गया है। इन सात द्वीपों को वृत्ताकार भूमिखण्ड के समान बताया गया है, जो एक के अन्दर दूसरे वलय की तरह समाहित हैं। श्रीमद्‌भागवत, विष्णु, मार्कण्डेय आदि पुराणों में इन द्वीपों का क्रम बताया गया है-जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप। ये द्वीप किसी न किसी विशेष सागर से घिरे हुए हैं, जो क्रमशः हैं- लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, क्षीर एवं स्वादूदक या जल। पाणिनि ने 'द्वीप' (द्वि+अप) शब्द का अर्थ माना है-जल की दो धाराओं के मध्य स्थित भूमि। (अष्टाध्यायी 5/4/74, 6/3/97) पुराणों में द्वीप से जो तात्पर्य लिया जाता है, वह है 'जल, बालू, ऊँचे पहाड़ों या घने वनों से घिरा वह भू-भाग, जो सामान्यतः अन्य भू-भाग से पृथक् हो।' पुराणों में प्रयुक्त 'द्वीप' शब्द वर्तमान में प्रचलित रूढ़ अर्थ का बोधक नहीं है। पौराणिक 'द्वीप' सभी प्रकार के प्राकृतिक या मानवीय क्षेत्रों के बोधक हैं, जो आकार में बड़े या छोटे हों।[33] इन द्वीपों के निरूपण में महाकाव्य एवं पौराणिक युग की मिथकीयता का भी समावेश हुआ है। अधिकांश पुराणों में इन द्वीपों की वनस्पति, नदी, पर्वत, जलवायु आदि का भी वर्णन हुआ है। कुछ विद्वानों ने इन्हीं के अध्ययन के आधार पर द्वीपों के वर्तमान रूप को खोजने की कोशिश की है। इसी वर्णन के आधार पर कुछ विद्वानों ने प्लक्ष द्वीप को वर्तमान अफगानिस्तान के काबुल (सं. कुभा) नदी के आसपास का क्षेत्र माना है।[34] जबकि एक अन्य मान्यता के अनुसार यह द्वीप वर्तमान कैस्पियन सागर के पश्चिम में भूमध्यसागर के आसपास का क्षेत्र रहा होगा।[35] इन मतान्तरों के बावजूद यह संभव है कि पुराणोक्त प्लक्ष द्वीप सुदूर पश्चिमी भारत या पश्चिम एशिया में रहा होगा। उसी क्षेत्र में अथर्ववेद में वर्णित तीन प्रकार की सरस्वती नदियाँ अस्तित्व में रही हैं, जिनकी पहचान विद्वानों ने क्रमशः अफगानिस्तान की हेलमंड नदी (अवेस्ता में हरखैती के रूप में चर्चित), सिंधु (प्राचीन युग में सरस्वती कही जाती थी) और कुरुक्षेत्र की सरस्वती।[36] सरस्वती के लिए 'प्लक्षजाता' विशेषण का प्रयोग किया जाता था। ऐसा माना जाता है कि सरस्वती का उद्‌गम प्लक्ष वृक्ष (गूलर या पाकड़ या वटवृक्ष) की मूल से होता है। संभव है धन्वन्तरि ने प्राचीन प्लक्षद्वीप क्षेत्र की विशिष्ट वनौषधियों का अनुसंधान कर अमृत रस का निर्माण किया हो, जो देव-असुर संघर्ष का कारण बना हो। कालान्तर में 'धन्वन्तरि' शब्द देव चिकित्सक धन्वन्तरि का वाचक न रहकर एक पदवी की तरह प्रयोग में आने लगा।

भारतीय मूर्ति शिल्प परम्परा में धन्वन्तरि का अंकन कम ही हुआ है। बड़ोह पठारी (विदिशा) से प्राप्त प्रतीहारकालीन शिलापट्ट पर अंकित सागर मंथन के दृश्य में धन्वन्तरि का अंकन हुआ है।

इस पट्ट के मध्य में कूर्म पृष्ठ पर मंदराचल (मथनी) अवस्थित है, जिसका मंथन देव और दानव कर रहे हैं। बाईं ओर इन्द्र, ऐरावत आदि सहित धन्वन्तरि खड़े हुए हैं। मालवा क्षेत्र में महिदपुर (उज्जैन) के पास धन्वन्तरि नामक एक गाँव है, जहाँ से बड़ी मात्रा में दुर्लभ जड़ी-बूटियाँ मिलती रही हैं। इस गाँव के पास ही बैजनाथ (सं. वैद्यनाथ) नामक गाँव है। यह क्षेत्र लोक जीवन में देववैद्य धन्वन्तरि की स्मृति का साक्षात् दृष्टांत है।

अमृत कुंभ

कुंभ या मंगल कलश वैदिक काल से ही सर्वोत्तम प्रतीक रहा है। कुंभ पर्व सम्बन्धी पौराणिक आख्यान के अनुसार समुद्र-मंथन के समय अमृत कुंभ की प्राप्ति हुई थी। इसीलिए इसका एक पर्याय है-समुद्रनवनीतक। अमृत अमरत्व प्रदान करने वाला द्रव्य विशेष माना गया है। अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों जैसे-जल, घृत, यज्ञशेष द्रव्य, अयाचित वस्तु, आत्मा, मुक्ति आदि को भी अमृत कहा जाता है। भारतीय कला में मंगल घट या कुंभ का प्रारंभिक अंकन भरहुत, सांची, अमरावती आदि में किया गया है। गुप्तकाल में इसे अधिक मान्यता मिली। जल से भरा हुआ कुंभ सुख-समृद्धि और पूर्णता का प्रतीक रहा है। कुंभ के मुख पर पत्र-पुष्प रखने की परम्परा सुदूर अतीत से चली आ रही है। समुद्र-मंथन से जुड़ा पुराणोक्त अमृत कुंभ कला परम्परा में कहीं धन्वन्तरि के हाथ में, कहीं लक्ष्मी के हाथ में उत्कीर्ण मिलता है। प्राचीन भारतीय मुद्राओं पर लक्ष्मी या तो कमल नाल लिए दर्शायी गई हैं या अमृत कुंभ लिए हुए हैं। अमृत कुंभ को अनेक मुद्राओं पर भिन्न-भिन्न आकार में प्रदर्शित किया गया है। विशेष उल्लेखनीय है कि यह अमृत कुंभ इतना अधिक प्रचलित हो गया कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक प्रत्येक हिन्दू देवालय में शिखर के ऊपर कलश स्थापित किया जाता है। यह कलश अमृत कुंभ का ही प्रतीक है। यह भारत भर के देवालयों में देखा जा सकता है।
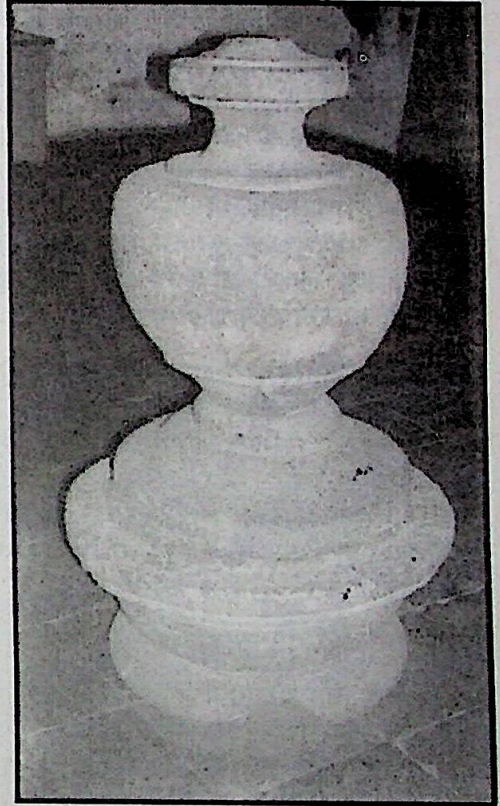
अमृत कुंभ (कलश), 11शती ई.,उज्जैन

विक्रम कीर्ति मंदिर संग्रहालय, उज्जैन में प्रदर्शित कलश भूरे बलुआ पत्थर से निर्मित है। यह तीन लोकों का प्रतिनिधित्व कर रहा है। 11वीं शती ई. में उदयादित्य के समय संभवतः इसका निर्माण महाकालेश्वर मंदिर के निर्माण के साथ किया गया है।

प्रतीहारकालीन देवालयों के स्तम्भों पर भी विविध प्रकार से अलंकृत मंगल कलश या घटपल्लव का अंकन मिलता है। प्रारंभिक प्रतीहारकालीन मंदिरों में इसका अंकन स्तम्भ के निचले भाग में ही पाया जाता है, किन्तु परवर्ती काल में इसे स्तम्भ के ऊपर और नीचे दोनों जगह स्थान दिया गया। मध्य प्रदेश के नीलकंठेश्वर महादेव (उदयपुर), मालादेवी मंदिर तथा गडरमल मंदिरों में इनकी प्रचुरता है।

ऐरावत

समुद्र-मंथन से प्राप्त रत्नों में से एक ऐरावत इन्द्र के वाहन के रूप में पुराण-प्रसिद्ध है। भारतीय मूर्तिशिल्प परम्परा में गज का अंकन सिंधु घाटी की सभ्यता से मिलने लगता है। उल्लेखनीय है कि देवाकचार, नरसिंहपुर (म.प्र.) से गज का चार लाख वर्ष पूर्व का मस्तक जीवाश्म प्राप्त हुआ है,
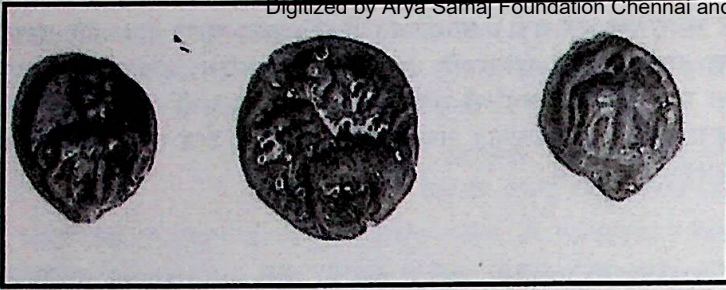
उज्जयिनी से प्राप्त आहत मुद्राएँ: 1. गतिमान गज और उस पर अंकित महावत। इसके पूर्व भाग मे उज्जयिनी चिह्न अंकित है। (दूसरी शती ई. पू.) 2. गौतमी पुत्र श्री सातकर्णी की मुद्रा, जिस पर गज का अंकन है तथा ऊपर ब्राह्मी लिपि में 'श्री सातकनिस' उत्कीर्ण है। 3. गतिमान गज पर महावत अंकित है। गज की पीठ पर अश्व तथा उस पर अश्वारोही पताका लिए हुए है। (दूसरी-तीसरी शती ई.)।

जो विक्रम कीर्ति मंदिर, संग्रहालय, उज्जैन में प्रदर्शित है। यह संसार का प्राचीनतम ऐरावत माना जा सकता है। गज को सुदूर अतीत से कर्म और ऐश्वर्य का प्रतीक माना जाता रहा है। प्रतिमा शास्त्र में देवराज इन्द्र के वाहन के रूप में ऐरावत के अंकन की परम्परा रही है। प्रतीहारयुगीन शिल्प में इसका अंकन इन्द्र, इन्द्राणी के वाहन के रूप में किया गया है। फिर शेषशायी विष्णु की अनेक प्रतीहार एवं परमारकालीन प्रतिमाओं में पाद पीठ पर स्वतंत्र ऐरावत का भी अंकन मिलता है, जो समुद्र-मंथन से उसकी प्राप्ति की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार अनेक शैव एवं वैष्णव प्रतिमाओं में परिकर में ऐरावत पर सवार इन्द्र का अंकन मिलता है। प्रतिमाओं के पहले आहत मुद्राओं पर भी गज का अंकन मिलता है। ऐरावत ऐश्वर्य का प्रतीक माना जाता था, फलतः उसे लक्ष्मी के साथ भी जोड़ा जाने लगा। गजाभिषेक लक्ष्मी और गज लक्ष्मी का विभिन्न माध्यमों में रूपांकन इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं।

प्रतीहारकालीन कला में बड़ोह पठारी के पूर्व में विवेचित समुद्र-मंथन के शिलापट्ट में ऐरावत सहित इन्द्र का सुन्दर अंकन मिलता है। प्रतीहार काल (आठवीं सदी ई.) की ही बटेसर से प्राप्त कल्याण सुन्दर प्रतिमा के परिकर में भी ऐरावत पर सवार इन्द्र का अंकन किया गया है।[37] इसी काल में निर्मित भैंसवाहा मंदिर (सागर) की रथिका स्थित गोवर्द्धनधारी कृष्ण की प्रतिमा में मूसलाधार वर्षा का दृश्य अंकित है और पर्वत के नीचे अनेक व्यक्ति शरण लिए हुए हैं। पर्वत के ऊपर ऐरावत पर सवार इन्द्र को अंकित किया गया है। मालादेवी मंदिर और गडरमल मन्दिर में इन्द्राणी को ऐरावत पर आरूढ़ अंकित किया गया है।

कौस्तुभ मणि, शार्ङ्गधनुष एवं पांचजन्य शंख

पौराणिक आख्यानों के अनुसार समुद्र-मंथन से प्राप्त रत्नों में से कौस्तुभ मणि, शार्ङ्गधनुष एवं पांचजन्य शंख विष्णु ने धारण किए थे, जिनका मूर्तिशिल्पों में भी अंकन मिलता है। बृहद्संहिता में कौस्तुभमणि भूषितो रस्कः कहकर कौस्तुभ मणि को विष्णु के वक्षस्थल पर सुशोभित बताया गया है।[38] विष्णुपुराणकार ने कौस्तुभ मणि को निर्लिप्त, निर्गुण आत्मा के प्रतीक के रूप में व्यक्त किया है।[39] गुप्त काल से लेकर प्रतीहार एवं परमार काल तक के मूर्तिशिल्पियों ने विभिन्न स्वरूपों में विष्णु का शिल्पांकन करते हुए कौस्तुभ मणि को उनके वक्षस्थल पर उत्कीर्ण किया है। प्रतीहार काल में ऐसी अनेक विष्णु प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। जोधपुर अभिलेख में परमेश्वर का चतुर्मुखी वर्णन है। वे शंख, चक्र, गदा, कमल और कौस्तुभमणि धारण किए हैं। शेषशायी रूप में विष्णु कौस्तुभ मणि एवं आयुधों से युक्त अनेक देवालयों में प्रदर्शित हैं।[40] अभिलेखों में प्रतीहार नरेश देवशक्ति को परम वैष्णव कहा गया है। श्रीमद्भागवत में विष्णु के पांचजन्य शंख को जल तत्त्व रूप कहा गया है-'अपां तत्त्वं दरवरम्।' इसी तरह उनके शार्ङ्गधनुष को कालरूप कहा गया है- 'कालरूपं धनुः शार्ङ्गम्।'[41] इन दोनों आयुधों का अंकन परमार, प्रतीहार, चालुक्य एवं कल्चुरीकालीन विष्णु प्रतिमाओं में प्रचुरता से मिलता है।

सूर्य, चन्द्र और गुरु

समुद्र-मंथन के पौराणिक आख्यान में विभिन्न ग्रहों के रूप में प्रसिद्ध देवों की भी विशिष्ट भूमिका प्रदर्शित की गई है। इस आख्यान को केन्द्र में रख कुंभ महापर्व के समय का निर्धारण

विशिष्ट ग्रहयोगों के आधार पर ही होता है। पौराणिक आख्यान के अनुसार एक समय राज्य मद से उन्मत्त देवराज इन्द्र ने देवगुरु बृहस्पति की अवहेलना कर दी थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि देवगुरु बृहस्पति कुपित हो गए। कुछ पुराणों में दुर्वासा मुनि को इन्द्र पर क्रोधित दर्शाया गया है। तब राजा बलि ने दैत्यों की विशाल सेना को लेकर अमरावती पर चढ़ाई कर दी। भयंकर युद्ध के बाद देवगण परास्त हो गए। ऐरावत, उच्चै:श्रवा अश्व आदि रत्न पहले पाताल ले जाए गए, जो बाद में दैत्यों के अधिकार से छूटकर समुद्र में चले गये। अमृत सहित इन्हीं रत्नों की प्राप्ति के लिए समुद्र-मंथन की योजना बनी थी। इस मंथन में चन्द्र भी प्राप्त हुआ था। मंथन से प्राप्त अमृत कुंभ की रक्षा में चन्द्र, सूर्य और गुरु ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। मंथन से प्राप्त सप्तमुख वाला उच्चै:श्रवा अश्व सूर्य को प्रदान किया गया था। इसी तरह चन्द्र शिव को अर्पित किया गया था जो उनके मस्तक पर सुशोभित होता है।

भारत में उपर्युक्त ग्रहों सहित नवग्रहों की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। ये नवग्रह हैं-सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, राहु, शनि और केतु। याज्ञवल्क्य स्मृति, अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तर सहित कई पुराणों में नवग्रह प्रतिमाओं के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। इन ग्रंथों में विविध ग्रहों के आयुध, अलंकरण आदि का उल्लेख मिलता है। भारतीय शिल्पांकन परम्परा में नवग्रहों का उत्कीर्णन संभवत: गुप्तोत्तर काल में प्रारम्भ हुआ, जिन्हें मुख्यत: मंदिरों के सिर-पट्टी या उतरंग या द्वार शाखा में दिखाया जाता था। प्रतीहार एवं परमारकालीन कला में सूर्य, चन्द्र एवं बृहस्पति का शिल्पांकन शास्त्र एवं पुराणों के निर्देशों के अनुरूप ही हुआ है। सूर्य की प्रतिष्ठा वेदों में विशिष्ट देवता के रूप में भी थी, इसीलिए सूर्य का अंकन नवग्रह पट्ट के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप में भी हुआ।

सूर्य, दसवीं शती ई., धार

सूर्य उपासना की परम्परा भारत में आदिकाल से रही है। वैदिक काल से सूर्य की उपासना के अनेक प्रमाण मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। वेदोत्तर काल में भी सूर्य उपासना का महत्त्व बना रहा। ब्राह्मण एवं पुराणों में द्वादश आदित्य के नाम से सूर्य का वर्णन किया गया है। भारतीय शिल्प में मानवाकृति सूर्य का अंकन ई.पू. से ही प्रारम्भ होता है। गुप्तकाल में सूर्य की प्रतिमा-निर्माण में तेजी आई। प्रतीहारकाल तक आते-आते सूर्य प्रतिमाओं में सप्ताश्व (संभवत: सात मुख वाला उच्चै:श्रवा अश्व) रथ के साथ सूर्य की पत्नियों ऊषा, प्रत्यूषा, राज्ञी (संज्ञा) और निक्षुभा के चित्रण मिलने लगे। प्रतीहार काल के नरेसर, बटेसर मंदिर समूह, रामेश्वर मंदिर, गडरमल, भैंसवाड़ा आदि के मंदिरों में सूर्य की अनेक आसनस्थ एवं स्थानक प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इसी प्रकार परमारकाल के अनेक मंदिरों में स्वतंत्र रूप से तथा अन्य ग्रहों के साथ नवग्रह पट्ट पर सूर्य का अंकन मिलता है। ये प्रतिमाएँ एवं नवग्रह पट्ट उज्जैन, भोपाल, विदिशा आदि के संग्रहालयों में प्रदर्शित किए गए हैं।

धार संग्रहालय में प्रदर्शित एक स्वतंत्र शिलापट्ट पर अश्वारूढ़ सूर्य प्रतिमा का अंकन किया गया है। इसमें द्विभुजी सूर्य को एक अलंकृत पीठिका पर आसनस्थ मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। सूर्य का
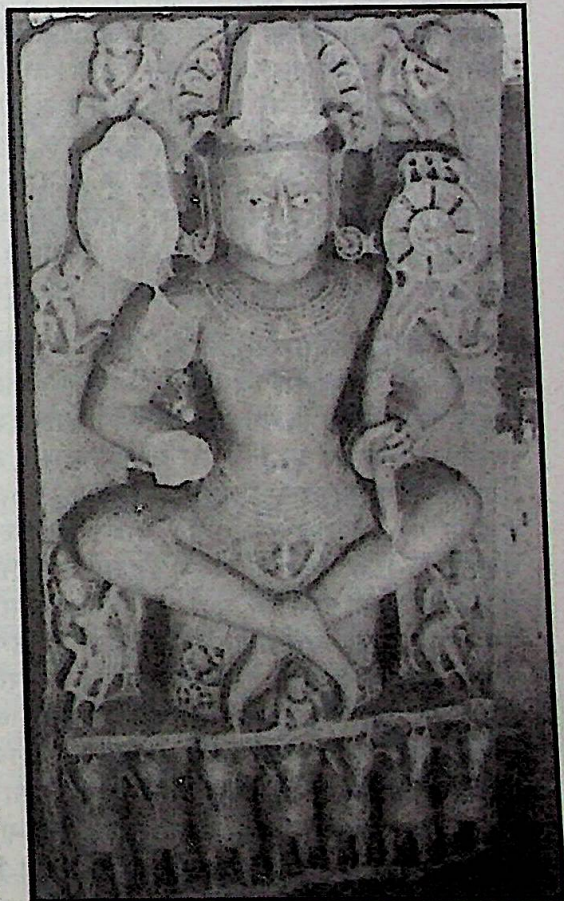
एक हाथ भग्न हो चुका है, जबकि दूसरे हाथ में विकसित कमल प्रदर्शित है। मस्तक के पीछे सवर्तुल प्रभा मण्डल है। सूर्य किरीट मुकुट, कुण्डल, हार, ग्रेवेयक, यज्ञोपवीत, कौस्तुभ, उत्तरीय, कंकण, कटिवस्त्र, वनमाला, कवच तथा नूपुर आदि अलंकरणों से अलंकृत हैं। सूर्य प्रतिमा के परिकर में दाएँ-बाएँ गंधर्व आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। ये भी सूर्य के समान सामान्य अलंकरणों से अलंकृत हैं। सूर्य के साथ उनकी चारों पत्नियों को उत्कीर्णित करने का विधान है, परन्तु प्राप्त प्रतिमा में ऊषा और प्रत्यूषा का ही अंकन किया गया है। पाद पीठ पर दो स्त्री आकृतियाँ अस्पष्ट आयुध लिए हुए कट्यावलम्बित मुद्रा में प्रदर्शित हैं। पादपीठ पर सूर्य के चरणों के पास देवी महाश्वेता बीचोंबीच उत्कीर्ण हैं। निम्न पादपीठ पर सप्त अश्वों को उत्कीर्णित किया गया है। केन्द्रीय अश्व के ऊपर सारथी अरुण का अंकन किया गया है। इस प्रतिमा की मुख्य विशेषता यह है कि सूर्य को लम्बे उपानह पहने प्रदर्शित किया गया है, यह परम्परा भारतीय न होकर विदेशी है। उपानह पहने सूर्य को मुख्यतः स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित किया जाता है, किन्तु यहाँ आसनस्थ मुद्रा में ही उपानह पहने प्रदर्शित किया गया है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा दसवीं शती ई. की है।

सूर्य की एक अन्य प्रतिमा विक्रम कीर्ति मंदिर, संग्रहालय, उज्जैन में संग्रहीत है। इसकी निर्माणक सामग्री भूरा बलुआ प्रस्तर है तथा मापन 135 x 65 x 20 सेमी है। सूर्य को समभंग स्थानक मुद्रा में चतुर्भुजी प्रदर्शित किया गया है। सूर्य के तीन हाथ भग्न हो चुके हैं तथा एक हाथ में विकसित सनाल कमल दृष्टव्य है। ये मुकुट, कुंडल, हार, उपनयन, छन्नवीर, अव्यंग, केयूर, वलय, अधोवस्त्र, कवच तथा उपानह धारण किए हुए हैं। रत्न और पुष्प अलंकरणों से अलंकृत दोहरा प्रभा मण्डल प्रतिमा की शोभा बढ़ा रहा है। परिकर के मध्य आसनस्थ मुद्रा में चतुर्भुजी शिव का अंकन किया गया है। इन्हें भी सामान्य अलंकरणों से अलंकृत किया गया है। शिव के दोनों ओर बैठी हुई स्त्री-पुरुष आकृतियाँ हैं। परिकर के दोनों ओर पाँच देव आकृतियों का अंकन किया गया है। निचले भाग में अष्टदिक्पाल का अंकन किया गया है। तदुपरान्त दो अलंकृत पीठिकाओं पर ब्रह्मा और विष्णु का अंकन है। प्रतिमा के मध्य परिकर में गज व्याल एवं सिंह व्याल का अंकन है। इन्हीं के समीप सूर्य की पत्नियाँ ऊषा, प्रत्यूषा, राज्ञी और निक्षुभा सभी धनुष लिए हुए प्रदर्शित हैं। पाद पीठ पर दंड और पिंगल तथा दोनों ओर हयग्रीव तथा कट्यावलम्बित मुद्रा में चँवरधारिणियों को प्रदर्शित किया गया है। ये समस्त प्रतिमाएँ उच्च कोटि के अलंकरणों से अलंकृत हैं। पाद पीठ के मध्य भू-देवी का अंकन है तथा प्रतिमा के दोनों ओर अंजलिहस्त मुद्रा में स्त्री आकृतियाँ बैठी हुई प्रदर्शित की गई हैं। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा दसवीं शताब्दी ई. की अनुमानित है, जो परमार कला से प्रभावित है।

विभिन्न नवग्रह पट्टों पर सूर्य के साथ ही चन्द्र एवं गुरु के भी शास्त्रोक्त विधान के अनुरूप शिल्पांकन मिलते हैं। कहीं ये सभी द्विभंग या त्रिभंग में खड़े दर्शाए गए हैं, तो कहीं आसनस्थ। इसी प्रकार उन्हें विविध अलंकार, जैसे वैजयंतीमाला, कुण्डल, कटिवस्त्र, जटामुकुट आदि से अलंकृत दर्शाया गया है। विक्रम कीर्ति मंदिर संग्रहालय, उज्जैन में प्रदर्शित नवग्रह पट्ट के मध्य बहुअलंकृत लघु देवकुलिका में बृहस्पति को स्थानक मुद्रा में अंकित किया गया है। यहाँ गुरु को द्विभुजी उत्कीर्णित किया गया है। उनका एक हाथ अभय मुद्रा में है तथा दूसरे हाथ में बीज पूरक प्रदर्शित है। प्रभामंडल, जटा-मुकुट, लम्बी दाढ़ी, वलय, केयूर, उत्तरीय, कटिमेखल, कटिवस्त्र आदि सामान्य अलंकरणों से इस प्रतिमा को अलंकृत किया गया है। देवकुलिका को तीन-तीन स्तम्भों से सुसज्जित किया गया है। इन स्तम्भों को सात बंध नों से उकेरा गया है। प्रतिमा के परिकर को शिल्पशास्त्रीय विधान के अनुसार उत्कीर्णित करने का प्रयास किया गया है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा 9वीं शती ई. की है। देश
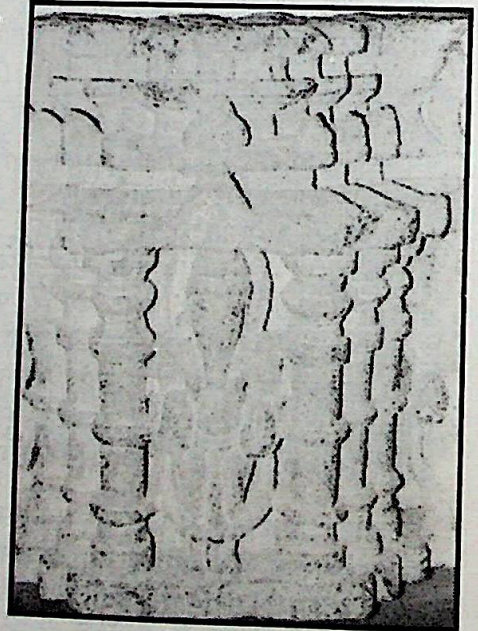
बृहस्पति, नवीं शती ई., उज्जैन

के विभिन्न संग्रहालयों में प्रतीहार, कलचुरी, चंदेल एवं परमार कालीन कला में नवग्रह के मोहक शिल्पांकन के कई उदाहरण देखे जा सकते हैं।

कालकूट विष एवं अन्य रत्न

समुद्र-मंथन से कालकूट विष (हालाहल विष) भी निकला था, जिसे शिव ने जगत् हित की इच्छा से स्वयं ग्रहण कर कंठ में धारण कर लिया। तभी से महादेव का नाम नीलकंठ हुआ। आख्यान का यह प्रसंग वैष्णव धर्म के साथ शैव-धर्म के समन्वय का साक्ष्य देता है। भारतीय कला में शिव के नीलकंठेश्वर स्वरूप का अंकन प्रतिमाओं में तो हुआ ही है, अनेक देवालयों में इस नाम से शिवलिंगों की प्रतिष्ठा मिलती है। 11वीं शती में परमार शासक उदयादित्य ने विदिशा के निकट उदयपुर में नीलकंठेश्वर मंदिर का निर्माण किया था। बड़ोह पठारी के कुटकीगढ़ मंदिर के गर्भगृह में शिव की त्रिमूर्ति प्रतिमा है, जिसमें शिव के तीन भावों को प्रकट करने वाले मुख हैं। दाहिनी ओर का मुख स्त्री का है, जिसे वे दर्पण में निहार रहे हैं। मध्य के मुख पर सौम्य भाव स्पष्ट है। और बाईं ओर के मुख पर भयानक भाव है। वे प्याले से हालाहल पी रहे हैं। शिव जटा मुकुट, हार, केयूर, वलय आदि से अलंकृत हैं। सम्पूर्ण शिलापट्ट कमल पुष्पों से अलंकृत है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा 9वीं शती की अनुमानित है। इसी प्रकार की एक त्रिमूर्ति प्रतिमा ग्यारसपुर (विदिशा) से प्राप्त हुई है। इसमें भी शिव का बायाँ मुख अघोर मुख है। इस मुख से वे बाएँ हाथ में स्थित विष के प्याले से विषपान कर रहे हैं। मुखाकृति पर रौद्र रूप प्रदर्शित है। जिह्वा बाहर निकल रही है। शिव का सौम्य रूप मध्य में है तथा दाहिना मुख स्त्री का है। इस प्रतिमा की एक और विशेषता है, इस प्रतिमा के बाईं ओर शिलापट्ट पर चतुर्भुजी विष्णु अर्द्ध पर्यंकासन में अंकित हैं। वे समुद्र-मंथन के पश्चात् शिव द्वारा कालकूट विष के पान के दृश्य के प्रत्यक्षदर्शी की तरह उपस्थित हैं। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा दसवीं शती की अनुमानित है।

समुद्र-मंथन से कामधेनु गाय, पारिजात वृक्ष और रंभा आदि अप्सराओं की प्राप्ति भी हुई थी। कामधेनु गाय ऋषियों को अर्पित की गई थी। पारिजात वृक्ष एवं रंभा को इन्द्र के नन्दनकानन में भेज दिए जाने का उल्लेख पौराणिक आख्यानों में मिलता है। अनेक वैष्णव प्रतिमाओं में इन रत्नों का भी अंकन मिलता है, कहीं परिकर में, तो कहीं पाद पीठ पर। कुछ पुराणों में महापद्म निधि की गणना भी मंथन से प्राप्त रत्नों में की गई है, जिसे कुबेर को अर्पित किया गया था। कुबेर को अष्टदिक्पालों में स्थान मिला है। इनका सर्वप्रथम वर्णन अथर्ववेद में यक्षराज के रूप में किया गया है। अग्निपुराण में इनके हाथों में गदा, निधि, बीजपूरक और कमंडल दर्शाने का निर्देश मिलता है। परमार एवं प्रतीहार कला में कुबेर का अंकन स्वतंत्र रूप में तो हुआ ही है, अष्टदिक्पालों में भी उन्हें उत्कीर्णित किया गया है। बड़ोह पठारी से प्राप्त समुद्र-मंथन के शिलापट्ट पर भी कुबेर दर्शाए गए हैं, जिसका विवरण पूर्व में दिया गया है।

3. विष्णु के मोहिनी स्वरूप द्वारा अमृत वितरण के प्रसंग का अंकन

समुद्र-मंथन के उपरान्त अमृत वितरण के आख्यान का सम्बन्ध स्कन्दपुराण में उज्जैन के महाकाल वन से दर्शाया गया है। इस आख्यान के अनुसार समुद्र-मंथन से प्राप्त रत्नों को लेकर देव-दानवगण माहेश्वर वन (उज्जयिनी स्थित महाकाल वन) चले गये थे, वहाँ विष्णु ने मोहिनी स्वरूप धारण कर उनके विवाद को शांत करने की कोशिश की। असुरगण मोहिनी के सौंदर्य पर मुग्ध हो गए, तब मोहिनी ने देवताओं को अमृतपान कराना प्रारम्भ किया। राहु भी देवताओं की पंक्ति में बैठ गया था और उसने भी अमृत पान करना चाहा, किन्तु तत्क्षण विष्णु ने अपने चक्र से उसका सिर काट दिया। अमृत ग्रहण करने के कारण राहू का सिर अमर हो गया और उसका धड़ केतु के रूप में।

वाल्मीकि रामायण में विष्णु द्वारा अपनी मोहिनी माया के माध्यम से असुरों से अमृत हरने का प्रसंग है। श्रीमद्भागवत में विष्णु के मोहिनी स्वरूप का प्रसंग समुद्र-मंथन के उपर्युक्त आख्यान के साथ-साथ शिव के समक्ष भी मिलता है। विष्णुधर्मोत्तर और गरुड़ पुराण में वर्णित विष्णु के

अवतारों में मोहिनी अवतार को भी स्थान मिला है। विष्णुधर्मोत्तर में इस रूप का प्रभावी वर्णन किया गया है। इसके अनुसार वे अपने हाथों में अमृत का घट लिए रहते हैं। उनका शरीर सभी आभूषणों से सुसज्जित रहता है और वे सुन्दर, आकर्षक होते हैं।

स्त्रीरूपश्च तथा कार्यः सर्वाभरण भूषितः।
करे अमृतघटश्चास्य कर्त्तव्यो भूरिदक्षिणः।।[42]

विष्णु के इस मोहिनीस्वरूप का शिल्पांकन अनेक शताब्दियों से मिलता आ रहा है। मोहिनी का सम्बन्ध भारतीय शास्त्रीय नृत्य की लास्य परम्परा से भी जोड़ा जाता है। केरल के प्रसिद्ध नृत्यरूप 'मोहिनीअट्टम्' (मोहिनी का नृत्य) का सम्बन्ध भी अमृत वितरण के उपर्युक्त आख्यान से माना जाता है, जहाँ विष्णु ने मोहिनी के रूप में अपने नृत्य की भँगिमाओं से असुरों को आकृष्ट कर लिया था।

मालवा के परमारकालीन मूर्तिशिल्प में मोहिनी का भी अंकन हुआ है। आशापुरी (रायसेन) से प्राप्त मोहिनी स्वरूप की प्रतिमा अतिभंग मुद्रा में नृत्यरत है। मोहिनी दो कुड्य स्तम्भों के मध्य प्रदर्शित है, इसका मापन 88 x 71 x 40 सेमी है। इसकी निर्माणक सामग्री बलुआ प्रस्तर है। षड्भुजी प्रतिमा के दो हाथ बाँसुरीधारी हैं, मध्य के दो हाथों में वीणा थी, जो भग्न है, पाँचवें और छठे हाथ, पैरों में पादवलय पहनने हेतु व्यस्त हैं। पाद पीठ पर एक स्त्री आकृति द्विभंग मुद्रा में निर्मित है, जो मुख उठाकर मोहिनी को निहार रही है। प्रतिमा की केशराशि वनपुष्पों से अलंकृत है, अन्य अलंकारों में कण्ठहार, केयूर, कंकण, कटिसूत्र, स्तनसूत्र, पादवलय आदि धारण किए हुए है। नृत्यमुद्रा होने पर भी सम्पूर्ण शरीर एक पैर पर संतुलित है। इसका निर्माण लगभग 11वीं शती ई. में अनुमानित है। मोहिनी की यह प्रतिमा अपने ढंग की विलक्षण प्रतिमा है।

राहु और केतु

पौराणिक आख्यानों के अनुसार राहु असुर समुदाय का अंग था, किन्तु वह विष्णु के मोहिनी स्वरूप द्वारा अमृत वितरण के दौरान देव पंक्ति में बैठ गया था। यह प्रसंग उसके मस्तक कटने का कारण बना था। उसका सिर राहु बन गया और धड़ केतु। नवग्रहों के शिल्पांकन में राहु और केतु से जुड़े इसी आख्यान को आधार बनाया जाता है। इन दोनों का अंकन नवग्रह प्रतिमाओं के शास्त्र एवं पुराणोक्त निर्देशों के अनुरूप मिलता है। प्रायः राहु को कटे हुए मस्तक का अर्द्धकाय तथा केतु को सर्प पुच्छ युक्त दर्शाया जाता है। गुप्त युग से लेकर प्रतीहार-परमारकाल तक इन दोनों ग्रहों का पर्याप्त शिल्पांकन हुआ है। आशापुरी (रायसेन) से प्राप्त शिलापट्ट पर राहु का भावपूर्ण अंकन किया गया है। वे अंजलि हस्त मुद्रा में दिखाए गए हैं तथा जटा-मुकुट, कुण्डल, कंठहार आदि से अलंकृत हैं। मुख मण्डल वीभत्स मुद्रा में अंकित है। इसकी जिह्वा बाहर निकलते हुए प्रदर्शित की गई तथा मुख पर लम्बी दाढ़ी का अंकन है। केतु के दो हाथ अंजलि हस्त मुद्रा में है, किन्तु शरीर का निम्न भाग, सर्पाकार प्रदर्शित है।[43] कला की दृष्टि से इसकी अनुमानित तिथि दसवीं शताब्दी मानी जा सकती है।

इसी प्रकार राहु की एक अन्य प्रतिमा शिलापट्ट के मध्य उत्कीर्ण है, जो विक्रम कीर्ति मंदिर पुरातत्त्व संग्रहालय, उज्जैन में संग्रहीत है। सामान्यतः राहु का अंकन स्वतंत्र या नवग्रहों के साथ पाया जाता है, परन्तु विवेच्य प्रतिमा में राहु को लज्जा गौरी के साथ अधोमुख किए हुए उत्कीर्णित किया गया है। राहु की मुखाकृति दो-दो कुड्य स्तम्भों के मध्य-उत्कीर्ण है। कुड्य स्तम्भों को बंधनों से युक्त प्रदर्शित किया गया है। परिकर को लता-पुष्प अलंकरणों से अलंकृत किया गया है।

राहु, नवीं शती ई., उज्जैन

पाद पीठ को गतिमान हंसों के क्रमबद्ध रूप में प्रदर्शित किया गया है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा परमार कला के स्वर्णिम काल का प्रतिनिधित्व कर रही है।

प्रतीहारयुगीन देवालयों में भी राहु-केतु सहित नवग्रहों का पर्याप्त अंकन मिलता है। बटेसर देवालय समूह के पश्चिम दिशा में स्थित मध्य देवालय में अंकित नवग्रहों में राहु को अर्द्धकाय मात्र तथा केतु को सर्पपुच्छ युक्त प्रदर्शित किया गया है। बड़ोह पठारी, बेराट, जराई मठ, अमरी आदि के प्रतीहारकालीन देवालयों में भी सिरपट्टी पर उपर्युक्तानुसार राहु-केतु का विभिन्न ग्रहों सहित अंकन हुआ है।[44]

निष्कर्ष

समुद्र-मंथन के आख्यान से जुड़ी उपर्युक्त प्रतिमाओं का वैशिष्ट्य जातीय स्मृतियों को सुरक्षित रखने के साथ ही उनके माध्यम से आध्यात्मिक भावों की अभिव्यंजना में भी दिखाई देता है। ये प्रतिमाएँ जहाँ आध्यात्मिक या दैवी सौंदर्य को उद्भासित करती हैं, वहीं प्रतीकों के माध्यम से दार्शनिक विचारों की ओर भी संकेत करती हैं। इन प्रतिमाओं में अंकित विभिन्न आयुध, अलंकरण आदि के दार्शनिक आशयों का निरूपण पद्म, विष्णु, भागवत आदि पुराणों में मिलता है। पूर्व में चर्चित विभिन्न प्रतिमाओं में प्रतिमाशास्त्रीय तालमानों, प्रतिमा लक्षणों का भी सम्यक् निर्वाह हुआ है। मूर्तिकारों की दृष्टि प्रायः भारतीय प्रतिमाशास्त्रीय सिद्धान्तों पर निर्भर रही है, किन्तु उन्हें जहाँ कहीं अवसर मिला है, अपनी कल्पनावृत्ति और आंचलिक तत्त्वों के समावेश से मौलिकता का भी परिचय दिया है।

कुंभ पर्व की पृष्ठभूमि के रूप में प्रसिद्ध समुद्र-मंथन के आख्यान के बीज देवासुर संघर्ष के रूप में वेदों में उपलब्ध हैं ही, इस आख्यान से जुड़े कई देवों एवं अन्य घटक तत्त्वों का भी बीजांकुरण किसी न किसी रूप में वैदिक वाङ्मय में हो गया था। वस्तुतः कुंभ पर्व वैदिक काल से जुड़े सांस्कृतिक प्रतीकों और जातीय स्मृतियों को महाकाव्य, पुराण, वैष्णवागम आदि माध्यमों से सतत् प्रवहमान रखते हुए लोक-जीवन में संचरणशील रखने का माध्यम है। स्नान-दान के पर्व के रूप में बहुमान्य इस पर्व की पुरातनता भले ही विवाद का विषय रही हो, इससे जुड़े देवासुर संघर्ष एवं समुद्र-मंथन के आख्यान अत्यन्त प्राचीन हैं। इस तथ्य की प्रामाणिकता साहित्यिक साक्ष्यों के साथ ही पुरातात्त्विक प्रमाणों से भी सिद्ध होती है। ये आख्यान विष्णु और उनके विविध अवतारों-कूर्म, धन्वन्तरि और मोहिनी की विशिष्ट भूमिका को रेखांकित करते हैं, जो भारत में वैष्णव धर्म के प्रसार के आरंभिक काल की देन हैं। उत्तर वैदिक काल में देवराज इन्द्र के स्थान पर विष्णु की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी थी, जिसे हम समुद्र-मंथन के आख्यान में सहज ही देख सकते हैं। वाल्मीकि रामायण, महाभारत तथा विभिन्न पुराणों में वर्णित यह आख्यान और इससे जुड़े विभिन्न चरित्र भारतीय कला के लिए अत्यन्त प्रेरक और प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं, जिनकी अभिव्यक्ति शुंग-कुषाण काल से लेकर प्रतीहार-परमार काल तक और अद्यावधि निरंतर होती आ रही है। एक ओर इनसे जुड़े साहित्यिक वर्णनों में विस्तार और परिवर्द्धन होता रहा, वहीं भारतीय मुद्राओं एवं मूर्ति शिल्पों की परम्परा में इनका रूपांकन भी परिवर्द्धित-रूपान्तरित होता आ रहा है। उदाहरण के लिए देखें कि गुप्त काल में जहाँ प्रतिमाओं पर शेषशायी विष्णु के साथ मुख्यतः मधु-कटभ के युद्ध प्रसंग का अंकन होता था, वहीं परमार एवं प्रतीहारकालीन शेषशायी विष्णु प्रतिमाओं पर समुद्र-मंथन अथवा उससे प्राप्त विभिन्न रत्नों का अंकन भी होने लगा। इन रत्नों में अमृत कुंभ, ऐरावत, उच्चैःश्रवा अश्व विशेषतः दर्शाये गए। इसी तरह शेषशायी विष्णु की कई प्रतिमाओं पर चार अमृत कुंभों को भी अंकित किया गया, जो संभवतः देश के चार स्थानों पर होने वाले कुंभ पर्वों को प्रकट के लिए प्रयुक्त हुए हैं। कूर्म पृष्ठ पर स्थित मंदराचल पर्वत के माध्यम से समुद्र-मंथन, शिव द्वारा हालाहल विषपान, मंथन से प्रकट हुई लक्ष्मी, धन्वन्तरि, कौस्तुभ मणि आदि रत्न, मंथन में सहभागी इन्द्र, सूर्य, बृहस्पति आदि देव, अमृत वितरण के लिए विष्णु का मोहिनी रूप में अवतरण, जैसे कई प्रसंग भारतीय मूर्तिशिल्प परम्परा में निरन्तर उत्कीर्णित किए गए, जो समुद्र-मंथन के आख्यान के व्यापक प्रसार और लोकप्रियता का साक्ष्य देते हैं। इस आख्यान से जुड़े घटक मुख्यतः द्वितीय शती ई.पू. से लेकर 18वीं-19वीं शती ई. तक मुद्राओं एवं मूर्तिशिल्प में किसी न किसी रूप में अंकित मिलते हैं। अद्यावधि भी ये आख्यान-प्रसंग चित्र एवं अन्य माध्यमों में दर्शाए जा रहे हैं। पुराख्यान और कला माध्यमों में उसके अंकन की यह सुदीर्घ यात्रा वैदिक संस्कृति से सातत्य का सुन्दर दृष्टांत है। ❑

सन्दर्भ :

1. ऋग्वेद, 10/165/4
2. वही, 6/4/11
3. ऋग्वेद, शाकल संहिता 1/22/17, 1/61/7 और 1/55/5
4. शतपथ ब्राह्मण 4/2/11
5. तैत्तिरीय आरण्यक 7/1/5/1
6. रघुवंश, 10/7-11
7. वही, 10/3
8. वही, 10/52
9. शतपथ ब्राह्मण 4/1/2
10. सुधीरकुमार त्रिवेदी : मध्य भारत की प्रतीहारकालीन कला एवं स्थापत्य, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, प्र.सं. 1994 ई., पृ. 99
11. वही, पृ. 104
12. प्रदीपकुमार पंड्या : मालवा की परमारकालीन वैष्णव प्रतिमाओं का समीक्षात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) 1991 ई., पृ. 126
13. वही, पृ. 143
14. वही, पृ. 127
15. जितेंद्रनाथ बैनर्जी : द डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकॉनोंग्राफी, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लि. प्रा. लि., नई दिल्ली, 1974, ई. पृ. 235
16. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 3.81/2-3
17. रघुवंश 10.7 एवं 10.8
18. वही 7.29 एवं 10.10 तथा कुमारसंभव 7.43.
19. (i) रामाश्रय अवस्थी : खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, पृ. 62
    (ii) भगवतशरण उपाध्याय : भारतीय कला का इतिहास, पृ. 65
20. जितेंद्रनाथ बैनर्जी : द डेवलपमेंट ऑफ हिंदू आइकॉनोंग्राफी, पृ. 275
21. कल्याण, वर्ष 64, संख्या 1, देवतांक, 1990 ई., पृ. 5
22. प्रदीप कुमार पंड्या : पूर्वोक्त शोध प्रबन्ध, पृ. 125-26
23. वही, पृष्ठ 181
24. वही, पृ. 137-38
25. ऋग्वेद, 3/49/1
26. शतपथ ब्राह्मण 11/1/6/14
27. सुधीर कुमार त्रिवेदी, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. 118.
28. वही, पृ. 117 एवं 91.
29. वही, पृ. 111
30. वही, पृ. 112
31. श्रीमद्भागवत 8/8/34-35
32. वही, 1/3/2-25
33. एस.एम.अली : द ज्योग्राफी ऑफ द पुराणाज्, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1966 पृ. 37
34. सर्वानन्द पाठक : विष्णुपुराण का भारत, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1967 ई., पृ. 44-45 एवं 50.
35. संपा. प्रियरंजन रे एवं एस. एन. सेन : द कल्चरल हैरिटेज ऑफ इंडिया, खंड 6 प्रकाशित लेख 'ज्योग्राफिकल नॉलेज इन एन्शिएंट एण्ड मिडिएवल इंडिया, (लेखक-डॉ. शशिभूषण चौधरी), रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर, कलकत्ता, 1986 ई., पृ. 8-11.
36. नन्दूलाल डे : द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शिएंट एण्ड मिडिएवल इंडिया, ओरिएंटल बुक्स रिप्रिंट्स कार्पो., नई दिल्ली, तृतीय संशोधित संस्करण, 1971 ई., पृ. 181.
37. सुधीर कुमार त्रिवेदी, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. 9
38. बृहद्संहिता, 58/31
39. विष्णु पुराण 1/22/68-70
40. सुधीर कुमार त्रिवेदी, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. 29
41. श्रीमद्भागवत, 12/11/14-15
42. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, 85/60
43. वजीहा अली : पूर्वी मालवा के मूर्ति शिल्प एवं स्थापत्य का समीक्षात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबंध) 2000 ई., पृ. 195-96
44. सुधीर कुमार त्रिवेदी, पूर्वोक्त ग्रंथ, पृ. 115-16.

'कुम्भ' के प्रतिभागी अखाड़े एवं धार्मिक सम्प्रदाय

डॉ. एलरिक बारलो शिवाजी

आचार्य शंकर ने मठाधीशों की व्यवस्था के सम्बन्ध में एक विशिष्ट ग्रन्थ की रचना की है जिसका नाम 'मठाम्नाय' है। मठाम्नाय सेतु के अनुसार अद्वैतमत के सात आम्नाय हैं। आम्नाय का अपभ्रंश रूप अखाड़ा है, किन्तु डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह की मान्यता है कि अखाड़ा 'अखण्ड' शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है।[1] अखाड़ों का निर्माण राष्ट्र एवं हिंन्दू संस्कृति के लिए, देश और काल के अनुसार एक अनुपम देन थी जिसका निर्वाह आज भी उसी गौरव के साथ किया जा रहा है। यही नहीं, नागा संन्यासियों का इतिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्होंने मुगलकाल में मुगल शासकों को अफगानों से बचाने में सहायता की है। बाबूलाल शर्मा का कहना है कि "संन्यासी अखाड़ों का निर्माण शास्त्र और शस्त्र, धर्म तथा सेना, ब्रह्म तथा क्षत्रिय दोनों के समन्वित रूप से हुआ था।"[2] वैसे तो आचार्य शंकर ने वैदिक एवं वेदान्त के प्रचार एवं प्रसार के लिये समस्त संन्यासियों को संगठित किया था और उन्हें 10 वर्गों में विभाजित किया था, जिन्हें तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती, पुरी नामों से जाना जाता है, किन्तु संन्यासी के रूप में तीर्थ, आश्रम, सरस्वती, भारती एवं दण्डी संन्यासियों को ही मान्यता है। घुर्ये के अनुसार वन दो प्रकार के हैं- विराज वन और नाद वन। विराज वन परम्परा से चले आते हैं जबकि नाद वन गुरुमुख द्वारा घोषित किया जाता है। दण्डी संन्यासी केवल ब्राह्मणों के लिये ही आरक्षित है।[3] आचार्य शंकराचार्य के काल में संन्यासियों का कार्य केवल धर्म प्रचार ही था। इन संन्यासियों की प्रतिभा का उपयोग करने के लिए आचार्य शंकराचार्य ने चार मठों की स्थापना की थी- 1. उत्तर में बद्री-केदारनाथ का ज्योतिर्मठ, 2. दक्षिण में शृंगेरी मठ, 3. पूर्व में श्री जगन्नाथपुरी का श्री गोवर्धन मठ और 4. पश्चिम में श्री द्वारिका का शारदा मठ।

(1) शैव अखाड़े :

काल बदला और भारत में यवनों और मुगलों का आक्रमण हुआ। मुगलों का शासन स्थापित हुआ। उनकी रीति एवं नीति के कारण हिन्दुओं पर अत्याचार बढ़ गये और हिन्दू धर्म का पतन होने लगा। ऐसी अवस्था में संन्यासियों ने शास्त्र को छोड़ शस्त्र का सहारा लिया और कई स्थानों पर मुगलों को परास्त किया। संन्यासियों की समुचित शक्ति का उपयोग करने के लिए देश के विभिन्न भागों में अखाड़ों की स्थापना की गई। स्वाधीनता संग्राम में भी नागा संन्यासियों ने स्वाधीनता सेनानी नाना

---

1. डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह : रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ. 120, टिप्पणी
2. उज्जयिनी-दर्शन, पृ. 126
3. राहुल सांकृत्यायन : साहित्य निबन्धावली, पृ. 102

साहब तथा झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अंग्रेजों के छक्के छुड़ाने का पूर्ण प्रयास किया था।[4] वर्तमान में शैव अखाड़ों में प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. निरंजनी अखाड़ा, 2. निर्वाणी अखाड़ा, 3. आवाहन अखाड़ा, 4. जूना अखाड़ा, 5. अटल अखाड़ा, 6. आनन्द अखाड़ा, 7. अग्नि अखाड़ा।

सुरजित सिन्हा और वैद्यनाथ सरस्वती ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "इस समय छः अखाड़ों में से चार अखाड़ों का कार्यालय काशी में है और दो का प्रयाग में।[5] डिस्ट्रिक्ट गजेटियर बनारस में कहा गया है कि निरंजनी अखाड़े का कार्यालय सन् 1920 में बड़ौदा में था।[6]

अखाड़ों का उद्देश्य :

अखाड़ों का उद्देश्य शास्त्र-पठन, आध्यात्मिक चिंतन एवं मनन के साथ धर्म का प्रचार, सन्त-सेवा व जनता-जनार्दन की सेवा ही माना जाता है। राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं कि "दशनामी संन्यास मार्ग की स्थापना के आरम्भ में 9वीं शताब्दी से लेकर 15वीं शताब्दी तक उनका संगठन अधिकतर वैयक्तिक तथा ज्ञान-वैराग्य मूलक था।"[7]

दशनामी संन्यासियों का विभाजन :

दशनामी संन्यासियों के दो विभाजन हैं-एक दण्डी और त्रिदण्डी। एक दण्डी संन्यासी उसे कहते हैं, जिनके सिर पर बालों का एक जूड़ा होता है,[8] परन्तु जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जुलाई 1925 में एक लेख 'वेदान्त संन्यासियों का संगठन' में एक भिन्न दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। वहाँ लिखा है-

"There are two orders of Samnyasi Ekadandis, who carry a single danda, rod and Tridandis who carry a triple danda. These two names are found in the Mahabharata, but no scholar has so far as the present writer knows, has ventured on opinion as to what the original distinction between them was. Since the days of Ramanuja atleast, Ekadandis follow the Advaita Vedanta of Shamkarar. While Tridandis hold the Visistadvaita of Ramanuja. Madhva, who are dvaitas are also Ekadandis, the reason being that Madhva, the founder was originallya samnyansi of the school of Shamkara. Ekadandis are found in all parts of India; Tridandis are, in the main, found only in the South.[9]

सुरजीत सिन्हा ने भी अपनी पुस्तक 'असेटिक्स ऑफ काशी' में इस बात को स्वीकार किया है कि वैष्णवों में भी त्रिदण्डी होते हैं।

दीक्षा के बाद ही संन्यासी को दण्डी कहा जाता है। यदि वे दीक्षा के बाद सात दिन के अन्दर दण्डी को छोड़ देते हैं, तो उन्हें 'त्यक्त दण्डी' के नाम से जाना जाता है।[10] संन्यासी दण्ड के साथ कमण्डलु रखते हैं।

सुरजीत सिन्हा बताते हैं कि संगठन का पारम्परिक सिद्धान्त 'महानुशासन' में उपलब्ध है। दण्डी पुनः दो भागों में विभाजित हैं- पंच गौड़ और पंच द्रविड़। पंच द्रविड़, पंच गौड़ द्वारा दिये गये भण्डारे के निमन्त्रण को स्वीकार नहीं करते। दण्डी संन्यासी गरीब ब्राह्मणों में से होते हैं। इनमें से अनेक

---

4. महन्त प्रयाग गिरि : दशनामी सन्त तथा हमारा राष्ट्र
5. सुरजीत सिन्हा : एसेटिक्स ऑफ काशी, पृ. 86
6. वही
7. राहुल सांकृत्यायन : साहित्य निबन्धावली, पृ. 99
8. Some of these branches are restricted to Brahminas, others not. Dasnami Samnyasis are also some times called Ekadandi on account of their one knotled staff-Religious Hinduism by Jesuit Scholars, p. 145.
9. Journal of Royal Asiatic Society, July 1925, p. 481-82
10. Surjit Sinha : Ascetics of Kashi, p.66

आकाशवृत्ति पर जीवित रहते हैं।[11] किन्तु यह देखा गया है कि अधिकांश उच्च ब्राह्मण वर्ग से ही हैं।

'विशाल भारत' में प्रकाशित एक लेख 'कुम्भ मेले में साधु सम्प्रदाय' साधुओं के विभाजन पर दृष्टि डालता है। लेख के लेखक सुन्दरानन्द विद्या विनोद लिखते हैं- ''शंकर सम्प्रदाय के ब्राह्मणेतर साधु अदण्डी याने दण्ड धारण नहीं करते। दोनों प्रकार के संन्यासी गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं। अदण्डी साधु अनेक प्रकार के होते हैं। ये पंचायती अखाड़े के नाम से भी परिचित हैं। साधुओं की साम्प्रदायिक मण्डली को अखाड़ा कहते हैं।[12]

शिक्षार्थी और नागा की दीक्षा (विरजा) में भेद :

नागा-दीक्षा लेने के पहिले शिक्षार्थी को तीन दिन का उपवास करना पड़ता है। इस अवधि में वह केवल दूध का सेवन करता है। चौथे दिन हवन किया जाता है। इसके बाद मुण्डन क्रिया होती है। केवल कुछ बाल छोड़ दिये जाते हैं। विरजा अथवा दीक्षा की विधि नारद पारिव्राजकोपनिषद् के अनुसार की जाती है, जिसमें सर्वप्रथम कमर तक के पानी में खड़ा होना पड़ता है। इसके पूर्व उपवास के बाद ही सावित्री मंत्र का जाप करना पड़ता है। तत्पश्चात् विधि गणेश-पूजन से आरम्भ होती है और हवन की क्रियाएँ पूर्ण की जाती हैं, जिसे विराज बलिदान कहा जाता है। शिक्षार्थी को कहा जाता है कि उसे पाँच शिक्षकों से ही शिक्षा लेना चाहिए और उनका आदर करना चाहिये। वे पाँच शिक्षक- 1. भगवा वस्त्र, 2. ऊपर की जटा को हटाना, 3. विभूति (राख), 4. रुद्राक्ष कंठ माला और 5. मन्त्र।[13] विराज विधि को सम्पन्न करने में कम से कम चार संन्यासी होते हैं। शिक्षार्थी ने जिस साधु को गुरु चुना है, वह उसके कानों में मन्त्र बोलता है। दूसरा साधु उसे सात नामों में से एक नाम देता है। तीसरा साधु राख को शिक्षार्थी के अंगों पर रगड़ता है और चौथा साधु उसकी जनेऊ (यदि है तो) को तोड़ता है।[14] दीक्षा विधि के समय एक स्थिति पर उसे सात कदम नग्न चलना पड़ता है।[15] इस दीक्षा विधि के बाद वहाँ एकत्रित साधुओं को गुड़ और धनिया बाँटा जाता है।
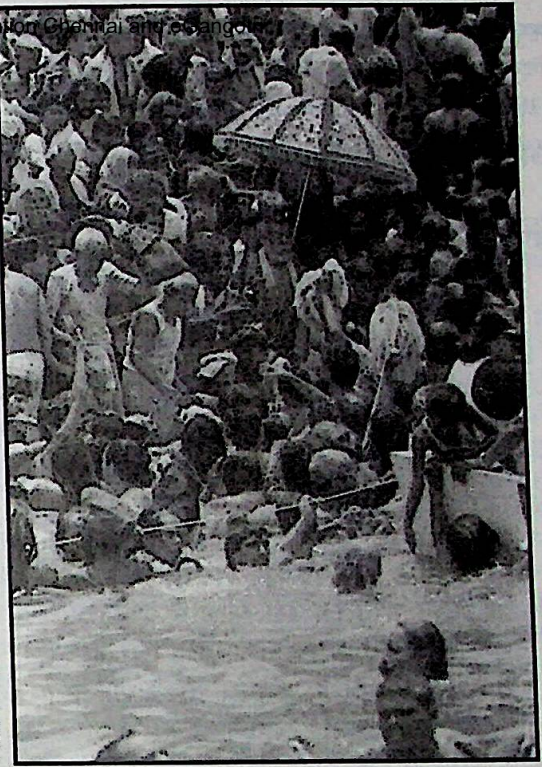
नागाओं की दीक्षा-विधि, शिक्षार्थी की दीक्षा-विधि से भिन्न है। नागा दिगम्बर बनने की विधि को तंगेटोरा (Tangatora) कहा जाता है। तीन दिन उपवास करने के बाद प्रेश मंत्र ''भू संन्यासम् मया, भू संन्यासम् मया, स्व संन्यासम् मया'' द्वारा श्रद्धा-विधि के समय उसका तंगटोरा किया जाता है। यह विधि प्रातः 3 बजे के लगभग होती है। दीक्षार्थी भाले के पास खड़ा होता है। अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है। एक वरिष्ठ नागा, जो दीक्षार्थी का साधक गुरु होता है, उसके शरीर पर पानी डालता है, उसे नग्न दशा में लाता है और उसकी इन्द्रिय की एक विशेष नस को खींचता है ताकि वह

---

11. वही
12. विशाल भारत, अप्रैल 1954, पृ. 260
13. सुरजीत सिन्हा, पूर्वोक्त, पृ. 65-66
    जी. एस. घुर्ये : इण्डियास् साधु, पृ. 105-06
14. जे. सी. ओमन : दी मिस्टीक्स, एसेटिक्स एण्ड संतस् ऑफ इण्डिया, पृ. 155
15. सुरजीत सिन्हा, पूर्वोक्त

नपुंसक हो जाये। तब वह शिक्षार्थी तंगटोरा ही जाता है। इस संस्कार के तीन वर्ष बाद वह नागा दिगम्बर घोषित कर दिया जाता है।[16] परन्तु श्री शेषनारायण बथेका, पुरोहित दसनाम नागा संन्यासी से वार्तालाप करने पर ज्ञात हुआ कि दीक्षा के उसी दिन से उसे नागा-दिगम्बर घोषित कर दिया जाता है।

अखाड़ों का इतिहास :

अब हम क्रमशः निरंजनी, निर्वाणी, आवाहन, जूना, अटल, आनन्द एवं श्री पंचअग्नि अखाड़े का वर्णन करेंगे।

निरंजनी अखाड़ा-ऐसा विश्वास किया जाता है कि निरंजनी अखाड़े की स्थापना सन् 904 में गुजरात में स्थित माण्डवी स्थान में हुई थी।[17] किन्तु यह तिथि जदुनाथ सरकार के मत में सन् 1904 है, जिसको निरंजनी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उनके पास एक प्राचीन ताँबे का छड़ा है जिस पर निरंजनी अखाड़े के स्थापना के बारे में विक्रम संवत् 960 अंकित है।[18]

समस्त अखाड़ों में निरंजनी अखाड़ा बहुत अधिक प्रसिद्ध है। इस अखाड़े के इष्टदेव कार्तिकेय हैं, जो देव सेनापति हैं।[19] इस अखाड़े का इतिहास मोहनानन्द से प्राप्त होता है, जो डूँगरपुर रियासत के राजगुरु थे। इनकी मृत्यु 5 दिसम्बर 1953 को हुई। आपके बाद स्वामी केवलानन्दजी इस अखाड़े का उत्तरदायित्व सँभालते रहे। सन् 1959 से इसका उत्तरदायित्व स्वामी श्री गणेशानन्द महाराज ने सँभाला और वे 14 नवम्बर, 1967 को इस अखाड़े के महामण्डलेश्वर बने। श्री 1008 श्री स्वामी नृसिंहगिरिजी महाराज इस अखाड़े के पीठाधिपति थे। उनके बाद महेशानन्दजी। उन्होंने सन् 1968 में उज्जैन में गादी छोड़ दी। वर्तमान में कृष्णानन्द गिरिजी इस अखाड़े के महामण्डलेश्वर हैं।

निरंजनी अखाड़े के विषय में श्री शालिग्राम श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक 'प्रयाग प्रदीप' में बताया है कि ''इनका स्थान दारागंज में है। ये लोग भी शैव हैं। जटा रखते हैं। कहा जाता है कि हरिद्वार, काशी, त्र्यंबक, ओंकार, उज्जैन, उदयपुर, ज्वालामुखी आदि स्थानों में इनकी भारी सम्पत्ति है।[20]

निर्वाणी अखाड़ा- निर्वाणी अखाड़े का केन्द्र कनखल है। इस अखाड़े की गोविंद मठ शाखा के आचार्य कृष्णानंद गिरि थे। निर्वाणी अखाड़े की शाखाएँ प्रयाग के अतिरिक्त कनखल, ओंकार, काशी, त्र्यंबक, कुरुक्षेत्र, उज्जैन, उदयपुर में है।[21] वर्तमान में श्री रामकृष्ण गिरि निर्वाणी अखाड़े के महामण्डलेश्वर हैं।

महाकाल मन्दिर उज्जैन में भस्म चढ़ाने वाले महन्त निर्वाणी अखाड़े से ही सम्बन्ध रखते हैं। वर्तमान में श्री प्रकाशपुरीजी महन्त विद्यमान हैं, जो इस कार्य को करते हैं।

महानिर्वाणी अखाड़ा- कहा जाता है कि महानिर्वाणी अखाड़ा निर्वाणी अखाड़े की ही एक शाखा है, जिसकी स्थापना कुंदगढ़ के सिद्धेश्वर मन्दिर में की गई थी। यह स्थान छोटा नागपुर में है। इस अखाड़े का इतिहास इस बात से प्रमाणित होता है कि इस अखाड़े के संन्यासियों की लड़ाई सन् 1664 में हुई थी। इसकी स्थापना को लेकर मतभेद हैं। कुछ लोग सन् 749 मानते हैं जो घुर्ये की दृष्टि से उचित नहीं है।[22] इस अखाड़े के साथ अटल अखाड़ा लगा हुआ है। महानिर्वाणी अखाड़े के बारे में लिखा है-''यह अखाड़ा दारागंज (प्रयाग) में है। इसका केन्द्र हरिद्वार के निकट कनखल में है। इसकी शाखा खण्डवा में भी है। इन सबका सदर बड़ौदा में है। इस अखाड़े की आमदनी 50 हजार रुपये साल के लगभग है। ये लोग नागा शैव हैं। जटा रखते हैं।''[23]

---

16. सुरजीत सिन्हा, पूर्वोक्त, पृ. 67-68
17. जी. एस. घुर्ये : इण्डियन साधु, पृ. 104
18. सुरजीत सिन्हा, पूर्वोक्त, पृ. 86
19. राहुल सांकृत्यायन : साहित्य निबन्धावली, पृ. 100
20. शालिग्राम श्रीवास्तव : प्रयाग प्रदीप, पृ. 280
21. राहुल सांकृत्यायन : साहित्य निबंधावली, पृ. 100-101
22. "It is hard to believe that the Akhada was started in a A.D. 749 : G.S. Ghurye, " Indian Sadhus, p.105
23. शालिग्राम श्रीवास्तव, पूर्वोक्त

एक तथ्य जो विशेष ध्यान देने का है कि निर्वाणी और निरंजनी अखाड़ों में परस्पर गुरु-शिष्य तथा सतीर्थ भ्राता सम्बन्ध नहीं होता।[24]

आवाहन अखाड़ा-आवाहन अखाड़ा जूना अखाड़े से सम्मिलित है। कहा जाता है कि इस अखाड़े की स्थापना सन् 547 में हुई थी, किन्तु जदुनाथ सरकार इस वर्ष को नहीं मानते, वे सन् 1547 स्वीकार करते हैं।[25]

इस अखांड़े का केन्द्र दशाश्वमेघ घाट पर काशी में है। इस अखाड़े के संन्यासी श्री गणेशजी एवं दत्तात्रेय को अपना इष्टदेव मानते हैं, क्योंकि वे आवाहान से ही प्रगट हुए थे। हरिद्वार में इसकी शाखा है।

जूना अखाड़ा- जूना या प्राचीन अखाड़ा पहिले भैरव अखाड़े के रूप में जाना जाता था और उस समय इष्टदेव भैरव ही थे जो कि शिव का ही एक रूप है। वर्तमान में इस अखाड़े के इष्टदेव दत्तात्रेय हैं जो कि रुद्रावतार हैं। इस अखाड़े की सम्पत्ति एवं प्रभाव से इसका तीसरा स्थान है। इस अखाड़े के अन्तर्गत आवाहन, अलखिया और ब्रह्मचारी भी हैं। इसकी एक विशेषता है कि इस अखाड़े में अवधूतनियाँ भी सम्मिलित हैं और उनका भी संगठन है।[26] इस अखाड़े के पीठाधीश्वर श्री 1008 श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज, रामेश्वरानन्दजी महाराज (1957 से 1980) महामण्डलेश्वर रह चुके हैं। वर्तमान में श्री लोकेश्वरानन्दजी महाराज (1980 से) महामण्डलेश्वर हैं।

अटल अखाड़ा- अटल अखाड़े के इष्ट गणेशजी (गणपति) है। इनके शस्त्र-भाले को 'सूर्य प्रकाश' के नाम से जाना जाता है। इस अखाड़े के बारे में विश्वास किया जाता है कि इसकी स्थापना गोंड़वाना में सन् 647 में हुई थी।[27] इसका केन्द्र भी काशी में है। इस अखाड़े के पीठाधिपति विद्यानन्दजी और भगवानन्दजी रह चुके हैं। वर्तमान में श्री स्वामी मंगलानन्दजी महाराज इस अखाड़े के महामण्डलेश्वर हैं। अटल अखाड़े का सम्बन्ध निर्वाणी अखाड़े के साथ है तो भी यह अपनी सत्ता को निर्वाणी अखाड़े में खो नहीं चुका है। काशी के अतिरिक्त बड़ौदा, हरिद्वार, त्र्यंबक, उज्जैन आदि में इसकी शाखाएँ हैं।

आनन्द अखाड़ा- जी. एस. घुर्ये ने भाट के हिसाब से यह लिखा है कि आनन्द अखाड़ा विक्रम संवत् 856 में बरार में बना था[28] जबकि सरकार के अनुसार विक्रम संवत् 912 है।[29] इस अखाड़े के इष्ट देव सूर्य हैं। राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि इस अखाड़े का "बहुत कुछ लुप्त सा हो गया है, तो भी काशी में इसके कुछ साधु रहते चले आ रहे हैं।"[30]

अग्नि अखाड़ा- अग्नि अखाड़े के बारे में कहा जाता है कि इसकी स्थापना सन् 1957 में हुई थी। इसका केन्द्र गिरनार की पहाड़ी पर है। इस अखाड़े के साधु नर्मदा-खण्डी, उत्तरा-खण्डी और नैस्टिक में विभाजित हैं।[31] श्री शेषनारायणजी, जो दत्त अखाड़ा उज्जैन के पुजारी हैं, का कथन है कि 1957 प्रमाणित नहीं है।

श्री पंचअग्नि अखाड़ा- श्री पंचअग्नि अखाड़ा काशी में विक्रम संवत् 1192 आषाढ़ शुक्ला एकादशी को स्थापित किया गया था। इस अखाड़े का मुख्य केन्द्र राजघाट, काशी, नया महादेव मोहल्ले में स्थित है। इस अखाड़े की इष्टदेवी गायत्रीमाता एवं अग्नि है। इस अखाड़े में चारों मठों के आनन्द चैतन्य स्वरूप प्रकाशक, कर्मकाण्डी, नैस्टिक ब्रह्मचारी होते हैं। "अग्नि अखाड़े" में अब संन्यासी नागे नहीं हैं, यह नागों का नहीं बल्कि चारों पीठों के ब्रह्मचारियों का संगठन मात्र रह

24. विशाल भारत, अप्रैल 1954-'कुम्भ मेले में साधु सम्प्रदाय'
25. जी. एस. घुर्ये, पूर्वोक्त, पृ. -104
26. राहुल सांकृत्यायन, पूर्वोक्त, पृ. 101
27. जी. एस. घुर्ये, पूर्वोक्त, पृ. 106
28. उक्त पृ. 103-104
29. सुरजीत सिन्हा, पूर्वोक्त, पृ. 84
30. राहुल सांस्कृत्यायन, पूर्वोक्त, पृ. 101
31. सुरजीत सिन्हा, पूर्वोक्त, पृ. 86

गया है।''[32] शायद राहुलजी ने बराबर अवलोकन नहीं किया क्योंकि इस अखाड़े में केवल ब्रह्मचारी ही आरम्भ से रहते आये हैं, इस कारण इनकी इष्टदेव गायत्री हैं।

वर्तमान में अखाड़े के पीठाधिपति आचार्य महामण्डलेश्वर श्री प्रकाशानंदजी महाराज हैं, जिनका मुख्य स्थान सिद्धनाथ महादेव चिखली (बिलीमोरा) गुजरात में है। अखाड़े के अध्यक्ष श्री महन्त गोपालवंदजी महाराज हैं।

उपरोक्त अखाड़ों के इष्ट 'देवताओं' को देखने से मालूम होता है कि अखाड़े सौम्य भावों के नहीं, सैनिक भावों को जागृत करने वाले देवताओं को ही पसन्द करते हैं।''[33]

अन्य अखाड़े- उपरोक्त वर्णित विशेष अखाड़ों के अतिरिक्त निर्मल अखाड़ा, उदासीन अखाड़ा, बड़ा पंचायती अखाड़ा और पंचायती अखाड़ा है, जिनका वर्णन क्रमशः प्रस्तुत है।

निर्मल अखाड़ा-इसकी स्थापना सिख गुरु गोविन्दसिंह के अन्यतम सहयोगी वीरसिंह द्वारा की गई थी। हनुमन्तबाग में इसके अनुयायी ठहरते हैं। आचरण की पवित्रता तथा आत्मशुद्धि इनका मूल मन्त्र है। ये सफेद कपड़े पहनते हैं। ये भस्म से शरीर को आच्छादित नहीं करते। इनके झण्डे का रंग पीला या बसन्ती होता है जिसमें चक्र और खाड़े के चित्र होते हैं। इसके अनुयायी कभी-कभी चन्दन का तिलक लगाते हैं और ऊन या रुद्राक्ष की माला हाथ में रखते हैं। इस अखाड़े के अनुयायियों का मुख्य ध्येय गुरु नानकदेव के मूल सिद्धान्तों के अनुसार चलना है।

उदासीन अखाड़ा- उदासीन शब्द उद् और आसीन से बना है। उद् शब्द का अर्थ है-ब्रह्म व आसीन का अर्थ है उपविष्ट। इस सम्प्रदाय का पुनर्गठन श्रीचन्द्र महाराज ने किया था। गुरु और शिष्य प्रथा का प्रारम्भ इसी समय हुआ। कहा जाता है कि 150 वर्ष की आयु पूर्ण कर वे चंबा की पर्वत गुफाओं में जाकर तिरोहित हो गये।

इस अखाड़े में तीन वर्ग होते हैं, जिन्हें क्रम से मुनि, ऋषि तथा सेवक कहते हैं। उदासीन सेवक गृहस्थ होता है। उदासीन ऋषि बड़ी-बड़ी जटा रखते हैं। गुलाबी, गेरुआ, श्वेत या श्याम रंग के वस्त्र पहनते हैं। इनके निशान मखमल के होते हैं और उन पर जरी का काम होता है। इन लोगों के नाम के अन्त में दास, प्रकाश, आनन्द, स्वरूप आदि शब्द होते हैं। इस सम्प्रदाय के दो उपभेद हैं-बड़े उदासीन और छोटे उदासीन। इस सम्प्रदाय के वर्तमान मुनियों में स्वामी गंगेश्वरानन्द तथा सर्वदानन्द के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके प्रमुख ग्रंथ चन्द्रप्रकाश, उदासीन धर्म रत्नाकर तथा उदासीन मंजरी हैं। उदासी अखाड़े के तीन उप सम्प्रदाय हैं।

विशाल भारत के अप्रैल, 1954 के अंक में इस अखाड़े का वर्णन निम्न प्रकार से आया है-''विधर्मियों के अत्याचार से हिन्दुओं की रक्षा करने के लिए नानक के पुत्र श्रीचन्द्रजी (जन्म वि. सं. 1551 अर्थात् ई. सं. 1494) ने इस सम्प्रदाय का संगठन किया। ढूँठानगर, बारहट, श्रीनगर, कंधार और पेशावर इन पाँच स्थानों में पहले बसे थे। श्री प्रीतमदासजी ने 1884 विक्रम संवत् में प्रयाग में सभी उदासीन सम्प्रदाय को एकत्रित कर 'पंचायती उदासीन अखाड़ा' की स्थापना की। ये निर्विशेषवादी और चरम निर्विषयवादी पंचोपासक हैं।''

इस उदासीन सम्प्रदाय के दो तरह के विधान हैं-**1. स्वतन्त्र मठ**- इसमें गुरु परम्परा के क्रम से महन्त का चुनाव होता है, **2. अखाड़ा**-इसमें मत प्रदान से महन्त निर्वाचित होता है। इसके चार प्रधान महन्त और प्रायः एक सौ साधुओं की जमात समस्त भारत में भ्रमण कर अपने मठों का निरीक्षण, महन्तों का निर्वाचन तथा अपने सम्प्रदाय मत का प्रचार और कुम्भ पर्व में सदाव्रत खोलने आदि का कार्य करती है।[34]

---

32. राहुल सांकृत्यायन, पूर्वोक्त, पृ. 102
33. वही पृष्ठ 101
34. विशाल भारत, अप्रैल, 1954, पृ. 265

बड़ा पंचायती अखाड़ा- इसका स्थान कीटगंज में है। यह उदासी का नानाशाही अखाड़ा है। इसकी शाखाएँ पंजाब, राजपूताना तथा हैदराबाद में है। यह बड़ा धनाढ्य अखाड़ा है। इस जिले में लेन-देन के अतिरिक्त 18-20 हजार रुपये साल की माल-गुजारी का इलाका इनके पास है। इसकी कुल शाखाओं की आमदनी का अनुमान एक लाख रुपये साल से ऊपर किया जाता है। इस अखाड़े में चार पंगतों के चार महन्त इस क्रम से होते हैं-1. अलमस्तजी की पंक्ति का, 2. गोविन्द साहब की पंक्ति का, 3. बालूहसनाजी की पंक्ति का, 4. भगत भगवानजी की परम्परा का।[35]

छोटा-पंचायती अखाड़ा- यह अखाड़ा भी उदासी अखाड़े से सम्बन्धित है और इसका केन्द्र मुट्ठीगंज में स्थित है।

उदासीन पंचायती नया अखाड़ा- इस अखाड़े के सन्दर्भ में आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी लिखते हैं कि सन् 1902 में उदासीन साधुओं में परस्पर मतभेद हो जाने के कारण प्रयाग के बाँध के महात्मा सूरदासजी की प्रेरणा से एक अलग संगठन किया गया जिसका नाम 'उदासीन पंचायती नया अखाड़ा' रखा गया। इस अखाड़े का मुख्य केन्द्र तो प्रयाग में है, किन्तु इसके साथ हरिद्वार, गया, काशी और कुरुक्षेत्र में भी है। यद्यपि इनके नियम आदि समान हैं किन्तु नये अखाड़े में केवल संगत साहब की परम्परा के ही साधु सम्मिलित हैं। यह उदासीन पंचायती नया अखाड़ा 6 जून 1913 को पंजीकृत किया गया।

व्यवस्थित रूप से उदासीन सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा का श्रेय श्री चन्द्राचार्य को ही है, जिन्होंने चार घूरों और छह-बख्शीश (वरदान) की वरिष्ठ परम्परा आरम्भ की।[36]

निर्मला अखाड़ा- इस अखाड़े का स्थान कीटगंज में 'पीली कोठी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये लोग भी उदासी हैं।

संन्यासी अखाड़े की छः प्रतिज्ञाएँ- संन्यासी अखाड़े के अपने नियम हैं और उन नियमों का पालन करना प्रत्येक सदस्य का अनिवार्य कर्त्तव्य है। अतः सन्यासियों से छह प्रतिज्ञाएँ कराई जाती हैं। कहा जाता है कि इन्हीं प्रतिज्ञाओं के आधार पर संन्यासी संगठन की नींव आधारित है। ये छः प्रतिज्ञाएँ निम्न प्रकार से हैं-

1. 'तेरी-मेरी करना नहीं' अर्थात् सम्पत्ति में मेरा-तेरा न लगा, उसे सारी जमात (संघ) का समझना।
2. 'गांजा-तम्बाकू पीना नहीं' अर्थात् नशाखोरी से बचना।
3. 'यह अखाड़ा छोड़ दूसरे (सैनिक संगठन) में जाना नहीं।'
4. 'लोहा-लकड़ी उठाना नहीं' अर्थात् आपस में मारपीट करना नहीं।
5. 'जिसके पास रहना उसकी सेवा करना' अर्थात् अपने ऊपर के अधिकारी की आज्ञा मानना।
6. 'खाने-पीने की मौवा, धरे-ढके की सौगन्ध' अर्थात् जमात (संघ) की चीज को खाने-पीने की छूट है, लेकिन चुराने-छिपाने तथा उसे वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की सौगन्ध है।

अखाड़े में प्रवेश के समय पहले आवेदक को उपस्थित मंडली के सम्मुख आना पड़ता है जो उसके आवेदक की जात-पाँत के बारे में पूछती है। उसके उपरान्त उस व्यक्ति की शारीरिक परीक्षा ली जाती है। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के बाद आवेदक को अखाड़े के इष्ट देवता के सामने जमात या जुंडी 'तेरी-मेरी करना नहीं' आदि छह प्रतिज्ञाएँ दिलाई जाती हैं।[37]

अखाड़े में नागा की स्थिति :

(1) वस्त्रधारी-नागा की पहली स्थिति वस्त्रधारी की है। शपथ या प्रतिज्ञा लेने के बाद उस व्यक्ति को अखाड़े में सम्मिलित कर लिया जाता है और उसे वस्त्रधारी (गुरुभाई) अथवा भण्डारी भी कहा जाता है। वस्त्रधारी प्रातः उठकर अपने सिद्ध गुरु को दतौन-पानी देना, झाड़ू देकर रहने का

---

35. आचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी : भारत के उदासीन सन्त, पृ. 64
36. वही
37. वही पृ. 64-65

स्थान साफ करना, अपने ऊपर के अधिकारी सिद्ध की आज्ञाओं को मानना, एक वस्त्रधारी का आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता है। वस्त्रधारी को मत देने का अधिकार नहीं होता।

(2) नागा दिगम्बर- नागा की दूसरी स्थिति नागा (दिगम्बर) की है। वस्त्रधारी दस-बारह वर्ष या इससे भी अधिक वर्षों तक अखाड़े में अपने सिद्ध गुरु की सेवा करता है और उससे आध्यात्मिकता को सीखता है तब उसे नागा बनाया जाता है। नागा बनाने का कार्य कुम्भ मेले में ही किया जाता है। इस कार्य के लिए प्रयाग को उत्तम स्थान समझा जाता है, परन्तु उज्जैन, हरिद्वार में भी नागा बनाये जाते हैं।

(3) थानापति- नागा की तीसरी स्थिति थानापति की है। यह पद नागा पद से उच्च पद है। थानापति होने का आशय अखाड़े के किसी शाखा का कार्यकर्त्ता बनना है। ऐसा माना जाता है कि जो नागा बन चुका है उसे थानापति बनने का अधिकार है। थानापति बनने की योग्यता इस आधार पर की जाती है कि उसे नागा होना चाहिए अथवा भूतपूर्व महन्त होना चाहिए।

थानापति का चुनाव होता है जिसको पंच हर दावे में से चुनता है। उसका कार्य अखाड़े की सम्पत्ति की देखरेख करना है। श्रीपंच को यह अधिकार होता है कि वह थानापति को नियुक्त अथवा पदच्युत (Dismissal) कर सकता है।[38]

प्रबन्ध व्यवस्था- प्रबन्ध व्यवस्था के लिए समस्त अखाड़ों का दायित्व आठ वरिष्ठ संन्यासियों का होता है। ये आठ प्रधान चार श्रीमहन्त और चार महन्त कहलाते हैं। इनके सहायतार्थ आठ उपप्रधान होते हैं जिन्हें 'कारबारी' कहा जाता है। अखाड़े के सदस्यों की बैठक इत्यादि बुलाने का दायित्व अखाड़े के एक अत्यन्त वरिष्ठ संन्यासी का होता है, जिसे कोतवाल कहा जाता है। अखाड़ों में चुनाव का पूर्ण अधिकार होता है। चुनाव प्रजातन्त्रीय तरीके से होते हैं, जिनमें महामण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, श्रीमहन्त सचिव, महन्त थानापति, श्री रमतापंच के श्री महन्त एवं जमात के महन्त जैसे पदों का चुनाव होता है।

झुंडी महन्त- कुम्भ की समाप्ति के बाद जब अखाड़े के नागा बिखरने लगते हैं, तब जितने नागा आदि अखाड़े के सर्वोपरि आठ महन्तों के साथ रहते हुए यात्रा करते हैं, उन्हें पंच, श्रीपंच, पंच-परमेश्वर और जमात कहा जाता है। कुम्भ के समय समस्त एकत्रित अखाड़े के संघ को शंभु-पंच कहा जाता है। शंभु-पंच की मान्यता केवल कुम्भ के समय ही है। दो कुम्भ के बीच के समय में अखाड़े का सर्वोपरि शासन श्रीपंच अथवा जमात करते हैं। पंच के अतिरिक्त कुछ छोटी-छोटी टुकड़ियाँ देश में विचरण करती रहती हैं, इन्हें ही झुंडी कहते हैं। झुंडी पंच की सम्मति से बनती है और झुंडों के महन्तों का निर्वाचन भी श्रीपंच ही करता है।[39] जमात में कार्य करने के लिए एक अलग व्यवस्था है जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

श्रीपंच की भाँति झुंडी के पास भी अपना इष्टदेवता, अपना निशान, भगवा झण्डा, माला, छड़ी आदि होती है, जिनका पारिभाषिक नाम नक्शा है। यह उसे पंच की ओर से मिलता है। झुंडी की कोई स्थावर सम्पत्ति नहीं होती। भक्तगण जो भी पूजा में देते हैं, वही उसकी सम्पत्ति है। बचे रुपयों को कुम्भ के अवसर पर झुंडी पंचायत कोष में वह रकम दे देती हैं, जिसे 'मुक्त' कहते हैं।

श्रीपंच के श्रीमहन्त और कारबारी- दसनामी नागा साधुओं के इतिहास में एक विशेष बात यह है कि श्रीपंच के श्रीमहन्त और कारबारी रेल या नाव या किसी तरह की सवारी को यात्रा के उपयोग के लिए नहीं ले सकता है। उसे एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा पैदल ही करनी पड़ती है।

आठ श्रीमहन्तों का चुनाव- कुम्भ मेले के समाप्त होने के पहले शंभु-पंच अखाड़े के शासन के लिए श्रीपंच के आठ महन्तों का चुनाव करता है। अखाड़े में केवल इन्हीं आठ महन्तों को

---

38. "The Sri Panch also selects Thanapati, one from each Dawa.to look after the properties of the Akhara. Sri Panch has right of appointment and dismissal of the Thanapati or any authority in the centre or the branches of the Akharas." Surjit Sinha : ASCETICS OF KASHI, p. 91-92.
39. उक्त

श्रीमहन्त कहा जाता है। ये एक कुम्भ से दूसरे कुम्भ के बीच के लिए ही चुने जाते हैं। श्रीमहन्त के चुनाव के समय ही श्री शंभु-पंच, कारबारी के चुनाव करता है।[40]

अखाड़े से पृथक् साधु- साधु समाज में कुछ ऐसे भी साधु होते हैं, जिनका अखाड़ों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे बिना दीक्षा के परमहंस की स्थिति तक पहुँचते हैं, इस कारण वे दसनामी साधुओं में नहीं गिने जाते। उदाहरणस्वरूप परमहंस तेलगा स्वामी और हरिहर बाबा का नाम लिया जाता है। दसनामी परमहंस होने के लिए किसी न किसी अखाड़े से सम्बन्ध होना आवश्यक है।[41]

प्रशासन की दृष्टि से दावे (विभाग)- घुर्ये बताते हैं कि दसनामियों, गिरि, पुरी, भारती और वन के अन्तर्गत दावे (विभाग) होते हैं।[42] कहा जाता है कि अखाड़े में आठ दावे होते हैं जिनके अन्तर्गत मढ़ी होती है। पर्वत और सागर को लेते हुए गिरि के चार दावे हैं, जिनकी 27 मढ़ियाँ हैं, जिन्हें निम्न रूप से जाना जाता है-

(1) रामदत्ती दावा-1. रामदत्ती, 2. दुर्गानाथी, 3. बलभद्रनाथी, 4. जगजीवननाथी, 5. संजानाथी।

(2) ऋद्धिनाथी दावा- 1. ऋद्धिनाथी, 2. ब्रह्मनाथी, 3. पटंबरनाथी, 4. छोटा ज्ञाननाथी, 5. बड़ा ज्ञाननाथी, 6. अघोरनाथी, 7. भावनाथी, 8. बड़ा ब्रह्मनाथी।

(3) चारमढ़ी दावा- 1. ओंकारी, 2. यति, 3. परमानन्दी, 4. चाँद बोदला।

(4) दसमढ़ी दावा-1. सहजनाथी, 2. कुसुमनाथी, 3. सागरनाथी, 4. पारसनाथी, 5. भावनाथी, 6. सागर बोदला, 7. नगेन्द्रनाथी, 8. विशम्भरनाथी, 9. रुद्रनाथी, 10. रतननाथी।

इन 27 मढ़ियों के अतिरिक्त लामामढ़ी भी गिरि दावे के अन्तर्गत गिनी जाती है।

पुरी के अन्तर्गत भारती, सरस्वती, तीर्थ, आश्रम, वन और अरण्य को लेते हुए 4 दावे हैं, जिनकी 25 मढ़ियाँ निम्न प्रकार हैं-

(1) बैकुंठी दावा- 1. बैकुंठी, 2. मुलतानी (केशोपुरी), 3. मथुरापुरी, 4. केवलपुरी, 5. दशनामी, 6. तिलकपुरी (मेघनाथपुरी)। वन की चार मढ़ियाँ-1. श्यामसुन्दर वन, 2. बलभद्र वन, 3. रामचन्द्र वन, 4. शंखधारी वन भी इसमें सम्मिलित हैं।

(2) सहजावत दावा-1. सहजपुरी

(3) दरिया दावा-1. गंगदरियाव, 2. भगवानपुरी, 3. भगवन्तपुरी, 4. पूरनपुरी, 5. हनुमंतपुरी, 6. जड़ भरतपुरी, 7. नीलकंठपुरी, 8. ज्ञाननाथपुरी, 9. मनीमेघनाथ पुरी, 10. बोध अयोध्यापुरी, 11. अर्जुनपुरी।

(4) भारती दावा-1. नरसिंह भारती, 2. मनमुकुन्द भारती, 3. विसंभर भारती, 4. बहुनाम भारती।

उपरोक्त मढ़ियाँ आध्यात्मिक कार्य करती हैं।

भण्डारा (भोज) के भेद- नागा संन्यासियों में जब किसी प्रकार का कार्यक्रम होता है, तब भण्डारे का आयोजन किया जाता है। उदाहरणस्वरूप यदि एक संन्यासी अपने गुरु की गद्दी पर नियुक्त होता है तब वह भण्डारे का आयोजन करता है। इस समय समस्त संन्यासी नये महन्त को चादर ओढ़ाने में सम्मिलित होते हैं।

भण्डारा दो प्रकार का होता है-1. व्यष्टि और 2. समष्टि। भण्डारे का व्यष्टि प्रकार वह होता है कि उसमें केवल अखाड़े से सम्बन्धित संन्यासी ही भाग लेते हैं जबकि समष्टि भण्डारे में अन्य अखाड़ों के परमहंस और नागा भी भाग लेते हैं।

नशा बन्दी- कुम्भ मेले के अवसर पर यह देखा गया है कि साधु समाज गांजा, चरस, भांग आदि का अधिक सेवन करते हैं। अखाड़ों में केवल दो अखाड़े महानिर्वाणी और निरंजनी हैं, जो अपने सदस्यों को नशा न करने का आदेश देते हैं। जूना अखाड़े में मांस और मदिरा पर पाबन्दी है।

---

40. राहुल सांकृत्यायन : साहित्य निबंधावली, पृ. 110
41. सुरजीत सिन्हा : एसेटिक्स ऑफ काशी, पृ. 76-77
42. जी. एस. घुर्ये पूर्वोक्त, पृ. 106

शिक्षा– 'काशी के संन्यासी'[43] नामक पुस्तक से जानकारी मिलती है कि पाँच परमहंस संस्कृत की पाठशालाएँ चलाते हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं– 1. अमरनाथ मठ, 2. मृत्युंजय आश्रम, 3. दक्षिणामूर्ति मठ, 4. हथियाराम मठ, 5. अन्नपूर्णा मठ। इनमें सबसे प्राचीन और ठीक तरह से संचालित अमरनाथ मठ का संस्कृत महाविद्यालय है, जिसकी स्थापना सन् 1906 में स्वामी गोविन्दनन्दजी मण्डलेश्वर द्वारा की गई थी।

संस्कृत शिक्षा के अतिरिक्त परमार्थ साधक संघ ने अखिल भारतीय गीता प्रचार परिषद् का निर्माण किया है जो गीता की परीक्षा आयोजित करता है और उत्तीर्ण होने वाले परीक्षार्थियों को प्रमाणपत्र देता है। स्वामी विद्यानन्दजी मण्डलेश्वर गीता प्रचार मन्दिर से 'गीताधर्म' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी करते थे, जो अब बन्द हो चुकी है।

नाथपंथी और नागा संन्यासी– नाथपंथी और नागा संन्यासियों में कुछ साम्य है। विशेषकर जूना अखाड़े से। नाथपंथी और जूना अखाड़े के नागा संन्यासी दोनों के इष्टदेव भैरव हैं। दोनों दत्तात्रेय की भी उपासना करते हैं। नाथ पंथियों की तरह जूना अखाड़े में भी धूनी का महत्त्व है। एक विशेष तथ्य ध्यान में रखने का है कि सभी नाथपंथी कनफटा नहीं होते।[44]

प्रणाम करने की विधि– दशनामी संन्यासी जब आपस में मिलते हैं तब 'नमो नारायण' कहते हैं, चाहे वे आश्रम, भारती, सरस्वती और तीर्थ के ब्राह्मण दण्डी हों। 'नमो शिवाय' का उच्चारण केवल नाथ पंथी से सम्बन्धित है।

तिलक– दशनामी संन्यासी अपने माथे पर तीन आड़ी रेखाओं का तिलक करते हैं जो कि शिव के तीसरे नेत्र का प्रतीक है। कुछ संन्यासी या तो रेखाओं के नीचे या ऊपर एक बिन्दु लगाते हैं जो शिव के लिंग का प्रतीक है। तिलक की यह रेखाएँ विभूति (राख) द्वारा बनाई जाती हैं। इसे त्रिपुण्ड कहा जाता है। वैसे तो शरीर के विशेष हिस्सों में 32 निशान लगाने का विधान है, किन्तु व्यावहारिकता में केवल पाँच लगाये जाते हैं।

माला– दशनामी संन्यासियों में माला पहनने का भी रिवाज है। यह माला रुद्राक्ष की होती है। या तो यह माला 32 दानों की या 64 दानों की होती है। कुछ लोगों का कहना है कि रुद्राक्ष की माला में 68 दाने होते हैं।

हठयोग की मनाही– दशनामी संन्यासियों को हठयोग की मनाही है। उनके लिए राजयोग ही बताया जाता है।

संन्यासियों के उप-सम्प्रदाय :

उप सम्प्रदाय साधुओं की तपस्या के कारण पड़े हैं–

1. दण्डी– इस मत के साधु यात्रा में दण्ड और कमण्डल अपने साथ रखते हैं। दण्ड बांस का एक टुकड़ा होता है, जो गेरूआ कपड़े और पवित्र धागे से ढँका हुआ रहता है।[45] निर्वाण तंत्र के अनुसार केवल ब्राह्मण दण्डी सम्प्रदाय में आ सकते हैं, वे किसी धातु की वस्तु और अग्नि को नहीं छूते। वे भिक्षा के लिए दिन में एक ही बार जाते हैं। बारह वर्ष अभ्यास के बाद वे परमहंस का जीवन अपना सकते हैं या अपनी इच्छा के अनुसार दण्डी ही रह सकते हैं।

2. परमहंस– परमहंस के दो भेद हैं–1. दण्डी परमहंस, और 2 अवधूत परमहंस।

3. दशनामी नागा– दशनामी नागा के जटा होती है और यह जटा तीन प्रकार की है–नागा जटा, शंभु जटा और बारबन। बाल यदि रस्सी की तरह गूँथे हुए हों और सांप की आकृति के समान लगते हों, उसे नागा जटा कहते हैं। शंभुजटा एक ढेले के समान होती है और बारबन शंभु जटा का छोटा रूप है।

---

43. पृ. 75, 78
44. वही पृ. 93
45. "The mobs of this order travel with Danda and Kamandalu. Danda is a piece of bamboo stick covered with gerua (Saffron) coloured cloth and holy thread." Swami Tattwananda : THE SHAIVA-SECT, p. 71.

4. अलेखिया- यह शब्द अलेख से आया है, जिसको भिक्षा माँगते समय संन्यासी कहता है। अलेख का अर्थ यह है कि जिसका लेखन न हो सके और जो वाणी और मानस से परे है। भिक्षा-पात्र या तो गणेश अथवा भैरव अथवा काली के सम्मानार्थ होता है। वे जो गणेश-भिक्षा पात्र रखते हैं, वे सुबह के समय भिक्षा माँगते हैं। जो भैरव भिक्षा-पात्र रखते हैं, वे संध्या समय भिक्षा माँगते हैं और जो काला भिक्षा-पात्र रखते हैं वे अर्धरात्रि में भिक्षा माँगते हैं।[46] भिक्षा माँगते समय यह एक भिन्न प्रकार का वस्त्र पहनते हैं, जिसे केलका और मातंगा कहा जाता है। विशेष प्रकार के आभूषणों गिरनार चल, तोरा, छल्ला आदि जो चाँदी, पीतल अथवा ताँबे के बने होते हैं, धारण करते हैं, वे अपनी कमर में छोटी-छोटी घंटियाँ भी बाँधते हैं, ताकि भिक्षा माँगते हुए लोगों का ध्यान आकर्षित हो सके।

5. डंगालि- ये संन्यासी भिक्षा नहीं माँगते किन्तु व्यापार करते हैं और जो धन कमाते हैं, उससे संन्यासियों को भोजन करवाते हैं।

6. अघोरी-ये बिल्कुल भिन्न प्रकार के संन्यासी हैं। ये समदृष्टि तत्त्व का अभ्यास करते हैं। ये शुभ या अशुभ वस्तुओं में भेद नहीं करते। ये भिक्षा पात्र के रूप में मानव-मुंड रखते हैं। वे शिव और शक्ति की उपासना करते हैं। भवभूति का नाटक 'मालती-माधव' से ज्ञात होता है कि चामुण्डा को, अपने किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, खुश करने का प्रयास करते हैं

7. ऊर्ध्वबाहु-ये संन्यासी अपने इष्ट को प्रसन्न करने के लिए अपने शरीर को सताते हैं। वे जो एक अथवा दोनों हाथ ऊपर उठाकर रखने की शपथ लेते हैं, वे ऊर्ध्वबाहु कहलाते हैं।

8. आकाशमुखी- ये संन्यासी अपने मुख को आकाश की ओर उठाये रखने की शपथ लेते हैं।

9. नखी- कुछ संन्यासी जो अपने नाखून नहीं काटने की शपथ लेते हैं, उन्हें नखी कहा जाता है।

10. थारेश्वरी- कुछ संन्यासी जो रात और दिन खड़े रहने का व्रत लेते हैं, वे थारेश्वरी कहलाते हैं। वे खड़े-खड़े ही भोजन करते और नींद निकालते हैं।

11. ऊर्ध्वमुखी- ये संन्यासी बहुत ही कठिन तपस्या करते हैं। वे अपने पैरों को ऊपर और सिर को नीचा रखते हैं। वे अपने पैरों को किसी वृक्ष की शाखा से बाँध देते हैं।

12. पंचधुनी- ये संन्यासी चार दिशा में अग्नि प्रज्ज्वलित कर गर्मी के मौसम में बीच में बैठते हैं। वे पंचधुनी संन्यासी कहे जाते हैं।

13. मौनव्रति-ये संन्यासी मौनव्रत रखने की शपथ लेते हैं।

14. जलसाजीवी-ये संन्यासी प्रातः से संध्या तक पानी में खड़े रहने की शपथ लेते हैं।

15. जलधारा तपसी- ये संन्यासी एक गड्ढा खोदकर उसमें बैठते हैं। ऊपर पानी का एक घड़ा रखते हैं जिसमें छेद होते हैं, जिसमें से पानी उनके ऊपर गिरता है।

16. करलिंगी- ये संन्यासी नग्न रहने की शपथ लेते हैं, इन्हें जितेन्द्र समझा जाता है।

17. फलहारी- ये संन्यासी गेहूँ, जौ, चावल आदि से बने भोजन को न खाने की शपथ लेते हैं और वे केवल फलों पर रहते हैं। भोजन पर नियंत्रण उनके धर्म का एक अंग है।

18. दूधारी- ये संन्यासी केवल दूध पर जीवित रहते हैं।

19. अलूना-ये संन्यासी उसी भोजन को लेते हैं जिसमें नमक न हो। वे अलूना कहे जाते हैं।

20. औघड़- दशनामी संन्यासी जो ब्रह्मगिरी संन्यासी होते हैं और वे गोरखनाथ के अनुगामी होते हैं।

---

46. "The begging bowl they keep in ingonour of either Ganesh or Bhairava or Kali. Those with Ganesh designated bowl beg in the morning, those with Bhairava designated bowl in the evening and those with Kali designated bowl at midnight - वही पृष्ठ 76.

21. गूदड़- गूदड़ संन्यासी जो एक प्रकार का वस्त्र पहनते हैं जिसे कोलका कहा जाता है। वे एक कान में छल्ला और दूसरे कान में ताँबे से बनी वस्तु को धारण करते हैं। भिक्षा के समय वे सुगन्धित वस्तु का प्रयोग करते हैं। गुधार संन्यासियों का कर्त्तव्य होता है कि वे किसी संन्यासी के मृत्यु के बाद क्रियाकर्म करें। मृत संन्यासी की वस्तुएँ ये लोग लेते हैं।

22. सुखर- इन संन्यासियों का कर्त्तव्य भी गूदड़ संन्यासियों की तरह है। वे भिक्षा के लिए नारियल से बने खप्पर का प्रयोग करते हैं और भिक्षा के समय सुगन्धित वस्तुएँ जलाते हैं।

23. रूखर-ये संन्यासी गूदड़ संन्यासियों की तरह ही होते हैं, किन्तु उनके रिवाजों में थोड़ा ही अन्तर होता है।

24. कुखर- ये संन्यासी नये पात्र में ही भिक्षा लेते और पकाते हैं।

25. भूखर- ये संन्यासी भिक्षा के समय सुगन्धित वस्तुएँ नहीं जलाते।

26. अवधूतनी- कुछ स्थानों पर स्त्रियाँ संन्यासिन होती हैं। वे माला धारण करती हैं। माथे पर शैव चिह्न अंकित करती हैं। तीर्थ यात्राओं पर जाती हैं और भिक्षा से जीवन यापन करती हैं।

27. घरबारी संन्यासी- ये संन्यासी अपने परिवार के साथ रहते हैं, यद्यपि वे अपने को संन्यासी कहते हैं।

28. टिकरनाथ- ये संन्यासी भैरव की पूजा करते हैं। टिकरा (मिट्‌टी का बना पात्र) का उपयोग करते हैं।

29. त्यागी- ये संन्यासी भिक्षा नहीं माँगते। बिना माँगे जो मिल जाता है उसी पर गुजारा करते हैं। यदि कपड़े मिल जावें तो कपड़े पहनते हैं नहीं तो नग्न अवस्था में रहते हैं।

30. अतुर संन्यासी- मृत्यु के समय किसी व्यक्ति को उसके आत्मा को उठाने के लिए जब दीक्षा दी जाती है, ऐसे व्यक्ति को अतुर संन्यासी कहा जाता है।

31. मानस संन्यासी-जब मनुष्य अपने घर को छोड़ देता है और साधु का जीवन बिताता है, उसे मानस संन्यासी कहा जाता है।

32. अन्त संन्यासी-एक व्यक्ति जो एक स्थान पर बैठकर मृत्यु तक उपवास कर, ईश्वर के ध्यान में लगा रहता है, उसे अन्त संन्यासी कहते हैं।

33. क्षेत्र संन्यासी- यदि कोई व्यक्ति संन्यासी जीवन बिताने की शपथ लेता है और मृत्यु तक किसी पवित्र स्थान पर रहता है, उसे क्षेत्र संन्यासी कहा जाता है।

34. भोपा- ये संन्यासी भैरव की पूजा करते हैं। इनके लम्बे केश होते हैं। भिक्षा के समय अपनी कमर अथवा पैर में घंटियाँ बाँधते हैं, नाचते हैं और भैरव की स्तुति में गीत गाते हैं।

35. दसनामी भाट- यद्यपि यह दशनामी नहीं होते, किन्तु वे दशनामी से ही भिक्षा लेते हैं। वे संन्यासियों की परम्परा का हिसाब रखते हैं। आवश्यकता होने पर उसे बताते हैं। तीर्थ-यात्रा पर जाते हैं। यद्यपि वे शिव के उपासक हैं, फिर भी सरस्वती के प्रति आदर की भावना रखते हैं।

36. चन्द्रवत- ये घरेलू भिखारी होते हैं। वे अपने साथ गाय, बकरी, बन्दर आदि रखते हैं। कभी-कभी जादू के खेल द्वारा पैसा अर्जित करते हैं।

(2) मंगलनाथ क्षेत्र के साधु :

विद्वानों की राय है कि कुम्भ मेले का आरम्भ बारहवीं शताब्दी के बाद हुआ किन्तु जी. एस. घुर्ये नासिक में सिंहस्थ मेले के बारे में कहते हैं कि इसका आरम्भ पन्द्रहवीं सदी में हुआ और यह मराठी भाषा में लिखित 'गुरु-चरित्र' पुस्तक में लिखा हुआ है।[1] उज्जैन नगर में सम्पन्न पिछले कुंभों

1. The earliest mention of this Simhastha fair at Nasik Trimbak or Gomati Tirtha occurs in Gurucharitra, a book written about the end of the 15th century.
(इस ग्रन्थ और उसके विवरण की प्रमाणिकता पर अभी शोध की काफी सम्भावनाएँ हैं। - सं.)

में वैरागी साधु मंगलनाथ अथवा अकपात क्षेत्र में ठहरे जिसका प्रबन्ध राज्य सरकार और स्थानीय प्रशासन ने किया। इन वैरागी साधुओं का अपना इतिहास है जो कि चतुः सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इस चतुःसम्प्रदाय में विशेषकर रामानन्दी, निम्बार्क, माधव-गौड़ीय एवं विष्णुस्वामी के अनुयायी ही हैं।

वैरागी सम्प्रदाय की स्थापना :

कहा जाता है कि रामानुज सम्प्रदय की छुताछूत सम्बन्धी कट्टर मान्यता से असहमत होने के कारण ही श्री रामानन्द ने वैरागी सम्प्रदाय की स्थापना की थी। स्वामी रामानन्द का आविर्भाव काल 15वीं शताब्दी (1410 ई.-1510 ई.) है। बैरागी की परिभाषा करते हुए बलदेव उपाध्याय ने कहा है, "जो लोक-परलोक की इच्छाओं का त्याग करता है, उसे ब्राह्मणों की भाषा में विरागी कहते हैं।" रामानन्द सम्प्रदाय अथवा रामावत सम्प्रदाय रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को ही मानता है, किन्तु दोनों में भेद हैं। रामानुज के अनुयायी लक्ष्मीनारायण के उपासक हैं, जबकि रामानन्द सम्प्रदाय के अनुयायी भगवान राम के उपासक हैं। दूसरा भेद यह है कि जहाँ श्री वैष्णव सम्प्रदाय में विधि-विधानों की बहुतायत है वहीं रामानन्द सम्प्रदाय बाह्य विधानों के पालन पर इतना आग्रह नहीं करता, किन्तु अपने इष्टदेव के भजन और गुणगान से ही तृप्त होता रहता है। तीसरा भेद यह है कि जहाँ भी वैष्णवों के आचार्यों ने संस्कृत को ही उपदेश का माध्यम बनाया वहीं श्री रामानन्द ने हिन्दी को माध्यम बनाकर जन-साधारण को आकृष्ट किया। चौथा भेद यह है कि श्री वैष्णवों के द्वादशाक्षर मंत्र के स्थान पर रामानन्दी वैष्णवों को रामषडाक्षर मन्त्र (ऊँ रां रामाय नमः) ही अभीष्ट है। पाँचवाँ भेद यह है कि रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायी तुलसी की माला ग्रहण नहीं करते, जबकि रामानन्द सम्प्रदाय के अनुयायी तुलसी की माला अनिवार्य रूप से ग्रहण करते हैं।

रामानन्दी बैरागी भी तीन प्रकार के होते हैं, जिनमें से एक को अखाड़ा मल कहा जाता है। इन बैरागियों के प्रमुख मठ, अखाड़े एवं संस्थाएँ हैं जो कि अयोध्या, चित्रकूट एवं मिथिला में हैं।

अखाड़ों का इतिहास :

श्री रामानन्द के समय तक हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति बहुत गिर चुकी थी। मूर्तियों का खण्डन करना, विश्वासों का हनन करना विधर्मियों के कृत्य थे। कहा जाता है कि सिकन्दर लोदी (सन् 1489-1517 ई.) के समय तक हिन्दुओं पर अत्याचार करने का एक आन्दोलन ही चल पड़ा था और यह क्रम बढ़ता ही जा रहा था। यहाँ तक कहा जाता है कि सन् 1398 में तैमूर ने हरिद्वार में बहुत अधिक संख्या में बैरागियों को मरवा डाला था। ऐसी स्थिति में श्री बालानन्द का उदय हुआ जो कि आचार्य बृजानन्दजी के शिष्य थे। इन्होंने सन् 1672 में चतुःसम्प्रदायों एवं सम्बन्धित अखाड़ों को संगठित किया। घुर्ये यह मानते हैं कि वैष्णव बैरागियों के अखाड़े का संगठन 1650-1700 के बीच हुआ है।[2] इस स्थापना का एक कारण यह भी था कि वैष्णवों के चार वर्गों में विभाजन और मतभेद था जिसका लाभ लेकर शैव सम्प्रदाय के साधु-महात्मा बैरागियों को तंग किया करते थे। श्री बालानन्द ने पारस्परिक भेदभाव की उपेक्षा कर उन्हें एकसूत्र में बाँधने के लिए ही अखाड़ों की प्रथा चलाई थी ताकि संगठित होकर वे प्रतिपक्षियों से अपनी रक्षा के साथ ही तीर्थों की प्रतिष्ठा बचाने में भी समर्थ हो सकें।[3] "वृहद् उपासना रहस्य" में कहा गया है-

शस्त्र सुविधा सबहि पढ़ाई। बाधेउ सात अखाड़े भाई।
स्वामी बालानंद कृपाला। राखेउ तिलग लगे जस भाला।।[4]

श्री वेदप्रकाश गर्ग उनके लेख 'वैष्णव अनी अखाड़े' में लिखते हैं कि 18वीं शताब्दी में वैष्णव सम्प्रदायों को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा था। यवन आक्रमणकारियों और विधर्मी शासकों से तो उनको अपार कष्ट था। वैष्णवेतर सम्प्रदायों की असहिष्णुता भी उनको त्रस्त कर रही थी। सुना

---

2. "The probable date of the military organization of the Bairagis may, therefore, be put down as between A.D. 1650 and 1700. G.S. Ghurye : INDIAN SADHUS, p." 178
3. डॉ. भगवतीप्रसादसिंह : रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ. 120
4. पृ. 147

जाता है कि विक्रम संवत् 1720 के लगभग किसी कुम्भ के अवसर पर नंगे होकर तीर्थों पर स्नान करने वाले शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों को वैष्णवों ने रोका- ''तुम ऐसा शास्त्र विरुद्ध आचरण मत करो। तीर्थ जलाशयों में नग्न होकर स्नान करना निषिद्ध है।'' इस पर वे चिढ़ गये। इसी शास्त्र-विरुद्ध कृत्य को करना उन्होंने अपना धर्म समझ लिया और वैष्णवों पर अत्याचार करने लगे। कहा जाता है कि लक्ष्मीगिरि और भैरवगिरि नामक गुँसाइयों (शंकर मतावलम्बी) ने तो प्रतिदिन कम से कम पाँच-पाँच वैष्णवों का वध करके ही भोजन करने की प्रतिज्ञा कर ली थी।[5] उन्हें जब वैष्णव नहीं मिलते थे तो वे आटे के वैष्णव बनाकर उन्हें तलवार से काटते थे और तब भोजन करते थे।

सन् 1980 के उज्जैन सिंहस्थ के सर्वेक्षण पर यह जानकारी प्राप्त हुई थी कि शंभुदल (शैव अखाड़ा) ने नासिक कुम्भ के अवसर पर बहुत बैरागियों को मार डाला था। उस लड़ाई में रामबाग अखाड़े का आधा निशान कट गया था।

चतुः सम्प्रदाय की स्थापना :

हम ऊपर कह चुके हैं कि चतुःसम्प्रदाय में विशेषकर रामानन्दी, निम्बार्क, माधव-गौड़ीय एवं विष्णुस्वामी के अनुयायी ही हैं। चतुःसम्प्रदाय के बारे में जी. एस. घुर्ये की पुस्तक से निम्नलिखित जानकारी मिलती है-

"In the first historically known gathering of Chatuh-Sampradayi's that took place at the begining of the eighteenth century near Jaipur and considered the ways and means to combat the aggresiveness of the Shaiva ascetics, it was the Nimbarki ascetics Virindavandeva, who was chosen to preside over its deliberations."[6]

'अखाड़ा' शब्द की उत्पत्ति :

श्री बाबूलाल शर्मा यह मानते हैं कि आम्नाय का अपभ्रंश रूप अखाड़ा है[7] जबकि डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह की मान्यता है कि अखाड़ा ''अखण्ड'' शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है।[8] किन्तु रामदल के अनुयायी ''अखाड़ा'' शब्द को इस रूप से ग्रहण नहीं करते। श्री नरहरिदासजी ने वार्तालाप के दौरान यह बताया कि अखाड़ा शब्द आध्यात्मिक रूप से प्रयोग किया जाता है, क्योंकि मल्लशाला में अंखाड़े का प्रदर्शन नहीं होता।

बैरागियों के साम्प्रदायिक साहित्य में ''अखाड़े'' की व्याख्या निम्न रूप से की गई है-

नाहमादिरखंडों यत्र स अखंड उदाहृतः
चतुर्णा सम्प्रदायानां अखाडाः सप्त वै मताः।
अखंड संज्ञा संकेतः कृतो धर्म विवृद्धये
बालानन्द प्रभृतिभिः सम्प्रदायानुसारियभिः।।[9]

सवंक्षण के अवसर पर यह भी ज्ञात हुआ कि अखाड़ों की अपनी शब्दावली है। रामादल के अनुयायी अखाड़ों को 'गाँव' कहते हैं। डॉ. गंगादासजी ने जानकारी दी कि भारत में अखाड़ों की प्रमुख बैठकें हैं-अयोध्या, वृन्दावन, चित्रकूट, नासिक एवं जगन्नाथपुरी।

अखाड़ों में महिलाओं को स्थान नहीं :

सर्वेक्षण के समय श्री नरहरिदासजी ने जानकारी दी कि अखाड़े में महिलाओं के लिए स्थान नहीं है। यहाँ तक कि अखाड़े में देवियों की उपासना भी वर्जित थी, किन्तु आजकल सीताराम की उपासना सम्मिलित कर ली गई है।

5. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 71, अंक 3-4, पृ. 334
6. जी. एस. घुर्ये : इण्डियन साधू, पृ. 173
7. उज्जयिनी दर्शन, पृ. 126
8. डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह, पूर्वोक्त पृ. 120
9. भजन रत्नावली, पृ. 304

अखाड़ों के प्रकार :

दिगम्बर अनी के महन्त श्री सुखरामदासजी ने जानकारी दी कि अखाड़े दो प्रकार के होते हैं। एक अखाड़े को मुल्की अखाड़ा (जो पड़ाव करते रहते हैं) कहते हैं, जबकि दूसरे अखाड़े को मकानी अखाड़ा (एक ही स्थान पर रहते हैं) कहते हैं। घुर्ये ने इन अखाड़ों के नाम क्रम से स्थानीय अखाड़ा और रमता अखाड़ा बताये हैं।[10] स्थानीय अखाड़े में चतुःसम्प्रदाय के नागा ही रहते हैं।

अखाड़ों की स्थापना :

कहा जाता है कि अयोध्या में सर्वप्रथम श्री बालानन्द द्वारा सात अखाड़े संगठित रूप से स्थापित किये गये थे, जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है-

1. निर्वाणी-इसके स्थापक अभयरामदासजी नामक सन्त थे जो नवाब सफदरजंग (1739-54 ई) के समकालीन थे। हनुमानगढ़ी पर इसी अखाड़े का अधिकार है। कालान्तर में शिष्यों की संख्या में असाधारण रूप से वृद्धि होने पर यह चार थोक अथवा पट्टियों में विभक्त हो गया जिनके नाम 1. हरद्वारी, 2. बसन्तिया, 3. उज्जैनिया, 4. सागरिया है। नागा लोगों के भी चार विभाजन हैं, जिन्हें सेती कहा जाता है और उनके नाम भी उपरोक्त ही हैं।[11] इनके बारे में आगे चलकर प्रकाश डाला जायेगा। आरम्भ से ही अयोध्या का यह सबसे अधिक शक्तिशाली अखाड़ा रहा है। यहाँ के साधु बहुत ही धनी हैं। फैजाबाद, गोंडा, बस्ती, प्रतापगढ़ में इनकी काफी भूमि है। फैजाबाद में इनके अधीन कुछ गाँव भी थे।[12] पण्डित रामनारायण ने निर्वाणी का अर्थ निम्न प्रकार से किया है-

वानं विषय रूपं चछुष्कं फलमुदाहृतम्।
यस्मात्तुनिर्गतं वानं स निर्वाणास्सभीरितः।।[13]

2. दिगम्बर-अयोध्या में इस अखाड़े की स्थापना किसी बलरामदासजी ने की थी। इसकी स्थापना को कम से कम 250 वर्ष हो गए हैं। श्रीवास्तवजी की मान्यता है कि सन् 1905 में यहाँ का महन्त अपनी परम्परा में 11वाँ था। उन्होंने यह भी कहा कि दिगम्बर अखाड़े के साधु नंगे ही रहते हैं।[14] दिगम्बर निम्बार्की अखाड़े को श्याम दिगम्बर और रामानन्दी में यही अखाड़ा राम दिगम्बर अखाड़ा कहा जाता है।[15] सर्वेक्षण के अवसर पर, नंगे रहने का तथ्य सत्य साबित नहीं हुआ। पण्डित रामनारायणदासजी ने दिगम्बर शब्द की व्याख्या निम्न रूप से की है-

केवलं स्वेष्टदेवस्य स्मरणौ वर्तते सदा।
दिशोम्बराणियस्य स्यात्समतस्यदिगम्बरः।।[16]

3. निर्मोही-गोविन्ददास नाम के एक सन्त ने, जो जयपुर से अयोध्या आये थे, रामघाट पर इस अखाड़े की स्थापना की थी। इनका समय भी 18वीं सदी का आरम्भ माना जाता है। कहा जाता है कि कुछ दिनों बाद गद्दी सम्बन्धी विवाद के कारण इनमें दो वर्ग हो गये। एक वर्ग रामघाट पर रहने लगा और दूसरा गुप्तारघाट पर। गुप्तारघाट के निर्मोहियों के पास काफी भूमि, बस्ती, मानकपुर, खुर्दाबाद आदि स्थानों पर है। निर्मोही शब्द का अर्थ 'मोह रहित' किया जाता है। पण्डित रामनारायणदास ने कहा भी है-

स्वस्यदेहानवत्तिषु पुत्रवित्तगृहादिषु।
मोहो हि निर्गतो यस्मात्य निर्मोह उदाहृतः।।[17]

---

10. जी. एस. घुर्ये, पूर्वोक्त, पृ. 203
11. "There is another classification of the Nagas known as Seti. There are four sets. 1. Sagariya, 2. Ujjaniya, 3. Vasantiya and 4. Haridwariya." - Surijit Sinha : Asceties of Kashi, p. 126
12. डॉ. बद्रीनारायण श्रीवास्तव : रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ: 228
13. पण्डित रामनारायण दास : भजन रत्नावली, पृ. 305
14. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसके प्रभाव, पृ. 228
15. जी. एस. घुर्ये : इण्डियन साधूज, पृ. 180
16. पंडित रामनारायणदास : भजन रत्नावली, पृ. 305
17. वही, पृ. 306

4. सन्तोषी–सफदरजंग के शासनकाल में जयपुर से आये श्री रत्तीरामदास ने एक मन्दिर बनवाकर इस अखाड़े को स्थापित किया। वाजिदअली शाह के शासनकाल में निद्धिसिंह नामक एक अलवार ने दूसरा मन्दिर बनवाया था। इसके बाद खुशहालदास नामक एक संतोषी साधु अयोध्या आये और उनके उत्तराधिकारी रामकृष्णदास ने नया मन्दिर बनवाया। सन् 1900 ई. में जब महन्त की मृत्यु हुई तब बहुत दिनों तक यह अखाड़ा वीरान पड़ा रहा। संतोषी अखाड़े में मूर्तियों (साधु) की संख्या कम है। संतोषी का अर्थ निम्न प्रकार से किया गया है–

स्वारब्ध स्यतु संयोगात्स्वल्पे लब्धोपि वस्तुनि।
संतोषो विद्यतेयस्य ससंतोषी सदा मत।[18]

5. खाकी–कहा जाता है कि चित्रकूटवासी संत दयाराम ने शुजाउद्दौला के समय (1754–75 ई.) में नवाब से चार बीघा भूमि प्राप्त कर इस अखाड़े की नींव डाली थी। खाकी अपने शरीर पर भस्म रमाते हैं। बस्ती में इनकी भूमि भी है। इनके वर्तमान महंत श्री भगवानदासजी खाकी हैं। खाकी नाम की व्याख्या पण्डित रामनारायणदास निम्न रूप से करते हैं–

खं ब्रह्मराया स्मरणे च कं सुखे च प्रकीर्तितम्।
ब्रह्मस्मरणेयस्यसुखं खाकी मतो बुधे:।।[19]

खं का अर्थ है ब्रह्म का स्मरण और कं का सुख अर्थात् ब्रह्म के स्मरण में जिसे सुख हो, वह खाकी है।

6. महानिर्वाणी–कोटा–बूँदी के निवासी महात्मा पुरुषोत्तमदास ने शुजाउद्दौला के शासनकाल में इस अखाड़े की स्थापना की थी। इन्होंने एक मन्दिर की भी स्थापना की थी। इनमें 25 पट्टियाँ हैं, जिनमें अधिकांश भ्रमणशील याचक का जीवन व्यतीत करते हैं। महानिर्वाणी की तरह निर्वाणी अखाड़ा भी है। दोनों में भेद यह है कि निर्वाणी सदस्य इन्द्रियक इच्छाओं को तिलांजली दे देते हैं, जबकि महानिर्वाणी मोक्ष में ही सुख को मानते हैं।[20] पण्डित रामनारायणदासजी ने महानिर्वाणी को निम्न रूप से समझाया है–

निर्वाणां निवृतोनाशे मोक्षे चैव प्रकीर्तितम्
महन्मोक्ष सुख यस्य स महानिर्वाणोमत:।।[21]

7. निरावलम्बी–कहा जाता है कि कोटा के बीरबलदास ने इस अखाड़े की स्थापना शुजाउद्दौला के समय में की थी। उसने अयोध्या में एक मन्दिर बनवाया, जो बाद में तोड़ दिया गया। इनके बाद नरसिंहदास ने दर्शनसिंह के पास ही एक नया मन्दिर बनवाया। इनकी सम्पत्ति थोड़ी सी है। निरावलम्बी का अर्थ आलम्बनहीन किया जाता है। पंडित रामनारायणदास के मते से

देवान्तरेष्ववलं बोयश्चाल्व सुख साधन:
सनिश्शेषगतो यस्मान्निरालम्बो मतो हि स:।।[22]

कालान्तर में उपासना की दृष्टि से अखाड़ों की संख्या बढ़ती गई। इस कारण संगठन एवं व्यूह रचना की दृष्टि से तीन अनियाँ रखी गईं जिन्हें निर्मोही, दिगम्बर और निर्वाणी अनि की संज्ञा दी गई। इन अनियों में पृथक्–पृथक् अखाड़े हैं, जैसा कि निम्न तालिका में स्पष्ट होता है–

---

18. वही
19. वही, पृ. 305
20. घुर्ये, पूर्वोक्त, पृ. 181
21. पंडित रामनारायणदास, पूर्वोक्त, पृ. 306
22. वही
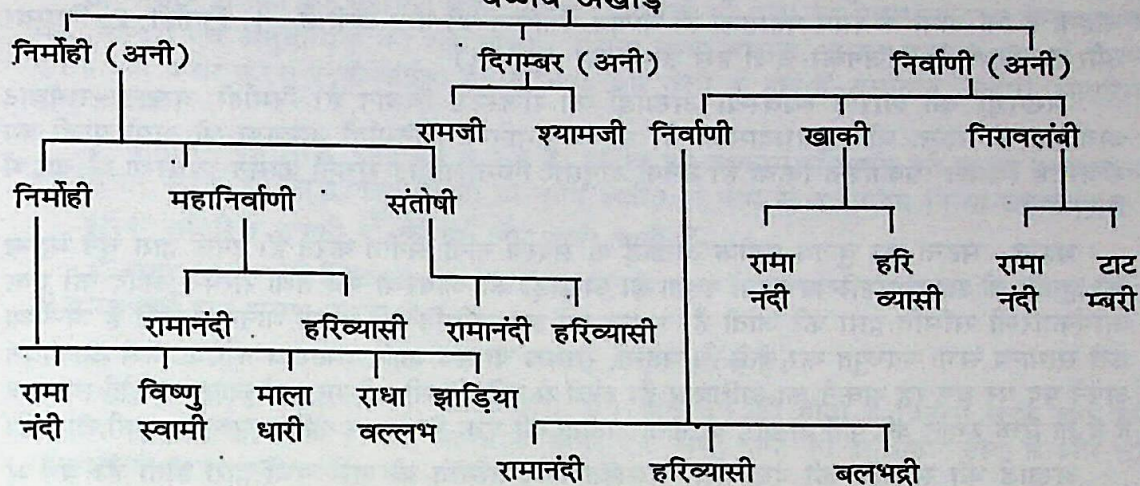
इस प्रकार कुल अखाड़ों की संख्या 18 है। रामोपासक अखाड़े 7 हैं- 1. रामानन्दी निर्मोही, 2. रामानन्दी महानिर्वाणी, 3. रामानन्दी संतोषी, 4. रामजी (दिगम्बर), 5. रामानन्दी निर्वाणी, 6. रामानन्दी खाकी, 7. रामानन्दी निरावलम्बी।

कृष्णोपासक अखाड़े 11 हैं-1. विष्णुस्वामी निर्मोही, 2 मालाधारी निर्मोही, 3. राधावल्लभ निर्मोही, 4. झाड़िया निर्मोही, 5. हरिव्यासी महानिर्वाणी, 6. हरिव्यासी संतोषी, 7. श्यामजी (दिगम्बर), 8. हरिव्यासी निर्वाणी, 9. बलभद्री निर्वाणी, 10. हरिव्यासी खाकी, 11. टाटम्बरी।

अखाड़ों के मुख्य कर्त्तव्य- डॉ. बद्रीनारायण श्रीवास्तव ने उनकी पुस्तक 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव' में लिखा है, ''इन अखाड़ों के मुख्य कर्त्तव्य विपक्षियों से हिन्दूधर्म एवं हिन्दुओं के मन्दिरों की रक्षा करना, वैष्णव धर्म के विद्रोहियों का दमन करना, कुम्भपर्व के अवसर पर अपने सम्प्रदाय की मर्यादा बचाना आदि हैं। इसी कारण इन साधुओं का अधिक समय सैनिक शिक्षा प्राप्त करने में ही व्यतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन अखाड़ों में गत 300 वर्षों में हिन्दूधर्म और हिन्दू जाति की अपूर्व सेवा की है।[23]

'अनी' शब्द की व्याख्या- हमने ऊपर 'अनी' शब्द की चर्चा की थी। अखाड़ों के सन्दर्भ में इसका प्रयोग होता है। घुर्ये लिखते हैं कि संस्कृत शब्द 'अनिका' का लघु रूप अनी है, जिसका अर्थ सेना (Army) होता है।[24] नरहरिदास का कथन है कि शस्त्र के नुकीले भाग को अनी कहते हैं। सेना का नेतृत्व करने वाले को अनी कहते हैं। अनी की उत्पत्ति के बारे में प्रश्न करने पर जानकारी मिली कि रामायण के लंकाकाण्ड में अनी का प्रयोग हुआ है और वैष्णव बैरागी यह मानते हैं कि भगवान राम की स्वयं की एक अनी थी अर्थात् अनी की उत्पत्ति राम से ही है। डॉ. गंगादास से प्रश्न पूछा गया कि अनी का संगठन पहले हुआ अथवा खालसा का? प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि अनी का संगठन पहले हुआ। बाद में खालसा बने। अनी से सम्बन्धित बैरागी एक हाथ में तलवार और एक हाथ में रामायण रखते हैं अर्थात् वे सदैव धर्म की रक्षार्थ तैयार रहते हैं।

दिगम्बर अनी के पास श्री रामानन्द के पद-चिह्न हैं, इस कारण उसकी प्राचीनता एवं महत्ता मानी जाती है।

अनी के कर्त्तव्य- कुम्भ के अवसर पर अनी के महन्त खालसाओं के महन्तों से उनकी सामर्थ्य के अनुसार रकम लेकर उन्हें एवं उनकी मूर्तियों (अनुयायियों) को बैंड-बाजे, अखाड़ों सहित नहलाने के लिए ले जाते हैं एवं साथ ही साधु-समाज के विवादों को चतुः सम्प्रदाय के साथ मिलकर निर्णय

---

23. डॉ. बद्रीनारायण श्रीवास्तव : रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ. 229

24. G. S. Ghurye : 'Ani' is evidentity a short form of the Sanskrit word anika. meaning an army." - Indian Sadhus, p. 179.

लेते हैं। वास्तव में साधु-समाज पर इन अनियों का प्रभुत्व है, इस कारण श्री लक्ष्मणदासजी का कहना है कि अनी के लोग महाराजा हैं। वैष्णव वैरागियों की तीन अनी हैं- 1. निर्मोही, 2. दिगम्बर और 3. निर्वाणी। (जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।)

अखाड़ों की शासन व्यवस्था-अखाड़ों का रजिस्टर्ड विधान है। निर्मोही अखाड़ा-रामघाट अयोध्या के महन्त श्री रघुनाथदासजी ने 'श्रीपंच रामानन्दीय निर्मोही अखाड़ा श्री अयोध्याजी का रजिस्टर्ड विधान' प्रकाशित किया है। उनके अनुसार निम्नलिखित सूचना शासन व्यवस्था के बारे में मिलती है-

महन्त- महन्त का चुनाव प्रत्येक अखाड़े के सदस्य नागा अतीत करते हैं। इनके द्वारा चुने महन्त को चुनाव के समय उपस्थित रहना पड़ता है। अखाड़ों की व्यवस्था पंच तथा सरपंच आदि की एक कार्यकारिणी समिति द्वारा की जाती है। महन्त को इस समिति की आज्ञा मानना पड़ती है अन्यथा उसे सामान्य सभा पदच्युत कर देती है। महन्त, सरपंच या पंच आदि त्यागपत्र न दे तो उसे आजीवन अपने पद पर बने रह सकने का अधिकार है। इनमें से यदि किसी की मृत्यु हो जाए या कोई त्यागपत्र दे दे तो रिक्त स्थान की पूर्ति अखाड़े के नागा अतीतों की एक विशेष आयोजित सभा द्वारा की जाती है।

अखाड़े की सम्पत्ति की देखभाल व्यवस्थापिका समिति के कुछ पंचों द्वारा होती है। वर्ष में कार्यकारिणी की बैठक एक बार अवश्य होती है। उसमें प्रत्येक साधु व महन्तादि के कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर विचार किया जाता है।

महन्त अखाड़े की सम्पत्ति का स्वामी होता है। उसे मन्दिर आदि की पूजा-व्यवस्था करनी पड़ती है। परम्परा की रक्षा करना भी उसी का काम है। साम्प्रदायिक वेशभूषा, आचार-व्यवहार का उसे पूरा पालन करना पड़ता है। न तो उसे उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार होता है और न परम्परा के विरुद्ध आचरण करने का। साधुओं को नागा बनाने का कार्य महन्त ही करता है। उसे ही शिष्य बनाने का भी अधिकार होता है। महन्त आय-व्यय का पूरा लेखा-जोखा पंचों को देता रहता है और महन्ती से हट जाने पर सामान्य सदस्य मात्र रह जाता है।

अखाड़े की सम्पत्ति का आय-व्यय का लेखा गोलकी (Treasurer) रखता है। इसका निर्वाचन तीन वर्ष के लिए किया जाता है। सामान्य व्यय के लिए वह रुपये 100/- तक अपने पास रख सकता है। गोलकी के सम्मुख ही एक पुजारी दूसरे पुजारी को कार्यभार सौंपता है। बदचलनी पर गोलकी को बीच में ही पदच्युत कर दिया जाता है।

अखाड़ों के साधुओं की श्रेणियाँ-अपने गुरु के स्थान को छोड़कर चतुःसम्प्रदाय की सेवा करने की भावना वाला साधु इन अखाड़ों में सम्मिलित होता है और 'अखाड़ामल्ल' नाम से पुकारा जाता है। तब वह निम्नलिखित श्रेणियों को पार कर 'नागा' श्रेणी तक पहुँचता है। जिस नागा की सेवा में वह रखा जाता है, उसका वह 'सादिक' कहलाता है। अखाड़ों में साधुओं की श्रेणियाँ इस प्रकार हैं-

1. यात्री-नागा अतीत के लिए दातून आदि का प्रबन्ध करते हैं तथा इधर-उधर भ्रमण किया करते हैं।

2. छोरा-ये नागा अतीतों को स्नानादि कराते तथा उनके पीने का पानी लाते हैं। साथ ही इनका कार्य पत्ता-दोना लगाना, झाड़ू लगाना, चौका लगाना है। इसका व्यावहारिक नाम 'रकमी' भी होता है।

3. बंदगीदार-इसका कार्य चौका, झाड़ू, भोजन तैयार करना तथा शास्त्र व शस्त्र की शिक्षा प्राप्त करना है। साथ ही यह कोठार की वस्तुओं को सँभालता, हनुमानजी का पट लेकर चलता और छड़ी उठाता है।

4. हुरदंगा अथवा हुड़दंगा- इसका कार्य भगवत सेवा, पूजा, आरती करना, भोग लगाना, पंगत कराना, निशान उठाना, पंच की गोलक सँभालना है तथा शास्त्र व शस्त्र विद्या में निपुणता प्राप्त करना है।

5. मुरीठिया अथवा मुदाठिया- भगवान की पूजा करना, हिसाब सँभालना एवं शास्त्र व शस्त्र में पूर्णतया निपुण हो जाना है।

6. नागा- सेवकों को चेतावनी देना, भगवत-भागवतों की पूजा का प्रबन्ध करना, सम्प्रदाय के मठ, मन्दिरों एवं अनुयायियों की रक्षा करना, नृसिंहा बाजा बजाना, जमात बनाकर देश में भ्रमण करना और प्रचार करना इनके कर्तव्य हैं। यह नागा चार सेली के होते हैं-बर्सेतिया, हरद्वारी, सागरिया और उज्जैनी।

7. अतीत- यह सिद्ध नागा की स्थिति है। इनका प्रमुख कार्य सम्प्रदाय की प्रमुख समस्याओं पर विचार करना है। सिद्ध नागाओं को ही नागा अतीत के नाम से अभिहित किया जाता है।

इसके अतिरिक्त इनकी दो श्रेणियाँ और मानी जाती हैं-

1. सदर नागा-पंच मिलकर सदर नागा का चुनाव होता है। तत्पश्चात् वह जमात बाँधकर देश में बारह वर्ष तक भ्रमण करता है।

2. महा अतीत- इसका मुख्य कार्य भगवत् भजन करना है।

अखाड़ों की उपरोक्त श्रेणियों की अवधि तीन-तीन वर्ष की होती है जिसमें सदर नागा की अवधि 12 वर्ष की होती है। 52 महंतों के ऊपर एक सदर नागा का अधिकार होता है और 52 नागाओं के ऊपर एक अतीत का अधिकार होता है।

इन श्रेणियों के अतिरिक्त एक विशेष स्थिति 'अखाड़ामल्लों' की भी होती है, जिसमें साधक गुरु की अनुमति प्राप्त कर अपने समय का अधिकांश समय शारीरिक विकास में व्यतीत करता है। यह व्यवस्था केवल विशेष रूप से उन्नतिशील साधकों के लिए स्वीकृत की जाती है।

चेला बनाने की अवस्था-चेलों को पहले बड़ी सेवा और तपस्या करनी पड़ती है। उनका प्रवेश 16 वर्ष की अवस्था में होता है। यद्यपि ब्राह्मणों और राजपूतों के लिए यह बन्धन नहीं रहता।[25] किन्तु सर्वेक्षण में यह भी पाया गया कि बहुत से साधु बाल्यकाल से ही इसमें प्रवेश कर चुके हैं।

अनियों के महन्त

दिगम्बर अनी के महन्त- इस अनी के महन्त सुखरामदासजी है। हरिदासजी भी महन्त है। अनियों का एक ही श्रीमहन्त होता है। वर्तमान में श्री रामशरणदासजी श्रीमहन्त हैं।

रामानन्दीय निर्वाणी अनी के महन्त- निर्वाणी के भूतपूर्व महन्त श्री रामखिलावनदासजी थे। वर्तमान में इस अनी के महन्त श्री संत सेवकदासजी हैं।

निर्मोही अनी के महन्त- इस अखाड़े के वर्तमान महन्त श्री रामलखनदासजी हैं।

रामानन्दीय खाकी अखाड़ा, उज्जैन।

इसके वर्तमान महन्त आनन्ददासजी हैं। इनके पहले श्री भगवतदासजी थे, जिनकी मृत्यु 4 वर्ष पूर्व हुई है। महन्त आनन्ददासजी का कथन है कि सब अखाड़ों में साधुओं की संख्या दस लाख के करीब है।

निर्वाणी खाकी अखाड़ा- इस अखाड़े के महन्त ने जानकारी दी कि झंडों का आकार-प्रकार वैदिक रीति के अनुसार है। निर्वाणी तपस्या करने वाले थे। तपस्या के बल पर ही धर्म रक्षा की धुनी तपते थे।

श्रीपंच टाटम्बरी अखाड़ा, वृन्दावन- इस अखाड़े के महन्त श्री किशोरदासजी हैं। इस अखाड़े को महाराजा जगतसिंह से जागीर मिली थी। इस अखाड़े का सम्बन्ध निर्मोही अनी से है।

उज्जैन कुम्भ 1980 पर आये अखाड़ों में घुरिया और उखला नहीं देखे गये जैसा कि घुर्ये ने (पूर्वोक्त, पृ. 203) पर इनके नाम दिये हैं।

दिगम्बर अनी के महन्त श्री गंगादास के द्वारा प्रदत्त जानकारी के अनुसार तीनों अनी के अन्तर्गत आने वाले अखाड़ों की सूची इस प्रकार है-

---

25. लाला सीताराम : अयोध्या का इतिहास, पृ. 46

निर्वाणी अनी अखाड़ा

1. अ. भा. रामानन्दीय निर्वाणी अखाड़ा
2. अ. भा. खाकी अखाड़ा
3. अ. भा. निरालम्बी अखाड़ा
4. अ. भा. टाटम्बरी अखाड़ा
5. अ. भा. हरिव्यासजी निर्वाणी अखाड़ा
6. अ. भा. हरिव्यासी खाकी अखाड़ा
7. अ. भा. बलभद्री अखाड़ा

दिगम्बर अनी अखाड़ा

1. अ. भा. रामजी दिगम्बर अखाड़ा
2. अ. भा. श्यामजी दिगम्बर अखाड़ा

निर्मोही अनी अखाड़ा

1. अ. भा. रामानन्दीय निर्मोही अखाड़ा
2. अ. भा. सन्तोषी अखाड़ा
2. अ. भा. झाड़िया निर्मोही अखाड़ा
4. अ. भा. मालाधारी निर्मोही अखाड़ा
5. अ. भा. हरिव्यासी सन्तोषी अखाड़ा
6. अ. भा. रामानन्दीय महानिर्वाणी अखाड़ा
7. अ. भा. विष्णुस्वामी निर्मोही अखाड़ा
8. अ. भा. हरिव्यासी महानिर्वाणी अखाड़ा
9. अ. भा. राधावल्लभी निर्मोही अखाड़ा

अनी अखाड़ों की बैठकें

1. निर्मोही अनी (रामानन्दी) –वृन्दावन, अयोध्या, चित्रकूट, नासिक, उज्जैन, गोवर्धन
2. रामानन्द महानिर्वाणी –वृन्दावन, अयोध्या, चित्रकूट, पुरी
3. रामानन्द सन्तोषी –अयोध्या और चित्रकूट
4. मालाधारी निर्मोही –वृन्दावन
5. हरिव्यासी निर्मोही –वृन्दावन
6. हरिव्यासी सन्तोषी –पुरी
7. विष्णुस्वामी निर्मोही –वृन्दावन और बूँदी (कोटा)
8. झाड़िया निर्मोही –वृन्दावन
9. राधावल्लभ निर्मोही –नीम का थाना (जयपुर)

दिगम्बर अनी

1. रामजी दिगम्बर अनी –वृन्दान, अयोध्या, चित्रकूट, नासिक, उज्जैन, पुरी
2. श्यामजी दिगम्बर अनी –वृन्दावन और पुरी

निर्वाणी अनी

1. रामानन्द निर्वाणी –वृन्दावन, अयोध्या, चित्रकूट, उज्जैन, पुरी
2. रामानन्द खाकी –पुरी, अयोध्या, चित्रकूट, नासिक, उज्जैन
3. निरावलम्बी –वृन्दावन, अयोध्या, पुरी
4. हरिव्यासी निर्वाणी –वृन्दावन
5. बलभद्री –वृन्दावन और पुरी
6. टाटम्बरी –वृन्दावन और पुरी
7. हरिव्यासी खाकी –इसकी बैठकें अज्ञात हैं।

अनियों के ध्वज और चिह्न- अखाड़ों के ध्वज 13½ फीट चौड़े और 6 फीट ऊँचे होते हैं। दिगम्बर अनी अखाड़े का ध्वज पाँच रंगों का होता है–गहरा नीला, लाल, पीला, हरा और सफेद। ध्वज के एक तरफ हनुमानजी का और दूसरी ओर सूर्य बना हुआ होता है। इस ध्वज के ऊपरी भाग पर कलश भी होता है। ध्वज की यह बनावट रामानन्द सम्प्रदाय को दर्शाती है।

निर्मोही और निर्वाणी अखाड़ों के ध्वज का रंग सफेद होता है। ध्वजों पर बाहर की ओर हनुमानजी और भीतर की ओर सूर्य देवता के स्थान पर गरुड़ की आकृति होती है।[26] घुर्ये का कथन है कि निर्मोही अखाड़े का ध्वज पीला होता है।[27] इन दोनों अनियों के ध्वजों पर कलश नहीं होता है।

---

26. डॉ. बद्रीनारायण श्रीवास्तव, पूर्वोक्त, पृ. 231
27. जी. एस. घुर्ये, पूर्वोक्त पृ. 208

कुम्भ के अवसर पर प्रयाग, हरिद्वार, नासिक और उज्जैन में प्रति बारह वर्ष के उपरान्त तीनों अनी और उनके अखाड़े जुटते हैं और इनका महत्त्व और सम्मान होता है।

अखाड़ों की विशिष्ट शब्दावली

1. रकम- यह एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। इसके नियत दिन के शुभ अवसर पर दूध-पाव, माल-पुआ, कच्ची, पक्की विशेष सामग्री का भगवान को भोग लगाया जाता है। तत्पश्चात् रकमी रकम उठाता है। यह अखाड़े की एक प्रधान वस्तु मानी जाती है, वह सिखलाई जाती है और पूछी जाती है।

2. सेली- नागाओं की चार सेली मानी जाती है-1. सागरिया, 2. उज्जैनिया, 3. बसंतिया और 4. हरिद्वारिका। इन सेली नागाओं को 'पट्टदार' भी कहते हैं। यह व्यवस्था हनुमानगढ़ी अयोध्या में प्रशासन की दृष्टि से है। प्रत्येक सेली का एक महन्त होता है और चारों पट्टी का एक श्रीमहन्त होता है। श्री महन्त का चुनाव इन पट्टियों के क्रम में होता है। श्रीमहन्त हनुमानगढ़ी के बाहर नहीं जाते।

3. उतार-चढ़ाव- पारस्परिक घनिष्ठ सम्पर्क रहने के उद्देश्य से उक्त सेलियों के उतार-चढ़ाव का क्रम है। जैसे-सागरिया सेली के हाथ के नीचे उज्जैनिया और उसके हाथ के नीचे बसंतिया, बसंतिया के हाथ के नीचे हरिद्वारिका और हरिद्वारिका के हाथ के नीचे सागरिया सेली रहती है। इस प्रकार उतार-चढ़ाव की नियमावली रकम ही है। रकम में दो रकम 'सदरी' तथा दो रकम 'कदरी' नाम से अभिहित है।

4. शेली-यह अनियों के पहचान की एक वस्तु होती है जो काले डोरे से बनी हुई होती है। निर्मोही अपने दाहिने पैर में और निर्वाणी अपने बाएँ पैर में बाँधे रहते हैं। दिगम्बर अनी वाले नहीं बाँधते हैं।

5. लटूरी-यह भी अनियों की परिचायिका है। सिर के केशों की लटूरी (जूड़ा) को निर्मोही दाहिनी ओर को झुकी हुई, दिगम्बर ठीक मध्य में और निर्वाणी बायीं ओर को झुकती हुई बाँधते हैं।

6. महावीरी- सिन्दूर की एक रेखा लगाई जाती है, जो महावीरी की प्रसादी होती है। इसे निर्मोही दाहिनी ओर भृकुटी के पास, दिगम्बर सीधी मध्य में और निर्वाणी बायीं ओर की भृकुटि के पास लगाते हैं।

7. अरबी- अर्जुन बाजे को कहते हैं जो निर्मोही और निर्वाणी अनी में बजाया जाता है।

8. रल-समूह को कहते हैं।

9. टकसार- नियम पद्धति को उतारने वाले को 'टकसार' कहते हैं।

उपासना एवं सम्प्रदाय सम्बन्ध

तीन अनियों के सभी अखाड़ों में श्री राम-कृष्ण की ही उपासना है। इसी से पत्र-व्यवहार में 'श्री रामकृष्णाभ्यां नमः' शीर्षक रहता है। कुछ अखाड़ों में रामोपासकों की अधिकता है और कई एक अखाड़ों में कृष्णोपासकों का आधिक्य है। 18 अखाड़ों में 7 अखाड़ों की गणना रामजी और 11 अखाड़ों की गणना श्यामजी में है। निर्मोही अनी में रामानन्दी निर्मोही, रामानन्दी महानिर्वाणी और रामानन्दी संतोषी अखाड़े श्री रामोपासना प्रधान हैं तथा विष्णुस्वामी निर्मोही, मालाधारी निर्मोही, राधावल्लभी निर्मोही, झाड़िया निर्मोही, हरिव्यासी महानिर्वाणी और हरिव्यासी संतोषी नामक अखाड़े श्रीकृष्णोपासक प्रधान हैं। ऐसे ही दिगम्बर अनी में एक अखाड़ा रामजी और दूसरा श्यामजी प्रसिद्ध है। निर्वाणी अनी में भी रामानन्दी निर्वाणी, रामानन्दी खाकी और रामानन्दी निरावलम्बी नामक अखाड़े रामजी के तथा हरिव्यासी निर्वाणी बलभद्री निर्वाणी, हरिव्यासी खाकी और टाटम्बरी नामक अखाड़े श्यामजी के हैं।

द्वारा

जिस प्रकार संन्यासियों की 52 मढ़ियाँ हैं उसी प्रकार वैष्णव साधु समाज के 52 द्वारा हैं। द्वारा का अर्थ वैसे द्वार होता है किन्तु वैष्णव साधु समाज में द्वारा उसे कहा जाता है जहाँ एक सम्प्रदाय

की शाखा है। इस 52 द्वारों में रामानन्दियों के 36, निम्बार्क सम्प्रदाय के 9, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के 4 और माधव-गौड़ीय सम्प्रदाय के 3 द्वारे हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है-

रामानन्द सम्प्रदाय के द्वारे

क्र. सं.	द्वारा के प्रवर्त्तक	गादी का नाम	उसकी स्थिति
1.	श्री अनन्तानन्दजी	अनन्तगुफा	मथुरा
2.	श्री सुरसुरानन्दजी	सौंरूजी	गंगाघाट तथा सिद्धबाबा का स्थान
3.	श्री नरहर्यानन्दजी	गढ़	खाला, राजस्थान
4.	श्री सुखानन्दजी	घौरतपा	शेखावटी, जयपुर
5.	श्री रामकबीरजी	कदमखेड़ी	गोवर्धन
6.	श्री भावानन्दजी	फतहपुर	चुरू-रामगढ़-जयपुर
7.	श्री पीपाजी	समड़ा	गांगरोन द्वारका, काठियावाड़
8.	श्री योगानन्दजी	रामकोट	जैसलमेर (राजस्थान)
9.	श्री अभयानन्दजी	चांदपोल	जयपुर
10.	श्री कील्हदासजी	गलता	जयपुर
11.	श्री अग्रदासजी	रैवासा	जयपुर
12.	श्री टालाजी	अतेला	जयपुर
13.	श्री भगवन्नारायणजी	पिण्डोरीधाम	पंजाब
14.	श्री कूबाजी	झीथड़ा	मारवाड़ (राजस्थान)
15.	श्री दामोदरदासजी	रामतीर्थ	पंजाब
16.	श्री तनतुलसीदासजी	मुडिया रामपुर	बाराबंकी (उ.प्र.)
17.	श्री देवमुरारीजी	दारागंज	बड़ा स्थान (प्रयाग)
18.	श्री मलूकदासजी	बड़ा मानिकपुरा	प्रयाग
19.	श्री देवभग्गजी	आगर	इटावा (उ.प्र.)
20.	श्री हठीनारायणजी	आखूपुर निवारण	शेखावटी, जयपुर
21.	श्री दिवाकरजी	जामल स्थान घोसा, छाला कठोठा	जयपुर, जोधपुर
22.	श्री खोजीजी	पालड़ीग्राम	लोहागढ़, जयपुर
23.	श्री पूरण बैराठीजी	सरय्या	ग्वालियर
24.	श्री लाल तुरंगीजी	हरियाग्राम ध्यानपुर	महदावल (पंजाब) गुरदासपुर (पंजाब)
25.	श्री रामथंमनजी	दादुरखाँ का पिण्ड	पंजाब
26.	श्री रामरावलजी	खोड़ स्थान	जोधपुर
27.	श्री राघोचेतनजी	भांडारेन	जोधपुर
28.	श्री नामाजी	अनासागर, रेवालसर	अजमेर, रैवास
29.	श्री गोविन्ददासजी	लोहागर	जयपुर
30.	श्री कर्मचंदजी	देवासा ग्राम	जयपुर
31.	श्री कालूनायनाजी	मेडगोमका ग्राम	जोधपुर
32.	श्री लहारामजी	खाटुखंडेला	करौली राज्य (राज.)
33.	श्री हनुमान हठीलेजी	महदीपुर	अलवर (राज.)
34.	श्री जंगीजी	–	पटियाला (पंजाब) झूसी (प्रयाग)
35.	श्री अलखरामजी	अलखगुफा	कामरूप (बंगाल)
36.	श्री रामरमानीजी	मेड़ता	जोधपुर (राज.)

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के द्वारे और थोक

इस सम्प्रदाय में निम्नलिखित दोहा प्रसिद्ध है जो द्वारे पर प्रकाश डालता है-

(श्री) नामदेव विट्ठल भये, गोगुलनाथ प्रसिद्ध।
तीन द्वार इनके अटल, रहल, महल के सिद्ध।।

उपरोक्त दोहे द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के तीन द्वारे हैं- 1. नामदेवजी का, 2. श्री विट्ठलनाथजी का और 3. श्री गोकुलनाथजी का। 'ध्यान मंजरी' के अनुसार एक गादी राधावल्लभजी की भी बताई जाती है।

इस सम्प्रदाय के छह थोक हैं- 1. ब्रजवासिया, 2. गारिया, 3. सुपारिया, 4. भरतपुरिया, 5. पाकसिया (हरियाणा), 6. गढ़िया और 7. कामरिया। द्वारे और थोक के सम्बन्ध में यह कोई नियम नहीं है कि एक द्वारे का एक ही थोक हो। प्रसिद्ध सन्त-महात्मा स्थान बनाकर जहाँ स्थायी रूप से निवास करने लगे वे तथा उनकी परम्परा के सन्त उसी थोक में कहे जाने लगे। उदाहरणार्थ श्री कलाधारीजी का बगीचा (वृन्दावन) श्री नामदेव जी द्वारे का, श्री कांवरिया जी का स्थान (कामवन) श्री गोकुलजी के द्वारे का तथा श्री महन्त प्रेमदासजी का स्थान (राल) श्री विट्ठलनाथजी के द्वारे का स्थान है, परन्तु तीनों का एक ही ब्रजवासिया थोक है। आजकल थोक के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं।[28]

निम्बार्क सम्प्रदाय की द्वारा गादी

ध्यान-मंजरी के अनुसार इस सम्प्रदाय की 9 गादी हैं, किन्तु वर्तमान में सम्प्रदाय के अनुयायी 12½ द्वारे बताते हैं। नौ गादियों के नाम निम्नलिखित हैं-

1. शोभूरामजी की गादी — 2. नागाजी की गादी — 3. घमण्डीजी की गादी
4. परशुरामजी की गादी — 5. श्री गोविन्ददासजी की गादी — 6. श्री त्यागीजी की गादी
7. कर्मचंदजी की गादी — 8. आत्मारामजी की गादी — 9. वनखंडजी की गादी

'श्री सर्वेश्वर' के विशेषांक 'श्री निम्बार्काचार्य और उनका सम्प्रदाय' के एक लेख 'निम्बार्क सम्प्रदाय के द्वारा प्रवर्तक आचार्य' में निम्नलिखित नाम गिनाये हैं-

1. स्वभूतमदेवाचार्य — 2. वोहितदेवाचार्य — 3. ऋषिकेश देवाचार्य
4. माधवदेवाचार्य — 5. परशुराम देवाचार्य — 6. केशवदेवाचार्य,
7. बाहुबलदेवाचार्य — 8. गोपालदेवाचार्य — 9. मदनगोपाल
10. उद्धव (घमण्ड) देवाचार्य — 11. लपरा — 12. मुकुन्द देवाचार्य

कुछ सज्जन देवी (चंडिका) की आधी संख्या में गणना करके इस प्रकार साढ़े बारह द्वारा प्रवर्तकों को गिनते हैं।[29]

माध्व-गौडीयेश्वर सम्प्रदाय की द्वारा गादी

ध्यान-मंजरी के अनुसार इस सम्प्रदाय की दो गादियाँ- 1. नित्यानंदजी की और 2. श्यामानंदजी की हैं। घुर्ये के अनुसार तीसरी गादी राधावल्लभी है।

वैरागी साधु की पहचान- वैरागी सन्तों और साधुओं के नाम के अन्त में 'आनन्द', 'दास', 'शरण' आदि शब्द जोड़े जाते हैं। जल के लिए तुम्बड़ी का बना पात्र रामानन्दी रखते हैं। द्वैत के अनुयायी नारियल का बना हुआ पात्र रखते हैं।

'खालसा' की उत्पत्ति- महंत श्रीश्री 108 श्री रामकुमारदासजी ने जानकारी दी कि सन् 1479 में गुरु नानक ने 'खालसा' शब्द का प्रयोग किया था। खालसा शब्द सिखों में अधिक प्रचलित है।

---

28. गोविन्ददास वैष्णव : श्री विष्णुस्वामीजी और उनका सम्प्रदाय, पृ. 455
29. श्री सर्वेश्वर विशेषांक, पृ. 470; पं. किशोरदासजी : श्री आचार्य परम्परा परिचय, पृ. 18-37

अतः इन्हीं के अनुसरण पर रामादल ने कुछ खालसों का संगठन किया था, जिन्हें चतुःसम्प्रदाय खालसा कहा जाता है। यह चतुःसम्प्रदाय खालसा रामानन्दी, निम्बार्क, माध्व-गौडीय और विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के मेल से बनता है। प्रत्येक सम्प्रदाय का इसमें महन्त होता है और श्रीमहन्त रामानन्द सम्प्रदाय का ही होता है।[30]

कुछ विद्वानों की मान्यता है धीरमदासजी महाराज से खालसा की उत्पत्ति है।

खालसा का अर्थ- रामदास शास्त्री महामंडलेश्वर चार सम्प्रदाय आश्रम, वृन्दावन ने जानकारी दी कि खालसा का अर्थ 'मैदानी मुकाम' से होता है और सिख का अर्थ 'शिष्य' से लिया जाता है। इस कारण खालसा का प्रयोग मुसलमानों से मुकाबला करने के लिए किया जाने लगा। आज से ढाई सौ वर्ष पहले खालसा चलते-फिरते सैनिक थे। आरम्भ में यह परम्परा थी कि खालसा में दो साधु लिये जाते थे-एक अखाड़े के लिए और एक परम्परा चलाने के लिए।

डाकोर खालसा के पुजारी गणेशदासजी ने बताया कि खालसा का अर्थ एकता है।

खालसा बनने की पद्धति- एक खालसा बनाने के लिए चतुःसम्प्रदाय के महन्त और अनी मिलकर निवेदक के आवेदन पर विचार करते हैं तब उस व्यक्ति को जो खालसा बनाना चाहता है, अनुमति दी जाती है। खालसा बनाने वाला व्यक्ति पंच को बुलाता है और भण्डार (भोजन) करवाता है। खालसा बनाने की प्रक्रिया में महन्ती की प्रक्रिया भी शामिल है। डॉ. गंगादासजी ने बताया कि कंठी, चादर और तिलक होता है जिसमें महन्त को 51/- रुपये एवं एक चादर देना पड़ता है और महन्त उसका दुगुना करके पंच के समस्त महन्तों को चादर और रुपया देता है।

इन खालसों का सम्बन्ध द्वारों से होता है। खालसा के महन्त नागा नहीं बना सकते। शाही स्नान के समय बाजे का खर्च, पूजन की सामग्री, निशान के लिए भेंट, हाथियों का किराया और स्नान के बाद भण्डार (भोजन) इन खालसाओं को अनी को देना पड़ता है एवं साथ ही 151/- रुपये भी देना पड़ते हैं।

डॉ. बद्रीनारायण श्रीवास्तव श्री वैष्णवों के निम्नलिखित पाँच खालसा बताते हैं-

1. डाकोर खालसा- यह खालसा टीलाजी द्वारा गादी के महन्त श्री मंगलदासजी के परिवार का है। इसी के अन्तर्गत डाकोर खालसा तथा रतलाम खालसा है।

2. डांडिया खालसा- श्री धीरमदास ने इस खालसे की स्थापना की थी। श्री जगन्नाथ ने इस 12 भाई डांडिया खालसा की श्रीवृद्धि की।

3. नन्दरामदास खालसा- इस खालसे की स्थापना धीरमदास के शिष्य नन्दराम दास ने की थी।

4. त्यागी खालसा- श्री सियारामदास ने इस खालसे की स्थापना की थी। इसको 14 भाई महात्यागी खालसा भी कहा जाता है।

संवत् 2000 के बाद खालसाओं में अधिक वृद्धि होती गई। कारण पूछने पर ज्ञात हुआ कि जब महंत चेलों की नहीं सुनते तब वे अलग हो जाते हैं और पृथक् खालसा बना लेते हैं। उज्जैन कुंभ 1980 में आये खालसों के नाम निम्न प्रकार से हैं-

खालसा	महन्त का नाम
1. चतुःसम्प्रदाय खालसा	रामानन्द-श्रीमहन्त रामकिशोरदासजी
	निम्बार्क-श्रीमहन्त धनंजयदासजी
	मध्व-श्री महन्त चरणदासजी
	विष्णुस्वामी- श्री महन्त आनन्ददासजी
2. डाकोर खालसा	श्री रामनारायणदासजी महाराज

30. स्वामी योगीराज गोवत्स : वैष्णव कबीर, पृ. 150

3. इन्दौर खालसा	श्री महंत शेषनारायणदासजी
4. तेरहभाई त्यागी	श्री महंत रामकिशोरदासजी
5. विरक्त मण्डल खालसा	श्री महंत भरतदास भक्तमाल व्यास
6. श्री गिरिराज खालसा	श्री महंत जानकीदासजी
7. ब्रजराज खालसा	श्री महंत सुखदेवजी
8. ब्रजमंडल खालसा	श्री महंत हरिप्रियजी
9. रामदास काठिया बाबा खालसा	श्री महंत प्रेमदासजी
10. संतदास काठिया बाबा खालसा	श्री महंत लक्ष्मीनारायणदासजी
11. महा विरक्त आश्रम	मानस मार्तण्ड प्रेमदासजी 'रामायणी'
12. श्री बजरंग खालसा	श्री महंत महावीरदासजी
13. श्री सप्तऋषि खालसा	श्री महंत जयरामदासजी महाराज
14. श्री सप्तऋषि. जमदग्नि खालसा	श्री महंत महावीरदासजी
15. श्री विश्वामित्र खालसा	श्री महंत रामदासजी
16. वशिष्ठ खालसा	श्री महंत रामायणी रामधनीदासजी
17. अखिल भारतीय पंच सप्तऋषि खालसा	श्री महंत दूधाधारी महाराज
18. कश्यप खालसा	श्री महंत रामशरणदासजी शास्त्री
19. श्री साकेतधाम खालसा	श्री महंत कौशलकिशोरदासजी
20. अखिल भारतीय श्री कामधेनु खालसा	श्री महंत गोर्धनदासजी
21. अवन्तिकापुरी खालसा	श्री महंत रामकुमारदासजी
22. घमण्डाचार्य देवाचार्य खालसा	श्री महंत नरहरिदासज़ी
23. श्री पंच रामनंदीय विरक्त वैष्णव पंजाब खालसा	श्री महंत देवादासजी
24. श्री लक्ष्मणझूला फलाहारी खालसा	श्री महंत राममोहनदासजी फलाहारी
25. बारह भाई डाँडिया	श्री महंत मनोहरदासजी
26. पंच बारह भाई डाँडिया	श्री महंत रामसेवकदासजी
27. महात्यागी केम्प	श्री महंत रामबालकदासजी
28. भक्तमालनगर खालसा	श्री महंत रामकुमारदासजी
29. श्री तुलसी स्मारक सदन केम्प (डाकोर) गुजरात	
30. दिगम्बरी अनी अखाड़ा	श्री महंत दशरर्थिदासजी, दतिया
31. चित्रकुटी संत सेवा शिविर	श्री रणछोड़दासजी महाराज (मुम्बई)
32. काठिया बाबा खालसा	श्री महंत नवलकिशोरदासजी
33. राजस्थान विरक्त मण्डल खालसा	श्री महंत शांतिदासजी
34. पेटलाद खालसा	श्री महंत जमनादासजी

35. इटावा खालसा — श्री महंत रामदासजी
36. श्री तीर्थराज ख़ालसा
37. श्री गौरमण्डल खालसा — श्री महंत गौर गोविन्ददासजी
38. नवद्वीप खालसा — श्री महंत राधारमणदासजी
39. निम्बार्क नगर
40. सघन धार्मिक भावना अभ्यास केन्द्र — श्री महंत रामकिशोरदासजी
41. हरेराम, हरेकृष्ण — श्री अक्षयानन्दजी

इन खालसाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित अखाड़ों ने भी अपने तम्बू अंकपात क्षेत्र में लगाये थे-

1. अखिल भारतीय श्री पंच महानिर्वाणी अखाड़ा-श्री महंत शत्रुघ्नदासजी
2. अखिल भारतीय श्री पंच रामानन्दी खाकी अखाड़ा-श्री महंत वासुदेवजी
3. अखिल भारतीय निरावलम्बी अखाड़ा, ज्ञान गुदड़ी, वृन्दावन
4. अखिल भारतीय हरिव्यासी अखाड़ा-श्री महंत अयोध्यादासजी
5. अखिल भारतीय टाटम्बरी अखाड़ा
6. अखिल भारतीय हरिव्यासी निर्वाणी अखाड़ा
7. अखिल भारतीय निर्वाणी अखाड़ा
8. अखिल भारतीय दिगम्बर अनी
9. अखिल भारतीय पंच बलबद्री अखाड़ा, वृन्दावन

अयोध्या के महत्त्वपूर्ण स्थान

1. बड़ा स्थान- इसकी स्थापना रामप्रसादजी ने की थी जो शादी के बाद बैरागी बने थे। वर्तमान में श्री रघुवीरप्रसादजी यहाँ के महन्त हैं जो भगवताचार्यजी के शिष्य हैं।

2. विद्या कुंड- इसका सम्बन्ध श्री अनुभवानन्द द्वारा चलाये गये द्वारा से है।

3. बड़ी छावनी- यह राधानन्ददास द्वारा स्थापित की गई है। यहाँ रामानंदी नागा बहुत अधिक हैं।

मृतक शरीर का संस्कार-जब किसी साधु की मृत्यु होती है तब उसे या तो गाड़ते हैं अथवा जल में प्रवाह करते हैं। वैसे जलाने की क्रिया भी की जाती है। मरने पर मृतक को साकेतवासी कहते हैं। किसी प्रसिद्ध साधु की मृत्यु पर उसे रेशमी वस्त्र पहनाये जाते हैं और 'विमान' द्वारा श्मशान स्थल पर ले जाया जाता है।

अभिवादन करने का तरीका- जब एक वैरागी साधु किसी अन्य बैरागी साधु से मिलता है तब उसके सामने झुककर दण्डवत करता है और 'दण्डवत' शब्द का उच्चारण करता है। निम्बार्क अनुयायी 'जय सर्वेश्वर' का उद्‌बोधन करते हैं। युगल में विश्वास करने वाले वैरागी 'राधेश्याम' और 'सीताराम' शब्दों का प्रयोग करते हैं।

व्रत- वैरागी सम्प्रदाय एकादशी और शिवरात्रि का व्रत रखते हैं।

उत्सव- वैरागी होली, दीपावली और राधाष्टमी का उत्सव बड़े ही उत्साह से मनाते हैं।

वैष्णव साधुओं की अपनी वस्तुएँ- जे. सी. ओमन ने लिखा है कि वैष्णव साधु शालिग्राम की मूर्ति, तुलसी का पौधा, शंख और चक्र जो सूर्य का सूचक है, अपने पास रखते हैं।[31]

अखाड़ों के झंडे-दिगम्बर अनी का झंडा 13½ फीट चौड़ा और 6 फीट ऊँचाई का होता है। यह रेशमी कपड़ों के पाँच टुकड़ों से बनाया जाता है। पाँच रंगों में गहरा नीला, लाल, पीला, हरा

31. जे. सी. ओमन : माइस्टीक्स, असेटिक्स एण्ड संत्स ऑफ' इण्डिया

और सफेद होता है। झंडे के सामने के हिस्से में हनुमान का चित्र अंकित होता है और दूसरी ओर सूर्य देवता सात घोड़ों के रथ पर अंकित होता है।

निर्मोही और निर्वाणी अखाड़ों के झंडे दिगम्बर अनी के झंडे से भिन्न होते हैं। निर्मोही अखाड़े का झंडा पीले रंग का और निर्वाणी अखाड़े का झंडा सफेद रंग का होता है। इनके झुंडों का ऊपरी हिस्सा कलसा रहित होता है। कलसा रहित होने की एक कहानी बताई जाती है। कहा जाता है कि शैव संन्यासियों के साथ लड़ाई में दोनों अखाड़ों के झंडे के ऊपरी हिस्से को काट डाला गया था और शैव संन्यासी उन हिस्सों को ले गये, तब से झंडों का ऊपरी हिस्सा कलसा रहित है

जुलूस की स्थिति-जब बैरागी जुलूस के साथ स्नान करने जाते हैं, तब दिगम्बर अनी की स्थिति हर समय बीच में होती है और वे संगीत साज बजाते हैं। झाड़िया निर्मोही नौबत (Orchestra) निर्मोही अनी के लिये बजाते हैं और रामानन्दी खाकी निर्मोहियों के सम्मुख डंका (बड़ा ड्रम) बजाते हैं। दिगम्बर अनी के नगाड़े (Drum), को गर्भगंज (Garbhaganj) कहा जाता है, क्योंकि वह बहुत आवाज करता है।

वैष्णवों के उप-सम्प्रदाय

1. श्री सम्प्रदाय के अन्तर्गत रामानत्दी, कबीर, खाकी, मलूकदासी, दादू, रायदासी, सेनापंथी और रामस्नेही आते हैं।

2. आटीवरी- यह गौड़ीय वैष्णव की शाखा है। वे गौड़ीय सम्प्रदाय के रीति-रिवाजों से भिन्न हैं। इसकी स्थापना करने वाले जगन्नाथ नामक एक साधु थे, आटीवरी ज्यादातर उड़ीसा में रहते हैं। पुरी में इनका एक मठ है।

3. अहमद पंथी- ये लोग बाउल लोगों की तरह हैं। ये तुलसी माला धारण करते हैं।

4. आउल- यह भी गौड़ीय वैष्णव की एक शाखा है। इन्हें सहजिया करता मज भी कहते हैं। इसके अनुयायी बहुत कम हैं।

5. अप्पापंथी- यह रामानुजी वैष्णव सम्प्रदाय है। वे आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता नहीं समझते हैं। मूलादास इसके स्थापक हैं।

6. बारकरी- यह अधिकतर महाराष्ट्र में पाये जाते हैं। तुलसी माला धारण करते हैं। भिक्षा के समय गेरूआ वस्त्र धारण करते हैं।

7. कामदेती- यह लोग रमायत और निमायत से होते हैं। इनके कंधों पर कामदेती लटकती रहती है। कामदेती दो टोकरियों की होती है। भिक्षा की वस्तुएँ वे इनमें रखते हैं। एक टोकरी पर गाय और दूसरी टोकरी पर हनुमान की आकृति होती है। वे घर-घर भिक्षा के लिए नहीं जाते। भिक्षा के समय यह 'धनुषधारी राम' शब्द को उच्चारित करते हैं।

8. कलिंगी- ये लोग नीचे स्तर के प्राणी हैं। वे अपने मृतक को जलाते नहीं।

9. किशोरी भजन-इस सम्प्रदाय के स्थापक विक्रम कालाचंद विद्यालंकार थे। श्रीकृष्ण के कार्यों की नकल करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। स्त्री की पूजा किशोरी के रूप में की जाती है। वे गौरंग देव का नाम लेते हैं।

10. कुदापंथी- आगरा जिले के एक व्यापारी तुलसीदास इसके संस्थापक हैं।

11. खुशी बिश्वासी- ये सभी गौरंग देव का नाम लेते हैं। इनके रीति-रिवाज सहजिया सम्प्रदाय से मिलते-जुलते हैं।

12. गिरी- ये भी गौड़ीय सम्प्रदाय की एक शाखा है।

13. गुरुदासी- ये लोग गृहवासी होते हैं।

14. गोबराई- एक मुसलमान गोबराई, जो मुरदापुर के रहने वाले थे, ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की थीं।

15. चरणदासी-देहली के एक व्यापारी चरणदास इसके संस्थापक थे।

16. चुहारपंथी-ये वल्लभाचार्य सम्प्रदाय की एक शाखा है।

17. चूड़ाधारी–गौड़ीय वैष्णव की एक शाखा है।

18. जगमोहिनी–ये मूर्ति पूजा नहीं करते और आध्यात्मिक गुरु को ही भगवान मानते हैं।

19. दरबेश– सनातन गोस्वामी इसके संस्थापक थे। वे ईश्वर को 'दिन दारदी' कहकर सम्बोधित करते हैं।

20. पंथदासी– ये अधिकतर अयोध्या, नेपाल और लखनऊ में पाये जाते हैं।

21. मातुकधारी– भिक्षा के समय मतुक पहनते हैं। वे एक स्थान पर खड़े होकर भिक्षा माँगते हैं। ये केवल उत्तरी भारत में पाये जाते हैं।

22. महापुरुषी–शंकरदेव इसके संस्थापक हैं।

23. राधावल्लभी– हरिवंश गोस्वामी इसके संस्थापक हैं। राधा की अर्चना करते हैं।

24. वैष्णव तपसी– ये लोग पेड़ की छाल से अपने अंग को ढँकते हैं।

25. फरारी– ये लोग केवल फल खाते हैं।

26. दुधारी– केवल दूध लेते हैं।

27. काठिया– ये लोग कमर में चारों ओर लकड़ी का टुकड़ा बाँधते हैं।

28. हरिव्यासी

29. पंचधुनी– वे पाँच धुनी लगाते हैं और बीच में बैठकर तपस्या करते हैं।

30. आचारी– ये लोग विशेषकर दक्षिण भारत में रहते हैं। ये दूसरों के हाथों का भोजन स्वीकार नहीं करते।

31. सतनामी– जगजीवनदास इस सम्प्रदाय के संस्थापक थे, जिन्होंने 17वीं सदी में इसकी स्थापना की। घासीदास ने इस मत का विस्तार किया।

32. स्वामीनारायणी– एक चमार ने इसको स्थापित किया था। इनके मन्दिर अहमदाबाद, जूनागढ़, भावनगर में हैं। स्वामी नारायण 1734 में हुए थे।

33. मलूकदासी–बाबा मलूकदास ने सन् 1574 में स्थापित किया।

साधु-समाज की स्थापना– वर्तमान युग राजनीति का है। साधुओं का अपना कोई संगठन नहीं था इसलिये सन् 1956 में साधु समाज की स्थापना की गई। संगठन के सम्बन्ध में कहा गया है कि हमारे देश में भारत साधु समाज नाम से एक नया संगठन स्थापित हुआ है। इस संगठन में संन्यासी ही और उनमें भी जो जनता और देश की सेवा करना चाहते हैं, शामिल हो सकते हैं।

बैरागियों के उज्जैन स्थित अखाड़े

1. श्री पंच झाड़िया निर्मोही–श्री संतदासजी पंच झाड़िया अखाड़े के संस्थापक एवं महंत हैं। उनके अनुसार इसकी स्थापना सन् 1954 में की गई थी। वर्तमान में इस अखाड़े के करीब बीस शिष्य यहाँ रहते हैं। एक विशेष योगदान जो इस अखाड़े का है वह यह कि कैंसर अस्पताल के लिए 50 बीघा भूमि दान में दी है।

2. इन्दौर खालसा– इसकी शाखा उज्जैन में स्थित है। यह करीब 100 वर्ष पुराना है। संस्थापकों में श्री दामोदरदासजी का नाम लिया जाता है। आपके साथ श्री जगन्नाथदासजी का भी नाम है। वर्तमान में श्री जयरामदासजी जो करीब 110 वर्ष के हैं, महंत हैं।

3. रामानंदी निर्मोही (खाकचौक)–इस अखाड़े के संस्थापक के रूप में महामण्डलेश्वर श्री जयरामदासजी थे। इन्होंने सन् 1957 में स्थापना की। अब तक इस अखाड़े के श्री जयरामदासजी और श्री रामस्वरूपदासजी महंत हो चुके हैं। श्री रघुवीरदासजी इस अखाड़े के महंत रहे हैं।

4. श्री दिगम्बर अखाड़ा– इस अखाड़े की स्थापना कब हुई कहा नहीं जा सकता। इस अखाड़े के पूर्व में चार महंत श्री सरजूदासजी, जगन्नाथजी, रामदुलारेदासजी, तुलसीदासजी हो चुके हैं। वर्तमान में कन्हैयादासजी इस अखाड़े के महंत हैं।

5. श्री निर्वाणी अखाड़ा– इस अखाड़े की स्थापना कब हुई कहा नहीं जा सकता। इस अखाड़े के वर्तमान महंत श्री रामेश्वरदासजी निर्वाणी हैं।

6. अंकपात खाकी अखाड़ा–श्री आनन्ददासजी इस अखाड़े के महंत हैं।

('शोध समवेत' सिंहस्थ विशेषांक से साभार) ❑

प्रशासन और जनता : सिंहस्थ महापर्व और व्यवस्था

सुश्री स्वर्णमाला रावला

क-खण्ड : प्रशासन और जनता

डार्विन योग्यतमावशेष का सिद्धान्त प्राणीमात्र में संचरणशील मानता है, पर शॉपेनहावर 'समज' तक ही उसे सीमित करता है और 'समाज' के लिए परस्पर साहाय्य का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। भारतीय चिन्ताधारा में चाहे वह ब्राह्मण हो या श्रमण, हिंसा सामान्यतः सर्वत्र वर्जित है। मानव समुदाय की संज्ञा 'समाज' है-जिसकी अन्तरात्मा मानवता है और मानवता 'पर दुःख-कातरता' का दूसरा नाम है। मानवेतर प्राणी 'स्व' या 'स्वीय' दुःखकातर हो सकता है-'पर दुःखकातर नहींं' चेतना विकसित होती हुई जब मानव स्तर पर आई तब उसमें इसी भाव ने उदित होकर मानवेतर प्राणी के समुदाय 'समज' से उसे विशिष्ट स्तर प्रदान किया। इसे आप धर्म कहें या व्यावर्तक वैशिष्ट्य-समज से समाज का विभेदक यही परदुःख कातरता या मानवता है। परदुःखकातर वही हो सकता है, जिसने अपनी रागामक सत्ता का विस्तार किया है। रांगात्मक सत्ता का विस्तार चित्तगत सात्विकता के कारण परिवार की परिधि से आगे बढ़कर समाज, राष्ट्र या देश तथा विश्व तक हो सकता है। महात्मा होने की संभावना इसी विस्तार में अन्तर्हित है। गांधी इसी कारण महात्मा माने गए। भारतीय ऋषि-महर्षि, बुद्ध एवं महावीर अपनी इसी विशिष्टता के कारण महान् आत्मा स्वीकार क़िए गए। आत्मा के प्रति राग विषय के प्रति वैराग्य से ही बढ़ता है, जो आत्मा के स्तर पर महत्ता का आधान करता हुआ चरितार्थ होता है। यही मानवोचित विवेक है। जहाँ मानवोचित विवेक और विराग का साचिव्य रहता है-वहाँ रामराज्य का अस्तित्व स्वीकार कियां जाता है। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है-

सचिव विरागु विवेक नरेसू।
विपिन सुहावन पावन देसू॥

अभिप्राय यह कि यह राग समाधृत पर दुःख कातरता ही है जो परस्पर साहाय्य के सिद्धान्त को आचरित कराता है।

निगम या आम्नाय का सर्वस्व उपनिषद् है और उपनिषद् का सार सर्वस्व गीता। वह गीता कहती है कि परासत्ता ने प्रजा-निर्माण के साथ ही 'यजन' का विधान किया। जिसका अन्तर्मर्म यह है कि प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्तियाँ देवता मानव समाज का भावन करें और मानव उन शक्तियों का भावन करें। इस प्रकार परस्पर भावन (यजन) से दोनों प्रेय और श्रेय की प्राप्ति कर सकते हैं। कवि कुलगुरु कालिदास ने भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा है-

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मधवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनौमौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥ रघुवंश 1/24

भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति प्रशासक रघुवंशी पृथ्वी से कर इस लिए लेते थे कि देवताओं का भावन (यजन) हो और बदले में इन्द्रादि देवगण द्वारा द्युलोक का दोहन कर पृथ्वी का भरण-पोषण हो। इस प्रकार प्रशासक और देवगण दोनों भुवनों के धारण-पोषण में परस्पर साहाय्य प्रदान करते हैं। निष्कर्ष यह कि विश्व के भरण-पोषण में परस्पर साहाय्य का सिद्धान्त ही सनातन सिद्धान्त है। वह तब भी उपयोगी था और आज भी उपयोगी है।

आज प्रशासन से यही अपेक्षा जनता रखती है-लोक रखता है और लोक से प्रशासन। परस्पर साहाय्य ही लोक को स्वस्थ दिशा में गतिशील रखता है-रख सकता है। सारी व्यवस्था का केन्द्र लोक मंगल है। हमारी आध्यात्मिक परम्परा भी लोक को परा सत्ता का व्यक्त रूप मानकर उसकी सेवा से आत्मगत ऊर्ध्वगामिनी संभावनाओं को उपलब्धि का आकार देने में समर्थ मानती है। अभिप्राय यह कि परमार्थ हो या व्यवहार मानव समाज, जिसमें प्रशासन और जनता दोनों समाहित हैं, का लक्ष्य लोक मंगल है। यह लोक मंगल ही है जो आत्ममंगल का विधाता है।

मैं मानती हूँ कि समाज ने जिसको जिस जगह नियोजित कर रखा है-उसके सदस्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पूरी निष्ठा और सामर्थ्य से उसे सम्पन्न करें। पारस्परिक साहाय्य पर समाधृत क्रिया-कलाप की तह में आर्थिक पक्ष से ऊपर उठकर सेवा वृत्ति का सक्रिय रहना ही मानवीय रूप है। प्रशासन और जनता परस्पर साहाय्य और सेवावृत्ति से प्रेरित होकर लोकमंगल के विधानार्थ सक्रिय हों-तो सारी कठिनाइयाँ निःशेष हो सकती हैं-इतना ही नहीं, अपेक्षित उपलब्धियाँ अनायास फलितार्थ के रूप में प्राप्त हो सकती हैं।

ख-खण्ड : सिंहस्थ पर्व और व्यवस्था

ऐतिहासिक नगरी उज्जैन में वर्ष 2004 के 12 वर्ष बाद विश्व का सबसे बड़ा महाप्रसंग (महाकुंभ) मोक्षदायिनी पुण्य सलिला शिप्रा के तट पर आयोजित हो रहा है। इस अतिविशिष्ट आयोजन में पाँच प्रमुख स्नान होते हैं-

चैत्र शुक्ल पूर्णिमा, वैशाख कृष्ण अमावस्या, वैशाख शुक्ल तृतीया, वैशाख शुक्ल पंचमी, शाही स्नान, वैशाख शुक्ल पूर्णिमा।

इस बृहत् आयोजन को सुचारु रूप से करने हेतु राज्य शासन द्वारा बृहत् निर्माण कार्य किया जा रहा है। इनमें प्रसिद्ध दर्शनीय मंदिरों का सुधार, पुराने पुलों का नवनिर्मितीकरण नवीन पुलों, सड़कों का निर्माण, घाटों, अस्पतालों का निर्माण, अनेक स्थानों का विद्युतीकरण, पेयजल हेतु तालाबों की क्षमता में वृद्धि, स्टॉपडेमों का जीर्णोद्धार, जलशोधन संयंत्रों का विस्तार, इकोसिटी बनाने, राष्ट्रीय नदी संरक्षण योजना के तहत प्रदूषण मुक्त करने की योजना सहित अनेक कार्य युद्धस्तर पर किए गए हैं। सिंहस्थ-2004 हेतु मंत्रीमण्डलीय उपसमिति द्वारा 200.00 करोड़ रुपए की लागत से कुल 429 कार्य स्वीकृत किए गए हैं, इन 429 कार्यों में से 121 कार्य सिंहस्थ के दौरान के हैं।

यूँ तो सिंहस्थ महाकुम्भ सदैव ही वृहद् आयोजन वाला होता है और यह उज्जैन शहर हेतु अनेक सौगातें लेकर आता है, किन्तु वर्तमान सिंहस्थ-2004 कई मामलों में पिछले सिंहस्थ की तुलना में कुछ विशेष महत्व रखता है। रुद्रसागर का पुनरुद्धार इस सिंहस्थ की महान् उपलब्धि है। सप्तसागर, जो वर्षों से रख-रखाव के अभाव में जीर्णशीर्ण हो चुके थे, के जीर्णोद्धार हेतु एप्को (भोपाल) द्वारा योजना बनायी जाकर रुद्रसागर, रत्नाकर सागर तथा विष्णुसागर हेतु क्रमशः 4.77 करोड़ तथा 70.00 लाख रुपए स्वीकृत किए जाकर कार्य पूर्णता की ओर है।

भूजल पुनःभरण योजना- उज्जैन जिले में भूजल का उन्नत स्तर बनाए रखने, शिप्रानदी का वर्ष भर बहाव सुनिश्चित करने और पेयजल की समस्या का स्थायी निदान ढूँढने हेतु 12.5 करोड़ रुपए लागत की वृहत योजना बनायी है। इसमें उज्जैन जिले के 130 ग्रामों सहित उज्जैन देवास और इन्दौर के कुल 156 ग्रामों में भूजल पुनःभरण हेतु संरचनाओं को चिह्नांकित करने हेतु योजना बनायी गयी है।

शिप्रा का जल केवल स्नान हेतु आरक्षित रखने की योजना- सिंहस्थ 2004 की नवीन योजनाओं में शिप्रा नदी के जल का उपयोग पेयजल के उपयोग से पूर्णतः मुक्त करने की योजना बनाई गई है। इसके तहत 16.5 कि.मी. लम्बाई की गम्भीर नदी से पाइप लाईन डाली जाकर सम्पूर्ण शहर की जल आपूर्ति गम्भीर नदी के जल से ही सुनिश्चित की जाएगी। शिप्रा नदी पर 11 स्टॉप डेम के माध्यम से जल संग्रहण किया जाकर स्नान हेतु उपलब्ध कराया जाएगा।

सिंहस्थ क्षेत्र में पक्के शौचालयों का निर्माण- नगर निगम उज्जैन के द्वारा सम्पूर्ण सिंहस्थ क्षेत्र में अस्थाई कच्चे शौचालयों के स्थान पर आधुनिक तकनीक से निर्मित पक्के शौचालय बनाए जायेंगे।

सम्पूर्ण शहर में ग्लोसाईन बोर्ड की स्थापना-सम्पूर्ण शहर में ग्लोसाईन बोर्ड लगाने का विस्तृत कार्य राष्ट्रीय डिजायन संस्थान, पालड़ी, अहमदाबाद द्वारा डिजायन किया गया है। पर्यटकों, साधु महात्माओं तथा धर्मालुओं की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक सेटेलाईट टाउन, फ्लेग स्टेशन, स्थाई-अस्थाई बस स्टॉप शहर के विभिन्न चौराहे, तिराहे आदि सम्पूर्ण मेला क्षेत्र में ग्लोसाईन बोर्ड लगाए जाएँगे।

उज्जैन शहर के बाहर दोहरी रिंगरोड की व्यवस्था- सिंहस्थ के दौरान आवागमन की सुलभता सुनिश्चित करने हेतु शहर के बाहर आउटर रिंगरोड तथा इनर रिंगरोड का निर्माण किया गया है। शहर को जोड़ने वाले सभी पहुँच मार्गों को इन रिंग रोड़ के माध्यम से एक-दूसरे से जोड़ा गया है ताकि जहाँ वन-वे ट्राफिक (एकांकी मार्ग) सुचारु रूप से चले, वहीं यात्रीगण अपने निकटस्थ स्थान पर आसानी से पहुँच सकें।

सेटेलाईट टाऊन का निर्माण- सिंहस्थ 2004 की एक नवीन योजना सेटेलाईट टाऊन का विचार उज्जैन के सभी 6 पहुँच मार्गों पर शहर के 5 कि.मी. के क्षेत्र में 10,000 पर्यटकों के रहने हेतु सर्वसुविधायुक्त गाँव का निर्माण किया गया है। बाहर से आने वाले सभी वाहनों को यहीं पर रोका जाकर सर्वसुविधा युक्त व्यवस्था पर्यटकों को मुहैया करवायी जाएगी। यहाँ पर सभी प्रमुख शासकीय कार्यालयों तथा रहने, खाने-पीने और दूरसंचार आदि की व्यवस्था उपलब्ध करायी जाएगी।

महाकालेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार-5.00 करोड़ लागत से भारत के बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक तथा एक मात्र दक्षिणमुखी ज्योतिर्लिंग श्री महाकालेश्वर के जीर्णोद्धार का विस्तृत कार्य किया गया है। इसमें गर्भ गृह के सामने नंदीगृह को विस्तृत किया जाकर करीब 5,000 श्रद्धालुओं को एक स्थान पर पूजा-अर्चना और आरती में शामिल होना संभव हो गया है, जबकि पहले नंदीगृह में मात्र 200 श्रद्धालुओं हेतु ही उक्त व्यवस्था थी।

जीवाजी वेधशाला का जीर्णोद्धार-पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण विश्व प्रसिद्ध उज्जैन की वेधशाला के जीर्णोद्धार का कार्य सिंहस्थ 2004 में पहली बार व्यापक पैमाने पर किया गया है। जिसमें विभिन्न संयंत्रों का मजबूतीकरण, फ्लोरिंग, बाऊण्ड्री वाल, घाट निर्माण, सौर ऊर्जा उपकरणों की स्थापना तथा सुरम्य बागवानी शामिल है।

शिप्रा नदी पर घाटों का विस्तार-लगभग पौने दो किलोमीटर के नवीन घाटों का निर्माण किया गया है, जिससे साधु-सन्तों एवं आम जनता के लिए स्थान और सुविधाजनक बनाए जा सकें।

परस्पर साहाय्य और सेवावृत्ति को नींव में रखकर सिंहस्थ पर्व पर उक्त कार्य-कलाप सम्पन्न किए गए हैं। विश्वास है कि उक्त उपक्रमों तथा और भी समयोचित व्यवस्था अवसर को देखकर विवेकपूर्वक सम्पन्न होते रहेंगे।

जय अवन्तीः जय महाकाल

सिंहस्थ का महत्त्व एवं मेले में यातायात की महती व्यवस्था

सरबजीतसिंह

प्राचीन समय से ही सम्पूर्ण विश्व में प्रकृति की विभिन्न स्वरूपों में पूजा की जाती रही है। मनुष्य इस सृष्टि के रचयिता, निर्माता की पृथक्-पृथक् उपासना पद्धतियों से पूजा करता आ रहा है। भारतवर्ष में सनातन धर्म का एक पवित्र धर्मस्थल पवित्र शिप्रा नदी के पूर्वी तट पर 'उज्जैन' नाम से विख्यात है। पौराणिक काल की अवन्तिका नगरी कालांतर में आस-पास के सम्पूर्ण मालवा क्षेत्र में आमोद-प्रमोद का प्रमुख केन्द्र होने के कारण उज्जयिनी होते हुए वर्तमान में उज्जैन नाम से प्रसिद्ध है। इस पवित्र नगर में प्रत्येक बारह वर्षों के अन्तराल से सिंहस्थ पर्व मनाया जाता है। पुराणों के अनुसार समुद्र मंथन में देव एवं दानवों के सहयोग से अमृत कलश (कुंभ) प्राप्त हुआ था, किन्तु देवगण यह अमृत कलश दानवों को नहीं देना चाहते थे, इस वजह से 12 दिन तक संघर्ष चलता रहा। देवराज इन्द्र के संकेत पर उनका पुत्र जयंत यह अमृत कलश लेकर भागने लगा और कुछ दानवों ने उसका पीछा किया, तो अमृत की कुछ बूँदें क्रमशः हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक में गिरी थीं, ऐसी मान्यता है। इसीलिए इन स्थानों पर प्रत्येक बारह वर्ष में 'कुम्भ' पर्व मनाया जाता है, किन्तु उज्जैन में बृहस्पति ग्रह के सिंह राशि पर स्थित होने की अवस्था के कारण इसे 'सिंहस्थ' के नाम से भी जाना जाता है। इस पवित्र पर्व पर पवित्र शिप्रा में स्नान कर श्रद्धालुजन महाकालेश्वर के दर्शन कर स्वयं को कृतार्थ समझते हैं।

पौराणिक कथाओं के अनुसार भगवान् शिव की अर्द्धांगिनी आदिशक्ति जब सती के रूप में थी, तब भगवान् शिव के ससुर दक्ष प्रजापति द्वारा आहूत यज्ञ में भगवान् शिव को आमंत्रित न करने से भगवती सती द्वारा क्रोधित होकर यज्ञ में आत्म उत्सर्ग कर दिया गया, तब भोलेनाथ की आज्ञा से उनके गणों ने यज्ञ विध्वंस कर दिया। तब भगवती सती के शरीर के अंग जिन-जिन स्थानों पर गिरे वे ही शाश्वत शक्तिपीठ के रूप में जाने जाते हैं। उज्जैन में आदिशक्ति की कुहनी जिस स्थान पर गिरी, उसी स्थान पर माँ भगवती सम्राट् विक्रमादित्य की आराध्य देवी हरसिद्धि के रूप में स्थापित है। शिव पुराण के अनुसार भगवान् महादेव यूँ तो सम्पूर्ण विश्व में शिवलिंग के रूप में पूजे जाते हैं, लेकिन भगवान् शिव के 12 प्रमुख लिंगों को ज्योतिर्लिंग कहा गया है। इन्हें पृथ्वी पर भगवान् शिव का प्रत्यक्ष स्वरूप कहा गया है। इन द्वादश ज्योतिर्लिंगों में भी मृत्यु लोक में सर्वाधिक महत्ता भगवान् महाकालेश्वर की कही गई है।

यहाँ स्वयं साक्षात् नारायण न केवल विष्णु स्वरूप में क्षीरसागर मन्दिर में विद्यमान हैं, बल्कि उनके दोनों प्रमुख अवतार रामावतार एवं कृष्णावतार की लीलाओं की चक्षुदर्शी भी यही नगरी है। इस नगर में सांदीपनि आश्रम में भगवान् कृष्ण ने अपनी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की है। कृष्ण-सुदामा की मित्रता का प्रतीक नारायण मन्दिर आज भी ग्राम नारायणा, महिदपुर (जिला उज्जैन) में स्थित है।

यही नहीं स्वयं भगवान् राम द्वारा चिन्तामण, इच्छामण एवं सिद्धि विनायक के रूप में प्रस्थापित आदि देव श्री गणेश यहाँ विद्यमान हैं। भगवान राम ने भी इसी नगरी में अपने पिता दशरथ जी को शिप्रा महारानी के घाट पर तर्पण किया था।

सम्पूर्ण भारतवर्ष में एकमात्र उज्जैन ही ऐसा नगर है, जहाँ न केवल कुंभ सिंहस्थ के रूप में मनाया है, बल्कि यहाँ परमेश्वर महादेव प्रत्यक्ष स्वरूप में महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग के रूप में स्थित हैं एवं वहीं आदिशक्ति माँ भगवती देवी हरसिद्धि देवी और गढ़कालिका के रूप में भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं। ऐसा अनूठा संगम किसी नगर में नहीं है, जहाँ कुंभ स्थल, ज्योतिर्लिंग एवं आदिशक्ति पीठ एक ही स्थान पर हों। इस अनूठे नगर की उपमा विश्व के किसी भी नगर से नहीं की जा सकती है। इस अनूठे संगम तीर्थ त्रय के अतिरिक्त मंगल ग्रह की उत्पत्ति का साक्षी मंगलनाथ मन्दिर भी इस पवित्र नगर में विद्यमान है। सम्पूर्ण पृथ्वी का केन्द्रबिन्दु इस नगर में कालों के काल महाकाल के सेनापति के रूप में स्वयं साक्षात् भैरव कालभैरव के रूप में शिप्रा तट पर विद्यमान है।

इस महापर्व के बारे में इतिहास के गर्भ में जाने पर उपलब्ध जानकारी के अनुसार बीसवीं शताब्दी के वर्ष क्रमशः सन् 1909, 1921, 1933, 1945, 1957, 1968, 1980, 1992 में उज्जैन में 'सिंहस्थ पर्व' मनाया गया है। ज्योतिषियों मे मतभेद हो जाने के बाद भी वर्ष 1958 एवं 1969 में 'सिंहस्थ मेला' मनाया गया था। सिंहस्थ में सम्पूर्ण भारतवर्ष एवं विदेशों से भी साधु समाज, विशेषकर शैव एवं वैष्णव सम्प्रदाय के संत शामिल होते हैं। शैव एवं वैष्णव सम्प्रदाय के साधु समाज के लोगों में ज्योतिष-शास्त्र, आराध्य देव, स्नान व अन्य कारणों से पुराने समय से मतभेद चले आ रहे हैं। विशेष रूप से सर्वप्रथम कौन स्नान करेगा, यही विवाद होता था। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के कारण अभी भी इस मेले के दौरान कानून व्यवस्था की स्थिति गम्भीर होने की संभावनाएँ बनी रहती हैं। पुराने जमाने में इन दोनों सम्प्रदायों की स्वयं सेना हुआ करती थी एवं कानून व्यवस्था की स्थिति को उन सैनिकों द्वारा सँभाला जाता था, किन्तु अंग्रेजी साम्राज्य में 'पुलिस' गठन हो जाने के पश्चात् पुलिस ही इस सम्पूर्ण व्यवस्था का कार्यभार देख रही है।

वर्ष 1979 ई. में नासिक में वैष्णव सम्प्रदाय के सात भाई, खालसा अखाड़े व अन्य बैरागियों के बीच मतभेद हुए, जिस वजह से मेले में कर्फ्यू लगाया गया और तनांव की स्थिति बनी रही। वर्ष 1980 के मेले में भी स्नान पर से दोनों सम्प्रदायों में तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई, जिस कारण मेला क्षेत्र में धारा 144 द. प्र. स. लगाई गई थी। वर्ष 1957 में इलाहाबाद, 1968 में हरिद्वार व वर्ष 2003 में नासिक मेले में हुई भगदड़ में लोग मारे गये हैं। इसी प्रकार वर्ष 1921 ई. में महामारी फैलने से हजारों लोग मारे गये थे और सिंहस्थ मेला समाप्ति की घोषणा की गई थी। लोगों की अपार श्रद्धा भक्ति को ध्यान में रखते हुये इस आयोजन के लिये भारी व्यवस्था करना होती है।

मन्दिर के प्रति श्रद्धालुओं में अपार स्नेह एवं अथाह श्रद्धा व्याप्त है व सिंहस्थ मेले में आने वाला हर श्रद्धालु भक्ति भावना से ओत-प्रोत होकर स्नान के पश्चात् भगवान् महाकालेश्वर के दर्शन कर पुण्य लाभ कमाना चाहता है। यही स्थिति उज्जैन स्थित शिप्रा तट 'रामघाट' की है, जहाँ हर श्रद्धालु स्नान कर अतीव सन्तोष महसूस करता है। अतः इन दोनों स्थानों की ओर यात्रियों का सैलाब उमड़ता है। इस जन सैलाब को व्यवस्थित करने हेतु पुलिस को माकूल व्यवस्था करनी होती है।

प्रतिदिन लाखों यात्रियों का आगमन सिंहस्थ मेले में होता है, ये लाखों यात्री सुविधा-सुव्यवस्था के तरीके से शिप्रा में स्नान कर सकें, भगवान् महाकाल के दर्शन के अतिरिक्त उज्जैन के अन्य मन्दिरों के दर्शन कर सकें, इस हेतु इस जन-सैलाब को नियंत्रित करने के लिए उज्जैन नगर में बहुत ही माकूल यातायात व्यवस्था की जाती है। किसी भी विशाल कार्यक्रम की आदर्श यातायात व्यवस्था के चार प्रमुख अंग होते हैं, जिन पर सम्पूर्ण यातायात व्यवस्था आधारित होती है। इन सभी आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है।

1. समुचित व्यवस्था और नियमों का निर्धारण
2. पर्याप्त प्रशिक्षित यातायात पुलिसकर्मी
3. यातायात परिचालन के लिए अद्यतन संसाधन
4. यातायात नियमों का कठोरता से अनुपालन

सिंहस्थ में देश-विदेश से दो करोड़ श्रद्धालुओं का सड़क मार्ग, रेल मार्ग व वायु मार्ग से आना अनुमानित है। इसी प्रकार शाही स्नान पर्व पर करीब 50 लाख, सामान्य स्नान पर्व पर 10 लाख व आम दिनों में 5 लाख श्रद्धालुओं का आना सहज ही है। इस अपार जनसमूह की श्रद्धा व भावनाओं को ध्यान में रखते हुए क्रमशः सामान्य दिनों के लिये व विशेष स्नान दिनों के लिए पृथक्-पृथक् यातायात व्यवस्था इन्दौर रोड़, देवास रोड़, मक्सी रोड़, उन्हेल रोड़, बड़नगर रोड़ पर लगाई गई है। विभिन्न वाहनों जैसे माल वाहक, ट्रेक्टर ट्राली, दो पहिया वाहनों के लिये भी पृथक्-पृथक् व्यवस्था है। रामघाट पहुँच मार्ग, शहर क्षेत्र में से रामघाट पहुँच मार्ग, रामघाट से वापसी मार्ग व प्रतिबंधित मार्ग व्यवस्था के लिये भी इंतज़ाम किये गये हैं।

सिंहस्थ में यातायात व्यवस्था के लिए उज्जैन शहर के चारों ओर रिंग रोड़ निर्मित किया गया है। उज्जैन में मुख्य रूप से बाहर से आने वाला ट्रैफिक उन्हेल रोड़, आगर रोड़, मक्सी रोड़, चिन्तामण रोड़, देवास रोड़ एवं बड़नगर रोड़ से आता है। इस यातायात व्यवस्था को नियंत्रित करने के लिये रिंग रोड़ पर शहर के अन्दर की ओर वाहनों के प्रवेश हेतु 6 सेटेलाईट टाउन विभिन्न बाहरी मार्गों पर निर्मित किए गए हैं। उज्जैन-इन्दौर ब्राड गेज हेतु विक्रम नगर, उज्जैन-इन्दौर मीटर गेज हेतु चिन्तामण गणेश, उज्जैन-भोपाल ब्राडगेज हेतु पंवासा व उज्जैन-रतलाम ब्राडगेज हेतु बड़नगर रोड़ पर 'फ्लैग स्टेशन' बनाये गये हैं। प्रत्येक सेटेलाईट टाउन व अन्य स्थानों पर वाहन पार्किंग की पृथक् से व्यवस्था की गई है। इन्दौर-उज्जैन मार्ग पर 10, देवास-उज्जैन मार्ग पर 11, मक्सी-शाजापुर मार्ग पर 19, आगर-उज्जैन मार्ग पर, उन्हेल-नागदा मार्ग पर 6 व बड़नगर-उज्जैन मार्ग पर 9 वाहन पार्किंग की व्यवस्था की गई है। इसी के साथ शहर के मध्य 9 स्थानों पर भी वाहन पार्किंग की व्यवस्था की गई है। हाथ ठेला व बैलगाड़ी इत्यादि के लिए भी पृथक् से व्यवस्था की गई है।

यातायात की आधुनिकतम व्यवस्था सुनिश्चित करने हेतु घाट का पिक्टोरियल मेप, पब्लिक ट्रांसपोर्ट रूट की जानकारी, रिंग रोड़ मेप, मुख्य स्टेशनों की जानकारी व दूरी, शहर के मुख्य मार्गों की जानकारी इत्यादि के प्रचार-प्रसार हेतु भी पूर्ण व्यवस्था की गई है। ग्राम रक्षा समिति, नगर सुरक्षा समिति एवं अन्य संचालन संगठनों की भी यातायात के संचालन में मदद ली जाती है।

शहर के निवासियों के वाहनों के लिए व बाहर से शहर में प्रवेश करने वाले वाहनों के लिए पास जारी करने की व्यवस्था की गई है। ऑटो-रिक्शा हेतु शहर के 48 स्थानों पर स्टैण्ड की व्यवस्था की गई है। वृद्ध, अपंग व असमर्थ लोगों के लिए पालकी व व्हील चेयर की सुविधा हेतु स्वयंसेवी संस्थाओं की मदद ली जा रही है।

इस सम्पूर्ण व्यवस्था में लगभग 15,000 पुलिस अधिकारियों व कर्मचारियों को लगाया गया है और इन्हें आधुनिक उपकरणों जैसे पी. ए. सिस्टम, सी. सी. टी. वी., माईन डिटेक्टर, अण्डर व्हीकल सर्च मिरर, एक्सटेंशन सर्च मिरर, प्रोडर, नान लीनियर जंक्शन, सर्च लाईट, रीयल टाईम व्यूईंग सिस्टम, एक्सप्लोजिस डिटेक्टर, इलेक्ट्रानिक स्टेथेस्कोप, रिमोट आपरेटेड वायर कटर, बम सूट, वाटर केनन, मोटर बोट, मेनपेक वायरलेस विथ ईयरफोन प्लग, कम्यूनिकेशन एडवान्स सिस्टम, एच.एच.एच.एम.डी, डी.एफ.एम.डी. डिजिटल स्टेटिक रेडियो, डिजिटल मोबाईल रेडियो, डिजिटल हेड हेल्ड रेडियो, एनालाग स्टेटिक रेडियो, एनालाग हेड हेल्ड रेडियो, मेगा स्क्रीन, पुलिस डॉग, इलेक्ट्रिक जनरेटर, इमरजेंसी लाईट इत्यादि अत्याधुनिक उपकरणों से पूरी पुलिस व्यवस्था को सुसज्जित किया गया है।

❑

सिंहस्थ महापर्व : प्रशासनिक सहयोग

भूपालसिंह

आदि पुराण में उज्जैन नगर को पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ नगर प्रतिपादित किया गया है। इस नगर में ही देश के प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंगों में से एक ज्योतिर्लिंग श्री महाकालेश्वर का मन्दिर स्थित है, जो एकमात्र दक्षिणमुखी है। उज्जैन को मंगल ग्रह की जन्मभूमि भी माना गया है। इसी धरा पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भाई बलराम और सुदामा के साथ महर्षि सांदीपनि आश्रम में शिक्षा प्राप्त की थी। शिप्रा नदी के तट पर बसी इस उज्जयिनी नगरी की प्रशस्ति स्वयं वेदव्यास और कालिदास जैसे महाकवियों ने भी गायी है। संसार के प्राचीन संवत्सर की शुरुआत सम्राट विक्रमादित्य ने इसी धरती से की थी। इस प्राचीन और सांस्कृतिक नगरी को सनातन धर्म की पवित्र धार्मिक नगरी होने का भी गौरव प्राप्त है। इसीलिए यहाँ के प्रशासन को भी धर्म के साथ समन्वय कर कार्य करना होता है। चाहे राजा प्रद्योत रहे हों या विक्रमादित्य या सिंधिया वंश के महादजी रहे हों या जीवाजीराव शिन्दे, प्रत्येक राजा को इस धार्मिक और सांस्कृतिक नगरी का प्रशासन सांस्कृतिक और धार्मिक परम्पराओं के अनुरूप करना होता था। वर्तमान में भी इसी परम्परा का पालन किया जाता रहा है। प्रशासन का यह परम दायित्व रहता है कि यहाँ के लोगों को धार्मिक अनुष्ठान व पूजन-पठन धार्मिक रीति-रिवाजों के अनुरूप करने की सुविधा उपलब्ध कराए।

यहाँ के हजारों लाखों लोग भी प्रतिवर्ष निश्चित तिथियों पर अपनी परम्पराओं और संस्कृति के अनुसार एकसाथ इकट्ठा होकर शिप्रा में स्नान करते हैं और देवालयों में भगवान के दर्शन कर पूजन-पठन करते हैं। प्रशासन इन लाखों श्रद्धालुओं के इस उद्देश्य को सहजता से पूरा करने के लिए अच्छा पर्यावरण, सुगम रास्ते, स्वच्छ पेयजल, चिकित्सा सुविधाएँ और सुविधाजनक सुगम आश्रय स्थल उपलब्ध कराने का प्रयास करता है। चाहे सिंहस्थ का अवसर हो या सोमवती अमावस्या, शनिश्चरी अमावस्या या कार्तिक का स्नान हो, यहाँ का प्रशासन वर्षों से श्रद्धालुओं को जरूरी सुविधाएँ सुलभ कराता रहा है। इसके साथ ही यहाँ की परम्पराओं के अनुसार ही राज्य के प्रतिनिधि होने के नाते यहाँ पूर्व में सूबेदार या आज के कलेक्टर को स्वयं विविध अवसरों पर महाकाल मन्दिर में कालभैरव मन्दिर, चौबीस खम्भा मन्दिर आदि अन्य अनेक देवालयों में पूजन और अनुष्ठान करना होते हैं।

मुगलों के शासनकाल में भी सम्राट अकबर के समय उज्जयिनी की व्यवस्था भी बहुत अच्छी रही थी। उज्जयिनी भी सम्राट अकबर के राज्य के 15 प्रान्तों में से एक था। आइने अकबरी के अनुसार इस प्रान्त में प्रमुख शासक सिपहसालार होता था, जो सैनिकों, पुलिस और प्रशासनिक सेवाओं का प्रमुख होता था। सम्राट अकबर ने प्रजा पर लगे करों को कम करने का प्रयास किया था और उसने यात्रीकर हटा भी लिया था। इससे यहाँ विभिन्न उत्सवों में बड़ी संख्या में लोग आने लगे थे। मराठों के शासनकाल में उज्जयिनी, मन्दसौर, दशपुर के साथ उज्जयिनी भी राणोजी शिन्दे के अधीन हो गया, जिन्होंने यहाँ सिंधिया राज की नींव डाली। उनके द्वारा नियुक्त दीवान बाबा रामचन्द्र ने अपने अनुभवी और कुशल प्रशासन से यहाँ उज्जयिनी के धार्मिक वैभव को पुनः

प्रतिष्ठापित किया। उज्जयिनी में भी सिंधिया वंश के अन्तिम शासक जीवाजीराव रहे, किन्तु उन्हें अपने राज्य का पूर्ण अधिकार वर्ष 1936 में ही प्राप्त हुआ था। 'आइने अकबरी' के अनुसार सम्राट अकबर के समय से ही उज्जयिनी तथा इसके आसपास के कोई 350 से अधिक धार्मिक स्थलों के रखरखाव और उत्सवों और पुरोहितों को आर्थिक सहायता और सुरक्षा प्रदान की जाती थी। यहाँ तक कि औरंगजेब ने भी यहाँ के मन्दिरों में पूजा, नेवैद्य आदि के लिए आर्थिक सहायता दी। दीवान बाबा रामचन्द्र शेणवी के प्रशासन काल में साधु-सन्तों को प्रश्रय दिया गया और इल्तुतमिश द्वारा नष्ट किए गए महाकाल मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया गया तथा अपनी जागीर में से महाकाल मन्दिर में पूजा का प्रबन्ध भी किया गया। इसी समय यहाँ के ध्वस्त देवस्थानों में से 100 से भी अधिक मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया गया। शिप्रा नदी के तट पर रामघाट और नरसिंहघाट का निर्माण भी इसी समय हुआ।

यह सर्वविदित है कि देश भर में चार स्थानों पर कुम्भ का मेला आयोजित होता है। सिंहस्थ का इतिहास उसकी परम्परा के समान ही अत्यन्त प्राचीन है। सन् 1909 से लगातार सिंहस्थ मेले के व्यवस्थित रूप से आयोजन किए जा रहे हैं। इस मेले के आयोजन के लिए मध्यभारत सिंहस्थ मेला अधिनियम 1955 प्रभावशील है। उज्जयिनी का सिंहस्थ इसी अधिनियम के अन्तर्गत संचालित किया जाता है। वर्ष 2004 में होने वाले आस्था का यह महापर्व 5 अप्रैल 2004 को प्रथम स्नान से प्रारम्भ होगा और 4 मई 2004 को शाही स्नान के साथ समापन होगा। गत सिंहस्थ वर्ष 1992 की व्यवस्था के अनुसार प्रथम स्नान के 15 दिन पहले और शाही स्नान के 15 दिन बाद की अवधि को सम्मिलित करते हुए मध्यभारत सिंहस्थ मेला अधिनियम के अन्तर्गत जिला दण्डाधिकारी द्वारा 21 मार्च 2004 से 19 मई 2004 तक मेला अवधि की अधिसूचना जारी की गई है।

उल्लेखनीय है कि वर्ष 1992 में सिंहस्थ मेला प्रशासन द्वारा लगभग 75 लाख यात्रियों के लिए सुविधाएँ जुटायी गयी थी। उसके लिए मेला क्षेत्र को तीन भागों में बाँटा गया था। लेकिन इस बार 3 करोड़ से अधिक श्रद्धालुओं के आने की सम्भावना है, इसलिए इस बार पिछली बार से दुगुना क्षेत्र 2151.976 हेक्टेयर क्षेत्र में सिंहस्थ मेला लगाए जाने का निर्णय किया गया है। इस मेला क्षेत्र को तीन भागों में यथा अंकपात, दत्त अखाड़ा और महाकाल क्षेत्र में विभाजित किया गया है। इन तीन क्षेत्रों को भी पाँच झोन में बाँटा गया है। ये झोन महाकाल, दत्त अखाड़ा, उजड़खेड़ा, मंगलनाथ और भैरवगढ़ होंगे। प्रत्येक झोन में एक-एक उप मेला कार्यालय कार्य करेगा। जैसा कि सर्वविदित है कि सिंहस्थ महापर्व में श्रद्धालु साधु-सन्तों के दर्शन, सत्संग तथा प्रमुख तिथियों में शिप्रा में स्नान के लिए आते हैं। इस दौरान साधु समाज के अखाड़ों की भी एक प्राचीन व्यवस्था रहती है। धार्मिक अखाड़ों के एकत्रित होकर विशेष तिथियों पर अपने झंडे निशान के साथ स्नान करने और मेला अवधि में प्रवचन या भजन कीर्तन तथा स्वाध्याय जैसी गतिविधियों का संचालन ही इसी समूची जीवनशैली का नाम सिंहस्थ है। प्रशासन इस बार साधु-सन्तों और उनके अखाड़ों को पर्याप्त भूमि, विद्युत और पेयजल की व्यवस्था निःशुल्क कर रहा है। परम्परानुसार देश के विख्यात साधु समाजों के कोई 13 अखाड़े इस महापर्व में भाग ले रहे हैं। जो प्रमुख अखाड़े इस महापर्व में आ रहे हैं, उनमें श्री पंचायती तपोनिधि निरंजनी अखाड़ा, श्री पंचायती आनंद अखाड़ा, श्री पंच दशनाम जूना अखाड़ा, श्री पंच दशनामी आवाहन, श्री पंचअग्नि अखाड़ा, श्री पंचायती महानिर्वाणी अखाड़ा, श्री पंच अटल अखाड़ा, श्री पंचायती बड़ा उदासीन अखाड़ा, श्री पंचायती उदासीन नया अखाड़ा, श्री पंचायती निर्मल अखाड़ा, श्री पंच रामानन्दीये निर्वाणी अनि अखाड़ा, श्री पंच दिगम्बर अनि अखाड़ा, श्री पंच रामानन्दीये निर्मोही अनि अखाड़ा हैं। प्रशासन लगातार साधु-सन्तों व उनके अखाड़ों से सम्पर्क कर उनकी मंशा के अनुसार जरूरी प्रबंध करता।

राज्य शासन द्वारा इस महापर्व में आने वाले श्रद्धालुओं को बुनियादी सुविधाएँ जुटाने के लिए 259 स्थायी प्रवृत्ति के कार्य स्वीकृत किए गए हैं, जिनमें से अधिकांश कार्य पूरे हो चुके हैं। इन कार्यों में प्रमुखतया उज्जैन में मन्दिरों की मरम्मत, रंगरोगन, जीर्णोद्धार, पुराने पुलों का नवीनीकरण और नये पुलों का निर्माण, सड़कों का निर्माण, चौड़ीकरण, शिप्रा के घाटों की मरम्मत, नए घाटों

का निर्माण, अस्पताल भवन का निर्माण, उनका नवीनीकरण, विद्युत प्रदाय के लिए विद्युत उपकेन्द्रों की स्थापना, पेयजल तालाबों की क्षमता में वृद्धि, जलशोधन संयंत्रों का सुधार और शिप्रा में जल संग्रह बनाए रखने के लिए स्टापडेमों का निर्माण प्रमुख है।

इस महापर्व में बाहर से आने वाले जनसमुदाय की सुविधा के लिए उज्जैन नगर की सीमाओं पर 6 सेटेलाईट टाऊन बनाए हैं। यह सेटेलाईट टाऊन यातायात पर नियंत्रण रखने के साथ-साथ आतंकवादी और अलगाववादी गतिविधियाँ रोकने और संभावित महामारी से बचने के लिए टीकाकरण की सुविधा सुलभ कराने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रहेंगे। प्रत्येक सेटेलाईट टाऊन में लोगों को रहने, खाने-पीने, शौचालय, चिकित्सा, दूरसंचार, विद्युत, पेयजल आदि की व्यवस्था रहेगी। इसके साथ ही सेटेलाईट टाऊन में राज्य परिवहन निगम का अस्थायी बस स्टैण्ड, अस्थायी प्रायवेट बस स्टैण्ड तथा शहरी क्षेत्र में आने वाली गाड़ियों का अस्थायी स्टैण्ड भी बनाया जाएगा। प्रत्येक सेटेलाईट टाऊन में प्रशासनिक कार्यालय, सेक्टर कार्यालय, पुलिस स्टेशन, पूछताछ कार्यालय, चिकित्सालय, एस.टी.डी./पी.सी.ओ., पोस्ट ऑफिस, क्लॉक रूम, विद्युत कार्यालय, नगर निगम सफाई कार्यालय आदि रहेंगे।

उज्जैन नगर में पौराणिक महत्व के सात सागर रुद्र सागर, रत्नाकर सागर, विष्णु सागर, गोवर्धन सागर, क्षीर सागर, पुरुषोत्तम सागर और पुष्कर सागर हैं। इन सागरों का वर्षों तक कोई रख-रखाव नहीं होने से उक्त पौराणिक धरोहर मृतप्राय: होने के कगार पर हैं। एप्को (Environment Pollution and Control Organisation) भोपाल द्वारा इन सप्त सागरों के जीर्णोद्धार की योजना बनाई गई है। इन सप्त सागरों में से रुद्र सागर, रत्नाकर सागर तथा विष्णु सागर के जीर्णोद्धार हेतु क्रमश: 4 करोड़ 77 लाख 70 हजार रुपए की राशि स्वीकृत हुई है। जीर्णोद्धार के उक्त कार्यों के तहत तालाबों की सफाई करना, उनमें बारह महीने स्वच्छ पानी का स्तर बनाए रखने तथा इनके आसपास के क्षेत्रों का सौन्दर्यीकरण शामिल है। रुद्र सागर जीर्णोद्धार में महाकाल मन्दिर क्षेत्र, रुद्रसागर तथा रामघाट के सौन्दर्यीकरण हेतु भी 4 करोड़ रुपए की लागत से विस्तृत कार्ययोजना बनाई गई है, जो पूर्णता पर है।

❑

मगरमुहे की गली/प्रमोद गणपत्ये

सिंहस्थ महापर्व एवं पुलिस-प्रशासनिक व्यवस्था

मनोहरसिंह वर्मा

तीर्थ श्रेष्ठ उज्जैन का सिंहस्थ (कुम्भ) पर्व विश्वभर में प्रसिद्ध है। सिंहस्थ (कुम्भ) हमारी समस्त संस्कृतियों का संगम है। यह एक आध्यात्मिक चेतना है, मानवता का प्रवाह है, नदी, वन और ऋषि संस्कृति का प्रवाह है। यह एक जीवन धारा है। प्रगति एवं पौरुष के समन्वय का प्रतीक है, ऊर्जा का स्रोत है। यह लोक-परलोक, पाप-पुण्य, ज्ञान-अज्ञान एवं अंधकार-प्रकाश का दिग्दर्शन कराता है। पवित्र नदियाँ मानव जीवन की समरसता का प्रतीक हैं और मानव शरीर में प्रवाहित होने वाले जल तत्त्वों का बोध कराती हैं। इनमें समस्त तीर्थ, देव एवं समस्त भूत समाहित हैं।

मध्यप्रदेश पुलिस एवं प्रशासन के लिये यह प्रदेश में होने वाला सबसे बड़ा पर्व है और इसके आयोजन का चित्रण राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होता है। इस विराट आयोजन की सफलता पुलिस एवं प्रशासन की सक्षमता, कुशलता एवं दक्षता का प्रतिबिम्ब होता है। यह पर्व केवल उज्जैन ही नहीं अपितु प्रदेश एवं देश का बहुत ही गौरवशाली पर्व है और पुलिस तथा प्रशासन के लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चुनौती है। जितना विशाल यह महापर्व है उतनी ही विशाल इसकी व्यवस्थाएँ होती हैं। सिंहस्थ (कुम्भ) की अवधि के दौरान निम्नांकित महत्त्वपूर्ण पर्व होते हैं- चैत्र शुक्ल पूर्णिमा, मेष सक्रांति, पंचक्रोशी यात्रा, सोमवती अमावस्या, अक्षय तृतीया, आदि शंकराचार्य जयंती, मोहिनी एकादशी, शाही स्नान एवं वैशाखी पूर्णिमा।

उज्जैन भारतवर्ष की एक प्राचीन नगरी है जो 23.11 अंश उत्तर अक्षांश एवं 75.47 अंश पूर्व रेखांश पर स्थित है। यह पवित्र नगरी समुद्र की सतह से 1698 फीट की ऊँचाई पर पर्वतराज विंध्य के अंचल में पुण्य सलिला क्षिप्रा के निर्मल एवं मनोहारी पूर्वी तट पर बसी हुई है। आदि ब्रह्मपुराण में पृथ्वी की सर्वोत्तम नगरी के रूप में उज्जैन का वर्णन है। इसे भारत की मध्य स्थली माना जाता है। कर्क रेखा यहीं से होकर गुजरती है और पुण्य सलिला क्षिप्रा के पूर्वी तट पर कर्कराज मन्दिर स्थापित है।

सिंहस्थ मेले का आयोजन मुख्यतः रामघाट, दत्त का अखाड़ा, अंकपात एवं महाकाल में होता है। उज्जैन मेला क्षेत्र में प्रवेश करने के पूर्व दशनामी साधु समाज नीलगंगा क्षेत्र में पड़ाव डालते हैं। इस कारण नीलगंगा क्षेत्र में भी सिंहस्थ मेला क्षेत्र रहता है। सम्पूर्ण मेला अवधि में यात्रीगण उज्जैन आते हैं और सिंहस्थ मेले का पुण्य लाभ अर्जित करते हैं। सिंहस्थ मेला अवधि में पड़ने वाले स्नान पर्वों का विशेष महत्त्व होता है। इसलिये इन पर्वों पर बड़ी संख्या में यात्रीगण आते हैं। इन यात्रियों का मुख्य लक्ष्य रामघाट पर स्नान, महाकाल, हरसिद्धि, गोपाल मन्दिर, मंगलनाथ मन्दिर, कालभैरव

मन्दिर, शनि मन्दिर एवं अन्य महत्त्वपूर्ण मन्दिरों के दर्शन करने के साथ-साथ मेले में आये हुए विभिन्न साधु-सन्तों के दर्शन तथा उनके कार्यक्रमों में भाग लेना होता है। कुछ यात्री एक या दो दिनों में सिंहस्थ भ्रमण कर वापस चले जाते हैं जबकि कुछ यात्री कई दिनों तक अपने रिश्तेदारों अथवा विभिन्न सम्प्रदाय के अखाड़ों या अपने समाज की धर्मशाला या लॉज में जाकर निवास करते हैं। शहर तथा मेला क्षेत्र एक-दूसरे के साथ जुड़े होने से तथा मेला क्षेत्र के मार्ग शहर से होकर जाने से सम्पूर्ण उज्जैन शहर भी मेला क्षेत्र का एक अंग बन जाता है।

वर्ष 1980 में सिंहस्थ मेला 612.156 हेक्टेयर क्षेत्र में लगा था जिसमें करीब 25 लाख यात्री आये थे। सिंहस्थ 1992 के दौरान यह मेला 1367.000 हेक्टेयर क्षेत्र में फैला था, जिसमें करीब 1.25 करोड़ यात्री आये थे। वर्ष 2004 के सिंहस्थ हेतु 2151.976 हेक्टर क्षेत्र निर्धारित किया गया है। इस मेला क्षेत्र में विभिन्न साधु समाज अपने कुछ स्थाई आवास एवं अस्थाई टेंट लगाकर विराजित होते हैं।

उज्जैन पहुँचने के लिये सड़क-रेल एवं वायु तीनों मार्गों से सुविधाएँ उपलब्ध हैं और आसानी से इन माध्यमों से उज्जैन पहुँचा जा सकता है।

सड़क मार्ग-उज्जैन शहर को छः प्रमुख मार्ग सरहदी जिलों के माध्यम से भारतवर्ष के सभी प्रमुख शहरों से जोड़ते हैं। ये प्रमुख मार्ग हैं-उज्जैन-सांवेर-इन्दौर मार्ग, उज्जैन-देवास मार्ग, उज्जैन-मक्सी मार्ग, उज्जैन-आगर मार्ग, उज्जैन-उन्हेल-नागदा मार्ग, उज्जैन-बड़नगर मार्ग।

रेल्वे मार्ग- उज्जैन ब्रॉड गेज रेल्वे का बड़ा जंक्शन है। यहाँ से मुम्बई, कोलकाता, दिल्ली, बैंगलोर, चेन्नई, लखनऊ, बनारस, पटना, अहमदाबाद, गाँधीनगर आदि कई महत्त्वपूर्ण स्थानों के लिये अच्छी ट्रेन सुविधा उपलब्ध है। यहाँ से इन्दौर ब्रॉड गेज एवं मीटरगेज दोनों ही लाइनों से जुड़ा हुआ है। उज्जैन का नागदा अनुविभाग पश्चिम रेल्वे का बहुत बड़ा जंक्शन है, जहाँ से कई महत्त्वपूर्ण ट्रेनें उपलब्ध हैं। सिंहस्थ के दौरान यात्रियों की सुविधा के लिये कई मेला स्पेशल ट्रेनें भी चलाई जाती हैं।

वायु मार्ग- उज्जैन से 13 कि. मी. दूर देवास रोड़ पर एक हवाई पट्टी है, जिसे दताना-मताना हवाई पट्टी के नाम से जाना जाता है। इस हवाई पट्टी पर छोटे विमान आसानी से उतर सकते हैं। उज्जैन से 56 कि.मी. दूर स्थित इन्दौर में एरोड्रम है, जहाँ पर इंडियन एयरलाइन्स की तथा अन्य नियमित उड़ानें संचालित होती हैं।

सिंहस्थ (कुम्भ) महापर्व के दौरान पुलिस के समक्ष अधिक कठिन, विशाल एवं संवेदनशील चुनौतियाँ रहती हैं। ये चुनौतियाँ हैं-आतंकवाद एवं तोड़-फोड़, भगदड़, प्राकृतिक आपदाएँ, अखाड़ों की व्यवस्था, असामाजिक गतिविधियाँ, असंतुष्ट गतिविधियाँ आदि।

ये चुनौतियाँ स्वयं अपने आप में यह दर्शाती हैं कि इस महापर्व में पुलिस व्यवस्था विशाल और दक्ष तरीके से की जानी आवश्यक है; जिससे इनका सफलतापूर्वक सामना किया जा सकें। इन चुनौतियों के तारतम्य में सिंहस्थ (कुम्भ) के दौरान पुलिस व्यवस्था के मूल उद्देश्यों को निम्नानुसार रेखांकित किया जा सकता है :

दो करोड़ तीर्थ यात्रियों की सुरक्षा, दो करोड़ तीर्थ यात्रियों की भीड़ को नियंत्रित कर सुगमता से भ्रमण करवाना, विशिष्ट एवं अतिविशिष्ट व्यक्तियों की सुरक्षा, साधु-सन्तों एवं उनके अखाड़ों की सुरक्षा, 2151.976 हेक्टेयर मेला क्षेत्र एवं आसपास के क्षेत्र की सुरक्षा, सुगम यातायात व्यवस्था, दुर्घटना सहायता व्यवस्था, आपदा प्रबंधन, महत्त्वपूर्ण संस्थानों की सुरक्षा, कानून-व्यवस्था बनाये रखना।

विशेष स्नान पर्वों और अन्य सामान्य दिनों हेतु पृथक्-पृथक् यातायात व्यवस्था रहेगी। विशेष स्नान पर्वों के दिनों में अपेक्षाकृत रूप से यात्रियों को अधिक पैदल चलना होगा, जबकि सामान्य

दिनों में वे अपने गंतव्य स्थल के काफी नजदीक तक लोक परिवहन के वाहनों से आ–जा सकेंगे। इन्दौर एवं देवास मार्ग से आने वाले यात्री यंत्र महल मार्ग की ओर से प्रवेश करेंगे। आगर, मक्सी एवं उन्हेल मार्ग की ओर से आने वाले यात्री पीपलीनाका की ओर से प्रवेश करेंगे। जबकि बड़नगर की ओर से आने वाले यात्री मुल्लापुरा की ओर से प्रवेश करेंगे।

उज्जैन शहर के आस–पास एक आउटर रिंग रोड़ का निर्माण किया गया है, जिससे भारी वाहन शहर के बाहर होकर अपने गंतव्य स्थलों तक पहुँच सकेंगे। प्रायवेट टूरिस्ट यात्रियों की बसें रात्रि में 12 से 4 बजे के मध्य अपने गंतव्य स्थलों के पास बनाये गये पार्किंग स्थलों तक आ–जा सकेंगी। आवश्यक वस्तुएँ जैसे–दूध एवं सब्जी के वाहनों के आने–जाने के लिये भी पृथक् से मार्ग निर्धारित किये गये हैं।

शहर में रहने वाले नागरिकों को इस महापर्व के एक माह के दौरान अपनी वाहनों से आने–जाने की सुविधा में कुछ त्याग करने की आवश्यकता होगी। मेला क्षेत्र के नजदीक के सभी संकरे मार्ग सभी प्रकार के वाहनों के लिये प्रतिबंधित किये जायेंगे तथा सघन क्षेत्र के मार्ग केवल दुपहिया वाहनों के लिये ही चालू रह सकेंगे। शहर के अन्य मेला क्षेत्र से अपेक्षाकृत दूर एवं पर्याप्त चौड़े मार्ग ही छोटे चार पहिया वाहनों के लिये चालू रह सकेंगे।

यात्रियों को शहर में ठहराने, उनकी आवश्यक मूलभूत सुविधाओं एवं सहायता के दृष्टिकोण से प्रशासन द्वारा कई कार्य किए जाते हैं, जिनमें प्रशासन के कई विभाग जुड़े हैं–सामान्य प्रशासन, लोक निर्माण विभाग, लोक निर्माण विभाग (वि/यां), लोक स्वास्थ्य यांत्रिकी विभाग, जल संसाधन विभाग, उज्जैन नगर पालिक निगम, उज्जैन विकास प्राधिकरण, धर्मस्व विभाग, संस्कृति विभाग, चिकित्सा विभाग, मध्य–प्रदेश राज्य विद्युत मण्डल, शिक्षा विभाग, पंचायत एवं समाज सेवा, वन विभाग, उद्यानिकी विभाग, प्रदूषण नियंत्रण मंडल, जन सम्पर्क विभाग, जिला व्यापार एवं उद्योग, मध्य प्रदेश राज्य सड़क परिवहन निगम, खाद्य विभाग, दुग्ध संघ, मध्य–प्रदेश पर्यटन विकास निगम, भारतीय डाक विभाग, भारतीय दूरसंचार विभाग, भारतीय रेल्वे आदि।

पुलिस एवं प्रशासन अपने स्तर पर इस महा आयोजन को ऐतिहासिक रूप से सफल बनाने हेतु हर सम्भव प्रयास कर कार्यवाही करते हैं, किन्तु इस महापर्व की पूर्ण सफलता आम नागरिकों के सहयोग के बगैर संभव नहीं। यह सौभाग्य की बात है कि उज्जैन की श्रद्धालु एवं धर्मप्राण जनता, प्रबुद्ध नागरिकों, पत्रकारगणों, राजनीतिज्ञों एवं उज्जैन से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जुड़े सभी व्यक्तियों के सहयोगात्मक एवं उत्साहवर्धक रवैये से इस महापर्व की सफलता में कोई संदेह नहीं होता है। ❑

रेखांकन : डॉ विष्णु भटनागर

सम्पादकगण
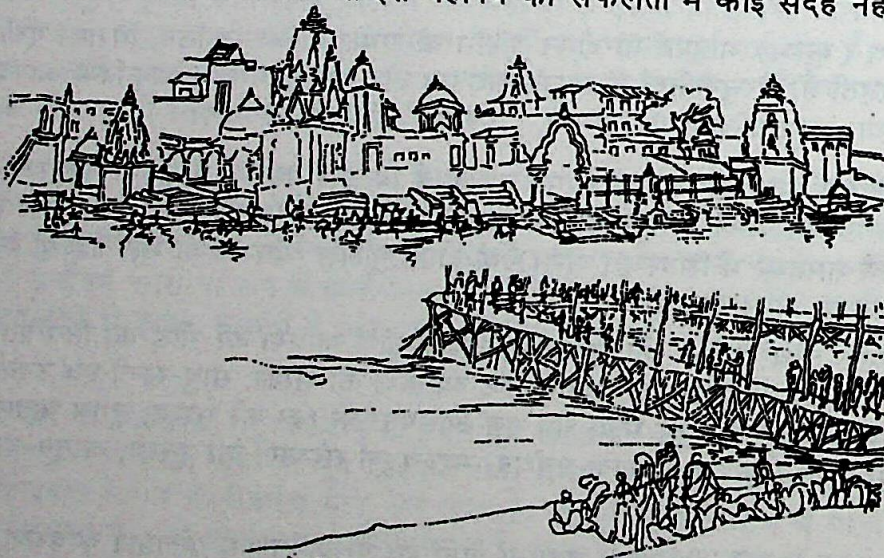
डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी-4 जनवरी, 1929 को नीबीकलाँ (वाराणसी) में जन्मे आचार्य त्रिपाठी देश के मूर्द्धन्य समालोचक और चिन्तक हैं। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन की हिन्दी अध्ययनशाला के अध्यक्ष के रूप में सेवानिवृत्त डॉ. त्रिपाठी ने साहित्य शास्त्र, दर्शन, साहित्येतिहास, संस्कृति आदि के क्षेत्र में पचास से अधिक ग्रंथों और सैकड़ों आलेखों का लेखन किया है। अनेक ग्रंथों और शोध-पत्रिका 'विक्रम' के सम्पादन के साथ ही उन्होंने सौ से अधिक उच्च शिक्षा संस्थानों में व्याख्यान दिए हैं। उन्हें अनेक प्रतिष्ठित सम्मानों से विभूषित किया गया है, जिनमें प्रमुख हैं-भारत भारती सम्मान, मूर्तिदेवी पुरस्कार, श्री रामानन्द पुरस्कार, शंकर पुरस्कार, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पुरस्कार आदि। सम्प्रति वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के राष्ट्रीय सभापति और क्लैसिकी शोध संस्थान, उज्जैन के संस्थापक-अध्यक्ष हैं। सम्पर्क : 2, स्टेट बैंक कॉलोनी, देवास रोड, उज्जैन, (म.प्र.) दूरभाष- (0734) 2511772

डॉ. श्यामसुन्दर निगम-25 अक्टूबर 1931 को जन्मे डॉ. निगम इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, वाणिज्य एवं आयुर्वेद के सुविख्यात मनीषी हैं। मालवा के पुरातत्त्वीय एवं सामाजिक पक्षों पर महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण एवं अनुसंधान कर चुके डॉ. निगम विक्रम विश्वविद्यालय के प्रवाचक रहे हैं। विविध विषयों पर बीस से अधिक ग्रंथों तथा सौ से अधिक आलेखों का लेखन कर चुके डॉ. निगम ने अनेक प्रतिष्ठित संस्थानों में महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिए हैं तथा कई पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया है। उनके द्वारा स्थापित श्री कावेरी शोध संस्थान में कई हजार दुर्लभ शोध-ग्रंथ विद्यमान हैं। अनेक सम्मानों से मंडित डॉ. निगम पिछले बारह वर्षों से त्रैमासिक जर्नल 'शोध समवेत' का सम्पादन कर रहे हैं। सम्प्रति वे श्री कावेरी शोध संस्थान के निदेशक हैं। सम्पर्क: श्री कावेरी शोध संस्थान, 34, केशव नगर, उज्जैन (म.प्र.) दूरभाष (0734) 2551317

डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित-2 नवम्बर 1943 को चंदोड़िया (जिला-धार) में जन्मे डॉ. राजपुरोहित साहित्य, संस्कृति, इतिहास और पुरातत्त्व के स्थापित विद्वान् हैं। डॉ. राजपुरोहित की समीक्षा, अनुसंधान, नाट्य, उपन्यास, अनुवाद आदि के क्षेत्र में पच्चीस से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। लोक साहित्य के अनुसंधान में निरन्तर सक्रिय डॉ. राजपुरोहित ने कई ग्रंथों और पत्रिकाओं का सम्पादन तथा अनेक संगोष्ठियों में सक्रिय भागीदारी की है। अब तक उन्हें अनेक सम्मानों से अलंकृत किया गया है, जिनमें मुख्य हैं-म. प्र. शासन, उच्च शिक्षा विभाग द्वारा डॉ. राधाकृष्णन् सम्मान (दो बार), संस्कृत अकादमी द्वारा भोज सम्मान (दो बार), म.प्र. साहित्य परिषद् द्वारा नवीन सम्मान आदि। सम्प्रति वे सान्दीपनि महाविद्यालय, उज्जैन के हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं। सम्पर्क : त्रिलोटीपुरा, उज्जैन (म.प्र.) दूरभाष-(0734) 2576008

डॉ. शिव चौरसिया-23 दिसम्बर, 1940 को बेरछा (जिला-शाजापुर) में जन्मे डॉ. चौरसिया मालवी और हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि, आलोचक और अनुसंधानकर्त्ता हैं। उनके मालवी काव्य संग्रह 'माटी की सोरम' सहित अब तब तीन सौ से अधिक रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। 1960 से अब तक अनेक प्रतिष्ठित काव्य मंचों, आकाशवाणी केन्द्रों और टी.वी. चैनलों पर उन्होंने काव्य पाठ किया है। मालवी लोक-साहित्य पर गहन अनुशीलन के लिए लम्बे समय से समर्पित डॉ. चौरसिया सांदीपनि महाविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक रहे हैं। डॉ. चौरसिया अनेक सम्मानों से विभूषित हैं, जिनमें प्रमुख हैं- म. प्र. शासन द्वारा राज्य स्तरीय शिक्षक सम्मान, व्यास सम्मान (दिल्ली), म. प्र. शासन के शिक्षा विभाग, हिमाचल प्रदेश सरकार के जनसम्पर्क विभाग, हरियाणा के भाषा विभाग आदि द्वारा अनेक रचनाएँ पुरस्कृत। सम्पर्क : 130, विद्यानगर, सांवेर रोड, उज्जैन (म. प्र.) दूरभाष (0734) 2516373

डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा- 20 अक्टूबर 1966 को उज्जैन में जन्मे डॉ. शर्मा पिछले डेढ़ दशक से अधिक समय से साहित्य एवं विभिन्न कला माध्यमों में समीक्षा एवं अनुसंधानरत हैं। उन्होंने आलोचना, लोक-साहित्य एवं संस्कृति, देवनागरी लिपि आदि से सम्बद्ध दस से अधिक ग्रंथों का लेखन एवं सम्पादन किया है। अब तक उनके पचहत्तर से अधिक आलेख तथा साहित्य, रंगमंच एवं विविध कलाओं पर तीन सौ से अधिक समीक्षात्मक टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई है। कई पत्रिकाओं एवं स्मारिकाओं का संपादन तथा पचास से अधिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की शोध संगोष्ठियों में भागीदारी कर चुके डॉ. शर्मा नागरी लिपि परिषद्, राजभाषा संघर्ष समिति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, मालव लोक संस्कृति प्रतिष्ठान सहित कई संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। सम्प्रति वे विक्रम विश्वविद्यालय की हिन्दी अध्ययनशाला में वरिष्ठ प्राध्यापक हैं। सम्पर्क : एफ-2/15, विश्वविद्यालय परिसर, उज्जैन (म. प्र.) दूरभाष (0734) 2511909, 2515573.

लेखकगण

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी -भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययनशाला, विक्रम वि.वि., 2, स्टेट बैंक कॉलोनी, उज्जैन (म.प्र.)
डॉ. पन्नालाल- आई. पी. एस., भूतपूर्व ए. डी. जी. पुलिस, 203, रानी बाग, खण्डवा रोड़, इन्दौर (म.प्र.)
डॉ. श्रीमती शोभा पन्नालाल- 203, रानी बाग, खण्डवा रोड़, इन्दौर (म. प्र.)
डॉ. श्यामसुन्दर निगम- निदेशक, श्री कावेरी शोध संस्थान, 34, केशव नगर, उज्जैन (म. प्र.)
डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित-अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सान्दीपनि महाविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)
डॉ. शैलेन्द्रकुमार शर्मा-वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म. प्र.)
डॉ. शिव चौरसिया-130, विद्यानगर, साँवेर रोड़, उज्जैन (म. प्र.)
डॉ. वन्दना यादव-शोध अधिकारी, प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, मुम्बई
डॉ. सीताराम दुबे-आचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययनशाला, विक्रम वि.वि., उज्जैन
डॉ. प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस पण्डित'- संगीतविद्, रंगमहल, नईपेठ, उज्जैन (म. प्र.)
डॉ. एलरिक बारलो शिवाजी- भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, रवीन्द्र नगर, उज्जैन (म.प्र.)
डॉ. जे. एन. दुबे- निदेशक, वाकणकर शोध संस्थान, फ्रीगंज, उज्जैन (म.प्र.)
डॉ. धीरेन्द्र सोलंकी- उत्खनन प्रभारी, उत्खनन विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय , उज्जैन (म. प्र.)
डॉ. आर. सी. भावसार- सेवा निवृत्त आचार्य (चित्रकला) 110, मंगल कॉलोनी, उज्जैन (म.प्र.)
प्रो. लक्ष्मीनारायण भावसार- आचार्य (चित्रकला), एच. एक्स. 16, ई-7 अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म. प्र.)
पं. सूर्यनारायण व्यास- देश के सुविख्यात ज्योतिर्विद् एवं साहित्यकार (स्वर्गीय)
डॉ. मोहन गुप्त- आई.ए.एस., भूतपूर्व संभागायुक्त, महानन्दा नगर, उज्जैन (म. प्र.)
श्री नर्मदाप्रसाद उपाध्याय- उपायुक्त, वाणिज्यिक कर, उज्जैन संभाग, भरतपुरी, उज्जैन (म. प्र.)
प्रो. राजकुमुद ठोलिया-विभागाध्यक्ष, नृत्य विभाग, दशहरा मैदान, उज्जैन
सुश्री स्वर्णमाला रावला-आई. ए. एस., सचिव, पशु एवं मत्स्य पालन विभाग, म. प्र. शासन, वल्लभ भवन, भोपाल
श्री सरबजीतसिंह-आई. पी. एस., पुलिस महानिरीक्षक, उज्जैन संभाग, उज्जैन
श्री भूपालसिंह-आई. ए. एस., अपर सचिव, म. प्र. शासन, वल्लभ भवन, भोपाल
मनोहरसिंह वर्मा- अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक (शहर), उज्जैन (म.प्र.)
राजवी जयपालसिंह राठौड़- बीकानेर हाऊस, 25, महामाया नगर, इंजीनियरिंग कॉलेज के पास, उज्जैन
डॉ. विवेक चौरसिया-130, विद्यानगर, साँवेर रोड़, उज्जैन
श्रीमती अर्चना अनूप- आनंद भवन, गुदरी चौराहा, उज्जैन

प्रारूपक

अक्षय आमेरिया- पुनर्वसु, सी-292, विवेकानन्द नगर, उज्जैन-10

शिखर दर्शनम्/श्री अक्षय आमेरिया
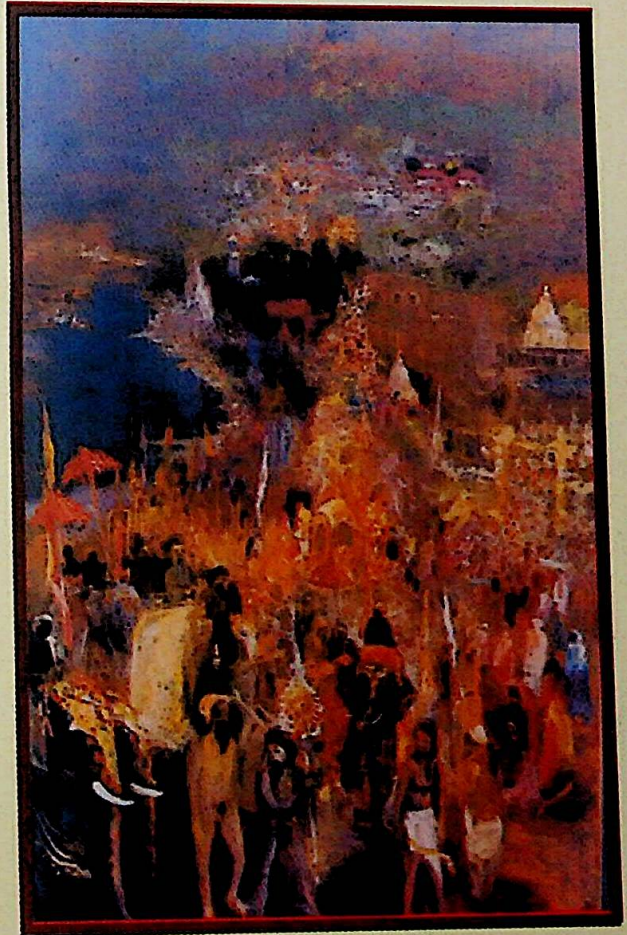
सिंहस्थ महापर्व/डॉ. आलोक भावसार
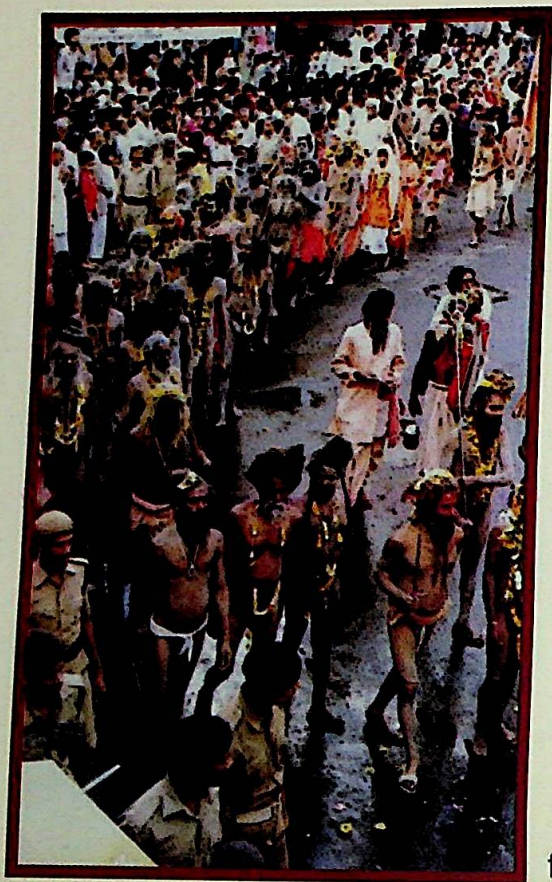
सिंहस्थ की शोभायात्रा
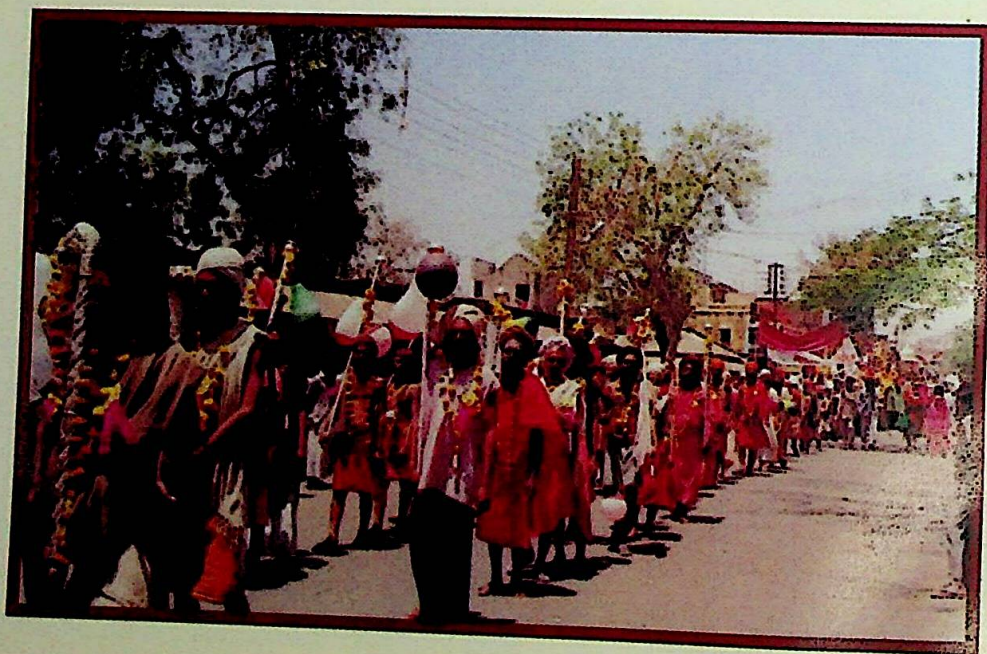
सिंहस्थ महापर्व : कुछ दृश्य

सिंहस्थ शाही स्नान

कालिदास

शंकु
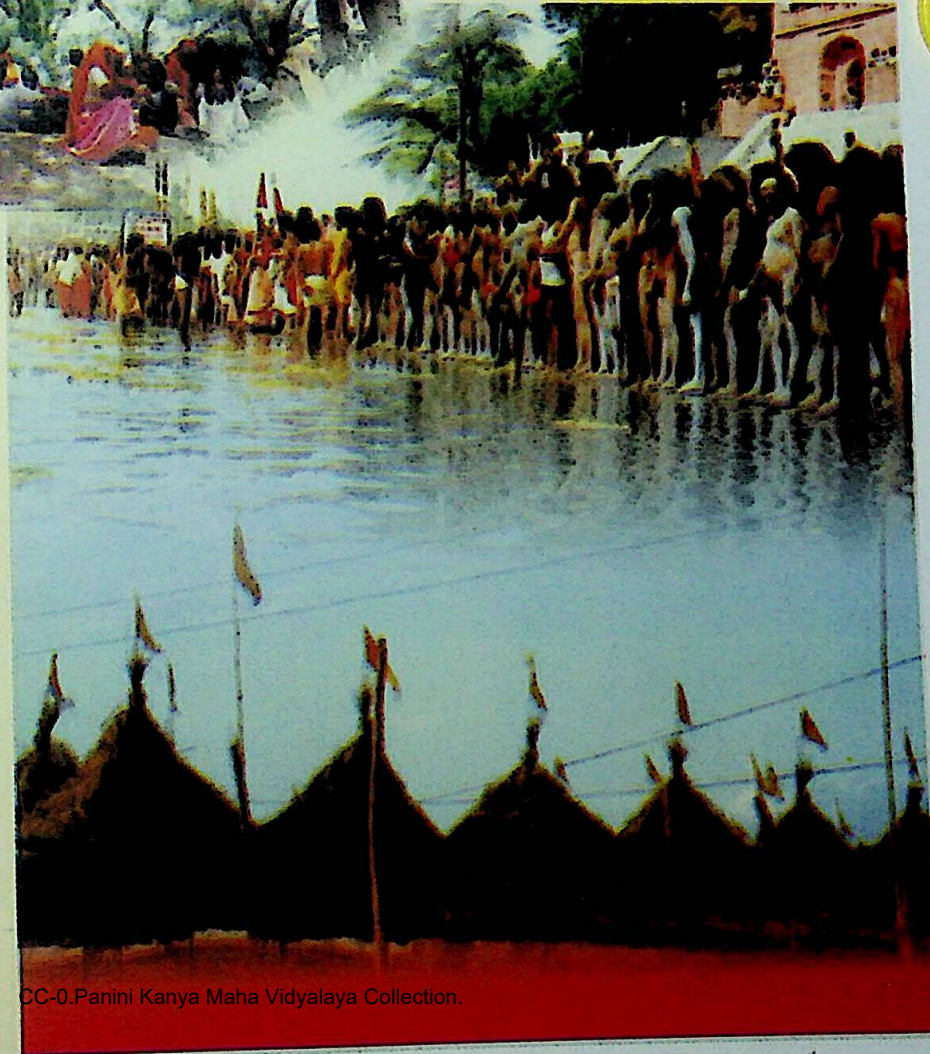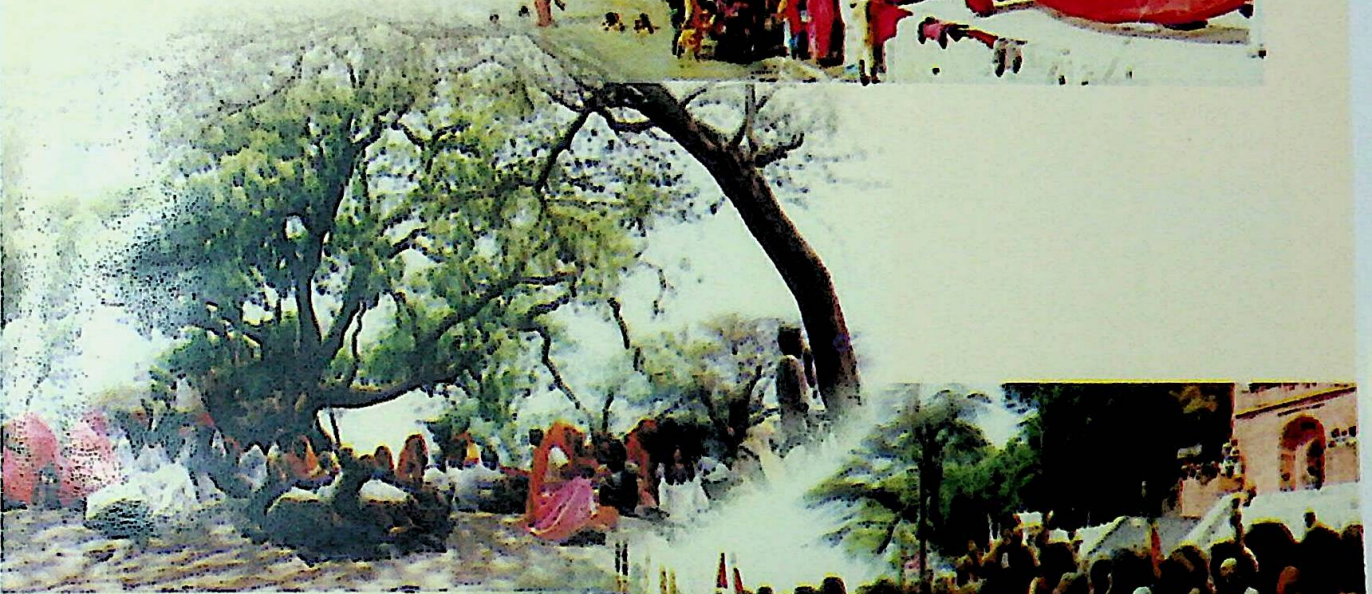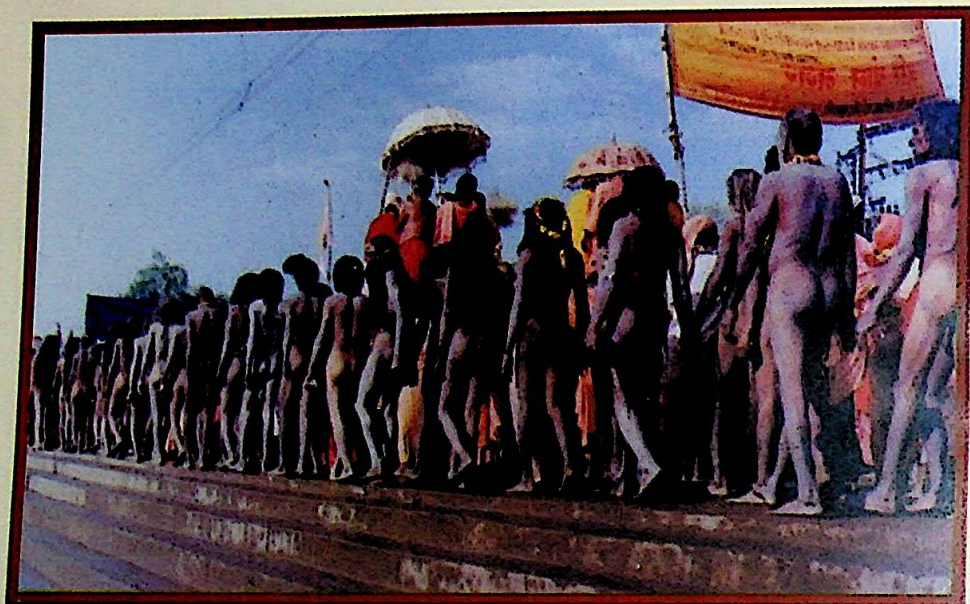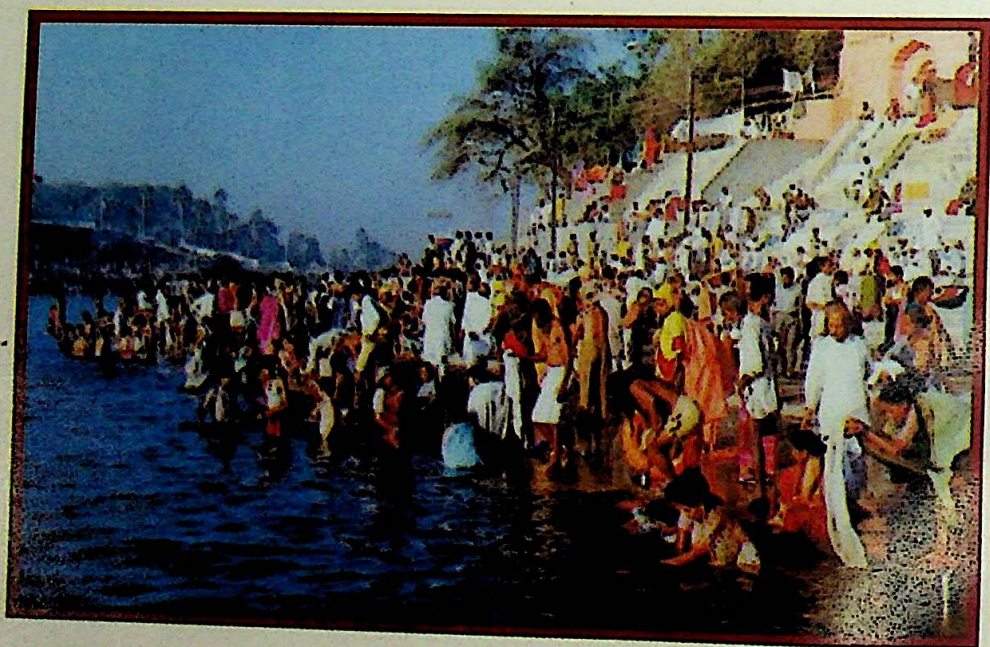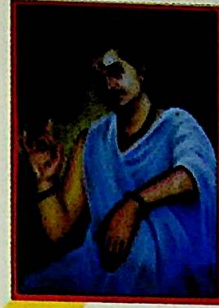
वररुचि
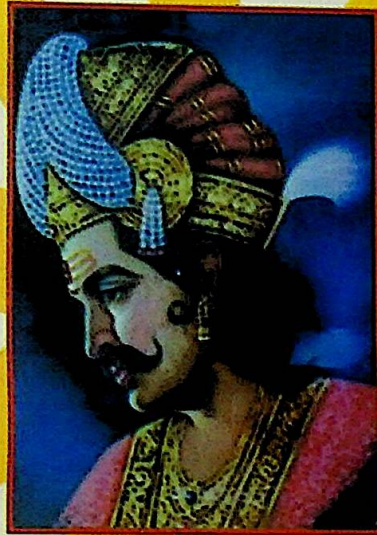
धन्वन्तरि

घटखर्पर

सम्राट विक्रमादित्य एवं नवरत्न
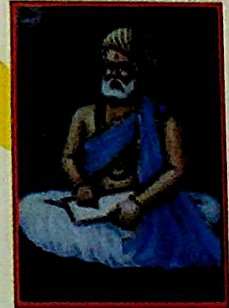
वराहमिहिर

बेतालभट्ट

क्षपणक

चित्र : बाबूलाल जैन
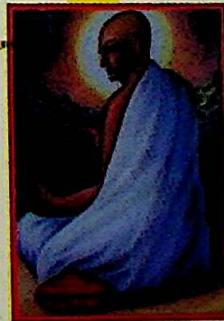
मालवा के चित्रांकन

राघोगढ़ शैली में चित्रित महाराज कुँवर जयसिंह अपने पिताश्री के साथ

राघोगढ़ शैली में चित्रित क्रीड़ा—कौतुक देखने में मग्न महाराज श्री धीरजसिंह

कँवरानी मंदिर, नरसिंहगढ़ में चित्रित शेषशायी विष्णु

राघोगढ़ शैली में चित्रित महाराज श्री धीरजसिंह
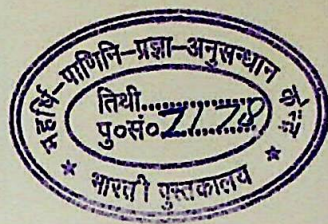
चतुर्भुज नाला (भानपुरा), जि. मंदसौर का प्रागैतिहासिक चित्र

यशवंतराव होलकर की छतरी (भानपुरा) में इंदौर के राजवाड़ा का भित्ति चित्र

मंगल कलश धारिणी, रतलाम

राष्ट्र यज्ञ / श्री मुकुन्दराव भाण्ड

मालवा की चित्रावण
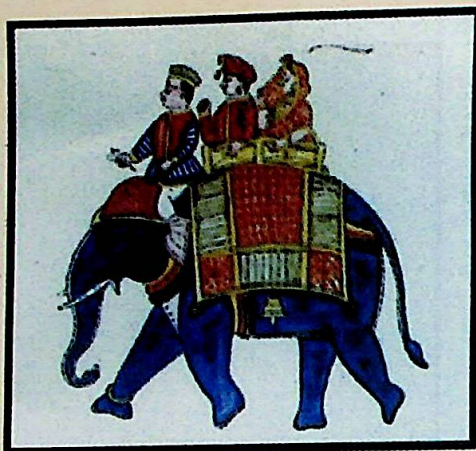
हाथी पर सवार लाड़ा–लाड़ी

विवाह समारोह

तीर्थ यात्री

सभी चित्र : श्री सत्यनारायण महाराज, शाजापुर

शिव-पार्वती भांग छानते हुए
चित्रकार : श्री धूलजी बा

प्रस्तुत ग्रंथ में मंगलाचरण के अतिरिक्त निम्नलिखित चार खण्ड रखे गये हैं-

(क) अवन्ती :

इतिहास, पुरातत्त्व एवं पर्यटन

(ख) अवन्ती :

धर्म, दर्शन एवं संस्कृति

(ग) अवन्ती क्षेत्र का साहित्यिक अवदान

(घ) अवन्ती क्षेत्र का कलात्मक अवदान एवं सिंहस्थ महापर्व

इस प्रकार यह प्रयास किया गया है कि न केवल अवन्तीपुरी में सम्पन्न होने वाले सिंहस्थ के सन्दर्भ में सभी पक्षों की विस्तृत जानकारी दी जाय, बल्कि अवन्ती क्षेत्र की विविधाविध उपलब्धियों, सांस्कृतिक वैभव तथा परम्पराओं का भी समावेश किया जाय।